उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MSW-112
व्यक्तित्व एवं असामान्य व्यवहार

खण्ड

1

व्यक्तित्व का अर्थ, चरण एवं सिद्धान्त

इकाई-1 5
व्यक्तित्व का अर्थ एवं विशेषताएँ

इकाई-2 19
व्यक्तित्व के प्रकार एवं निर्धारण

इकाई-3 28
भारतीय संदर्भ में व्यक्तित्व विकास के चरण

इकाई-4 34
वंशानुक्रम एवं पर्यावरण

इकाई-5 40
व्यक्तित्व के सिद्धान्त-सिगमण्ड फ्रायड, कूले एवं आटो रैंक

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो० एम० पी० दुबे	कुलपति - अध्यक्ष

विशेषज्ञ समिति

प्रो० एस० त्रिपाठी	अवकाश प्राप्त, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० ए०एन०सिंह	विभागाध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो० अरविन्द जोशी	समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ० अल्का वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

परिमापक

प्रो० बालेश्वर पाण्डेय	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो० जय कान्त तिवारी	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लेखक

डॉ० विवेक कुमार सिंह	एशोसिएट प्रोफेसर, डा० शकुन्तला मिश्रा, पुर्नवास विश्वविद्यालय, लखनऊ
डॉ० रविन्द्र सिंह	असि० प्रोफेसर, भीम राव अम्बेडकर कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ० अजय प्रताप सिंह	समाजकार्य विभाग, छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर
डॉ० राजेश कुशवाहा	असि० प्रोफेसर, डा० बी०आर०अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

समन्वयक

डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

प्रो०(डॉ०) जी०एस०शुक्ल	कुलसचिव,उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई हैं। विश्वविद्यालय इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित–2025

मुद्रक: सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, आन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

खण्ड 1 व्यक्तित्व का अर्थ, चरण एवं सिद्धान्त

खण्ड परिचय

व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। कभी यह व्यवहार को स्पष्ट करता है, कभी मानसिक क्षमता को स्पष्ट करता है, कभी समायोजन की क्षमता के रूप में उपयोग किया जाता है और कभी शारीरिक बनावट को स्पष्ट करता है। अतः व्यक्तित्व के वास्तविक अर्थ को जानना आवष्यक प्रतीत होता है।

व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी भाषा के पर्सनाल्टी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। पर्सनाल्टी शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के परसोना (Persona) से हुई है। परसोना शब्द का अर्थ एक प्रकार के ऐसे पहनावे से है जो नाटक के समय कलाकार मंच पर विशेष भूमिका अदा करने के लिए पहनता है। परन्तु मुखोटे अथवा पहनावे द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व वास्तविकता से भिन्न हो जाता है। इस अर्थ में व्यक्तित्व को व्यक्ति के बाह्य गुणों के आधार पर समझा जाता है। परन्तु इससे व्यक्तित्व का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होता है। यह भिन्नता चाहे कम हो या अधिक परन्तु बिल्कुल समानता का होना असम्भव है। परन्तु भिन्नता के साथ–साथ किसी स्तर में समानता भी अवश्य पाई जाती है। इस समानता के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है। विभिन्न विकासात्मक परिवर्तनों की व्याख्या के लिए अनेक मनोवैज्ञानिकों ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यद्यपि विकासात्मक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की बात कोई नहीं है, फिर भी इतना तो अवश्य ही है कि पहले की व्याख्याओं की तुलना में आधुनिक सिद्धान्त विकासात्मक प्रक्रमों का अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय लेखाजोखा प्रस्तुत करने में सफल है। सिद्धान्तों के प्रतिपादन का यही मूल उद्देश्य होता है और किसी प्रतिपादित सिद्धान्त द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति होनी ही चाहिये अन्यथा वह अपना महत्व धीरे–धीरे खो देता है। विकासात्मक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक समीक्षा से पता चलता है कि सन् 1920 तक इस क्षेत्र के मनोवैज्ञानिकों का मूल उद्देश्य विकासों का वर्णन ही था। उस समय तक न तो वैज्ञानिक सम्प्रत्यय ही आज ही तरह विकसित हो पाये थे और न ही अध्ययनकर्ताओं का दृष्टिकोण विचारधाराओं से यथोचित रूप में प्रभावित था, परन्तु सम्प्रति स्थिति पूर्णतः भिन्न है। अब वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों एवं विचारधाराओं की कमी नहीं है और परिणामस्वरूप इस क्षेत्र के मनोवैज्ञानिकों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक अवधारणाओं को अधिक महत्व दे रहा है, क्योंकि ऐसा करने से विषयवस्तु की ठोस रूप में विवेचना करने में सहायता मिलती है एवं कारण तथा प्रभाव में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध भी स्थापित होता है।

प्रथम खण्ड के अन्तर्गत कुल 5 इकाइयाँ हैं जिनमें व्यक्तित्व की अवधारणा, व्यक्तित्व के विकास के विविध चरण एवं व्यक्तित्व के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है।

प्रथम खण्ड के अन्तर्गत कुल 5 इकाइयाँ हैं जिनमें व्यक्तित्व की अवधारणा, व्यक्तित्व के विकास के विविध चरण एवं व्यक्तित्व के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है।

इकाई 1 में व्यक्तित्व के विषय में वर्णन किया गया है। व्यक्तित्व के अर्थ में इसके शाब्दिक अर्थ तथा सैधान्तिक अर्थ की विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं द्वारा उल्लेखित किया गया है। सामान्य रूप से व्यक्तित्व का अर्थ उन गुणों के समावेश से लगाया जाता है जो दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सहायता करते है। इसके पश्चात् व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

इकाई 2 में व्यक्तित्व के विविध प्रकार एवं व्यक्तित्व के निर्धारक कारकों (आनुवंशिक एवं पर्यावरणीय कारकों) की विवेचना की गई है। इकाई 3 में भारतीय संदर्भ में व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं की विवेचना करते हुए समाजीकरण की भूमिका बताई गई है। इकाई 4 में वंशानुक्रम एवं पर्यावरण की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है तथा मानव व्यवहार के निर्धारण में वंशानुक्रम एवं पर्यावरण के सापेक्षिक महत्व का विश्लेषण किया गया है। इकाई 5 के अन्तर्गत व्यक्तित्व के विकास के प्रमुख सिद्धान्तों–प्रमुखतः सिगमण्ड फ्रायड, चार्ल्स कूले एवं आटो रैंक के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है।

इकाई–1 व्यक्तित्व. का अर्थ एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 व्यक्तित्व का अर्थ

1.2.1 शाब्दिक अर्थ

1.2.2 सैद्धान्तिक अर्थ

1.3 व्यक्तित्व शब्द की परिभाषा

1.3.1 व्यक्तित्व की परिभाषा

1.4. व्यक्तित्व के विशेष गुण

1.5 पर्सनाल्टी (Personality) शब्द की व्याख्या

1.6 व्यक्तित्व की विशेषतायें

1.6.1 शारीरिक विशेषतायें

1.6.2 मानसिक गुण

1.6.3 सामाजिकता

1.6.4 संकल्प शक्ति

1.6.5 संवेगात्मक गुण

1.7 सारांश

1.8 बोध प्रश्न

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् व्यक्तित्व के अर्थ तथा परिभाषाओं का अध्ययन कर सकेंगे विभिन्न विद्वानों द्वारा दिए गए व्यक्तित्व के शाब्दिक तथा सैधान्तिक अर्थ का वर्णन कर सकेंगे। तत्पश्चात् व्यक्तित्व की विशेषताओं तथा व्यक्तित्व के तत्वों की व्याख्या कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में व्यक्तित्व के विषय में वर्णन किया गया है। व्यक्तित्व के अर्थ में इसके शाब्दिक अर्थ तथा सैद्धान्तिक अर्थ की विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं द्वारा उल्लेखित किया गया है। सामान्य रूप से व्यक्तित्व का अर्थ उन गुणों के समावेश से लगाया जाता है जो दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सहायता करते है। इसके पश्चात् व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया गया है। व्यक्ति के शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, गठन, भार, रंग रूप, ध्वनि आदि शारीरिक गुण हैं इन गुणों का व्यक्तित्व पर विशेष प्रभाव पड़ता है। मानसिक गुणों के अन्तर्गत ज्ञान, भावना, इच्छा, स्वभाव, प्रवृत्ति आदि को सम्मिलित करते हैं तथा इस इकाई के अन्त में व्यक्तित्व के तत्वों के अन्तर्गत शारीरिक विशेषताओं तथा मानसिक गुणों का वर्णन किया गया है।

हम यदा–कदा दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में राय दिया करते हैं कि अमुक व्यक्ति बुद्धिमान है, चरित्रवान है, धैर्यवाशाली है, उतावला है, अनैतिक है आदि–आदि। ये राय व्यक्ति के व्यवहार के आधार पर निश्चित की जाती है। ये उसके व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। व्यक्तित्व सबके पास होता है, अच्छा या बुरा। यह मान लेना कि यह किसी के पास कोई अलग से रहने वाली वस्तु है, ठीक नहीं। व्यक्तित्व सामाजिक व्यहार का प्रमुख अंग है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में कोई न कोई विलक्षणता अवश्य होती है। इसी विलक्षणता के आधार पर और सामाजिक व्यवहार के आधार पर व्यक्तित्व को आकर्षक या अनाकर्षण दोनों ही रूपों में व्यक्त किया जाता है। व्यक्तित्व की विलक्षणताएँ व्यक्ति को विशिष्ट परिस्थिति में विशेष व्यवहार करने की प्रेरणाएं देती है। इसी व्यवहार को देखकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुमान लगा लिया जाता है।

व्यक्तित्त्व में वैयक्तिक भिन्नता पायी जाती है। कक्षा में विद्यार्थियों का व्यक्तित्व एक सा नहीं होता। कोई अधिक आत्मविश्वास के साथ सीखने में अधिक क्रियाशील दिखाई पड़ता है, कोई वाद–विवाद में प्रसन्नता और सफलता से भाग लेता है, कोई उससे दूर भागता है, कोई–खेलने में मस्त दिखता है तो कोई आलस्यवश हत्बुद्धि सा निष्क्रिय रहता है। कोई कुशाग्र बुद्धि है तो कोई मन्द–बुद्धि। इस प्रकार कक्षा में अलग–अलग व्यक्तियों के बालक मिलते हैं। कक्षा में किसी बालक का व्यक्तित्व मापना कठिन होता है, क्योंकि कक्षा में रहते समय बालक को नियन्त्रित वातावरण में रहना पड़ता है। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए ऐसे स्वतन्त्र वातावरण की आवश्यकता है जहाँ व्यक्ति स्वतंत्र व्यवहार कर सकें। परन्तु यह मान लेना ठीक नहीं कि व्यक्ति के व्यवहार के निरीक्षण करने मात्र से उसके व्यक्तित्व का बोध हो जायेगा। जनसन निरीक्षित व्यवहार के आधार पर ही व्यक्तित्व का अनुमान लगाना चाहता है जो ठीक नहीं। वारेन की व्यक्तित्व–सम्बन्धी धारण से हम सहमत नहीं हैं। जब वह कहता

है कि "व्यक्तित्व की विकास–अवस्था मनुष्य के पूरे मानसिक संगठन की ओर संकेत करती है।"

मनुष्य को हम शारीरिक और मानसिक संगठनों का एक पुंज नहीं मान सकते। रेक्सरोड की व्यक्तित्व–सम्बन्धी धारणा से हमें व्यक्तित्व का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता जब वह कहता है कि " व्यक्तित्व वह शक्ति है जो व्यक्ति के सामाजिक और असामाजिक कार्यो में सन्तुलन बनाए रखती है।" डैशील की व्यक्तित्व– सम्बन्धी परिभाषा से हमें अधिक स्पष्टीकरण मिलता है, क्योंकि उसके अनुसार "समाज किसी व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं और प्रतिक्रिया की सम्भावनाओं को जिस रूप में देखता है, वह रूप ही उस व्यक्ति के व्यक्त्वि की ओर संकेत करता है। इस प्रकार व्यक्ति के विभिन्न व्यवहार जो उसे समाज में व्यवस्थित होने में सहायक हैं व्यक्तित्व के परिचायक है।" इस परिभाषा में समाज शब्द के आने से यह बात स्पष्ट होती है कि व्यक्तित्व का सम्बन्ध सामाजिक सम्पर्क से होता है। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व में संमाज के अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं का भी योग होता है। सामाजिक व्यवहार होने पर ही हम व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं। जैसे– जंगल में गिरते पेड़ की ध्वनि को सुनने वाला कोई न तो ध्वनि के अस्तित्व का पता ही न चलेगा। इस प्रकार समाज का कोई अन्य व्यक्ति जब तक किसी व्यक्ति के प्रति अपनी प्रतिक्रया व्यक्त नहीं करेगा तो उसके व्यक्तित्व का पता नहीं चल सकेगा। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का उल्लेख करता है तो वह उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का उल्लेख भी करता है। तभी तो लोग कहते हैं उसका व्यक्तित्व सुन्दर है अर्थात उन्हें वह सुन्दर लगता है, आकर्षण है अर्थात् उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है, निर्बल है अर्थात् उन्हें उसमें कोई बल नहीं दिखता। इस प्रकार वह व्यक्तित्व का वर्णन न करके उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया का वर्णन करता है।

ध्वनि और व्यक्तित्व की तुलना को और अधिक विस्तार दिया जाए तो हम कह सकते हैं कि जैसे ध्वनि को देखा और स्पर्श नहीं किया जा सकता वैसे ही व्यक्तित्व को भी न छुआ जा सकता है न देखा जा सकता है। उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। हम व्यक्तित्व का वर्णन करते समय उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का वर्णन उसी प्रकार करते हैं जैसे ध्वनि का वर्णन करते समय करते हैं। कभी उसे सुरीली, कभी कर्कश बताते है।

वास्तव में 'व्यक्तित्व' हमारे के लिए उद्दीपक होता है जिसके प्रति हम अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करते हैं। इसलिए हम व्यक्तित्व को गतिशून्य नहीं कह सकते, क्योंकि उससे हम बहुत प्रभावित होते हैं। और अब हमें यह विचार करना होगा कि व्यक्तित्व में ऐसी कौन सी शक्ति है जो दूसरों को प्रभावित करती है। वास्तव में वह शक्ति व्यक्तित्व की विलक्षणताओं का पुन्ज होती है। व्यक्तित्व की विशेषताओं में वंशानुक्रम का गुण और प्रभाव समाया होता है। वातावरण के प्रति वंशानुक्रमित गुण जो प्रतिक्रियाएँ दर्शाते हैं वही व्यक्तित्व की वातावरण की विलक्षणताओं का निर्माण करती हैं। यह प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न विलक्षणताओं को जन्म देता है। व्यक्ति इन्हें अर्जित करता रहता हैं कि "व्यक्तित्व न चरित्र है न मस्तिष्क, न शरीर, न विवेक, न बुद्धि है, न गुण या अवगुण है; वरन् यह सब तो व्यक्तित्व में अपना सामूहिक योग देने वाली शक्तियाँ है। इन्हीं का गुणनफल व्यक्तित्व है। जैसा ऊपर कभी कहा जा चुका है, व्यक्तित्व वैयक्तिक भेद रखता है। सबका व्यक्तिव एक जैसा नहीं होता। कोई प्रतिभाशाली व्यक्तित्व वाला होता है तो कोई निम्न स्तर का व्यक्तित्व रखने वाला होता है। व्यक्तित्व सब के पास होता है चाहे वह कैसा भी क्यों न हो।

1.2 व्यक्तित्व का अर्थ

व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। कभी यह व्यवहार को स्पष्ट करता है, कभी मानसिक क्षमता को स्पष्ट करता है, कभी समायोजन की क्षमता के रूप में उपयोग किया जाता है और कभी शारीरिक बनावट को स्पष्ट करता है। अतः व्यक्तित्व के वास्तविक अर्थ को जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

हम यदा–कदा दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में राय दिया करते हैं कि आमुक व्यक्ति बुद्धिमान है, चरित्रवान है, धैर्यवाशाली है, उतावला है, अनैतिक है आदि–आदि। ये राय व्यक्ति के व्यवहार के आधार पर निश्चित की जाती है। ये उसके व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। व्यक्तित्व सबके पास होता है, अच्छा या बुरा। यह मान लेना कि यह किसी के पास कोई अलग से रहने वाली वस्तु है, ठीक नहीं। व्यक्तित्व सामाजिक व्यवहार का प्रमुख अंग है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में कोई न कोई विलक्षणता अवश्य होती है। इसी विलक्षणता के आधार पर और सामाजिक व्यवहार के आधार पर व्यक्तित्व को आकर्षक या अनाकर्षण दोनों ही रूपों में व्यक्त किया जाता है। व्यक्तित्व की विलक्षणताएँ व्यक्ति को विशिष्ट परिस्थिति में विशेष व्यवहार करने की प्रेरणाएं देती है। इसी व्यवहार को देखकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुमान लगा लिया जाता है।

वैयक्तित्त्व में वैयक्तिक भिन्नता पायी जाती है। कक्षा में विद्यार्थियों का व्यक्तित्व एक सा नहीं होता। कोई अधिक आत्मविश्वास के साथ सीखने में अधिक

क्रियाशील दिखाई पड़ता है, कोई वाद–विवाद में प्रसन्नता और सफलता से भाग लेता है, कोई उससे दूर भागता है, कोई–खेलने में मस्त दिखता है तो कोई आलस्यवश हत्बुद्धि सा निष्क्रिया रहता है। कोई कुशाग्र बुद्धि है तो कोई मन्द–बुद्धि। इस प्रकार कक्षा में अलग–अलग व्यक्तियों के बालक मिलते हैं। कक्षा में किसी बालक का व्यकितत्व मापना कठिन होता है, क्योंकि कक्षा में रहते समय बालक को नियन्त्रित वातावरण में रहना पड़ता है। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए ऐसे स्वतन्त्र वातावरण ही आवश्यकता है जहाँ व्यक्ति स्वतंत्र व्यवहार कर सकें। परन्तु यह मान लेना ठीक नहीं कि व्यक्ति के व्यवहार के निरीक्षण करने मात्र से उसके व्यक्तित्व का बोध हो जायेगा। जनसन निरीक्षित व्यवहार के आधार पर ही व्यक्तित्व का अनुमान लगाना चाहता है जो ठीक नहीं। वारेन की व्यक्तित्व–सम्बन्धी धारण से हम सहमत नहीं हैं। जब वह कहता है कि "व्यक्तित्व की विकास–अवस्था मनुष्य के पूर मानसिक संगठपन की ओर संकेत करती है।"

मनुष्य को हम शारीरिक और मानसिक संगठनों का एक पुंज नहीं मान सकते। रेक्सरोड की व्यक्तित्व–सम्बनिध धारणा से हमें व्यक्तित्व का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता जब वह कहता है कि "व्यकितत्व वह शक्ति है जो व्यक्ति के सामाजिक और असामाजिक कार्यो में सन्तुलन बनाए रखती है।" डैशील की व्यक्तित्व– सम्बन्धी परिभाषा से हमें अधिक स्पष्टीकरण मिलता है,क्योंकि उसके अनुसार "समाज किसी व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं और प्रतिक्रिया की सम्भावनाओं को जिस रूप में देखता है, वह रूप ही उस व्यक्ति के व्यक्त्वि की ओर संकेत करता है। इस प्रकार व्यक्ति के विभिन्न व्यवहार जो उसे समाज में व्यवस्थित होने में सहायक हैं व्यक्तित्व के परिचायक है।" इस परिभाषा में समाज शब्द के आने से यह बात स्पष्ट होती है कि व्यकितत्व का सम्बन्ध सामाजिक सम्पर्क से होता है। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाज के अन्य व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं का भी योग होता है। सामाजिक व्यवहार होने पर ही हम व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं। जैसे– जंगल में गिरते पेड़ की ध्वनि को सुनने वाला कोई न तो ध्वनि के अस्तित्व का पता ही न चलेगा। इस प्रकार समाज का कोई अन्य व्यक्ति जब तक किसी व्यक्ति के प्रति अपनी प्रतिक्रया व्यक्त नहीं करेगा तो उसके व्यक्तित्व का पता नहीं चल सकेगा। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का उल्लेख करता है तो वह उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का उल्लेख भी करता है। तभी तो लोग कहते हैं उसका व्यक्तित्व सुन्दर है अर्थात उन्हें वह सुन्दर लगता है, आकर्षण है अर्थात् उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है, निर्बल है

अर्थात् उन्हें उसमें कोई बल नहीं दिखता। इस प्रकार वह व्यक्तित्व का वर्णन न करके उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया का वर्णन करता है।

ध्वनि और व्यक्तित्व की तुलना को और अधिक विस्तार दिया जाए तो हम कह सकते हैं कि जैसे ध्वनि को देखा और स्पर्श नहीं किया जा सकता वैसे ही व्यक्तित्व को भी न छुआ जा सकता है न देख जा सकता है। उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। हम व्यक्तित्व का वर्णन करते समय उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का वर्णन उसी प्रकार करते हैं जैसे ध्वनि का वर्णन करते समय करते हैं। कभी उसे सुरीली, कभी कर्कश बताते है।

वास्तव में 'व्यक्तित्व' हमारे के लिए उद्दीपक होता है जिसके प्रति हम अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करते हैं। इसलिए हम व्यक्तित्व को गतिशून्य नहीं कह सकते, क्योंकि उससे हम बहुत प्रभावित होते हैं। और अब हमें यह विचार करना होगा कि व्यक्तित्व में ऐसी कौन सी शक्ति है जो दूसरों को प्रभावित करती है। वास्तव में वह शक्ति व्यक्तित्व की विलक्षणताओं का पुन्ज होती है। व्यक्तित्व की विशेषताओं में वंशानुक्रम का गुण और प्रभाव समाया होता है। वातावरण के प्रति वंशानुक्रमित गुण जो प्रतिक्रियाएँ दर्शाते हैं वही व्यक्तित्व की वातावरण की विलक्षणताओं का निर्माण करती हैं। यह प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न विलक्षणताओं को जन्म देता है। व्यक्ति इन्हें अर्जित करता रहता हैं कि "व्यक्तित्व न चरित्र है न मस्तिष्क, न शरीर, न विवेक, न बुद्धि है, न गुण या अवगुण है; वरन यह सब तो व्यक्तित्व में अपना सामूहिक योग देने वाली शक्तियाँ है। इन्हीं का गुणनफल व्यकितत्व है। जैसा ऊपर कभी कहा जा चुका है, व्यक्तित्व वै यक्तिक भेद रखता है। सबका व्यक्तिव एक जैसा नहीं होता। कोई प्रतिभाशाली व्यक्तित्व वाला होता है तो कोई निम्न स्तर का व्यक्तित्व रखने वाला होता है। व्यक्तित्व सब के पास होता है चाहे वह कैसा भी क्यों न हो।

1.2.1 शाब्दिक अर्थ

व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी भाषा के पर्सनाल्टी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। पर्सनाल्टी शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के परसोना **(Persona)** से हुई हैं। परसोना शब्द का अर्थ एक प्रकार के ऐसे पहनावे से है जो नाटक के समय कलाकार मंच पर विशेष भूमिका अदा करने के लिए पहनता है। परन्तु मुखौटे अथवा पहनावे द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व वास्तविकता से भिन्न हो जाता है।

इस अर्थ में व्यक्तित्व को व्यक्ति के बाह्य गुणों के आधार पर समझा जाता है। परन्तु इससे व्यक्तित्व का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

1.2.2 सैद्धान्तिक अर्थ

सैद्धान्तिक रूप से व्यक्तित्व को 5 दृष्टिकोणों से देखा जाता है।

1. सामान्य दृष्टिकोण
2. दार्शनिक दृष्टिकोण
3. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
4. मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण
5. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

सामान्य रूप से व्यक्तित्व का अर्थ उन गुणों के समावेश से लगाया जाता है जो दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सहायता करते है। इस प्रकार व्यक्तियों की वे विशेषतायें जो दूसरों को प्रभावित करने में सहायता करती हैं, व्यक्तित्व के अन्तर्गत आती है।

दार्शनिक विचारधारा के अनुसार व्यक्तित्व का तात्पर्य आत्मज्ञान तथा पूर्ण आदर्श से है। व्यक्ति की मानसिक रचना में ज्ञान का प्रारूप तथा उसकी आदर्शवादिता व्यक्तित्व के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तित्व के अन्तर्गत उन गुणों को सम्मिलित करते हैं जो व्यक्ति का समाज में कार्य एवं पद निर्धारित करते हैं। सामाजिक प्रभावशीलता इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रमुख लक्षण है। मनोविश्लेषण विचारधारा के अनुसार व्यक्तित्व में अंग प्रमुख हैं– इड, अहं तथा पराहम। अचेतन मन की मूल प्रवृत्तियाँ वास्तविकता से सम्बन्धित होती है तथा तृप्ति चाहती है। अहं इस शक्ति पर विवेक, तर्क एवं चेतना से रोक लगाता है। अहं शक्ति ही वास्तविक व्यवहार करवाती है। समाज के अनुरूप व्यवहार करने की योग्यता पराहम द्वारा उत्पन्न होती है। अतः व्यक्तित्व में ये तीन शक्तियाँ प्रभावकारी होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति का पूर्ण संगठन जो कि विकास के किसी स्तर पर होता है, व्यक्तित्व के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

1.3 व्यक्तित्व शब्द की परिभाषा

यहाँ पर हम कुछ विद्वानों की परिभाषाओं का उल्लेख कर रहे हैं:

मन, एन. एल. : व्यक्ति की परिभाषा एक व्यक्ति के ढाँचे, व्यवहार के तरीकों, रूचियों, मनोवृत्तियों, सामान्यों, योग्यताओं और अभिरूचियों के सर्वाधिक विशिष्ट संगठन के रूप में की जा सकती है।[1]

आल्पोर्ट, जी. डब्लू. : व्यक्तित्व मनोदैविक व्यवस्थाओं का गत्यात्मक संगठन है जो पर्यावरण के प्रति होने वाले उसके अपूर्व अनुकूलनों का निर्धारण करता है।

यंग, किम्बाल : अपने उद्देश्य के लिए व्यक्तित्व को कम या अधिक आदतों, लक्षणों, मनोवृत्तियों, विचारों को उस समगता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसका निर्माण बाह्य रूप में एक व्यक्ति के कार्यों तथा प्रस्थितियों के रूप में होता है तथा आन्तरिक रूप से वे सम्प्रेरणाओं, उद्देश्यों तथा आत्मा के विभिन्न तत्वों से सम्बन्धित होते है।

लायियिरस ऐण्ड फ्रान्सवर्थ : व्यक्तित्व शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग किसी समय विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के समाजीकरण के प्रतिफलन को दर्शाने के लिए किया जाता है। व्यक्तित्व उन सभी गुणों को समग्रता है जिन्हें व्यक्ति ने समाजीकरण द्वारा अर्जित किया है।

डेशिल, जे. एफ. : व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से उसकी प्रतिक्रियाओं की, सम्भावनाओं की उस ढंग की व्यवस्था है जिस ढंग से वह सामाजिक प्राणियों द्वारा आँकी जाती है। यह व्यक्ति करता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम व्यक्तित्व को निम्न शब्दों में परिभाषित कर सकते हैं

व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार के तरीके, रूचियाँ, अभिवृत्तियाँ, योग्यतायें, क्षमतायें, आदतें, प्रेरणायें, उद्देश्य तथा शारीरिक गुण आदि के सम्मिलित योग को कहते हैं।

1.3.1 व्यक्तित्व की परिभाषा

व्यक्तित्व अत्यधिक उपयोग किए जाने वाला शब्द है तथा इसके साथ अनेक अर्थ जुड़े हैं। आलपोर्ट (1937) के अनुसार इस शब्द के कम से कम पचास भिन्न–भिन्न अर्थ मान्य है। इन्होने स्पष्ट किया है कि "व्यक्तित्व शब्द मूलरूप से लैटिन भाषा शब्द के पार्सोना से लिया गया है। आलपोर्ट यह भी इंगित करते है कि सिसेरो के लेखों में व्यक्तित्व कम से कम चार महत्वपूर्ण अर्थो में प्रयोग किया गया है। प्रथम यह कि व्यक्तित्व, व्यक्तिगत, गुणों के एकीकरण के रूप में मान्य है। इस भाव में अभिनेता का व्यक्तित्व सन्दर्भित होता है। दूसरे, व्यक्तित्व उस रूप में माना जाता है कि व्यक्ति को अन्य लोग देखते व समझते हैं। इस सन्दर्भ में व्यक्तित्व को मुखौटा से जोड़ते है। तीसरे, व्यक्तित्व, द्वारा जीवन में निर्वाह की जा रही भूमिका का प्रतिनिधत्व के आधार पर निर्धारित किया जाता है अर्थात एक व्यावसायिक, समाजिक या राजनीतिक भूमिका जैसे नाटक में चरित्र। अन्तिम, व्यक्तित्व विशिष्टताओं और मान्यता के गुणों को सन्दर्भित

करता है। यह एक सितारे की अपने व्यक्तित्व को संबंद्ध करता है। व्यक्तित्व की अनेक परिभाषाएं हैं। आलपोर्ट (1937) सर्वमान्य परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं:

सामाजिक मूल्य के रूप में व्यक्तित्व

उद्दीपन के मूल्य रूप में व्यक्तित्व

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व, व्यक्ति या व्यक्तित्व का अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों पर प्रभाव है य समाज में एक व्यक्ति दूसरे को किस रूप से प्रभावित करता है। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को तेजी से एवं सरलता पूर्वक प्रभावित करता है तो उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली माना जाता है। ऐसा दैनिक जीवन में भलीभाँति देखा जा सकता है कि वह व्यक्तित्व जिसमें उच्चस्तरीय उद्दीपन मूल्य होता हैं कि वह अच्छे व्यक्तित्व वाला है। मगर व्यकितत्व की यह विचारधारा वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न होता है।

प्रतिदर्श के रूप में व्यक्तित्व

उद्दीपन के रूप में व्यक्तित्व के सम्बन्ध में वर्णन की सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए, व्यक्तित्व को प्रतिदर्श के संदर्भ में परिभाषित किया गया है। "प्रतिदर्श के रूप में व्यक्तित्व" के संदर्भ में गुथरी और आलपोर्ट ने दो परिभाषाएं प्रस्तुत की है। इस प्रकार व्यक्तित्व को परिभाषित करने का यह लाभ है कि वाह्य प्रतिमानों के आधार पर व्यक्तित्व का अध्ययन करना असम्भव हो सकता है। परन्तु इस प्रकार की पभिाषा भी त्रृटिपूर्ण है क्योंकि व्यक्तित्व केवल प्रतिदर्शों के समूह का ही प्रतिनिधित्व नहीं वरन इसके अन्तर्गत उद्दीपन मूल्य भी निहित होता है।

मध्यवर्ती– चर के रूप में व्यक्तित्व

आलपोर्ट (1937) ने व्यक्तित्व को एक मध्यवर्ती चर के रूप में परिभाषित किया है। इनके अनुसार "व्यक्तित्व, व्यक्ति के उन मनोशारीरिक तंत्रों का उसमें निहित गतिशील संगठन है जो पर्यावरण के साथ उसके अद्वितीय समायोजन के निर्धारक तत्व होते है।"

1.4. व्यक्तित्व के विशेषगुण

क्रच एवं क्रेचफील्ड (1958) ने विशेषगुण को परिभाषित करते हुए बताया है कि यह व्यक्ति के विशिष्ट गुणों में से एक गुण है जिसके द्वारा व्यक्ति समस्त परिस्थितियों में सकारात्मक व्यहवहार करता है। व्यक्तित्व को तुलनात्मक क्रियाकलापों तथा अवलोकन के क्रियाकलापों के द्वारा जाना जा सकता है। किसी व्यक्ति का व्यक्ति का अवलोकन उसकी अतिशीघ्र या सचेत या शुद्ध या इन सभी के संदर्भ में प्रतिक्रिया के आधार पर किया जा सकता है। ये ऐसी सम्पत्तियाँ है जो सम्पूर्ण के आधार पर विशेषण के मार्ग में अवरोध के रूप में, विद्यमान होती हैं, यही पक्ष या सम्पत्तियाँ जिन

पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, "विशेषगुण" हैं। ये "विशेषगुण" व्यवहार सम्बन्धी भी होते है तथा दैहिक भी होते हैं।

1. विशेषगुण की उपस्थिति नाममात्र से अधिक होती है अर्थात् इसको ये
2. विशेषगुण आदतों की तुलना में अधिक सामान्य होते हैं।
3. विशेषगुण गतिशील होते है अथवा कम से कम निर्धारक के रूप में अवश्य होते हैं।
4. विशेषगुणों की उपस्थिति सांख्यिकी एवं अनुभव के आधार पर स्थापित की जा सकती है।
5. व्यक्तित्व की अनेक विशेषगुण एक दूसरे पर आश्रित नहीं होते।
6. मनोवैज्ञानिक आधार पर नैतिक गुण व्यक्तित्व के विशेषगुण नहीं होते।
7. कार्य–गुण अथवा आदत जो विशेषगुण के अनुरूप या पक्ष में नहीं होते उनसे विशेषगुण की विद्यमानता का साक्ष्य नहीं मिलता।
8. विशेषगुण अद्वितीय तथा सारभौमिक होते हैं।

मानव विशेषगुण के सम्बन्ध में वृहद स्तरीय विश्लेषण के आधार पर आलपोर्ट ने एक विशेषगुण सिद्धांत प्रस्तावित किया है। जिसके आधार पर विशेषगुण के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:

1. व्यक्तित्व– विशेषगुण उपयुक्त व्यवहार अथवा अवरोध (व्यवहार के चयन में सहायता प्रदान करता है।)
2. विशेषगुण का प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं सम्भव होता परन्तु उनके बारे में किसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है।
3. आदतें विशेषगुण को निर्धारित नहीं करती परन्तु एक नई आदत विकसित करने में विशेषगुण सहायक हो सकता है।
4. विशेषगुण व्यवहार की उत्पत्ति एवं निर्देशन करते है।
5. आलपोर्ट के अनुसार कुछ महतवपूर्ण विशेषगुणः नियमितता, आक्रोश, प्रसन्नता, प्रतिस्पर्धा, अनोखापन, सामूहिकता, प्रभावितता आदि हैं।
6. सामान्य विशेषगुणों की सहायता से सामान्य व्यक्तियों के समायोजन के स्तर की तुलना की जा सकती है।
7. विशेषगुणों के समूहों को आलपोर्ट ने संरक्षण की संज्ञा दी है।
8. आलपोर्ट ने समस्त विशेषगुणों को तीन प्रमुख समूहों में वर्गीकृत किया है–

(1) **प्रमुख विशेषगुण–** इस प्रकार के विशेषगुण अधिक प्रभावशाली होते हैं तथा इनका मुख्य कार्य संवेगों को नियन्त्रित करना होता है। इनकी संख्या बहुत कम होती है।

(2) **केन्द्रीय विशेषगुण–** ये विशेषगुण व्यक्ति के व्यवहार के केन्द्र बिन्दु को सुनिश्चित करने में सहयोग करता हैं। प्रातः ऐसे विशेषकों को व्यक्ति को प्रखण्डों के निर्माणकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(3) **द्वितीय विशेषगुण–** ये विशेषगुण कुछ व्यक्तिगत विशेषगुण होते हैं और कुछ सामान्य विशेषगुण होते हैं। व्यक्तिगत वास्तविक लक्षणों के रूप में माने जाते हैं। सामन्य विशेषगुण अनेक व्यक्तियों में पाए जाते हैं। इनका उपयोग अनके व्यक्तिगत– विशेषगुणों के प्रमाप के आधार के रूप में किया जात है।

1.5 पर्सनाल्टी (Personality) शब्द की व्याख्या

पर्सनाल्टी शब्द की यदि हम व्याख्या करें तो व्यक्ति के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

P =	Psychological Development	मनोवैज्ञानिक विकास की विशेषतायें एवं गुण।
E =	External Adjustment	बाह्य समायोजन।
R =	Reservior	संग्रहालय।
S =	Social qualities	सामाजिक विशेषतायें।
O =	Orgnic Traits	शारीरिक गुण
N=	Needs	आवश्यकतायें
A =	Appearance	मुखौटा
L =	Learning	ज्ञान का स्तर
I =	Intelligence	बुद्धि
T =	Temperament	स्वभाव
Y =	Yearning	लालसा

1.6 व्यक्तित्व की विशेषतायें

व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है :

1. यह व्यवहार का तरीका निश्चित करता है।

2. रुचियाँ व्यक्तित्व की अंग हैं।
3. दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है।
4. क्षमतायें व्यक्ति की अर्जित शक्ति है जो व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।
5. समायोजनात्मक शक्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व को देन है।
6. विचारों की किस्म व्यक्तित्व पर निर्भर होती हैं।
7. मनोवृत्तियाँ महत्वपूर्ण होती हैं।
8. व्यक्तित्व पर मूल्यों का प्रभाव पड़ता है और उसकी आदतें इससे नियंत्रित होती हैं।
9. व्यक्तित्व विशेष से स्थायी गुणों की ओर संकेत होता हैं।
10. व्यक्तित्व द्वारा परिवर्तनशील वातावरण के साथ व्यक्ति का अनुकूलन प्रगट होता है।
11. शरीर की रचना तथा मानसिक विशेषतायें व्यक्तित्व में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

1.6.1 शारीरिक विशेषतायें

व्यक्ति के शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, गठन, भार, रंग रूप, ध्वनि आदि शारीरिक गुण हैं इन गुणों का व्यक्तित्व पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

1.6.2 मानसिक गुण

मानसिक गुणों के अन्तर्गत ज्ञान, भावना, इच्छा, स्वाभाव, प्रवृत्ति आदि को सम्मिलित करते हैं। ज्ञान बुद्धि के आधार व्यक्तियों को निम्न श्रेणी में विभक्त कर सकते है:

1.	अत्युत्कृष्ट	140–169	बुद्धि लब्धि
2.	उत्कृष्ट	120–139	बुद्धि लब्धि
3.	सामान्य से ऊपर	110–119	बुद्धि लब्धि
4.	सामान्य	90–109	बुद्धि लब्धि
5.	सामान्य से नीचा	80–89	बुद्धि लब्धि
6.	सीमावर्ती	70–79	बुद्धि लब्धि
7.	मूर्ख	59–69	बुद्धि लब्धि
8.	मूढ़	25–49	बुद्धि लब्धि
9.	जड़	00–24	बुद्धि लब्धि

भावना के स्वभाव का विकास होता है। स्वभाव के आधार पर व्यक्ति चार प्रकार के होते हैं।

1. आशावादी
2. निराशावादी

3. चिड़चिड़े
4. अस्थिर

चरित्र भी व्यक्तित्व का एक प्रमुख अंग है। चरित्र का मूल्यांकन नैतिक मूल्यों के आधार पर तथा समाज के नियमों पर होता है। यह व्यक्ति की निर्बलता या सबलता, उच्चता या नीचता पर निर्भर नहीं होता है वरन् व्यक्ति के आत्म संयम–चाहे वह कमजोर या बलवान हो, उच्च या निम्न वर्ग का हो पर निर्भर होता है। वही व्यक्ति उच्च चरित्र वाला है जो अपने वर्तमान सुख को महान आदर्श अथवा उज्जवल भविष्य के लिए त्याग देता है। इस प्रकार चरित्र के आधार पर भी व्यक्तित्व को श्रेणी बद्ध कर सकते हैं।

1.6.3 सामाजिकता

सामाजिकता तथा विकास समूह में होता है। व्यक्ति का प्रारम्भिक जीवन परिवार में व्यतीत होता है और परिवार सामाजिक गुणों को विकसित करने का प्रमुख साधन है। सहयोग, सहानुभूति, त्याग की भावना, जनहित आदि गुण व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं।

1.6.4 संकल्प शक्ति

व्यक्तित्व की संकल्प शक्ति एक महत्वपूर्ण अंग है। व्यक्तित्व के निर्धारण में सकल्प शक्ति बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके द्वारा ही विचार शक्ति में वृद्धि होती है एवं व्यक्तित्व में निखार आता है। इस गुण के कारण ही गांधी जी, सुभाषचन्द्र बोस, शिवाजी तथा जवाहरलाल नेहरू आदि महान पुरुष बने।

1.6.5 संवेगात्मक गुण

संवेग के अन्तर्गत भाव, आवेग, तथा शारीरिक एवं दैहिक प्रतिक्रियायें सभी आती है। ये गुण अथवा विशेषतायें मिश्रित होकर विभिन्न श्रेणियों में प्रकट होते हैं। क्रोध, झगड़ालूपन, सहानुभूति, प्रेम, भय, चिंता, सुख, हँसी आदि संवेग हैं जो परिस्थिति के आधार पर प्रकट होते हैं। व्यक्ति के संवेग व्यक्तित्व के प्रकार को स्पष्ट करते हैं। इससे व्यक्ति की प्रकृति का बोध होता हैं।

1.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सर्वप्रथम व्यक्तित्व के अर्थ का अध्ययन किया तथा उसकी परिभाषा का अध्ययन किया। इसके उपरान्त व्यक्तित्व के विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का अध्ययन किया तथा इकाई के अन्त में व्यक्तित्व के तत्वों एवं उसकी विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

1.8 बोध प्रश्न

1. व्यक्तित्व का अर्थ तथा परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन करें।
3. व्यक्तित्व के तत्वों का उल्लेख कीजिए।
4. पर्सनाल्टी शब्द की व्याख्या कीजिए।

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंघी, नरेन्द्र कुमार एवं गोस्वामी, वसुधाकर, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2006।
2. मिश्र, पी.डी., सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1985।
3. सिंह, लाभ, एवं तिवारी गोविन्द, असामान्य मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा दसवां संस्करण, 1985
4. सिंह, डी. के., समाज कल्याण प्रशासन, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ।
5. शर्मा, श्री राम शर्मा ,व्यक्तित्व परिष्कार की साधना ,युग निर्माण योजना गायत्री तपोभूमि
6. सिंह, सुरेन्द्र एवं मिश्र पी. डी., समाज कार्य इतिहास, दर्शन एवं प्रणालियाँ, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
7. शर्मा, श्री राम शर्मा ,व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएं ,युग निर्माण योजना गायत्री तपोभूमि
8. स्वामी विवेकानन्द, व्यक्तित्व का विकास,रामकृष्ण मठ
9- Cloninger CR: Assessment of personality, in New Oxford Textbook of Psychiatry , 2nd ed. Edited by Gelder M, Andreasen N, Lopez-Ibor J, Geddes J. Oxford, UK, Oxford University Press, 2009

इकाई–2 : व्यक्तित्व के प्रकार एवं निर्धारण

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 व्यक्तित्व का निर्धारण

2.3 व्यक्तित्व के प्रकार

2.4 सन्दर्भ

2.5 बोध प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

व्यक्तित्व का कुछ हिस्सा हम आनुवांशिक रूप से अपने माता–पिता से ग्रहण करते हैं और आंशिक रूप से व्यक्तित्व जिस परिवेश में हमारी परवरिश हुई है, उससे निर्धारित होता है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न विषयों को समझ सकेंगे–

- व्यक्तित्व के निर्धारक कारक
- अंतःस्रावी ग्रन्थ प्रणाली एवं इसका व्यक्तित्व पर प्रभाव
- व्यक्तित्व निर्माण के स्नायु तंत्र प्रणाली की भूमिका
- व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरणीय कारकों की भूमिका
- व्यक्तित्व के प्रकार

2.2 व्यक्तित्व का निर्धारण

व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाले कारकों को हम दो समूह में वर्गीकृत कर सकते हैं :–

1. आनुवांशिकी कारक
2. पर्यावरणीय कारक

आनुवांशिकी कारक – आनुवांशिकी कारक वह है जो कि हम अपने माता–पिता से ग्रहण करते हैं और व्यक्तित्व के विकास में मार्गदर्शक होते हैं। साथ ही व्यक्तित्व विकास में सामाजिक परिवेश जिसमें व्यक्ति रहता है, की भी अहम भूमिका होती है। अनुवांशिकी कारक के अंतर्गत निम्न शामिल होते हैं।

(1) शारीरिक स्वास्थ्य एवं शारीरिक बनावट

(2) अंतः स्रावी ग्रन्थी प्रणाली

(3) स्नायु तंत्र प्रणाली

(1) शारीरिक स्वास्थ्य एवं शारीरिक आकार/बनावट – शारीरिक बनावट से तात्पर्य लम्बाई, त्वचा का रंग, शारीरिक संरचना से है। सामान्यतः अच्छी शारीरिक बनावट वाला व्यक्ति स्वस्थ शरीर वाला होता है। शारीरिक बनावट के लक्षण अधिकांशतः वंशानुक्रम से निर्धारित होते हैं। उदाहरण स्वरूप यह देखा गया है कि अच्छे कद वाले माता–पिता की संतानें भी ऊँचे कद की होती हैं। जबकि कम ऊँचे कद वाले माता–पिता की संताने अक्सर कम कद की होती हैं। उपरोक्त कथन सदैव सत्य नहीं होता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि बच्चों की शारीरिक विशेषताएँ या लक्षण उनके माता–पिता से मेल नहीं खाते हैं बल्कि उनके पूर्वजों से ज्यादा मेल खाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अनुवांशिक कारक माता–पिता के साथ ही पूर्व पीढ़ी/पूर्वजों से भी संबंधित होते हैं। बच्चा जैविक विशेषताएँ अपनी पिछली सात पीढ़ियों से ग्रहण करता है। व्यक्ति की शारीरिक बनावट उसकी मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक कारकों एवं अंततः उसके व्यवहार को भी प्रभावित करता है। अक्सर हम देखते हैं अच्छी शरीरिक बनावट एवं सुन्दर व्यक्ति दूसरों के आर्कषण का केन्द्र होता है जिसके परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति में आत्मविश्वास, उत्तरदायित्व की भावना, सामाजिकता एवं अनुशासन के गुण विकसित होते हैं। साथ ही श्रेष्ठता की भावना भी ऐसे व्यक्ति में बलवती होती है। जबकि जिन व्यक्तियों की शारीरिक संरचना आकर्षक नहीं होती है प्रायः उनको हेय दृष्टि से देखा जाता है परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्तियों में हीनता की भावना, सांवेगिक आस्थिरता की भावना का विकास होता है। ऐसे व्यक्ति शर्मीले एवं अंर्तमुखी होते हैं।

(2) अंतःस्रावी ग्रंथीय प्रणाली – हमारी ग्रंथीय प्रणाली बहुत हद तक हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। हमारे शरीर की विभिन्न ग्रन्थियाँ, हमारे शरीर की विभिन्न प्रणालियों को नियमित करती हैं साथ ही हमारे व्यक्तित्व को भी प्रभावित करती हैं। हमारे शरीर में इन ग्रन्थियों के द्वारा स्रावित हारमोनों के कारण विभिन्न रासायनिक

परिवर्तन होते हैं। हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रन्थियां– अंतःस्रावी एवं बाह्यस्रावी ग्रंथियां पायी जाती हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से स्रावित हारमोन सीधे हमारे रक्त प्रवाह में शामिल होता है। कुछ महत्वपूर्ण अंतस्रावी ग्रन्थियाँ निम्न हैं–

(क) पिट्यूटरी (ख) एड्रीनल

(ग) थायराइड (घ) पेनक्रियास

(ड) सेक्स ग्रन्थि

(क) पिट्यूटरी ग्रन्थि – यह हमारे मस्तिष्क में हायपोथेलेमस के नीचे स्थित होता है। इसके अग्र भाग से वृद्धि हारमोन अथवा सोमैटोट्रोपिन हारमोन का स्रवण होता है। बचपन में इसके अधिक स्रावण से व्यक्ति बहुत विशालकाय आकार का हो जाता है और इसके कम स्रावण से बौनेपन से ग्रसित हो जाता है। इस ग्रन्थि के पश्च भाग से स्रावित पिट्यूट्रिन हॉरमोन रक्तप्रवाह को नियंत्रित करने एवं वृक्क (किडनी) के सामान्य कार्य के लिए उत्तरदायी होता है।

(ख) एड्रीनल ग्रन्थि – यह ग्रन्थि किडनी के ऊपर स्थित होता है। इसके दो भाग होते हैं– बाह्य भाग एड्रीनल कार्टेक्स जबकि आंतरिक भाग को एड्रीनल मेडुला कहा जाता हे। एड्रीनल कार्टेक्स द्वारा स्रावित कार्टिन हारमोन कारबोहाईड्रेट, लवण एवं उपा–पचय को नियंत्रित करता है। इस ग्रन्थि में किसी प्रकार की कमी आने के कारण व्यक्ति आकर्मणीय हो जाता है, थकावट होती है तथा नींद नहीं आती है।

एड्रीनल मेडुला द्वारा एड्रीनलीन एवं नार एड्रीनलीन का स्रावण होता है। एड्रीनलीन व्यक्ति की संवेदनाओं को नियंत्रित करने हेतु काफी महत्वपूर्ण है साथ ही यह व्यक्ति को विपरीत परिस्थितियों का सामना करने हेतु तैयार करता है। जैसे कि अचानक यदि कोई खतरनाक जन्तु दिखाई दे तो व्यक्ति तुरंत सक्रिय हो जाता है, उसके हृदयगति, श्वास गति बढ़ जाती है, रक्त में सर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार व्यक्ति आकस्मिक परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है।

(ग) थाइराईड ग्रन्थि – यह ग्रन्थि थ्रोट में स्थित होती है एवं इसके द्वारा थाइराँकसिन हारमोन का स्रावण होता है जो कि हमारे शरीर की उपापचीय क्रियाओं को नियंत्रित करता है। बचपन में थायराँक्सीन के अल्प श्रावण से व्यक्ति बौना हो जाता है जबकि व्यस्क अवस्था में इसकी कमी से मिक्सोडिमा के लक्षण प्रकट होते हैं। इस हारमोन के अल्प स्रावण से उपापचीय क्रियाओं में कमी आती है, जिसके

परिणामस्वरूप उसकी हृदयगति, श्वसन दर एवं शारीरिक तापमान में कमी हो जाती है। इस हारमोन के अति श्रावण से व्यक्ति अधिक सक्रिय एवं अधिक आवेश/महत्वाकांक्षी हो जाता है।

(घ) पेनक्रियास – इसके द्वारा दो प्रकार के हारमोन इन्सूलिन एवं ग्लूकोगान का स्रवण होता हे। इनसुलिन हारमोन रक्त में शर्करा की मात्रा नियंत्रित करता है जिससे कि शरीर को पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा प्राप्त होती है। इसके अल्पस्राव से रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। इसके अति श्राव से रक्त में शर्करा की मात्रा बहुत कम हो जाती है। इस स्थिति को हाइपोग्लाइसीमिया कहते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति में ज्यादा बेचैनी, कभी–कभी अचेतना की स्थिति दिखाई देती है।

(ड.) सेक्स ग्रन्थि – महिला की सेक्स ग्रन्थि को ओवरी कहा जाता है एवं पुरुष की सेक्स ग्रन्थि को टेस्टिकल्स कहते हैं। टेस्टिकल्स के द्वारा दो हारमोन टेस्टोस्टेरॉन एवं एन्डोस्टेरॉन का स्रावण होता है। ये हारमोन पुरुषों में प्राथमिक एवं द्वैतीयक लैंगिक लक्षणों के लिए उत्तरदायी होते हैं। ओवरी के द्वारा एस्ट्रोजन एवं प्रोजेक्स्ट्रोन हारमोन स्रावित होते हैं। रक्त में एस्ट्रोजन की अधिकता से द्वैतीयक लैंगिक लक्षणों का विकास होता है। प्रोजेस्ट्रॉन भ्रूण के समुचित विकास के लिए गर्भाशय को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह पता चलता है कि व्यक्ति का शारीरिक विकास एवं मानसिक लक्षण विभिन्न ग्रन्थियों द्वारा स्रावित हारमोनों से नियंत्रित होते हैं।

(3) स्नायु तंत्र – नर्वस सिस्टम – आपने अक्सर देखा होगा कि कुछ अधिक बुद्धिमान भी काफी प्रभावित होते हैं। मनोवैज्ञानिकों का मानना है जिन व्यक्तियों का स्नायु तंत्र काफी जटिल एवं विकसित होता है, उनमें बौद्धिक क्षमता अधिक होती है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों का सामना अच्छे तरीके से कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति दूसरों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करते हैं। अपने इस व्यक्तित्व के लक्षण के कारण। ऐसे व्यक्ति जिनका स्नायु तंत्र अधिक विकसित होता है, अधिक बुद्धिमान होते हैं व विभिन्न लक्षणों जैसे उत्तरदायित्व, समयबद्धता, सांवेगिक स्थिरता, आत्मनियंत्रण से ओत–प्रोत होते हैं वहीं दूसरी ओर जिन व्यक्तियों का स्नायु तंत्र कम विकसित होता है उनमें विभिन्न परिस्थितियों से सामना करने की क्षमता कम होती है।

पर्यावरणीय कारक – व्यक्तित्व के निर्धारण में आनुवंशिकी कारकों के साथ ही पर्यावरणीय कारकों की भी अहम् भूमिका होती है। व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाले पर्यावरणीय कारकों की व्याख्या हम निम्न तीन श्रेणियों के अन्तर्गत कर सकते हैं–

(1) सामाजिक कारक

(2) सांस्कृतिक कारक

(3) आर्थिक कारक

समाजिक कारक – व्यक्ति की प्रवृत्ति सामाजिक होती है, इसलिए व्यक्ति का परिवेश जिसमें वह पला–बढ़ा होता है, सामाजिक परिस्थिति, सामाजिक संस्थाओं, परिवार, विवाह, धर्म, मित्रसमूह, पड़ोस का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

1) माता–पिता – बच्चा सर्वप्रथम अपने माता–पिता से अन्तःक्रिया करता है। प्रत्येक माता–पिता बच्चों की परवरिश भिन्न प्रकार से करते हैं। कुछ माता–पिता बच्चों की गलतियों को नजर अंदाज करते हैं तथा उनको स्वावलम्बी नहीं बनने देते हैं। ऐसे माता–पिता के बच्चे बहुत जिद्दी तथा अर्न्तसम्बन्धों में शोषक (Exploitative) प्रवृत्ति के होते हैं। साथ ही ऐसे बच्चों में आत्मविश्वास में कमी दिखाई पड़ती है वहीं दूसरी तरफ ऐसे माता–पिता जो बच्चों के प्रति बहुत सख्त होते हैं ऐसे बच्चे दब्बू, शर्मीले एवं संवेगिक रूप से अस्थायी होते हें।

(2) घर का वातावरण – व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्धारण में परिवार का वातावरण अहम् भूमिका अदा करता है। उन परिवारों जिसमें सांवेगिक जुड़ाव अधिक होता है, परस्पर सहयोग और जो बच्चों को अधिक प्रोत्साहित करते हैं ऐसे परिवारों के बच्चों में आत्मविश्वास एवं सांवेगिक स्थिरता अधिक पायी जाती है।

(3) स्कूल – परिवार के बाद स्कूल दूसरा माध्यम है जो व्यक्तित्व को निर्धारित करने में अहम भूमिका अदा करता है। स्कूल व्यक्तित्व को दो प्रकार से प्रभावित करता है। पहला यह व्यक्तित्व कारकों के विकास को निर्धारित करता है। दूसरा यह बच्चों में आत्म–विश्वास का विकास करता है। स्कूल में शिक्षकों का व्यक्तित्व, अनुशासन, शैक्षिक उपलब्धि का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। बच्चे स्कूल में सहयोग, सामंजस्य एवं साझा करना सीखते हैं।

(4) पड़ोस – पड़ोस से बच्चा विभिन्न परिवारों की शौलियों यथा भाषा, संस्कृति तथा भिन्नताओं को सीखता है। पड़ोस की प्रकृति माता–पिता की अपेक्षा ज्यादा उद्देश्योन्मुख होती है जो कि उसके व्यवहार को काफी हद तक प्रभावित करता है।

(5) सामाजिक स्वीकृति – सामाजिक स्वीकृति से आशय दूसरे अन्य से अनुमोदन एवं प्रशंसा प्राप्त करना। व्यक्ति में यह अकांक्षा होती है कि उसके कृत्यों को दूसरे सराहें एवं अनुमोदन करें इसके लिए व्यक्ति अपने व्यवहार

एवं अभिवृत्ति को भी परिवर्तित करता है। जिन व्यक्तियों को अधिक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है उनमें नेतृत्व का गुण, आत्म विश्वास और श्रेष्ठता की भावना अधिक बलवती होती है जबकि जिन्हें कम सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है उनमें अर्न्तमुखी, आत्मसम्मान में कमी तथा सामाजिक सामंजस्य में कमी देखी जाती है।

(2) सांस्कृतिक कारक – संस्कृति व्यक्ति को व्यापक रूप से प्रभावित करती है इस प्रकार वह कहीं हद तक व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी निर्धारित करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। हम सभी संस्कृति से किसी न किसी रूप में जुड़े होते हैं चाहे वह प्रथा, परंपरा, लोकरीति, फैशन, लोकाचार किसी भी रूप में हो। विभिन्न संस्कृतियों में बच्चों की परवरिश के अलग–अलग ढंग होते हैं। जिन संस्कृतियों में बच्चों की परवरिश में अनुशासन, भौतिक दंड पर ज्यादा जोर होता है ऐसे बच्चे दब्बू, आक्रामक एवं अर्न्तमुखी व्यक्तित्व वाले होते हैं। दूसरी तरफ जिन संस्कृति में बच्चों के साथ ज्यादा अर्न्तक्रिया होती है, बच्चों को अपनी अभिव्यक्ति की स्वीकारोक्ति होती है ऐसे बच्चों में उत्सुकता, बर्हिमुखता एवं रचनात्मकता अधिक देखने को मिलती है।

(3) आर्थिक कारक – आर्थिक कारक भी व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण होते हैं। आर्थिक कारक हमारी अभिवृत्ति, प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं जिसकी परिणिति व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिलक्षित होती हैं। निम्न आय वर्ग से सम्बन्धित बच्चों में अक्सर देखा जाता है कि उनमें आत्म विश्वास में कमी, शर्मीले, संकोची तथा निम्न होने की भावना देखी जाती है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उसके व्यक्तित्व विकास हेतु उपलब्ध संसाधनों तक पहुंच को निर्धारित करती है।

2.3 व्यक्तित्व के प्रकार –

विस्ज तथा स्कोपलर के अनुसार व्यक्तित्व के प्रकार से आशय व्यक्तियों के ऐसे वर्ग से होता है जिनके गुण एक दूसरे से मिलते हैं। प्रायः व्यक्तित्व के प्रकार को दो भागों में बांटकर देखा जाता है। एक में व्यक्ति के शरीरिक गुणों, उसकी चित्तप्रकृति या स्वभाव तथा दूसरे में व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है।

शारीरिक गुणों के आधार पर क्रेश्मर तथा शेल्डन ने व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया है।

क्रेश्मर ने शरीरिक गुणों के आधार पर व्यक्तिव के चार प्रकार बताये हैं जो निम्न हैं–

(1) स्थूलकाय प्रकार (Pyknic Type) – ऐसे व्यक्ति का कद छोटा तथा शारीर भारी एवं गोलाकार होता है। ऐसे लोगों की गर्दन छोटी एवं मोटी होती है। इस तरह के व्यक्ति सामाजिक एवं खुशमिजाज होते हैं तथा खाने–पीने एवं सोने में काफी मजा लेते हैं।

(2) कृषकाय प्रकार (Asthenic Type) – ऐसे व्यक्ति का कद लम्बा एवं शरीर दुबला–पतला होता है। शारीर का वनज उम्र के अनुसार होने वाले वजन से कम होता है। ऐसे व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा, सामाजिक उत्तरदायित्व से दूर रहने की प्रकृति तथा काल्पनिक दुनिया में रहते हैं।

(3) पुष्टकाय प्रकार – इस प्रकार के व्यक्ति का शरीर गठीला, मांसपेशियां विकसित तथा शारीरिक कद औसत होता है। ऐसे व्यक्ति का स्वभाव न तो अधिक चंचल होता है न ही अधिक मंदन होता है। ऐसे व्यक्ति बदलती हुई परिस्थिति के साथ आसानी से समायोजन कर लेते हैं।

(4) विषालकाय प्रकार (Dysplastic Type) – इस श्रेणी में उन व्यक्तियों को रखा जाता है जिनमें ऊपर के तीन प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार का गुण नहीं मिलता है बल्कि इन तीनों प्रकारों का गुण मिला–जुला होता है।

शेल्डन ने शरीरगठन के आधार पर व्यक्तित्व के तीन प्रकार बताये जो निम्न हैं–

1. **एण्डोमार्फी** – इस प्रकार के व्यक्ति मोटे तथा नाटे होते हैं तथा इनका शरीर गोलाकार होता है। ऐसे व्यक्ति आरामपसंद, खुशमिजाज, सामाजिक तथा खाने–पीने की चीजों में अधिक अभिरूचि दिखलाने वाले होते हैं।
2. **मिसोमार्फी** – ऐसे व्यक्ति का शारीरिक गठन काफी सुडौल होता है। ऐसे व्यक्ति में जोखिम लेने की तीव्र प्रवृत्ति, दृढ़ कथन, आक्रामकता आदि गुण पाए जाते हैं।
3. **एक्टोमार्फी** – ऐसे व्यक्ति का कद लम्बा तथा शरीर दुबला पतला होता है। इनके शरीर की मांसपेशियां अविकसित होती हैं। ऐसे व्यक्ति को अकेला रहना पसंद होता है साथ ही वह संकोचशील एवं लजालु भी होता है।

व्यक्तित्व की व्याख्या एवं वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर युंग, आइजेन्क तथा गिलफोर्ड के द्वारा की गयी है।

युंग ने व्यक्तित्व के निम्नलिखित दो प्रकार बताये हैं:–

(क) बर्हिमुखी (Extrovert)– ऐसे व्यक्तियों की अभिरूचि सामाजिक कार्यों में अधिक होती है। ऐसे व्यक्ति दूसरों से मिलना–जुलना, पसंद करने वाले, खुशमिजाज, आशावादी तथा यथार्थवादी होते हैं।

(ख) अन्तर्मुखी (Introvert) – ऐसे व्यक्तियों को दूसरें से मिलना–जुलना कम पसंद होता है। ऐसे व्यक्ति में आत्मकेन्द्रियता का गुण अधिक पाया जाता है। ऐसे व्यक्ति पुराने रीति–रिवाजों एवं नियमों को आदर देने वाले तथा रूढ़िवादी होते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि अधिकतर लोगों में उपरोक्त दोनों श्रेणियों के गुण पाए जाते हैं यही वजह है कि वे एक परिस्थिति में बहिर्मुखी के रूप में व्यवहार करते हैं तथा दूसरी परिस्थिति में वे अन्तर्मुखी के रूप में व्यवहार करते हैं। ऐसे व्यक्ति को उभयमुखी (Ambivert) प्रकार का कहा जाता है।

आइजेन्क ने व्यक्तित्व की व्याख्या करने हेतु तीन आयामों की चर्चा की है। इनका मानना है कि कोई व्यक्तित्व ऐसा नहीं होता है जो पूर्णतः किसी एक प्रकार में रखा जा सकता हो। इसलिए इन्होंने व्यक्तित्व के तीन प्रकारों जो द्विध्रुवीय होते हैं बतलाये जो निम्नलिखित हैं–

(1) **अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता–** आइजेन्क के अनुसार अन्तर्मुखता एंव बर्हिमुखता व्यक्तित्व के दो अलग प्रकार नहीं हैं चूंकि ये दोनों तरह के गुण एक ही व्यक्ति में एक साथ अधिक या कम हो ऐसा नहीं होता है। अतः इनका मानना है कि यह प्रायः द्विध्रुवीय है। जैसे– किसी व्यक्ति में सामाजिकता अधिक है अर्थात् वह लोगों से मिलना–जुलना अधिक पसंद करता है तो यह कहा जाता है कि व्यक्ति में इस आधार पर बहिर्मुखता पक्ष ऊंचा है। दूसरी तरफ यदि व्यक्ति अकेले रहना पसन्द करता है, संकोची एवं शर्मीला है तो कहा जाता है कि व्यक्ति में अर्न्मुखता पक्ष अधिक ऊँचा है।

(2) **स्नायुविकृति–स्थिरता** – आइजेन्क के अनुसार यह व्यक्तित्व का दूसरा प्रमुख प्रकार है। व्यक्तित्व के इस प्रकार के पहले छोर स्नायुविकृति होने पर व्यक्ति में सांवेगिक नियंत्रण में कमी तथा इच्छा शक्ति कमजोर होती है। ऐसे में इनके विचारों एवं क्रियाओं में मन्दता पायी जाती है। इस प्रकार के लोगों में अन्य व्यक्तियों के सुझाव को चुपचाप स्वीकार करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छाओं का दमन किया जाता है। इस प्रकार के दूसरे छोर वाले व्यक्तित्व में स्थिरता होती है तथा स्नायुविकृति वाले व्यवहारों एवं लक्षणों की मात्रा घटती जाती है फलस्वरूप उसमें स्थिरता की मात्रा बढ़ती जाती है।

(3) **मनोविकृतिता** – परांह की क्रियाएं – आइजेन्क के अनुसार मनोविकृति वाले व्यक्तित्व के प्रकार में क्षीण एकाग्रता, क्षीण स्मर्षति तथा क्रूरता का गुण अधिक होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्ति में असवेदनशीलता, दूसरों के प्रति सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध की कमी, असतर्कता तथा सृजनात्मकता में कमी जैसे गुण पाये जाते हैं। जैसे–जैसे इस प्रकार के दूसरे छोर पर पराहं की क्रियाएँ होती हैं उक्त लक्षणों या व्यवहारों की मात्रा घटती जाती है तथा व्यक्ति में आर्दशत्व तथा नैतिकता की मात्रा बढ़ती जाती है।

व्यक्तित्व के अन्य प्रकारों टाईप ए तथा टाईप–बी की चर्चा फ्रिडमैन तथा रोजेनमैन ने की है। इन्होंने व्यक्तित्व के इन भिन्न प्रकारों के निम्न लक्षण बतायें हैं।

टाईप ए – ऐसे व्यक्ति काफी प्रतियोगिता प्रेमी, महत्वाकांक्षी, समय का पूरी तरह सदुपयोग करने वाले तथा चिड़चिड़ा प्रकृति के होते हैं। ऐसे लोग हमेशा हड़बड़ी में रहते हैं तथा ऐसा महसूस करते हैं कि उन् पर हमेशा काम का बोझा रहता है। ऐसे व्यक्ति सदैव अपने काम को पूर्ण करने से संलग्न रहते हैं इन्हें आराम करने में कठिनाई महसूस होती है। टाईप–ए व्यक्तित्व वाले व्यक्तित्व में उच्च रक्तचाप, उच्च कोलेस्ट्राल तथा धूम्रपान जैसे लक्षण अधिकांशतः देखे जाते हैं।

टाईप–बी व्यक्तित्व – टाईप–बी व्यक्तित्व के व्यक्ति प्रतियोगी विचार के नहीं होते हैं, शांतप्रिय और किसी भी कार्य को हड़बड़ी में नहीं करते है बल्कि सोच समझकर करने वाले होते हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त टाइप सी व्यक्तित्व, टाईप डी व्यक्तित्व, टाईप एच व्यक्तित्व, टाईप टी व्यक्तित्व भी होते हैं जिनकी विशेषताएं अधोलिखित हैं–

टाईप सी व्यक्तित्व– मांरिस ने इस प्रकार के व्यक्तित्व का प्रतिपादन किया था। ऐसे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति अत्यधिक अनुपालन दिखलाते हैं तथा अपनी जिंदगी को सुचारू रूप से चलाने में एवं नियंत्रित करने में निःसहाय महसूस करते हैं। ऐसे लोग व्यवहार में सहयोग एंव धैर्य रखते हैं परन्तु नकारात्मक संवेगों की अभिव्यक्ति नहीं कर पाते हैं।

टाईप–डी व्यक्तित्व – इस प्रकार के व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को नकारात्मक संवेगों का अनुभव अधिक होता है तथा सामाजिक अंतः क्रियाओं में ऐसे लोग अपने आपको कम से कम अभिव्यक्त कर पाते हैं।

इकाई–3 भारतीय संदर्भ में व्यक्तित्व विकास के चरण

3.1 प्रस्तावना

3.2 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषा

3.3 व्यक्तित्व के निर्धारक

3.4 विकास के सोपान

3.5 विकास के पक्ष

3.6 भारतीय संदर्भ में व्यक्तित्व विकास की अवस्थायें

3.7 समाजीकरण के स्तर

3.8 बोध प्रश्न

3.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

3.1 प्रस्तावना

जन्म के समय शिशु में सामाजिकता लगभग शून्य होती है। जैसे–जैसे उसका शारीरिक तथा मानसिक विकास होने लगता है, वैसे–वैसे उसका समाजीकरण भी होने लगता है। वह अपने माता–पिता, परिवार के सदस्यों, संगी–साथियों तथा अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है जिसके फलस्वरूप वह सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है तथा सामाजिक जगत में अपने को समायोजित करने का प्रयास करता है। समाजीकरण की इस प्रक्रिया से बालक का सामाजिक विकास होता है। सामाजिक विकास से तात्पर्य विकास की उस प्रक्रिया से जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण के साथ अनुकूलन करता है, सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप अपनी आवश्यकताओं व रूचियों पर नियंत्रण करता है, दूसरों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करता है तथा अन्य व्यक्तियों के साथ प्रभावपूर्ण ढंग से सामाजिक संबंध स्थापित करता है। सामाजिक विकास के फलस्वरूप व्यक्ति समाज का एक मान्य, सहयोगी, उपयोगी तथा कुषल नागरिक बन जाता है। समाज में रह कर ही व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा जन्मजात प्रवृत्तियों व योग्यताओं का विकास करता है। समाज में रह कर ही वह दूसरों से सम्पर्क करता है, समाज के मूल्यों, विष्वासों तथा आदर्शों में आस्था रखने लगता है तथा समाज की जीवन–षैली को अपनाता है। उसमें सहअस्तित्व की भावना आ जाती है, वह सामाजिक हित में तथा लोक कल्याण की भावना से अपने निहित स्वार्थों का त्याग करना सीख जाता है तथा सामाजिक गुणों को विकसित करके समाज में अनुकूलन स्थापित करने

का प्रयास करता है। अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क करने एवं अनुकूलन स्थापित करने की योग्यता सामाजिक विकास का ही परिणाम होती है जो बालक के समाजीकरण के फलस्वरूप विकसित होती है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि प्रत्येक व्यक्तित में बाल्यावस्था में ही व्यक्तित्व विकास होने लगता है। आगे आने वाली अवस्थाओं में जब बालक के समाजीकरण एवं अधिगम की प्रक्रिया व्यापक पर प्रारम्भ होती है तो उसमें व्यक्तित्व विकास होने लगता है और बच्चे के अन्दर व्यवहारिक संबंधों में परिवर्तन आने लगता है।

3.2 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषा

व्यक्तित्व शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के परसोना से हुई है जिसका अर्थ होता है मुखौटा। प्राचीन समय में नाटकों में कार्य करते समय अभिनेता एक प्रकार के मुखौटे का प्रयोग करते थे जिससे उनका वास्तविक रूप छिपा रहता था और कृत्रिम रूप सामने आता था अतः इसका अर्थ अवास्तविकता का स्वरूप है।

बैरेन के अनुसार, "व्यक्तित्व, व्यक्ति की संज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं दैहिक विषमताओं का एक ऐसा सुव्यवस्थित संगठन है जिस रूप में वह अन्य व्यक्तियों से स्वयं के स्पष्टता पृथक रूप में प्रस्तुत करता है।"

अल्पोर्ट के अनुसार, "व्यक्तित्व, व्यक्ति की मनोदैहिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है जोकि पर्यावरण में अपूर्ण अभियोजन को निर्धारित करता है।"

3.3 व्यक्तित्व के निर्धारक

1. जैविकीय निर्धारक
2. मनोवैज्ञानिक निर्धारक
3. सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्धारक

3.4 विकास के सोपान

यद्यपि विकास की अवस्था अथवा सोपान जैसे शब्द का प्रयोग तकनीकी दृष्टि से भ्रामक है फिर भी प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया को कुछ अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। वास्तव में विकास एक सतत् प्रक्रिया है जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त चलती है परन्तु व्यवहारिक कारणों को दृष्टिगत रखते हुए मान लिया जाता है कि विकास की प्रक्रिया में बालक कुछ सोपानों से होकर गुजरता है जो हैं:–

1.गर्भावस्था,

2.शैशवावस्था

3.बाल्यावस्था

4 किशोरावस्था

5. प्रौढ़ावस्था

3.5 विकास के पक्ष

विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले विकास के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विकास की प्रत्येक अवस्था में बालक के व्यवहार में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। बालक के व्यवहार में होने वाले इन्हीं परिवर्तनों के आधार पर विकास के निम्नलिखित पक्षों को समझा जा सकता है:–

1. शारीरिक विकास
2. मानसिक विकास
3. सामाजिक विकास
4. संवेगात्मक विकास
5. नैतिक विकास

3.6 भारतीय संदर्भ में व्यक्तित्व विकास की अवस्थायें

व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है, यह व्यवहार की विशेषताओं, मानसिक क्षमताओ, समायोजन की योग्ताओं एवं शारीरिक बनावट को स्पष्ट करता है। साधारणतया व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति की उन क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनको वह दूसरों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी के पर्सनाल्टी का हिन्दी रूपांतर है और पर्सनाल्टी शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के परसोना से हुई है जिसका तात्पर्य एक ऐसे पहनावे से है जिसको कलाकार नाटक के समय पहन कर मंच पर भूमिका निभाते हैं। इस अर्थ में व्यक्तित्व का मापन व्यक्ति के वाह्य गुणों के आधार पर किया जाता है। परन्तु व्यक्तित्व का वास्तविक अर्थ इस कथन से स्पष्ट होता है।

सैद्धान्तिक रूप से व्यक्तित्व को 5 दृष्टिकोणों से देखा जाता है। सामान्य दृष्टिकोण से व्यक्तित्व का अर्थ उन गुणों के समावेश से लगाया जाता है जो दूसरे पर अपना प्रभाव सीमित करने में सहायता करते हैं तथा यह वह उद्दीपक मूल्य है जो व्यक्ति दूसरे के प्रति रखता है। दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तित्व का तात्पर्य

आत्मज्ञान तथा पूर्ण आदर्श से है समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तित्व उन गुणों का संगठित रूप होता है जो व्यक्ति का समाज में कार्य एवं पद का निर्धारण करता है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण इदम्, अहम् तथा पराह के संतुलित व्यवहार को व्यक्तित्व का आधार मानता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व इन शक्तियों से नियंत्रि होता है तथा प्रभावकारी स्थितियों में सहायता करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति का पूर्ण संगठन है जो किसी विकास के स्तर पर होता है। वंशानुक्रम तथा पर्यावरण दोनों ही व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

1. **सांस्कृतिक प्रतिमान एवं चरित्र–निर्माण**–चरित्र–निर्माण एक ऐसी वस्तु है जो समाज में रहकर ही मानव सांस्कृतिक प्रतिमानों को सीखता है। वह एक विशेष प्रकार के सांस्कृतिक प्रतिमान अपना लेता है और इसी के अनुरूप अपने चरित्र का निर्माण करता है।

2. **व्यक्तित्व का विकास**–व्यक्तित्व का विकास भी समाज की देन है। व्यक्तित्व से हमारा अर्थ केवल व्यक्तित्व की वाह्य बनावट से नहीं है, बल्कि उसका आन्तरिक स्वभाव, उसी आदतों, उसकी मनोधारणाओं तथा उसके विश्वासों एवं मूल्यों में भी है। व्यक्तित्व की कुछ आदतें प्रबल होती है, तथा कुछ उन्हीं पर आधारित। व्यक्तित्व में हमारी जो प्रबल मनोधारणाएं होती है, उनमें कोई भी परिवर्तन सरलता से नहीं हुआ करता है। व्यक्तित्व के जितने भी गुण होते हैं, उनमें से हम एक को भी जन्म से अपने साथ नहीं लाते, बल्कि पूरा व्यक्तित्व ही सामाजिक उपलब्धि होती है।

3.'स्व' का विकास–'स्व' का विकास एक ऐसी वस्तु है जो हमारे व्यक्तित्व का आधार है तथा साथ ही हमारी समाजीकरण की प्रक्रिया को सम्भव बनाता है। यह एक मानसिक अस्तित्व है जो व्यक्ति में सामाजिक सम्पर्क से उत्पन्न होता है। 'स्व' स्वयं एक सामजिक उत्पत्ति है। यह तब उत्पन्न होता है जब बच्चा दूसरों की प्रतिक्रियाओं को अन्तर्निहित करके दूसरों के कार्यों को दोहराने लगता है।

4.समाजीकरण–समाजीकरण व्यक्ति को समाज की एक अनुपम देन है। यदि समाज ने यह अनुपम भेंट व्यक्ति को न दी होती तो वह उस अर्थ में सामाजिक प्राणी न कहलाता जिसमें कि आज है। समाजीकरण की प्रक्रिया ही वह महत्वपूर्ण साधन है जिससे समाज हाड़–मांस के असभ्य जैविक प्राणी को पालकर सामाजिक मनुष्य बनाता है। मनुष्य समाजीकरण की प्रक्रिया के ही कारण एक सभ्य पशु है।

3.7 समाजीकरण के स्तर

व्यक्तित्व विकास में समाजीकरण की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में विभिन्न अवस्थाओं से गुजरते हुए व्यक्ति का

समाजीकरण होता है। बाल्यावस्था, किशोरावस्था एवं प्रौढावस्था के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत रहे हैं, यदि वेदों, उपनिषदों एवं विभिन्न ग्रंथों के आधार पर यह विवेचना की जाये कि व्यक्तित्व विकास में बाल्यवस्था, किशोरवस्था, वैवाहिक जीवन एवं सन्यास से संबंधित अभिलेख मिलते हैं। पार्सन्स और जान्सन ने व्यक्तित्व विकास के चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

1. **मौखिक अवस्था**–यह शिशु के जीवन की सबसे प्रारम्भिक अवस्था है व्यक्तित्व विकास में यह प्रथम सोपान आवश्यक लक्ष्य निर्धारित करता है। इस अवस्था में शिशु अपने माता–पिता पर अधिक निर्भर होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के लिए बालक मात्र एक सम्पदा है। शिशु की प्रमुख समस्या भूख, प्यास, ठंड तथा गर्मी लगना है।

2. **शौच अवस्था**–यह अवस्था प्रत्येक परिवार व समाज में विभिन्न–विभिन्न होती है। मुख्यतः यह प्रथम वर्ष से प्रारम्भ होकर तृतीय वर्ष में समाप्त होती है। भारतीय समाज में इसकी डेढ़ वर्ष या दो वर्ष की आयु मानी जाती है। इस अवस्था में शिशु को शौच प्रशिक्षण दिया जाता है और अपेक्षा की जाती है कि वह स्वच्छता से रहे।

3. **ऑडिपल अवस्था तथा गुप्तावस्थाकाल**–जॉनसन के अनुसार अमेरिकी मध्यम वर्ग में यह सोपान प्रायः चौथे वर्ष से आरम्भ होकर बारह–तेरह वर्ष की आयु तक रहता है। इस अवस्था में बालक पूरे परिवार कस सदस्य हो जाता है और परिवार की सभी प्रकार की भूमिकाओं से परिचय प्राप्त कर लेता है। इसमें शिशु यौनिक व्यवहार से पूर्ण रूप से परिचित नहीं होता है लेकिन यौन भावना का जन्म होना शुरू हो जाता है। इस अवस्था में बालक से आशा की जाती है कि वह अपने लिंग के अनुरूप व्यवहार करे।

4.किशोरावस्था–सामान्यतः किशोरावस्था, जो प्रायः यौवन का आरम्भ माना जाता है, को विद्वानों ने संकटकालीन स्थिति कहा है। इस अवस्था में बालक स्वतंत्रता की मांग करना प्रारम्भ कर देता है। परिवार के साथ–साथ बालक इस अवस्था में शिक्षण संस्था, खेल कूद के साथी, पड़ोस तथा समाज के नये या अपरिचित सदस्यों के सम्पर्क में आता है। किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन शुरू हो जाते हैं तथा उस पर यौन सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। इसके कारण उसमें प्रतिबन्ध लगाने वाले वयस्क सदस्यों के प्रति उग्रभाव जन्म ले लेता है। इस अवस्था में बालक को सांस्कृतिक आदर्शों व मूल्यों से परिचय करवाकर उन पर चलने के लिए बाध्य किया जाता है। ऐसी अवस्था में तनाव का बना रहना स्वाभाविक है। यदि इस अवस्था में मॉ–बाप सूझ–बूझ से कार्य न करें तो बच्चा बिगड भी सकता है। इस अवस्था में सीखने के प्रति रूचि जाग्रत होती है। वह अन्य समूहों से अपने समाज के व्यवहार व ढंग से सीखने लगता है तथा उसे अनुभव होने लगता है कि उसे किस प्रकार के कार्य करने चाहिए।

3.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1.व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं? व्यक्तित्व विकास में समाजीकरण की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

2. बाल्यावस्था एक किशोरावस्था की विवेचना कीजिए तथा व्यक्तित्व विकास में इनके योगदान का वर्णन कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1 सामाजीकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं?

2. व्यक्तित्व विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

3.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. जिसवर्ट, पी., फन्डामेन्टलस आफ सोशियॉलोजी, ओरियन्ट लॉगकेस, बाम्बे, 1959।
2. इलियट, टी.डी., दि डिक्शनरी आफ सोशियॉलोजी।
3. मैकाइवर आर.एम. तथा पेज सी.एच., सोसाइटी, मैकमिलन कम्पनी न्यूयार्क, 1952।
4. कूले, सी.एच., ह्यूमन नेचर एण्ड सोशल आर्डर।
5. मीड, जार्ज.एच., माइन्ड, सेल्फ एण्ड सोसाइटी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो, 1934।
6. एडलर, ए., दि न्यूरोटिक कान्स्टीट्यूशन, मोफैट यार्ड, ए.के., न्यूयार्क, 1917।
7. कोलमैन, जेम्स सी., अवनार्मल साइकोलाजी एण्ड माडर्न लाइफ, डी. वी.लारपोरवाला ऐण्ड संस बम्बई, 1942।
8. कोसेर,एल., दि फक्शन्स आफ सोशल कन्फ्लिक्ट्स, फ्री प्रेस आफ ग्लेनकोई, न्यूयार्क, 1964।
9. कूपरस्मिथ, एस., दि एन्डीसिडेन्ट्स आफ सेल्फ इस्टीम, फ्रीमैन, सेनफ्रांसिसको, 1939।
10. किगलेन, इ., हेरेडिटी ऐण्ड इनवाइरनमेंट इन दि फंक्शनल साइकोसिस, यूनिवर्सिटी फार लागेट ओसलों, 1967।
11. पैटर्सन, सी.एस., कौशिलिंग ऐण्ड साइकाथेरैपी, हारपर ऐण्ड डनहम, न्यूयार्क, 1959।
12. परविन, एल.ए., पर्सनाल्टी थियरी एसेसमेंट ऐण्ड रिसर्च, न्यूयार्क, 1970।
13. प्रिगल, एम. एन. के, डिप्रीवियेसन ऐण्ड एजूकेशन, ह्यूमनिटीज प्रेस, न्यूयार्क, 1965।

इकाई–4 वंशानुक्रम एवं पर्यावरण

इकाई की रूपरेखा –

4.1 प्रस्तावना

4.2 वंशानुक्रम का अर्थ

4.3 सामाजिक व्यवहार पर वंशानुक्रम का प्रभाव

4.4 वातावरण का अर्थ

4.5 मानव व्यवहार पर वातावरण का प्रभाव

4.6 पर्यावरण का व्यक्तित्व पर प्रभाव

4.7 मानव व्यवहार के निर्धारण में वंशानुक्रम तथा वातावरण का सापेक्षिक महत्व

4.8 बोध प्रश्न

4.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

4.1 प्रस्तावना

वंशानुक्रम का अभिप्राय उन गुणों से है जिन्हें बच्चा जन्म से ही उनके माता–पिता द्वारा प्राप्त करता है। अन्य शब्दों में जन्मजात वैयक्तिक गुणों का योग ही वंशानुक्रम है। इस जैविक वंशानुक्रम को समझने में यह ज्ञात करना आवश्यक है कि गर्भ की स्थापना किस प्रकार होती है। पुरूष के शुक्राणु तथा स्त्री के डिम्ब का जब संयोग होता है तो गर्भ की स्थापना होती है। गर्भ की स्थापना के समय डिम्ब स्रवित होकर गर्भाशय में आता है। शुक्राणु तथा डिम्ब गुण–दोषों के वाहक भी होते हैं। इन गुणों का भ्रूण में समावेश होता है। जिन्हें जन्म के उपरांत वंशानुक्रम कहते हैं। इस प्रकार के गुणों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण होता है। इस प्रकार माता–पिता के गुण संतान में प्रविृष्ट होते हैं।

4.2 वंशानुक्रम का अर्थ

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वंशानुक्रम एक जैविकीय तथ्य है। व्यक्ति का कद, रूप, रंग, स्वास्थ्य आदि अनेक बातें माता–पिता पर निर्भर करती है। निम्न परिभाषायें उल्लेखनीय हैं–

(1) थामसन–थामसन का मत है कि, "वंशानुक्रम आगामी पीढ़ियों के बीच उत्पत्ति–विषयक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए एक सुविधाजनक शब्द है।"

(2) रूप बेनीडिक्ट–बेनीडिक्ट का मत है, "वंशानुक्रम का अर्थ माता–पिता से उनकी सन्तानों में विविध गुणों का संचरण होना है।"

4.3 सामाजिक व्यवहार पर वंशानुक्रम का प्रभाव

मनुष्य के सामाजिक व्यवहार पर वंशानुक्रम के प्रभाव को ज्ञात करने के लिए अनेक परीक्षण किए गये । इन परीक्षणों के सन्दर्भ में गाल्टन, डगडेल तथा गोडार्ड के नाम उल्लेखनीय है–

(क) गाल्टन का मत–वंशानुक्रम के प्रभाव के बारे में गाल्टन ने दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया–

(1) पैतृक वंशानुक्रम का नियम–इस नियम के आधार पर गाल्टन ने यह निष्कर्ष निकाला कि बच्चे में वंशानुक्रम की आधी मात्रा माता–पिता से प्राप्त होती है। पच्चीस प्रतिशत गुण पितामह से और शेष पितामह से प्राप्त होते है–

(2) असत्य प्रत्यागन का नियम– इस नियम के अनुसार कभी–कभी माता–पिता के गुणों का प्रवेश सन्तान में नहीं होता। प्रायः बुद्धि तथा व्यवहार की दृष्टि से अनेक बच्चे अपने माता–पिता से भिन्न होते है। अपने इन नियमों के आधार पर गाल्टन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वंशानुक्रम का सन्तान पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यह प्रभाव वातावरण के प्रभाव की अपेक्षा अधिक होता है।

(ख) डगडेल का मत– वंशानुक्रम के प्रभाव को ज्ञात करने के लिए डगड़ेल ने अमेरिका में एक 'लूक्स' परिवार का अध्ययन किया। इस परिवार में माता–पिता का आचरण अच्छा नहीं था। अतः इस परिवार में सन्तानें उत्पन्न हुई, वे या तो अपराधी जीवन की ओर बढ़ी और केवल सामान्य व्यवहार द्वारा जीवन व्यतीत करने के योग्य हुई।

(ग) गोडार्ड का मत–गोडार्ड ने वंशानुक्रम के प्रभाव को ज्ञात करने हेतु मार्टिन कल्लीकाक के कुटुम्ब का अध्ययन किया। इस कुटुम्ब में पति का दो स्त्रियों के साथ सम्बन्ध था। एक स्त्री के साथ अवैध सम्बन्ध था। उसका आचरण अच्छा नहीं था। द्वितीय स्त्री सम्भ्रान्त परिवार की लड़की थी। अतः प्रथम स्त्री से जो सन्तानें हुईं उनमें अधिकांश जुआरी, शराबी और अपराधी हुए। इसके विपरीत, दूसरी सम्भ्रान्त परिवार की स्त्री से जो सन्तानें हुईं, वे सर्व योग्य तथा प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करने में समर्थ हुई। इस अध्ययन से गोडार्ड इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि व्यक्ति के व्यवहार के निर्धारण में, वंशानुक्रम का योगदान महत्वपूर्ण होता है।

4.4 वातावरण का अर्थ

प्रत्येक व्यक्ति अपने माता–पिता से जन्मजात गुणों को प्राप्त करता है। ये गुण आरम्भ में स्पष्ट नहीं होते। विकास के साथ इनका रूपान्तर होता है। इस रूपान्तरण के लिए बाध्य परिस्थितियॉ उत्तरदायी होती है, जिन्हें वातावरण या परिवेश कहा जाता है।

संक्षेप में वातावरण का अभिप्राय उन परिस्थितियों से है जिनमें मनुष्य जीवन व्यतीत करता है। इन परिस्थितियों के अनुसार वातावरण को दो भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें आन्तरिक वातावरण और वाह्य वातावरण कहा जाता है।

आन्तरिक वातावरण का अभिप्राय उस स्थिति से है जब बच्चा मॉ के गर्भ से होता है। इसके विपरीत वाह्य परिस्थिति से तात्पर्य भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से है। समाज मनोविज्ञान में इन वाह्य परिस्थितियों को भी विशेष महत्व दिया जाता है। परिस्थितियॉ मनुष्य के व्यक्तित्व तथा व्यवहार को प्रभावित करती हैं। इसके द्वारा व्यक्ति की कार्यक्षमता, रहन–सहन, व्यवसाय तथा व्यवहार के स्वरूप का निर्धारण होता है।

4.5 मानव व्यवहार पर वातावरण का प्रभाव

मानव व्यवहार को वातावरण को किस सीमा तक प्रभावित करता है, इस बारे में अनेक शोध कार्य हुए हैं और विभिन्न मतों की प्रतिस्थापना की गई है। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं।

(1) लेमार्क का मत–लेमार्क के मतानुसार, वातावरण का मनुष्य के ऊपर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। यह केवल मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित ही नहीं कतरा, बल्कि प्रत्येक प्राणी की आकृति का भी निर्धारण करता है। उदाहरण के लिए अफ्रीका में पाए जाने वाले जिराफ नामक जानवर की गर्दन प्रारम्भ में लम्बी नहीं थी। लेकिन जब वाह्य वातावरण में परिवर्तन हुआ और जमीन में घास की कमी होने लगी, तो उसने ऊॅचे वृक्षों से पत्तों को खाने का प्रयास आरम्भ किया। फलस्वरूप अने पीढ़ियों के उपरान्त जिराफ की गर्दन लम्बी हो गई। अपने इस सिद्धान्त को लेमार्क ने दो प्रतिस्थापनाओं पर आधारित किया है–(क) जीने की इच्छा। (ख) अर्जित लक्षण का सन्तान में प्रवेश।

संक्षेप में प्रत्येक प्राणी में जीने की इच्छा होती है। इसके फलस्वरूप, वाह्य परिस्थितियों के अन्तर्गत वह कुछ विशेष प्रकार के लक्षणों को अर्जित करता है। ये लक्षण वंशानुक्रम के रूप में सन्तान को प्राप्त होते रहते हैं।

(2) डार्विन का मत–प्रसिद्ध विकासवादी चार्ल्स डार्विन ने भी प्रत्येक प्राणी पर वातावरण के प्रभाव को स्वीकार किया है। अपने प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त में डार्विन

के वातावरण के प्रभाव को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। डार्विन के अनुसार, प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। जो प्राणी वातावरण के साथ अपने को अभियोजित नहीं कर पाता, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

4.6 पर्यावरण का व्यक्तित्व पर प्रभाव

व्यक्तित्व पर पर्यावरण का प्रभाव सापेक्षिक होता है चूंकि व्यक्ति जिस पर्यावरण में रहता है वह आचार, विचार एवं व्यवहार अपने परिवार, साथियों एवं परिवेष से सीखता है व्यक्ति पर भौतिक तथा जैविकीय प्रभाव होने के साथ सामाजिक प्रभाव तथा विद्यालयी प्रभाव भी पड़ता है। भौतिक प्रभाव के अन्तर्गत व्यक्ति का खान–पान, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य एवं मानव व्यवहार आता है जबकि सामाजिक प्रभाव के अन्तर्गत उच्च वर्ग, मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग के साथ दोषपूर्ण बालकों का तिरस्कार, अनुशासन की कमी अति स्नेह को सम्मिलित किया जा सकता है। विद्यालयी प्रभाव में अध्यापकों का स्वभाव पर्यावरण तथा पुरस्कार एवं दण्ड को सम्मिलित किया जा सकता है।

4.7 मानव व्यवहार के निर्धारण में वंशानुक्रम तथा वातावरण का सापेक्षिक महत्व

उपुर्यक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानव व्यवहार के निर्धारण में वंशानुक्रम तथा वातावरण का महत्वपूर्ण योगदान है। कुछ विचारक वंशानुक्रम को अधिक महत्व होते हैं। इसके विपरीत, कुछ विचारक वातावरण को अधिक महत्व देते हैं। इनमें से हम न तो वातावरण के प्रभाव को अस्वीकार कर सकते हैं और वंशानुक्रम के प्रभाव को। वस्तुतः मानव व्यवहार के निर्धारण में इन दोनों कारकों का अपेक्षित महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात गुण तथा विशेषताएँ होती हैं, जो वातावरण के अनुसार विकसित होती है। व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने में ये दोनों कारक एक–दूसरे के परिपूरक हैं।

संक्षेप में वंशानुक्रम तथा वातावरण मानव व्यवहार को प्रभावित करते है। वंशानुक्रम द्वारा व्यक्ति कुछ विशेष गुणों को प्राप्त करता है, वातावरण मनुष्य के जन्मगत गुणों को विकसित होने में मदद करता है।

4.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पर्यावरण से आप क्या समझते हैं? यह व्यक्तित्व पर किस प्रकार प्रभाव डालता है?

2. क्या वंशानुक्रम एवं पर्यावरण व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं? व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. व्यक्तित्व विकास पर वंशानुक्रम एवं वातावरण के प्रभाव की विवेचना कीजिए।
2. मानव व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों का वर्णन कीजिए।

4.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. मन,एन.एल., साइकोलोजी, जार्ज जी, हेरेप ऐण्ड कं., लंदन, 1953।
2. आलपोर्ट, जी.डब्ल्यू., पर्सनाल्टी--ए साइकालोजिकल इण्टरप्रिटेशन, हेनरी हाल्ट ऐण्ड कं., न्यूयार्क, 1901।
3. यंग, किम्बाल, हैन्डबुक आफ सोशल साइकालोजी, रटलेज एण्ड केगन पाल लि., लंदन, 1957।
4. लापियर ऐण्ड फ्रांसवर्थ, सोशल साइकालोजी, मैकग्राहिल बुक के., न्यूयार्क, 1945।
5. रास, इवा जे., सोसियॉलोजी ऐण्ड सोशल प्राबलम्स दि व्रयूस पब्लिशिंग कं., मिलवाकी 1953।
6. अमेरिकन साइक्याट्रिक एसोशियेसन, डाइगनोस्टिक ऐण्ड स्टेटिस्टिकल मैनुअल, वाशिंगटन, 1968।
7. आलपोर्ट, जी.डब्ल्यू., पैटर्न ऐण्ड ग्रोथ इन पर्सनाल्टी, राइन हार्ट ऐण्ड विनस्टन--इंक, न्यूयार्क, 1961।
8. इनजेल, जी.एल., इन्जाइटी ऐण्ड डिप्रेशन विद:ज्ञाल, इण्टरनेशनल जर्नल आफ साइकोएनालिसस, 1962।
9. इलनागर, एम.एन, मैत्रा, पी.एण्ड राव एम.एन., मेंटल हेल्थ इन रूरल कम्यूनिटी, ब्रिटिश जर्नल आफ साइक्याट्री, 1971।
10. इलेन वर्गगर, एच.एफ., दि डिसकवरी आफ अनकान्शस, बेसिक बुक्स, न्यूयार्क, 1966।
11. इरिक्सन, इ.एच., चाइल्डहुड ऐण्ड सोसाइटी, नार्टेन, न्यूयार्क, 1966।
12. ईसनेक, एच.जे., विहैवियर थेरेपी ऐण्ड दि न्यूरोसिस, पेरगामेंन, लन्दन, 1960।
13. ईसनेक, एस.जे., हैण्डबुक आफ एवनार्मल साइकालोजी, पिटमैन, लंदन, 1973।

14. एमोर, एम., पैटर्नस् आफ फोर्सिवल रेप, यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1971।

15. एट्कीन्सन, जे.डब्ल्यू., मेटिव्स इन फेन्टासी, एक्षन ऐण्ड सोसाइटी, वान नास्ट्रेंड,प्रिनसेट्न, 1958।

इकाई–5, व्यक्तित्व के सिद्धान्त–सिगमण्ड फ्रायड, कूले एवं आटो रैंक

इकाई की रूपरेखा –

5.0 इकाई का उद्देश्य

5.1 परिचय

5.1.1 सिगमण्ड फ्रायड का व्यक्तित्व का सिद्धान्त

5.1.2 कूले का व्यक्तित्व का सिद्धान्त

5.1.3 आटो रैंक का व्यक्तित्व का सिद्धान्त

5.2 सार–संक्षेप

5.3 पारिभाषिक शब्दावली

5.4 अभ्यास–प्रश्न

लघु, विस्तृत,

5.5 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.0 इकाई का उद्देश्य

प्रिय ज्ञानार्थियों प्रस्तुत इकाई में व्यक्तित्व के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। वास्तव में इस इकाई को पढ़ने से पहले व्यक्ति । के बारे में ज्ञान होना आवश्यक है। यदि आप लोग व्यक्तित्व को समझ लेने के बाद इस इकाई को पढ़ेगें तो ये सिद्धान्त आसानी से समझ में आ जायेगें। प्रस्तुत इकाई में सिगमण्ड फ्रायड, कूले तथ आटो रैंक द्वारा दिये गये व्यक्तित्व के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत इाकई को पढ़ने के बाद आप अग्रलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1– सिगमण्ड फ्रायड द्वारा दिये गये व्यक्तित्व के सिद्धान्त के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

2– इदम, अहम् तथा पराहम् के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

3– कूले के व्यक्तित्व के सिद्धान्त के बारे में प्रकाश डाल सकेगें।

4– आटो रैंक द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व के सिद्धान्त की व्याख्या कर सकेगें।

5.1 परिचय

विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर यह दर्शाने का प्रयास किया है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व किस प्रकार से निर्मित होता है? उसकी मानसिक

स्थिति क्या होती है? मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने व्यक्तित्व निर्माण के सिद्धान्तों को 'मनोविश्लेषणात्मक' और 'आत्मा' या रूप के विकास के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। 'मनोविश्लेषण' के तीन आवश्यक अंग होते है; जिसमें प्रथम, व्यक्तित्व का संगठन, द्वितीय व्यक्तित्व की गतिशीलता तथा तृतीय, व्यक्तित्व का विकास है। 'आत्मा' कोई शारीरिक तत्व न होकर एक मानसिक तथ्य है। व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में 'आत्म' व 'स्व' का उद्‌भव और विकास केन्द्र बिन्दु है। 'स्व' का अर्थ गर्व या घमण्ड से नहीं बल्कि व्यक्ति का स्वयं के बारे में ज्ञान से है, जो कि दूसरों के सम्पर्क एवं व्यक्ति के प्रति दूसरे लोग क्या सोचते हैं, से विकसित होता है। 'स्व' के ज्ञान के बाद ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। यह व्यक्ति को उसके मानसिक अस्तित्व का बोध कराता है। यद्यपि यह शारीरिक अस्तित्व से पहले ही मौजूद होता है। प्रस्तुत इकाई में सिगमण्ड फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के अलावा, कूले तथा आटो रैंक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कूले के व्यक्तित्व के 'आत्म दर्शन दर्पण' सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है। प्रस्तुत इकाई में आटो रैंक के 'जन्म अभिघात' सिद्धान्त के बारे में वृहद प्रकाश डाला गया है। अतः प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद विद्यार्थियों को उपरोक्त तीनों सिद्धान्तों के बारे में सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होगा।

5.1.1 सिगमण्ड फ्रायड का व्यक्तित्व सम्बन्धित 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धान्त–

सिगमण्ड फ्रायड से पहले व्यक्तित्व के चेतन पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन फ्रायड ने मनोविश्लेषण–सम्बन्धी नवीन संकल्पनाओं के द्वारा एक ऐसे व्यक्तित्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो आधुनिक मनोविज्ञान का शायद सबसे प्रमुख आधार है। आधुनिक मनोविज्ञान में फ्रायड का नाम एक मौलिक विचारक और मनोविश्लेषक के रूप में प्रसिद्ध है। फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा नवीन है, क्योंकि फ्रायड से पहले के विचारकों ने चेतनपन के अध्ययन पर बल दिया था लेकिन फ्रायड ने अचेतनपन को अपने अध्ययन का विषय बनाया।

सिगमण्ड फ्रायड का जन्म 'मोराविया' प्रदेश के एक नगर 'फ्राइबर्ग' में 6 मई, 1856 को एक 'यहूदी' परिवार में हुआ था। जब फ्रायड चार वर्ष के हुए तब वे अपने माता–पिता के साथ 'वियना' चले गये। 1881 में उन्होंने चिकित्साशास्त्र में उपाधि प्राप्त की। 1885 में फ्रायड पेरिस आये तथा प्रो0 'शार्को' के निर्देशन में तंत्रिकाशास्त्र का अध्ययन किया। 'शार्को' सम्मोहन के द्वारा हिस्टीरिया का उपचार करते थे। फ्रायड को यहीं से प्रेरणा प्राप्त हुई। वियना वापस आने पर 'जोजफ ब्रेयर' के सहयोग से चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। 'ब्रेयर' हिस्टीरिया के रोगियों की चिकित्सा सम्मोहन विधि से करते थे तथा रोगियों को आराम भी मिलता था। इन अनुभवो से

फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला कि जो सामान्य रूप से रोगी कहते हैं उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि रोगी मूल कारणों को नहीं जानते। वे कारण अचेतन में रहते हैं। इसी कारण फ्रायड ने अपने सिद्धान्त को मनोविश्लेषण कहा तथा 'मुक्त सहचर्य' उपाय की खोज की।

मुक्त साहचर्य–

मनोविश्लेषण में मुक्त साहचर्य का प्रमुख स्थान है। मुक्त साहचर्य द्वारा रोगी अपने अचेतन मन की बातों को कालान्तर में स्पष्ट करता है और फिर अपने रोग से मुक्त हो जाता है। कोई भी मानसिक रोगी प्रतिरोध के कारण अपने रोग के कारणों को नहीं जान पाता है। साधारणतया व्यक्ति दुःखदायी एवं अवांछिनीय बातों को छिपाते हैं। यह विस्मरण दमन, मन द्वारा होता हैं। इस प्रकार प्रतिरोध तथा दमन की प्रक्रियायें चेतन व्यक्ति को नहीं होती है। अर्थात् अचेतन व्यक्ति को ही प्रतिरोध व दमन जैसे प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ता है। अचेतन का तात्पर्य है कि व्यक्ति इस प्रक्रिया को चेतन रूप से अनुभव नहीं कर सकता है, फिर भी गतिशीलता रहती है।

सामान्यतः मनोविश्लेषण के तीन अर्थ हैं– (1) यह एक प्रविधि है। इसके माध्यम से एक व्यक्ति के मानसिक जीवन की चेतन और अचेतन गतिशीलता की खोज की जाती है। (2) मनोविश्लेषण एक प्रकार की मनोचिकित्सा है जिसके माध्यम से मनस्ताप, मनोविक्षिप्तता या मनोविकृति रोगियों का पुननिर्माण या उपचार इस प्रकार किया जाता है कि वह जीवन की समस्याओं के प्रति बेहतर और सुखी समायोजन कर सके। (3) मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण एक सम्प्रदाय है। मनोविश्लेषण को चाहे सम्प्रदाय के रूप में लिया जाय चाहे चिकित्सा पद्धति या प्रविधि के रूप में प्रयोग किया जाये। इन सभी क्षेत्रों में फ्रायड का प्रारम्भिक और प्रमुख योगदान है। फ्रायड मनोविश्लेषण सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। मनोविश्लेषण चिकित्सा पद्धति के 'जनक' हैं तथा मनोविश्लेषण प्रविधि के प्रतिपादक हैं।

मनोविश्लेषण के अग्रलिखित आवश्यक अंग हैं–

(क) व्यक्तित्व का संगठन

(ख) व्यक्तित्व की गतिशीलता

(ग) व्यक्तित्व का विकास

(क) व्यक्तित्व का संगठन–

फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व के संगठन में इदम्, अहम् और पराहम् का प्रमुख स्थान है। अतः यहाँ पर इनके स्वरूप पर विस्तार से चर्चा करना अपेक्षित है–

(अ) इदम्– फ्रायड के अनुसार यह मानसिक जगत या आन्तरिक जगत का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए 'इदम' को फ्रायड ने' वास्तविक मानसिक सत्यता' कहा है। अहम् और पराहम् के विकास का आधार 'इदम्' ही है। इदम् सुखवाद सिद्धान्त से संचालित होता है।

इदम् की उत्पत्ति– जन्म के समय शरीर की संरचना में जो कुछ भी निहित होता है वह पूर्णतः इदम् ही होता है। दूसरे अर्थों मे जन्म के समय मानव शिशु का मन पूर्ण रूपेण 'इदम्' होता है। अतः इदम् जन्मजात और वन्शानुगत है। इसे फ्रायड ने असंख्य पूर्वजों के स्मृति अवषेशों का भण्डार माना है।

इदम् की विषय सामग्री– तात्कालिक संतुष्टि हेतु इच्छाएं और विचार ही इदम् की प्रमुख विषय–सामग्री है। इदम् की उपर्युक्त इच्छाओं और विचारों का सम्बन्ध आत्मगत वास्तविकता से होता है। वातावरण की वास्तविकता से 'इदम्' का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। इदम् का नैतिकता, तार्किकता, समय, स्थान और मूल्यों आदि से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इदम् व्यक्तित्व का अपेक्षाकृत अधिक चलायमान पक्ष है।

इदम् के कार्य–इसका मुख्य कार्य शारीरिक इच्छाओं की संस्तुष्टि है। यह किसी भी प्रकार के तनाव से तात्कालिक छुटकारा पाना चाहता है। सुख की प्राप्ति और दुःख कि निवारण हेतु इदम् के दो प्रकार के कार्य हैं–

(1) सहज क्रियायें– ये क्रियायें जन्मजात तथा स्वचालित होती हैं; जैसे छींकना और पलक झपकना आदि। सभी व्यक्ति सहज क्रियाओं की पूर्ति के बाद सन्तोष का अनुभव करते हैं।

(2) प्राथमिक क्रियायें– तनाव भगाने के लिए प्राथमिक क्रियायें व्यक्ति के सामने पदार्थ की प्रतिमा निर्मित करती हैं। जैसे, एक प्यासे व्यक्ति के सामने पानी की प्रतिमा प्रस्तुत कर उसकी प्यास की संतुष्टि करना।

(ब) अहम्– फ्रायड का 'अहम्' से आश्य 'आत्म' या चेतन बुद्धि से है। इसका सम्बन्ध एक ओर वाह्य वास्तविकता से होता है तो दूसरी तरफ इदम् से होता है। यह व्यक्ति की इच्छाओं की संतुष्टि सामाजिक और भौतिक वास्तविकता के सन्दर्भ में करता है। यह इदम् की इच्छाओं और भौतिक जगत की वास्तविकताओं के मध्य समायोजनकर्ता का कार्य करता है।

अहम् की उत्पत्ति–अहम्, इदम् का ही एक विशिष्ट अंश है जो वाह्य वातावरण के प्रभाव के कारण विकसित होता है। चूँकि इदम् वंशानुगत होता है। अतः वंशानुगत पदार्थों पर वाताबरण के प्रभावों के परिणामस्वरूप अहम् का विकास होता है।

अहम् की विषय सामग्री–वाह्य वातावरण का एकत्रित ज्ञान ही अहम् की विषय सामग्री है।

अहम् के कार्य–यह तर्कसंगत होता है तथा इसको परिस्थितियों के बारे में ज्ञान रहता है। इसका प्रमुख कार्य वाह्य वातावरण के खतरों से जीवन की रक्षा करना है। यह उद्देश्यों की पूर्ति वास्तविकता के नियम के आधार पर करता है। संक्षेप में इसके कार्य अग्रलिखित हैं–

1– पोषण सम्बन्धी शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

2– शरीर की सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति करना।

3– वाह्य वातावरण की वास्तविकताओं के अनुसार इदम् के आवेगों को अभिव्यक्त करना।

4– इदम् और पराहम् की विरोधी इच्छाओं में समायोजन स्थापित करना।

5– नींद की अवस्था में भी यह स्वप्नों पर सेन्सरशिप बनाये रखता है।

6– बाधा या चिन्ता के उपस्थित होने पर व्यक्ति की उपयुक्तता की रक्षा करना।

(स) पराहम्–व्यक्तित्व का यह अंश सबसे बाद में विकसित होता है। यह व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष है। यह वह मुख्य शक्ति है जो व्यक्ति का समाजीकरण करती है।

पराहम् की उत्पत्ति–समाजीकरण प्रक्रिया में ही, बाल्यावस्था की स्थिति में पराहम् का विकास अहम् से होता है। वास्तव में यह अहम् का ही एक विशिष्ट विकसित रूप है। पराहम् के विकास में तादात्मय और अन्तर्निवेश की मानसिक मनोरचनायें सहायक होती हैं। इसके दो पक्ष होते हैं–

1– आदर्श अहम् 2– अन्तरात्मा

आदर्श अहम्, पराहम् का धनात्मक पक्ष है जिसमें समाज और संरक्षकों से सीखी गयी बातें या गुण सम्मिलित होते हैं। आदर्श अहम् के द्वारा व्यक्ति यह सीखता है कि समाज में क्या उचित है। 'अन्तरात्मा' पराहम् का ऋणात्मक पक्ष है जिसमें संरक्षक और समाज जिन बातों को बुरा समझते हैं, वह अवगुण सम्मिलित होते हैं। अन्तरात्मा द्वारा व्यक्ति यह सीखता है कि समाज में क्या अनुचित है, उसके संरक्षक किन बातों को अनुचित समझते हैं, आदि। जब कोई व्यक्ति समाज के आदर्शों और मूल्यों के विपरीत कार्य करता है तो अन्तरात्मा के कारण उसमें चिन्ता और अपराध भावना उत्पन्न हो सकती है।

पराहम् के कार्य–पराहम् के अग्रलिखित कार्य हैं–

1. इदम् के अनैतिक, असामाजिक और कामुक आवेगों पर नियंत्रण करना।
2. अहम् के आवेगों को नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों की ओर ले जाने का प्रयास करना है।
3. पूर्ण सामाजिक और आदर्श प्राणी बनाने हेतु प्रयास करना।

(ख) व्यक्तित्व की गतिशीलता–व्यक्तित्व की गतिशीलता में अहम् तथा पराहम् तंत्र परस्पर निम्न प्रकार से क्रिया–प्रतिक्रिया करते हैं–

1– मनः ऊर्जा–ऊर्जा का प्रमुख स्त्रोत भोजन है। ऊर्जा का वह रूप जो व्यक्ति के तीनों अंगों में क्रियाशील होता है, मनःऊर्जा कहते हैं। यह चिंतन, प्रत्यक्ष बोध तथा स्मरण आदि करती है।

2– मूल प्रवृत्तियां– यह एक ऐसी साधारण अवस्था है, जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को दिशा ज्ञान का बोध कराती है। जैसे, काम प्रवृत्ति, प्रत्यक्षबोध, स्मरण तथ चिन्तन आदि, विभिन्न प्रक्रियाओं को काम में सिद्धि के लिए परिचालित करती है। फ्रायड ने दो मूल प्रवृत्तियां माना है, प्रथम–काम सम्बन्धी प्रवृति तथा दूसरी मृत्युवृत्ति। वास्तव में व्यवहार नहीं मूल प्रवृत्तियों से संचालित होता है।

3– **मनःऊर्जा का विभाजन–**

(अ) इदम् – यह ऊर्जा का स्त्रोत है तथा इसका उपयोग इच्छापूर्ति के द्वारा मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए होता है। भोजन करने, पेशाब करने तथा काम सुख जैसी क्रियाओं में ऊर्जा का विसर्जन होता है। पहले प्रतिविम्ब बनता है तथा अहम् की सहायता से संस्तुष्टि होती है। जब अहम् कमजोर होता है तो ऊर्जा प्रत्यक्ष स्प से प्रवाहित होती है और व्यक्ति पर नियंत्रण कमजोर हो जाता हैं।

(ब) अहम्– इसकी ऊर्जा नहीं होती है। विवके, स्मरण, निर्णय, चिन्तन आदि द्वारा यह कार्य करता है। तनाव से छुटकारा पाने के लिए अहम् की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का इदम् से संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में आ जाना अहम् के विकास का प्रथम चरण है।

(स) पराहम्– इसका निर्माण दण्ड तथ पुरस्कार से होता है।

व्यक्तित्व का मनः स्थलीय विभाजन–

मनोविश्लेषण के प्रारम्भिक समय में सिगमण्ड फ्रायड ने व्यक्तित्व अथवा मन के तीन प्रकार बताये थे जिनमें, चेतन, अर्ध–चेतन तथा अचेतन सम्मिलित हैं। इनकी व्याख्या अग्रलिखित है–

(अ) चेतन– फ्रायड के अुनसार 'चेतन मन, मन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध तुरन्त ज्ञान से होता है।' वास्तव मे चेतन का आषय ज्ञान से है। यदि कोई व्यक्ति

लिख रहा है तो उसे लिखने की चेतना है। व्यक्ति जिन शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के प्रति जागरूक होता है वह चेतन पर घटित होती हैं। मन का 1/8वां भाग केवल चेतन है। इसमें सभी बातें व घटनायें याद रहती हैं। जैसे, व्यक्ति, वस्तुओं, तिथियों, नामें, परिस्थितियों को बिना किसी रूकावट के जान लेता है।

(ब) अर्ध–चेतन– फ्रायड के अनुसार 'यह मन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध ऐसी विषय–सामग्री से होता है जिसे व्यक्ति इच्छानुसार कभी भी याद कर सकता है।' इस भाग में ऐसे विचार आते हैं जिनका व्यक्ति को तात्कालिक ज्ञान नहीं होता है परन्तु अन्तर्निरीक्षण की क्रिया द्वारा उनका ज्ञान सम्भव हो जाता है।

(स) अचेतन– फ्रायड के अनुसार 'अचेतन मन, मन का वह भाग है जिसमें ऐसी विषय–सामग्री होती है जिसे व्यक्ति इच्छानुसार याद करके चेतना में लाना चाहे तो भी नहीं ला सकता है।' अचेतन मन, मन का सबसे बड़ा भाग है, इसमें दो प्रकार की इच्छायें रहती हैं–

(1) वे जो कभी चेतन थी तथा वाद में अचेतन में चली गयी हैं।

(2) वे विचार व इच्छायें जिनको व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यक्त नहीं कर सकता है।

(ग) व्यक्तित्व का विकास

व्यक्तित्व का विकास तनाव के चार प्रमुख स्त्रोतों पर आधारित होता है–

(अ) शारीरिक विकास प्रक्रिया

(ब) नैराश्य या भग्नाशा

(स) मानसिक संघर्ष

(द) संघर्ष

(अ) शारीरिक विकास प्रक्रिया– व्यक्ति को शारीरिक विकास के प्रत्येक स्तर पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः व्यक्ति इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए विभिन्न तरीकों को सीखता है तथा अपने में नये गुणों एवं प्रविधियों का विकास करता है। व्यक्तित्व का विकास शारीरिक विकास पर आधारित होता है। अतः शरीरिक रूप से कभी व्यक्तित्व में कमी उत्पन्न कर देती है और व्यक्ति हीनता का शिकार हो जाता है।

(ब) नैराश्य या भग्नाशा–व्यक्ति को इच्छाओं की संतुष्टि हेतु अनेक कारकों से संघर्ष करना पड़ता है। किसी न किसी प्रेरणा की तुष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को निराशा का अनुभव करना पड़ता है। निराशा की मानसिक स्थिति के निम्नलिखित मुख्य चिन्ह हैं–

(1) हीन भावना (2) तनाव की अधिकता

(3) विभिन्न मनोरचनाओं का उपयोग (4) असंतोष

निराशा के परिणामस्वरूप निम्न प्रतिक्रियायें स्पष्ट होती हैं जों व्यक्तित्व का विकास करती हैं–

(1) आक्रामक व्यवहार (2) संवेगात्मक तनाव (3) प्रयत्नों में वृद्धि

(4) विधियों में परिवर्तन (5) लक्ष्य में परिवर्तन (6) मनोरचना।

(स) मानसिक संघर्ष– कभी–कभी व्यक्ति के मन में एक ही समय में एक से अधिक प्रेरणायें उत्पन्न हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उसके मन में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है एवं तनाव बढ़ जाता है। इस द्वन्द्व के कारण वह अपने में परिवर्तन लाता है।

(द) धमकियां–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को धमकियों का सामना करना पड़ता है। वह प्रत्येक धमकी का उत्तर देना सीखता है। इस प्रकार उसमें स्वतः परिवर्तन आते रहते हैं।

नैराष्य, संघर्ष तथा धमकियों से उत्पन्न तनाव को दूर करने के लिए व्यक्ति को कुछ तरीके सीखने होते हैं। इस प्रकार का सीखना ही व्यक्तित्व का विकास होता है। आत्मीकरण तथा विस्थापन उसके दो तरीके हैं जिनके द्वारा नैराश्य, चिन्ता तथा संघर्ष को दूर करना व्यक्ति सीखता है।

आत्मीकरण–आत्मीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा व्यक्ति दूसरे के गुणों को अपना लेता है एवं उन गुणों को अपने व्यक्तित्व में ग्रहण कर लेता है। वह अपने व्यवहार को दूसरों के समान बनाता है क्योंकि ऐसा करने से उसकी चिन्ता समाप्त होती है। यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है, क्योंकि इससे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

विस्थापन – यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा ऊर्जा एक विषय से दूसरे विषय पर प्रवाहित की जाती है, विस्थापन कहलाती है।

व्यक्तित्व का विकास अधिकतम सीमा तक विषय परिवर्तन तथ मनःऊर्जा के विस्थापन के क्रम द्वारा सम्भव होता है। मूल प्रवृति का स्त्रोत तथा लक्ष्य वही रहता है परन्तु ऊर्जा का विस्थापन हो जाता है। लक्ष्य विषय, मात्र बदलता रहता है।

मनोलैगिंक विकास के स्तर– फ्रायड सम्भवतः पहले मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तवादी हैं जिन्होंने व्यक्तित्व विकास की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। व्यक्ति विकास में फ्रायड ने बाल्यावस्था के प्रारम्भ के कुछ वर्षों को अधिक महत्व प्रदान किया है। उनका सिद्धान्त केवल वयस्कों के मनोविश्लेषण पर ही आधारित नहीं है। बल्कि बाल्यावस्था के

घरेलू मानव–सम्बन्धों के निरीक्षण पर भी आधारित है। फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास का वर्णन पांच अवस्थाओं की सहायता से किया है। यह अवस्थायें एक दूसरे के सापेक्षिक रूप से भिन्न हैं लेकिन एक दूसरे से अस्थायी रूप से अधिग्रहीत करती हैं। ये अवस्थायें अग्रलिखित हैं–

(1) मौखिक अवस्था

(2) गुदा अवस्था

(3) शैश्नावस्था या लैंगिक अवस्था

(4) सुप्तावस्था या अव्यक्त अवस्था

(5) जनेन्द्रिय अवस्था

(1) मौखिक अवस्था–यह अवस्था जन्म से लेकर 18 माह तक रहती है। इस अवस्था को मौखिक अवस्था इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें यौनतृप्टि का केन्द्र मुख होता है। नवजात शिशु का मन पूर्णरूपेण अचेतन और इदम् से पूर्ण होता है। इस अवस्था में चूसना पोषण का एक साधन ही नहीं होता है बल्कि एक सुखद अनुभूति होती है। यही कारण है कि पेट भर जाने के बाद भी बच्चा स्तनपान करता रहता है। इस अवस्था को दो भागों में बाँटा गया है।

(अ) मौखिक चूषण काल

(ब) मौखिक दंशन (काटना) अवस्था।

(अ) मौखिक चूषण काल या अवस्था–इस अवस्था की अवधि जन्म से लेकर 8 माह तक होती है। इसमें बालक स्तनपान के द्वारा सुख की अनुभूति करता है। फ्रायड के अनुसार बालक की कामशक्ति (लिबिडो) की संतुष्टि मुख, होठ, जीभ, के द्वारा चूसने से अथवा निगलने की क्रिया से प्राप्त होती है।

(ब) मौखिक दंशन या काटने की अवस्था–इसकी अवधि 6 माह से लेकर 18 माह तक की होती है। इस अवस्था में बालक के लिबिडो का क्षेत्र दाँत और जबड़े होते हैं। इस अवस्था में बालक को आनन्द की अनुभूति तीन प्रकार से होती है–काटने के द्वारा, चूसने के द्वारा तथा निगलने के द्वारा ।

(2) गुदा अवस्था–इस अवस्था की अवधि 8 माह से चार वर्ष तक की होती है। इस अवस्था के बालक को कामुक सुख का अनुभव मल विसर्जन प्रक्रिया से प्राप्त होता है। इस अवस्था को दो भागों में बांटा गया है–

(अ) गुदा की त्यागात्मक अवस्था

(ब) गुदा धारणात्मक अवस्था।

(अ) गुदा की त्यागात्मक अवस्था –इसकी अवधि 8 माह से तीन वर्ष तक की होती है। कामुक सुख की प्राप्ति मलमूत्र निष्कासन से होती है। बालक को अनेक निर्देश दिये जाते हैं। प्रातः काल मल–मूत्र निष्कासन पर जोर देने से आदत का विकास होता है। कइ बार बालकों को जहाँ मलमूत्र त्याग के लिए मना होता है वहीं पर वह मलमूत्र की क्रिया करके अपनी आक्रमकता की अभिव्यक्ति करते हैं।

(ब) गुदा धारणात्मक अवस्था–यह अवस्था एक वर्ष से चार वर्ष तक की होती है। इस अवस्था मे बालक को मलमूत्र रोकने में आनन्द की अनुभूति होती है। इस अवस्था में वातारण की वास्तविकता और सामाजिक प्रतिबन्धों का ज्ञान होने लगता है और इस ज्ञान के साथ–साथ उसमें 'पराहम्' का विकास होने लगता है।

(3) शैश्नावस्था या लैंगिक अवस्था–इस अवस्था की अवधि तीन से सात वर्ष तक होती है। इसमें बालक जनेन्द्रियों सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा लिंग भेद का अर्थ समझने लगता है। इसमें मातृमनोग्रंथि तथा पितृमनोग्रंथि का विकास होता है।

(4) सुप्तावस्था या अव्यक्त अवस्था– इसकी अवधि 5 वर्ष से 12 वर्ष तक होती है। इसमें बालक शैशव कामुकता का सामाजिक अर्थ समझने लगता है। जिसके कारण उसको दमित करना प्रारम्भ कर देता है। वह वाह्य विषयों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसमें 'पराहम्' का विकास होता है। सामाजिक गुण आने लगते हैं।

(5) जनेन्द्रिय अवस्था–इस अवस्था की अवधि 12 वर्ष से 20 वर्ष तक होती है। इसमें पुनः लैंगिकता बढ़ती है। वे एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं तथा आकर्षण के लिए अनेक प्रेरकों को अचेतन में डालने का प्रयत्न करते हैं। परिणामस्वरूप रचनात्मक कार्य सम्भव होते हैं।

5.1.2 कूले का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त

कूले एक अमेरिकन समाजशास्त्री थे, जिन्होंने 'ह्यूमन नेचर एण्ड दी सोशल आर्डर' नामक किताब लिखी। कूले ने अपनी इस किताब में 'स्व' के विकास सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। कूले द्वारा प्रदत्त सिद्धान्त को 'आत्मदर्पण दर्शन सिद्धान्त' के नाम से भी जाना जाता है। कूले ने अपने सिद्धान्त को व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए प्रतिपादित **किया**। उनका मानना था कि व्यक्ति और समाज को एक–दूसरे से अलग करके उनके **बारे** में वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया जा सकता। समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, वह उसमें अपनी परछाई को देखता है। और समाज के **लोग** उसके बारे में क्या कहते हैं, इसी आधार पर वह

अपने बारे में अपनी धारणा बनाता है। जिस प्रकार हम दर्पण देखकर यह ज्ञात करते हैं कि हम अमूक कपड़े पहनने के बाद कैसे लगते हैं, बाल ठीक से संवारे हुए हैं या नहीं, मेकअप कैसा लग रहा है, इत्यादि, उसी प्रकार से बालक भी समाज रूपी आइने में अपने आपको देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में राय बनाता है। इस राय के आधार पर ही उसमें हीनता या श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं। जैसे, जब परिवार के सदस्य, मित्र या अन्य लोग उसके बारे में यह कहते हैं कि वह बुद्धिमान है, लम्बा है, शक्तिशाली है, आकर्षक है या गन्दा, मूर्ख, कमजोर, ठिगना, लड़ाकू, जोशीला है तो व्यक्ति भी अपने बारे में वैसा ही सोचने लगता है। इस प्रकार अपने बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया से ही व्यक्ति के 'स्व' का निर्माण होता है। इसी कारण कूले इसे 'आत्म दर्पण दर्शन' कहते हैं।

कूले ने 'आत्म दर्पण दर्शन' प्रक्रिया के तीन चरणों का उल्लेख किया है–

(1) व्यक्ति यह सोचता है कि दूसरे उनके बारे में क्या सोचते है, (2) दूसरों के निर्णय के आधार पर वह स्वयं अपने बारे में क्या सोचता है, (3) मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ, अर्थात् गर्व अनुभव करता हूँ या ग्लानि। इन तीनों बातों को स्पष्ट करने हेतु 'हारटन व हण्ट ने एक उदाहरण दिया है' मान लिजिए आप एक कमरे में प्रवेश करते हैं जहां कुछ व्यक्ति एक समूह में परस्पर बाते कर रहे हैं। आपके जाते ही वे बहाना बनाकर वहाँ से चले जाते हैं और ऐसा कई बार होता है तो आपको अपने बारे में हीनता की भावना महसूस होगी। इसके विपरीत आपके कमरे में प्रवेश करने पर सभी व्यक्ति आपको घेर लेते हैं और आपसे विचार–विमर्श करना चाहते हैं, तो आपको गर्व महसूस होगा। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति हमारे प्रति जिस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते है, हम अपने बारे में वैसी धारणा बनाते हैं। इसको हम एक दूसरे उदाहरण से भी समझ सकते हैं। हम किसी स्त्री को बार–बार यह कहें कि तुम बहुत सुन्दर हो तो वह अपने आपको सुन्दर महसूस करने लगेगी और वैसा ही व्यवहार करने लगेगी। इसी प्रकार से यदि किसी महिला को बार–बार यह कहा जाय कि तुम कुरूप हो तो उसमें वैसे ही विचार घर कर जायेंगे। अतः दूसरों के द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर ही व्यक्ति अपने आपको सुन्दर–असुन्दर मिलनसार–झगड़ालू, मूर्ख–बुद्धिमान तथा श्रेष्ठ–हीन समझने लगता है। बचपन में व्यक्ति अपने बारे में जिस प्रकार की धारणा ग्रहण कर लेता है, वह जीवनभर बनी रहती है और बाद में बहुत प्रयत्न से ही परिवर्तित होती है।

किन्तु कई बार ऐसा ही होता है कि दूसरे हमारे बारे में जो राय बनाते हैं, उसे जिस रूप में हम सोचते हैं, उसमें तथा वास्तव में दूसरों द्वारा हमारे प्रति बनायी गयी ध ारणा में अन्तर होता है। कई बार हम दूसरों द्वारा हमारे बारे में बनायी गयी धारणा को गलत समझ लेते हैं। अक्सर हम अपने बारे में दूसरों की वैसी ही धारणा कर लेते हैं,

जो उस समूह के प्रति हमारे मन में होती है। अतः कभी–कभी 'स्व' निर्माण गलत ध ाारणा पर भी निर्भर होता है। उदाहरण के लिए, हमारा अपने मित्रों के प्रति अधिक स्नेह होता है, हमारे मित्र कभी हमारी प्रशंसा करते हैं तो हम यह सोचने लगते हैं कि हम प्रशंसा के योग्य हैं, जबकि वास्तविकता यह होती हे कि हमारे मित्र हमें इतना योग्य नहीं समझते। इस प्रकार हमारे द्वारा अपने बारे में मित्रों की प्रशंसा के आधार पर बनायी गयी धारण त्रुटिपूर्ण है।

इस प्रकार कूले के अनुसार व्यक्ति का दूसरों से सम्पर्क होने से ही 'स्व' का निर्माण होता है जो कि समाजीकरण का प्रमुख आधार है। स्व के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है, अपने को हीन या श्रेष्ठ समझता है और समाजीकरण की दिशा तय करता है। व्यक्ति समाज का ही प्रतिबिम्ब है। दूसरे व्यक्तियों के विचारों एवं निर्णयों के आधार पर ही वह अपने विचारों, मनोभावों एवं आदतों को बनाता है एवं अपने 'स्व' का विकास करता है। यह 'स्व' ही व्यक्तित्व निर्माण का आधार है।

5.1.3 आटो रैंक का व्यक्तित्व का सिद्धान्त

आटो रैंक (1884–1939) ने वियना विश्वविद्यालय से वर्ष 1912 में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। आपने एक पुस्तक लिखी जो 'दि वर्थ ट्रामा' नाम से सन् 1924 में प्रकाशित हुई।

जन्म अभिघात–

जन्म अभिघात की अवधारणा को मनोविज्ञान में सर्वप्रथम सिगमण्ड फ्रायड ने अपने व्यक्तित्व सिद्धान्त में स्थान दिया। सिगमण्ड फ्रायड ने जन्म अभिघात को अपने व्यक्तित्व के सिद्धान्त में केन्द्र बिन्दु नहीं माना। सर्व प्रथम 'आटो रैंक' ने जन्म अभिघात को व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु माना। रैंक के अनुसार, गर्भस्थ शिशु के लिए गर्भाशय एक आनन्दपूर्ण परिस्थिति है, जहाँ उसे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। मानव–जीवन में शिशु का जन्म एक तीव्रतम आघातपूर्ण घटना है।

शिशु में जन्म अभिघात के कारण पीड़ा दायक चिन्ता उत्पन्न होती है जिसे आटो रैंक ने 'आदिम चिन्ता' कहा है। यही आदिम चिन्ता गर्भस्थ शिशु स्मृतियों को समाप्त कर देती है, यह दमन की प्रथम प्रक्रिया है। आटो रैंक का विचार है कि शिशु में माँ के गर्भाशय में वापस जाने की इच्छा तो विद्यमान रहती है, परन्तु उसमें गर्भस्थ जीवन की चेतन स्मृति समाप्त हो जाती है। जन्म अभिघात के समान दूसरी अभिघात घटना स्तन–त्याग है। रैंक यह मानते हैं कि जन्म अभिघात वैयक्तिकता और स्वायत्त इच्छा शक्ति के उत्पन्न होने का एक उपक्रम है।

व्यक्तित्व विकास–

बालक या शिशु में आत्मनिर्भरता का विकास बहुत ही मन्द गति से होता है। साथ ही यह एक संघर्षपूर्ण प्रक्रिया भी है। आत्म निर्भरता के प्रत्येक स्तर में शिशु को किसी न किसी अलगाव का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, स्तन,–त्याग, बिना सहारे के चलना, बिना सहारे के भोजन करना, स्कूल जाना, विवाह करना इत्यादि। सभी, के द्वारा व्यक्ति आत्म–निर्भर बनता है, और इन सभी स्तरों में किसी न किसी प्रकार के अलगाव अवश्य होते हैं। अलगाव दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के अलगाव में व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अलग होता है। जैसे–विवाह के समय अलगाव, तलाक के समय अलगाव, अधिक समय के लिए विदेश जाना आदि। इस प्रकार के अलगाव अपेक्षाकृत कम अभिघातपूर्ण होता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति मानसिक रूप से पहले से ही तैयार होता है। इस प्रकार का अलगाव कम अभिघातपूर्ण इसलिए भी होता है कि इसमें व्यक्ति की इच्छा भी सम्मिलित होती है। दूसरे प्रकार के अलगाव वे अलगाव हैं जो आकस्मिक होते हैं। ऐसे अलगाव अधिक अभिघातपूर्ण हैं, क्योंकि व्यक्ति की न तो इसमें इच्छा सम्मिलित होती है और न ही व्यक्ति ऐसे अलगाव के लिए पहले से तैयार होता है। ऐसे अलगाव में, किसी प्रियजन की मृत्यु तथा स्तन–त्याग आदि आते हैं।

आटो रैंक के विचारानुसार, अलगाव में जब इच्छा सम्मिलित होती है तब इस प्रकार के अलगाव, व्यक्ति के अहम् के विकास को वास्तविक बनाते हैं। अहम् के विकास से अहम् मे आत्म–निर्भरता और स्वतंत्रता के गुण विकसित होते हैं। जब अलगाव आकस्मिक होते हैं तब अहम् का विकास अवास्तविक होता है। व्यक्ति में स्वतंत्रता और आत्म–निर्भरता के स्थान पर आश्रितता का विकास होता है। व्यक्ति में प्रत्येक प्रकार के अलगाव, व्यक्ति में कुछ न कुछ मात्रा में असुरक्षा की भावना को जन्म देता है। आकस्मिक –अलगाव व्यक्ति में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में अलगाव उत्पन्न करता है। जब अलगाव से व्यक्ति, सम्बन्धित आघात सहन कर लेता है तब व्यक्ति का व्यवहार सामान्य रहता है और जब सम्बन्धित आघात व्यक्ति सहन नहीं कर पाता है तब व्यक्ति का व्यवहार असंतुलित और असामान्य हो जाता है।

व्यक्तित्व विकास की अवस्थायें–

आटो रैंक के अनुसार व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं से व्यक्ति स्वतंत्रता और स्वायत्तता प्राप्त करता है। रैंक ने व्यक्तित्व विकास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है, जो अग्रलिखित है–

(1) प्रथम अवस्था– व्यक्ति के व्यवहार को दो प्रकार की शक्तियां नियन्त्रित करती हैं। पहले प्रकार की शक्तियों को वाह्य बल कहा जाता है। जैसे, माता–पिता, समाज और नैतिक नियम वह वाह्य शक्तियां जो शिशु के व्यवहार को नियन्त्रित करती

हैं। दूसरे प्रकार की शक्तियां आंतरिक बल के नाम से जानी जाती हैं। जिनमें व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकतायें, जैसे–भूख, प्यास, काम आदि आती हैं। ये वे आंतरिक शक्तियां हैं जो बालक या व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं। रैंक के मतानुसार प्रथम अवस्था में व्यक्ति इन वाह्य और आंतरिक शक्तियों से सम्बन्धित व्यवहार स्वेच्छा से करने लगता है। जब व्यक्ति वाह्य शक्तियों को अन्तःक्षेपित करता है तो बहुत कुछ सम्भावना होती है कि व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व समन्वित रहेगा। व्यक्ति सामाजिक मानकों के साथ तादात्मय भी स्थापित करता है। इस तादात्मय से वह समाज के अन्य लोगों के जैसा बन जाता है। और समाज में भिन्न रहने से जो पीड़ादायक अनुभव होते हैं, उनसे उसे मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार व्यक्ति में संघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावना कम रहती है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाला व्यक्ति एक औसत व्यक्ति होता है जिसका व्यक्तित्व औसत सामान्य और औसत समायोजन वाला होता है।

(2) द्वितीय अवस्था–व्यक्ति स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए ऐसे मापदण्ड निर्मित करता है जो सामाजिक मापदण्डों से भिन्न होते हैं। उसका जीवन लक्ष्य, उसके आदर्श, उसके नैतिकता सम्बन्धी विचार आदि सब कुछ समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से भिन्न होते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति में अन्तरद्वन्द का रहना स्वाभाविक है। इस अवस्था में अन्तर्द्वन्द्व इस कारण भी उत्पन्न होता है कि इच्छाशक्ति व प्रति इच्छाशक्ति में विच्छेद होता है।

ऐसी अवस्था को प्राप्त करने वाले व्यक्ति में अनेक लक्षण पाये जाते हैं, जैसे–हीनता की भावना, अपराध की भावना, आत्म–आलोचना, अधिक उत्पादनशीलता, अधिक सृजनात्मकता इत्यादि। चूँकि इस अवस्था को प्राप्त करने वाला व्यक्ति समाज से तादात्मीकरण स्थापित नहीं कर पाता है। अतः उसमें समाज के कारण द्वन्द्व उत्पन्न होते रहते हैं।

(3) तृतीय अवस्था–यह अवस्था, प्रथम अवस्था का ही उच्चतम रूप है। इस अवस्था की प्राप्ति प्रथम और द्वितीय अवस्था को पार करने के बाद प्राप्त होती है। इसमें द्वितीय अवस्था के जैसे द्वन्द्व नहीं होते हैं। यह अवस्था परम् आनन्द की अवस्था में होती है। इसमें व्यक्ति अपनी प्रतिभा को जगा लेता है। ऐसी अवस्था वाले व्यक्ति महान लेखक, कवि, वैज्ञानिक, कलाकार इत्यादि कुछ भी बन सकता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में सृजनात्मकता की प्रधानता होती है। वाह्य संसार की तुलना में उसके द्वारा निर्मित आंतरिक संसार अधिक आकर्षक और सुन्दर होता है।

मनस्ताप पर विचार–

रैंक के विचारानुसार सभी प्रकार के मनस्तापों का प्रमुख कारण 'जन्म अभिघात' है। यही जन्म अभिघात व्यक्ति में चिन्ता का अथाह सागर उत्पन्न करता है। प्रत्येक अलगाव के समय व्यक्ति चिन्ता के सागर में डूब जाता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में मानसिक विकास उत्पन्न होते हैं।

मा सिक विकारों के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण व्यवहार सम्बन्धी सामाजिक मानक हैं। प्रत्येक मानसिक रोग से ग्रस्त रोगी न अपने स्वयं के द्वारा निर्मित मानकों का पालन कर पाता है और न ही वह समाज द्वारा बनाये मानकों के अनुसार चल पाता है। जबकि व्यक्ति सामाजिक मानकों के साथ तादात्मय स्थापित नहीं कर पाता है तथा अपनी वैयक्तिकता स्थापित नहीं कर पाता है तो उसमें मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

मनोचिकित्सा – मनोचिकित्सा में अलगाव से सम्बन्धित चिन्ता का निराकरण करना आवश्यक है। रैंक की मनोचिकित्सा पद्धति में रोगी के अचेतन के दबे हुए विचारों और भावना ग्रंथियों का विश्लेषण किया जाता है। रैंक, फ्रायड की तुलना में संक्षिप्त लेकिन प्रभावी मनोचिकित्सा को विकसित करना चाहते थे। रैंक जब अमेरिका प्रवासी हुए तब उन्होंने 'इच्छा–शक्ति मनोचिकित्सा' पद्धति का विकास किया। शुरू में रैंक की चिकित्सा पद्धति बहुत कुछ मनोविश्लेषण पर आधारित थी। परन्तु इच्छाशक्ति–मनोचिकित्सा पद्धति का मनोविश्लेषण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इच्छाशक्ति, मनोचिकित्सा पद्धति रोगी के सक्रिय समायोजन पर आधारित है। इस चिकित्सा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य आत्म स्थापना की प्रवृति को प्रोत्साहित करना है। इसमें रोगी को दो बातों के लिए प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। (1) रोगी में स्वास्थ्य प्राप्ति की इच्छा शक्ति का विकास हो। (2) रोगी को आत्म स्थापन में उत्पन्न अपराध की भावना से मुक्ति मिल सके।

5.2 सार–संक्षेप

प्रस्तुत इकाई में व्यक्तित्व के सिद्धान्तों के बारे में वर्णन किया गया है, जिसमें सिगमण्ड फ्रायड के 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धांत, कूले के 'आत्म दर्शन–दर्पण' का सिद्धान्त तथा आटो रैंक के 'जन्म अभिघात' सिद्धान्तों का वर्णन प्रमुख रूप से किया गया है। वास्तव में फ्रायड के योगदान का प्रभाव मनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी पड़ा, जिसका मुख्य कारण उसके विचारों का सार्थक और रूचिपूर्ण होना है।

फ्रायड के योगदानों के फलस्वरूप मनोविज्ञान में एक नया युग और नया मोड़ आया। इस सबसे मनोविज्ञान की विषय सामग्री से बल ही नहीं मिला बल्कि मनोविज्ञान विकास की ओर अधिक उन्मुख हुआ। फ्रायड ने अपने सिद्धान्त में व्यक्तित्व संरचना के बारे में उल्लेख करते हुए बताया कि व्यक्तित्व संरचना में, चेतन, अर्धचेतन एवं अचेतन मन का प्रमुख स्थान होता है। वहीं मन के गत्यात्मक पक्षकी विवेचना में इदम्, अहम् तथा पराहम् की भूमिका का भी वर्णन किया गया है। फ्रायड ने मनोलैंगिक सिद्धान्त में विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन किया है। जिसमें गुदीय अवस्था, लैंगिक अवस्था, सुप्तावस्था तथा जनेन्द्रिय अवस्थाओं का वर्णन किया है। प्रस्तुत इकाई में कूले के आत्म दर्पण–दर्शन सिद्धान्त के बारे में भी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। कूले ने व्यक्तित्व के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए बताया है कि व्यक्ति और समाज को एक–दूसरे से अलग करके उनके बारे में वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता है। समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, जिसमें व्यक्ति अपनी परछाई को देखता है तथा समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, उसी आधार वह अपने बारे में धारणा बनाता है। प्रस्तुत इकाई में कूले द्वारा उल्लेखित सिद्धान्त के तीन चरणों का भी वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इकाई के अंत में आटो रैंक द्वारा प्रदत्त 'जन्म अभिघात' के सिद्धान्त का भी वर्णन किया गया है। रैंक का विचार है कि गर्भस्थ शिशु के लिए गर्भाशय एक आनन्दपूर्ण परिस्थिति है, जहाँ उसे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। मानव–जीवन में शिशु का जन्म एक तीव्रतम आघातपूर्ण घटना है। शिशु में जन्म अभिघात के कारण पीड़ादायक चिन्ता उत्पन्न होती है, जिसे रैंक आदिम चिन्ता कहते हैं। रैंक द्वारा व्यक्तित्व के विकास की रूपरेखा को भी इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है ।

5.3 पारिभाषिक शब्दावली

इदम्– जन्म के समय मानव शिशु का मन पूर्णरूपेण से इदम् होता है, अतः इदम् जन्मजात और वंशानुगत है। इसे फ्रायड ने असंख्य पूर्वजों के स्मृति अवशेषों का भण्डार माना है।

अहम्– फ्रायड का अहम् से आषय 'आत्म' या 'चेतन बुद्धि' से है। अहम्, इदम् की इच्छाओं और भौतिक जगत की वास्तविकताओं के बीच समायोजनकर्ता का कार्य करता है।

जन्म–अभिघात– शिशु जब गर्भस्थ होता है तो उसे चरम् आन्नद मिलता है लेकिन जब वह जन्म लेता है तो उसे पीड़ादायक अभिघात मिलता है। शिशु का जन्म लेना ही जन्म अभिघात कहलाता है।

मनोचिकित्सा– मनोचिकित्सा का अर्थ मनोवैज्ञानिक प्रविधियों के द्वारा उन मानसिक विकारों का उपचार करना है, जो मनोजन्य कारणों से उत्पन्न हुए हैं।

5.4 अभ्यास प्रश्न

लघु,

1– इदम् तथा अहम क्या है?

2– पराहम् का स्त्रोत है तथा इसके कार्य लिखिए।

3– अहम् के कार्यों को बताइये।

4– मनोविश्लेषण के कितने अर्थ हैं, उनको लिखिए।

5– कूले के 'आत्म दर्शन दर्पण, सिद्धान्त के चरणों को लिखिए।

6– आटो रैंक के अनुसार 'जन्म अभिघात' क्या है?

विस्तृत

1– सिगमण्ड फ्रायड के 'मनोविश्लेशणात्मक' सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

2– कूले के 'आत्म दर्शन दर्पण' सिद्धान्त पर निबन्ध लिखिए।

3– जन्म अभिघात को समझाते हुए आटो रैंक के व्यक्तित्व के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

5.5 संदर्भ ग्रंथ–सूची

(1) गुप्ता, प्रो. एम० एल० एवं शर्मा, डा० डी० डी०, सामाजिक मनोविज्ञान, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, वर्ष–200, पेज नं. 134–135 ।

(2) जायसवाल, डा० सीताराम, व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, वर्ष 1999, पेज नं.–47–55 ।

(3) मिश्र, डा० प्रयागदीन, सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष–1997, पेज नं.–610, 617 ।

(4) श्रीवास्तव, डा० डी० एन० आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, तृतीय संस्करण, वर्ष –1982 पेज नं.–118, 121 ।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MSW-112

व्यक्तित्व एवं
असामान्य व्यवहार

खण्ड

2

व्यक्तित्व का विकास

इकाई-6 5
संवेदना

इकाई-7 22
प्रत्यक्षीकरण एवं समाजीकरण

इकाई-8 44
प्रेरणा या अभिप्रेरणा

इकाई-9 62
सीखना

इकाई-10 75
पूर्वाग्रह

इकाई- 11 89
दृष्टिकोण

इकाई-12 113
विश्वास

इकाई-13 140
रूढ़िवादिता

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो० एम० पी० दुबे	कुलपति - अध्यक्ष

विशेषज्ञ समिति

प्रो० एस० त्रिपाठी	अवकाश प्राप्त, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० ए०एन०सिंह	विभागाध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो० अरविन्द जोशी	समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ० अल्का वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

परिमापक

प्रो० बालेश्वर पाण्डेय	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो० जय कान्त तिवारी	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लेखक

प्रो० डी०के०सिंह	प्रोफेसर,समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
डॉ० राजेश कुशवाहा	असि० प्रोफेसर, डा० बी०आर०अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा
डॉ० संदीप गिरि	असि० प्रोफेसर, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
डॉ० रोहित मिश्रा	समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

समन्वयक

डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

प्रो०(डॉ०) जी०एस०शुक्ल	कुलसचिव,उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई हैं। विश्वविद्यालय इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

द्वितीय खण्डः व्यक्तित्व का विकास

खण्ड परिचय :

द्वितीय खण्ड व्यक्तित्व के विकास से सम्बद्ध है। इस खण्ड में कुल 8 अध्याय है जो इकाई 6 से इकाई 13 तक वितरित एवं व्यवस्थित हैं। इकाई 6 'संवेदना' के अन्तर्गत संवेदना का अभिप्राय बताते हुए उसका वर्गीकरण किया गया है। इकाई 7 प्रत्यक्षीकरण एवं समाजीकरण के अन्तर्गत प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा, विशेषता, प्रकिया एवं निर्धारकों की गई है तथा समाजीकरण की अवधारणा प्रक्रिया अभिकरण एवं सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है। इकाई 8 में अभिप्ररेणा की परिभाषा, विशेषता, अवश्यकता का अभिप्राय एवं निर्धारक, समायोजन का अर्थ एवं स्तर, अभिप्रेरणा के प्रकार एवं सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। इकाई 9 में सीखने का अभिप्राय बताते हुए दसरे कारकों, नियमों एवं सिद्धान्तों की विवेचना की गई है।

इकाई 10 के अन्तर्गत पूर्वाग्रह का अर्थ, इसके स्रोत एवं परिणाम की चर्चा करते हुए पूर्वाग्रह को कम करने की विधियों की विवेचना की गई है। इकाई 11 में दृष्टिकोण की परिभाषा एवं दूसरी निर्माण प्रक्रियाओं की विवेचना की गई है। इकाई 12 में विश्वास की परिभाषा एवं विशेषता इसके प्रकार आस्था, अभिवृत्ति, टोटम इत्यादि के विश्वास के साथ सहसम्बन्धों का विश्लेषण किया गया है। इकाई 13 के अन्तर्गत रूढ़िवादिता का अभिप्राय, सामाजिक प्रतिमान एवं रूढ़ि जनरीतियाँ, लोकाचार, प्रथा, परम्परा, इत्यादि की विवेचना की गई है।

इकाई–6 : संवेदना

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 संवैदना

6.3 संवेदना का वर्गीकरण

6.4 दृष्टि–संवेदना

6.5 श्रवण–संवेदना

6.6 स्वाद–संवेदना

6.7 गंध और गंध–संवेदनशीलता

6.8 चर्म–सम्बन्धी संवेदनाएं

6.9 गति एवं आन्तरिक आवयविक संवेदनाएं

6.7 सारांश

6.8 प्रश्न

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के अन्तर्गत व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन कर सकेंगे। संवेदना के अर्थ के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। संवेदना के वर्गीकरण का अध्ययन कर सकेंगे जिसमें दृष्टि, संवेदना, श्रवण संवेदना तथा स्वाद संवेदना के विषय में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इसके पश्चात चर्म–सम्बन्धी संवेदनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इकाई के अन्त में गति एवं आन्तरिक आवयविक संवेदनाएं के विषय में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में व्यक्तित्व विकास के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। संवेदना के अर्थ का उल्लेख किया गया है। संवेदना के तत्य संवेदना का जन्म उद्दीपक से तथा

संवेदना प्रत्यक्षीकरण के आधार का वर्णन किया गया है। संवेदना के वर्गीकरण का उललेख किया गया है जिनमें दृष्टि संवेदना, श्रवण सम्बन्धी संवेदना, स्वाद संवेदना, त्वचा सम्बन्धी संवेदना, गति–संवेदना, स्पर्श सम्बन्धी संवेदना की व्याख्या की गई है। अन्य संवेदनाओं की अपेक्षा गंध का स्वरूप बहुत जटिल होता है क्योंकि इसमें स्पर्श–सम्बन्धी. स्वाद–सम्बन्धी और अन्य आवयविक संवेदनाएं भी निहित रहती हैं। गंधों में भेद स्पष्ट करने के लिए प्रिय एवं अप्रिय विशेषणों का ही प्रयोग किया जाता है। शरीर में कुछ भागों में चर्म की समाप्तियाँ हुआ करती है; जैसे–होठ, अंगुलियों आदि के अग्र भाग में बहुत से तन्तु समाप्त होने लगते हैं। परन्तु पीठ जैसे विस्तृत भाग में चर्म–तन्तु दूर–दूर तक फैले हुए होते हैं। यही कारण है कि शरीर के विभिन्न अंगों में स्पर्श–संवेदनशीलता में अन्तर पाया जाता है।

6.2 संवेदना

संवेदना को किसी निश्चित परिभाषा में बांधना सरल नहीं है। इसे हम प्रत्यक्षीकरण के अन्तर्गत देखते हैं और इसे प्रत्यक्षीकरण से अलग नहीं कर पाते। फिर भी संवेदना को समझने के लिए निम्नलिखित दो तथ्य पर्याप्त सहायक होंगे:–

1. संवेदना का जन्म उद्दीपक से

बिना किसी उद्दीपक के संवेदना उत्पन्न नहीं होती। सबसे पहले उद्दीपक का प्रभाव हमारी आंखों पर पड़ता है। उद्दीपक बाह्य वातावरण और परिस्थिति से सम्बन्धित होता है। एक परिस्थिति या वातावरण में अलग–अलग कई उद्दीपक रहते हैं। उद्दीपकों की विभिन्नता विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं को जन्म देती है। जैसे–प्रकाश की विभिन्न किरणें विभिन्न प्रकार की रंग–संवेदनाएं उत्पन्न करती हैं। ऐसे ही ध्वनि की विविध तरंगदैर्ध्य वाली लहरें विविध प्रकार की संवेदनाओं को जन्म देती हैं। प्राणी की आवयविक दशाएं भी उद्दीपक का कार्य करती हैं, जैसे–पेट की मांसपेशियों के सिकुड़ने पर भूख लगना, तालू सूचने पर 'यास' की संवेदना होना आदि।

2. संवेदना प्रत्यक्षीकरण का आधार

बिना किसी संवेदना के सम्भव नहीं होता। बाह्य जगत से सम्बन्धित सभी ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होते हैं। ज्ञानेन्द्रियां विभिन्न सूचना वाहक नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क को संदेश भेजती हैं। ये संदेश नाड़ी मण्डल केन्द्र में मिले रहते हैं। पूर्व ज्ञान के आधार पर इन मिले संदेशों से किसी सुसंगठित नई बात का बोध होता है। इसी को प्रत्यक्षीकरण कहा जाता है। उपरोक्त मिले–जुले संदेश अपना पृथक–पृथक् अस्तित्व संवेदना के रूप

में ही रखते हैं। इनका ज्ञात प्रत्यक्षीकरण के विश्लेषण द्वारा हो जाता है। वास्तव में संवेदना ही प्रत्यक्षीकरण को जन्म देती हैं।

6.3 संवेदना का वर्गीकरण

संवेदनाएँ ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होती हैं। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर संवेदनाओं को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है–

1. दृष्टि–सम्बन्धी संवेदना
2. श्रवण–सम्बन्धी संवेदना
3. गंध–सम्बन्धी संवेदना
4. स्पर्श–सम्बन्धी संवेदना
5. स्वाद–सम्बन्धी संवेदना

उपरोक्त वर्गीकरण में मनोवैज्ञानिकों का विश्वास तो अवश्य है, परन्तु वे इस वर्गीकरण से संतुष्ट नहीं हैं। वे संवेदना की सीमा का और अधिक विस्तार करते हैं। उनके अनुसार प्राणी अन्य प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूति भी करता है। वे निम्नलिखित प्रकार की संवेदनाओं का उल्लेख करते हैं:–

1. दृष्टि–संवेदना
2. श्रवण–सम्बन्धी संवेदना
3. गंध–सम्बन्धी संवेदना
4. स्पर्श या त्वचा सम्बन्धी संवेदना
5. स्वाद–सम्बन्धी संवेदना
6. संतुलन–संवेदना
7. गति–संवेदना
8. आवयविक–संवेदना

6.4 दृष्टि–संवेदना

दृष्टि सम्बन्धी संवेदनाओं को दो प्रकार से समझा जा सकता है :–

1. रंगहीन संवेदना

इस श्रेणी में आंखों को चकाचौंध करने वाले अधिकतम सफेद रंग से लेकर घोर काले रंग तक के उद्दीपक आते हैं। यदि रंगही संवेदनाओं को एक क्रम में रखा जाए तो सफेद से भूरे और भूरे से काले रंग तक एक सीधी रेखा बन जाती है। इन रंगों को एक–दूसरे से पृथक सीमा में व्यक्त करना बहुत कठिन होता है। इस क्रम में केवल सफेद, भूरे और काले रंगों का ही क्रम रहता है जिनमें से प्रत्येक के कई भाग और प्रकार होते हैं। सफेद और काला विभिन्न बलों में मिलकर विभिन्न प्रकार की भूरी छायाएं बन जाती हैं। विद्वानों के अनुसार ये भूरे रंग की छायाएं 700 से 800 तक पायी जाती हैं।

2. रंग–संवेदना

इस श्रेणी में लाल, पीले, नीले और हरे रंग से सम्बन्धित संवेदनाएं आती हैं। रंग संवेदनाओं का क्रम एक सीधी रेखा में न रहने के कारण बहुत जटिल हो जाता है। यह क्रम अण्डाकार अथवा वृत्ताकार ही होता है। जैसे–लाल रंग से पीले रंग तक आता हो तो 'लाल+पीला' रंगों में कई बल के रंग दिखाई पड़ेंगे। ऐसे ही लाल (शुद्ध) से नीले शुद्ध रंग तक बैंगनी रंग के विविध बल देखने को मिलेंगे। इसी प्रकार शुद्ध नीले और पीले से हरे रंग तक के बल देखे जा सकते हैं।

6.5 श्रवण–संवेदना

श्रवण–संवेदना का सम्बन्ध घटनाओं से होता है, जबकि दृष्टि संवेदना वस्तु के रूप और आकार से सम्बन्धित होती है। श्रवण–संवेदना की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं :–

1. ध्वनि और घटनाओं से श्रवण–संवेदना का सम्बन्ध

घटना वाणी और ध्वनि से सम्बन्धित होती है। वाणी ही मनुष्य की महानता का प्रतीक और महा–साधन है। ध्वनि से श्रवण–संवेदना का सम्बन्ध होता है जो वाणी (मनुष्य की बोली) तथा अन्य प्रकार की ध्वनियों से प्रभावित होती है। मनुष्य की वाणी के अतिरिक्त बकरी का मिमियाना, चिड़ियों का चहचहाना, रेलगाड़ी का धड़–धड़ करना, वस्तु का गिरना, पानी की कलरव आदि सभी ध्वनि के स्रोत हैं। इन ध्वनियों के सुनने से ही किसी न किसी घटना की अनुभूति हो जाती है।

2. ध्वनि और घटनाओं की कमी से व्यक्तित्व में हीनता

जो व्यक्ति बहरा होता है या बहुत कम सुनता है वह अपने को बड़ी कठिनाई से व्यवस्थित कर पाता है। इस शक्ति की कमी के कारण बहरे व्यक्ति में मानसिक तनाव

उत्पन्न होता है। क्रोध और झुंझलाहट पैदा होती है। उसकी भावनाएँ, रुचियाँ और इच्छाएँ कुण्ठित हो जाती है। उसमें आत्मग्लानि उत्पन्न होती है और उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

3. कान की संवेदनशीलता श्रवण–संवेदना के आधार

वैज्ञानिकों ने कान की संवेदनशीलता की माप की है। एक ग्राम भार के .000003 भाग तक प्रति कान अपनी प्रतिक्रिया दिखा सकता है। हवा के कण जो धक्के उत्पन्न करते हैं उन्हें कान के परदे भली प्रकार अनुभव कर लेते हैं। इसलिए कान की इतनी तीव्र संवेदनशीलता देखकर भारी आश्चर्य होता है। प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि जब ध्वनि सुनायी पड़ती है तो कर्णपट के अन्तस्तल की चाल एक इंच का .000000001 भाग होती है। कान 10000000 गुना भार की ध्वनि का अनुभव भी कर लेता है। परन्तु इस भार से इतनी अधिक ध्वनि उत्पन्न हो सकती है कि कर्णपट के फट जाने के कारण व्यक्ति बहरा भी हो सकता है। अतः हम कान की श्रवण–ग्राहकता का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। जब अधिक तीव्र ध्वनि उत्पन्न होती है तो कान स्वयं ही अपने को व्यवस्थित करके अपनी रक्षा कर लेता है। तीव्र ध्वनि उत्पन्न होने पर हम अनजाने में ही कानों को हाथों से ढंक लेते हैं। कान प्रायः दो कार्य करता है–

1. ध्वनियों को ग्रहण करके उन्हें तन्तु संदेशा के रूप में बदलना।

2. विभिन्न ध्वनियों का भेद जानकर उनके प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया दिखाना, ताकि उनका विश्लेषण करके उन्हें भली प्रकार परखा जा सके। कान ध्वनियों को ग्रहण करके उन्हें वृहत मस्तिष्क या भेजे तक भेजता है और उनके भेदों को परखने का काम करता है।

सुनने के लिए उद्दीपक

श्रवण–संवेदना के लिए ध्वनि विशेष रूप से उद्दीपक का कार्य करती है। ध्वनि उद्दीपक के रूप में निम्नलिखित बातें बहुत प्रभावकारी होती हैं :–

1. ध्वनि की लहर
2. ध्वनियों के प्रकार
3. ध्वनि की तीव्रता
4. ध्वनि की ऊँचाई

(अ) ऊँचाई और लहर में सम्बन्ध

(ब) ऊँचाई का सीमान्त

5. ध्वनि–उद्दीपकों का पारस्परिक सम्बन्ध

ध्वनि की लहर

जब कर्णपट पर किसी प्रकार का भार पड़ता है तो उसे सुनने का उद्दीपक मिलता है। यह भार एक सा नहीं रहता, इसमें उतार–चढ़ाव आते रहते हैं। इस उतार–चढ़ाव का कारण ध्वनि की वह लहर है जो हवा में किसी ध्वनि–उत्पादक के द्वारा उत्पन्न होती है। ध्वनि उत्पादक या स्रोत से लहर चलती है। ध्वनि–लहर की चाल या गति कभी आगे और कभी पीछे दोनों ओर होती है। दबाव के कारण ध्वनि आगे चलती है, परन्तु इस आगे बढ़ने के क्रम में कुछ दूर चलकर पीछे भी हटती है। यदि ध्वनि सामान्य होती है तो ध्वनि लहर का रूप और चाल, स्रोत से चलने जैसी ही रहती है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु जब ध्वनि अधिक कर्कष या तीव्र होती है (बम फटने या मकाने गिरने की ध्वनि) तो स्रोत से शीघ्रता में चलने के कारण कान तक पहुँचने में ध्वनि का रूप बदल जाता है।

ध्वनि के प्रकार

ध्वनि का आधार वस्तु का कम्पन होता है। जब वस्तु किसी माध्यम में कम्पन करती है तो ध्वनि उत्पन्न होती है। यह ध्वनि वायु या अन्य माध्यम से हमारे कान तक पहुँच जाती है और हमें ध्वनि का बोध या शब्द बोध हो जाता है। ध्वनियाँ दो होती हैं– (1) स्वर या सुरीला शब्द, (2) शोर या रव सुरीला शब्द या स्वर, शान्त, मिश्रित और श्रमिक होता है। शोध या रव अषान्त, असंगठित और आक्रमक हुआ करता है। इन दोनों के अन्तर का स्पष्टीकरण बहुत ही कठिन है। प्रायः स्वर और शोर शुद्ध रूप में नहीं पाए जाते। स्वर में शोर का और शोर में स्वर का मिश्रण हो जाया करता है। स्वर में एक क्रम पाया जाता है। परन्तु कभी–कभी रव या शोर में भी क्रम देखने को मिलता है, जैसे–खटखटाहट के शब्द, चीख, फूत्कार, सिसकी, रुदन, गर्जन आदि में क्रम भी होता है।

सुरीला शब्द कानों को अच्छा लगने वाला और सुखद होता है और शोर या रव प्रायः कठोर, कर्कष और कानों को अच्छा ना लगने वाला होता है। परन्तु हम इन ध्वनियों का अलग–अलग नहीं बांट सकते। दोनों शुद्ध रूप में नहीं मिलती। स्वर में भी रव पाया जाता है; जैसे–वाद्य–यंत्र में भी स्वर के साथ–साथ शोर उत्पन्न होता है। विभिन्न वाद्ययन्त्रों को स्वर उत्पन्न करके जब एक स्वर में मिलाया जाता है तो उनसे निकलने वाले स्वर के साथ–साथ शोर भी उत्पन्न होता है तो वाद्य–यंत्रों की प्रकृति पर निर्भर करता है।

6.6 स्वाद–संवेदना

स्वाद संवेदना के ग्राहक जीभ की सतह और कण्ठ के आसपास वाले स्थान पर विद्यमान रहते हैं। ये छोटे–छोटे कोषों से निर्मित स्वाद–कलियां होती हैं। नमक, मीठे, कड़वे, चरपरे आदि स्वादों की अनुभूति इन्हीं कलियों की सहायता से हुआ करती है। यदि बहुत तीव्र नमक मिर्च या क्षर जीभ पर लग जाए तो पीड़ा अनुभव होती है।

स्वाद

जीभ और कण्ठ का निकटवर्ती भाग स्वाद पहचानने के प्रमुख भाग हैं। साधारणतः स्वाद चार प्रकार के माने गये हैं– नमकीन, खट्टा, कड़वा और मीठा। परन्तु इनके अतिरिक्त दो और स्वाद माने गये हैं; जैसे–तिक्त (चरपरा) और कसैला। इन स्वादों की अनुभूति तभी होती है जब स्वाद का उद्दीपक लार में भली प्रकार मिल जाता है। तभी स्वाद कलियां इससे प्रभावित हो पाती हैं। ये सभी स्वाद जीभ की सहायता से पहचाने जाते हैं। परन्तु जीभ की सतह और विविध भाग सभी स्वादों की अनुभूति के लिए नियत नहीं हैं। जीभ का अगला भाग मीठे स्वाद के लिए, बगल का भाग खट्टे स्वाद के लिए, अग्र तथा बगल का मिश्रित भाग नमकीन के लिए और नीचे का भाग कड़वे स्वाद की पकड़ के लिए होता है। जीभ के अलग–अलग भागों पर अलग–अलग स्वादों की अनुभूति होती है। स्वाद–ग्राहक कलियां स्वाद– सम्बन्धी विशिष्ट स्थानों पर होती हैं जो स्वाद ग्राहक का काम करती हैं। छोटे बालकों में स्वाद–सम्बन्धी संवेदनशीलता अधिक होती है। प्रौढ़ों की जीभ का मध्यम भाग प्रायः स्वाद–संवेदना के लिए शून्य रहता है, परन्तु बालकों की जीभ के मध्य भाग में और श्लेष्मिक कला में स्वाद–कलियां रहती हैं। स्वाद की अनुभूति के लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है इनके बिना स्वाद की अनुभूति होनी सम्भव नहीं है :–

स्वाद के लिए उपयुक्त ग्राहक का होना

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि विभिन्न स्वादों के लिए विभिन्न स्वाद–ग्राहक भागों की आवश्यकता होती है। इनकी स्थिति जीभ के अलग–अलग स्थानों पर होती है। जब तक स्वाद वाली वस्तु उपयुक्त भाग से नहीं चखी जायेगी स्वाद की अनुभूति नहीं होगी।

स्वाद के लिए पदार्थ का घुलना आवश्यक

जब तक स्वाद देने वाले पदार्थ को तरल और विलयन के रूप में जीभ पर नहीं रखा जाता स्वाद की अनुभूति नहीं होती। ठोस पदार्थ का स्वाद तभी मिलता है

जब वह जीभ की लार में घुल जाता है। यदि विषयी पदार्थ को घोट जाता है तो उसका गन्ध सम्बन्धी क्षेत्र उत्तेजित हो सकता है। ऐसी स्थिति में परीक्षण परिणाम शुद्ध नहीं निकल सकता। इसलिए परीक्षण में इस सावधानी पर ध्यान देना आवश्यक है।

6.7 गंध और गंध–संवेदनशीलता

स्वाद और गंध की संवेदनाएं आपस में सम्बन्धित होती हैं। बहुत थोड़ी ऐसी गंध संवेदनायें होंगे जिनका स्वाद से कोई सम्बन्ध न हो। अन्य संवेदनाओं की अपेक्षा गंध का स्वरूप बहुत जटिल होता है क्योंकि इसमें स्पर्श–सम्बन्धी, स्वाद–सम्बन्धी और अन्य आवयविक संवेदनाएं भी निहित रहती हैं। गंधों में भेद स्पष्ट करने के लिए प्रिय एवं अप्रिय विशेषणों का ही प्रयोग किया जाता है। अभी कोई निश्चित नाम देने वाला शब्द नहीं बनाया गया है। गंधों के साथ उन पदार्थों का नाम जोड़ दिया जाता है जिनके जैसी वह गंध हुआ करती है।

गंधों का वर्गीकरण

गंधों का अध्ययन करके ज्वार्डमेकर और हेनिंग ने गंधों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है :–

(अ) ज्वार्डमेकर का वर्गीकरण– उसने नाक के नव बाल–कोशों के आधार पर गंध को नव श्रेणियों में बांटा हैं :–

1. **वायव्य गंध–** फलों की सभी गंध मोम आदि।
2. **मधुर गंध**–कपूर, नींबू, गुलाब आदि।
3. **सुगन्धित गंध**–संतरे का फूल आदि।
4. **अति सुगन्धित गंध**–तृणमणि, कस्तूरी आदि।
5. **मत्स्य गंध**–मछली।
6. **जलने की गंध–** रोटी, तम्बाकू आदि।
7. **अजावत् गंध**–पनीर, पसीना आदि।
8. **उग्र गंध**–बेहोश करने वाली गंध।
9. **वामक गंध**–सड़ने वाले पदार्थ या शरीर।

(ब) हेनिंग का वर्गीकरण – हेनिंग ने ज्वार्डमेकर के वर्गीकरण को बहुत जटिल माना। उसने गंध–संवेदना के क्षेत्र में काम करके केवल 6 प्रकार की ही गंधों का उल्लेख किया :–

1. **फल–सम्बन्धी गंध**–नींबू, आम, मकोय, खरबूजा आदि।
2. **राल–सम्बन्धी गंध**–पेड़ों से निकलने वाली घूने।
3. **फूल–सम्बन्धी गंध**–बनफशा आदि।
4. **मसाला–सम्बन्धी गंध**–धनिया, तेजपात आदि।
5. **जलते हुए पदार्थ**–सम्बन्धी गंध–रोटी, तारकोल आदि।
6. **गंदे–पदार्थ सम्बन्धी गंध**– सड़ने वाला पदार्थ।

गंध का महत्व

गंध से हम बाह्य वातावरण का ज्ञान प्राप्त करने के साथ–साथ अपने शरीर के अन्दर की विविध रासायनिक क्रियाओं का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति अपने भोजन का चयन अपनी रुचि और सामाजिक परम्परा के आधार पर किया करते हैं। परन्तु बच्चे, जंगली व्यक्ति और पशु गंध के रुचिकर होने पर ही भोजन ग्रहण करते हैं। पशुओं में विशेषकर निम्नकोटि के पशुओं में गंध की संवेदना बड़ी तीव्र होती है। वे सूँघ–सूँघ कर ही भोजन और काम–सम्बन्धी चुनाव किया करते हैं। हिरण और बिल्लियाँ तो सूँघ कर ही अपने अनुकूल जोड़े का पता लगा लेते हैं। मनुष्य केवल गंध पर ही निर्भर नहीं रहता। उसे अन्य ज्ञानेन्द्रियों का सहारा भी लेना पड़ता है। इसलिए उसके लिए गंध का इतना अधिक महत्व नहीं है जितना कि पशुओं के लिए है। फिर भी गंध मनुष्य को बहुत सहायता देती है। खाद्य–पदार्थों की उपयोगिता देखने में, वस्तु की परख करन में, सुगन्ध–दुर्गन्ध का ज्ञान प्राप्त करने में, शरीर की गंध के आधार काम–वासना उत्तेजित होने में गंध का ही महत्व है। अब शरीर की स्वाभाविक गंध को छिपाने के लिए सुगन्धित पदार्थों का प्रचलन हो गया है जो काम–वासना को जाग्रत करने में योग देते हैं। यही कारण है कि कई सुगंधों में कस्तूरी का योग इसलिए दिया जाता है कि वह काम–वासना को बढ़ाये।

जंगलों और दुर्गम घाटियों में चरती हुई गायें केवल गंध के कारण ही शेर के आने की सूचना पा जाती है और अपनी आत्मरक्षा में लग जाती है। अखाद्य पदार्थों ही पहचान पशु सूँघ कर ही करते हैं। दुर्गन्ध की दिशा और स्थान का ज्ञान हमें गंध द्वारा ही हो जाता है। कौन पशु किधर और कहाँ पड़ा सड़ रहा है? इसका ज्ञान गंध से ही हो जाता है। अब युद्ध में ऐसी बहुत सी गैंसे प्रयुक्त होने लगी हैं जिनकी गंध अप्रिय नहीं होती परन्तु वे घातक होती हैं। उनसे अनेक सैनिक काल के गाल में समा जाते हैं।

गंध की ज्ञानेन्द्रियाँ

नाक गंध की प्रमुख ज्ञानेन्द्रिय है। नासिकापथ में सूत के आकार के छोटे–छोटे कोष, गंध–संवेदना को ग्रहण करने में योग देते हैं। अधिकांशतः ये नासिका–पथ के ऊपरी भाग में ही होते हैं। हवा की गंध का माध्यम है जो गंध लेकर मुँह और नाक में पहुँचती है। कभी–कभी हवा गंध–सम्बन्धी ग्राहकों के पास तक नहीं पहुँचती, परन्तु तब छींक आती है तो ये ग्राहक उससे प्रभावित होते हैं। गंध और स्वाद की संवेदनाओं का आपस में सम्बन्ध होता है। गंध देने वाले पदार्थ स्वाद–संवेदना को भी जाग्रत कर देते हैं। सुगन्धित पदार्थों से अधिकतर स्वाद–संवेदना उत्तेजित होता है।

गंध–संवेदना, स्वाद संवेदना की अपेक्षा अधिक तीव्र और संवेदनशील हुआ करती है। मुँह और नाक की श्लेष्मायुक्त झिल्लियाँ ठण्डक गर्मी, दाब और स्पर्श से सम्बन्धित संवेदनशीलता भी रखती है। यह संवेदनशीलता त्वचा की संवेदनशीलता की भांति ही होती है।

6.8 चर्म–सम्बन्धी संवेदनाएं

संवेदनाओं के क्रम में चर्म की संवेदना महत्वपूर्ण है। चर्म हमें चार प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूति कराती है :–

1. भार संवेदना
2. दर्द संवेदना
3. ठण्डक संवेदना
4. ताप की संवेदना

चर्म में संवेदना के कई प्रकार के ग्राहक हुआ करते हैं। इन संवेदनाओं का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व हमें धर्म की रचना और कार्य का अध्ययन करना होगा।

चर्म की रचना और कार्य

चर्म को बाहर से देखा जाए तो इसकी बनावट समान नहीं दिखाई पड़ती है। कहीं चिकनी, कहीं झुर्रीदार, कहीं पतली, कहीं मोटी और कहीं तनी हुई दिखाई पड़ती है। यह कहीं बालों से ढँकी होती है तो कहीं बाल विहीन होती है। शरीर में कुछ भागों में चर्म की समाप्तियाँ हुआ करती है; जैसे–होठ, अंगुलियों आदि के अग्र भाग में बहुत से तन्तु समाप्त होने लगते हैं। परन्तु पीठ जैसे विस्तृत भाग में चर्म–तन्तु दूर–दूर तक फैले हुए होते हैं। यही कारण है कि शरीर के विभिन्न अंगों में स्पर्श–संवेदनशीलता में अन्तर पाया जाता है।

चर्म संवेदनशीलता स्थान–स्थान पर भिन्न

चर्म की सतह की रचना में तन्तुओं की उपस्थिति समान नहीं होती, क्योंकि

ये ही तन्तु चर्म–सम्बन्धी संवेदनाओं की अनुभूति कराते हैं। इसलिए शरीर के विभिन्न चर्म–स्थलों की संवेदन–शक्तियाँ अलग–अलग होती हैं। कहीं गर्मी या ठण्डक का अनुभव शीघ्र होता है और कहीं बहुत देर से होता है। कहीं पेंसिल की नोक शीघ्र चुभन पैदा करती है तो कहीं चुभन का साधारण अनुभव होता है। इस प्रकार पूर्ण संवेदना के लिए एक ही उद्दीपक सभी चर्म–स्थलों के उपयुक्त और पर्याप्त नहीं रहता। विभिन्न स्थलों पर उद्दीपकों की आवश्यकता भी अलग–अलग रहती है। ये उद्दीपक कई प्रकार के हो सकते हैं जिनके प्रति चर्म सरलता से संवेदना का अनुभव कराती है, जैसे–

1. यान्त्रिक उद्दीपक
2. विद्युत उद्दीपक
3. रासायनिक उद्दीपक
4. ऊष्मा–सम्बन्धी उद्दीपक

1. भार संवेदना

चर्म में भार–संवेदनशीलता की अनुभूति के लिए सूक्ष्म ग्राहकता पायी जाती है। भार–संवेदना के लिए मनुष्य या पशु का एक बाल ही पर्याप्त हेाता है। किसी लकड़ी के हत्थे पर कई बालों को समकोण पर बांधने से विभिन्न तौलों की भार–संवेदना मालूम की जा सकती है। चर्म का प्रत्येक स्थल भार संवेदना की अनुभूति करने में समर्थ है। बाल का अग्र भाग भार–संवेदनशीलता की दृष्टि से सर्वाधिक संवेदनशीलता रखने वाला होता है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि भार–संवेदन के ग्राहक बालों की जड़ों में ही होंगे। अभी यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि भार–संवेदना के ग्राहक किस स्थल पर पाये जाते हैं। यदि बालों की जड़ों पर भार–संवेदना के ग्राहक मान लिए जाएं तो प्रश्न यह उठता है कि जहाँ बाल नहीं होते वहां भार की संवेदना बहुत ऊँची होती है। यह अनुमान लगाया गया है कि जहाँ बाल नहीं होते वहाँ तंतुओं की समाप्तियाँ ही भार–संवेदना के ग्राहक होते हैं। यह समाप्तियाँ पैरों के तलुए में भी पायी जाती हैं।

2. दर्द–संवेदना या संवेदनशीलता

चमड़े के धरातल पर ही दर्द–संवेदना की अनुभूति होती है। चमड़े की सतह ही दर्द–संवेदना की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त है। चर्म की सतह पर यान्त्रिक उद्दीपक से रासायनिक उद्दीपक से, ऊष्मा–सम्बन्धी उद्दीपक से और बिजली के उद्दीपक से दर्द–संवेदना की उत्पत्ति की जा सकती है। दर्द–संवेदना को भार–संवेदना से अलग करना बहुत कठिन होता है, क्योंकि दर्द–संवेदना में भार का भी योग होता है। रासायनिक पदार्थ की सुई लगाने पर, ठण्डक या गर्मी पहुंचाकर दर्द उत्पन्न करने पर

या बिजली द्वारा दर्द उत्पन्न करने पर भार–संवेदना भी उत्पन्न हो जाती है। परन्तु भार–संवेदना को दर्द–संवेदना से अलग करने के लिए हाल ही में बिजली के बल्ब द्वारा गर्मी पहुँचाने की विधि चलायी गयी है। यदि इस विधि में गर्मी पहुँचाने का समय स्थिर रहे, और गर्मी की गहनता धीरे–धीरे कम की जाए तो दर्द–संवेदना का सीमान्त पर्याप्त सीमा तक ठीक–ठाक नापा जा सकता है।

3. तापक्रम–संवेदनशीलता

चर्म जहाँ भार और दर्द की संवेदनाओं का अनुभव करती है वहां यह तापक्रम के प्रति संवेदनशीलता भी दिखाती है। तापक्रम–संवेदना में कुछ विशेषताएं होती हैं जो इस प्रकार है:–

तापक्रम–संवेदना के स्थल विभिन्न–तापक्रम का तात्पर्य ठण्डक और गर्मी से है। ठण्डक और गर्मी की संवेदना का अनुभव करने वाले चर्म–स्थल अलग–अलग पाए जाते हैं। तापक्रम–संवेदना के स्थलों का ज्ञान किसी ठण्डी या गर्म नोक को विभिन्न स्थलों पर चुभाकर किया जाता है। यदि नोंक (उद्दीपक) की गर्मी चर्म की गर्मी के बराबर है तो तापक्रम–संवेदना के थोड़े ही स्थलों का ज्ञान हो सकेगा। यदि तापक्रम बढ़ा दिया जाए या चर्म के तापक्रम की अपेक्षा ताप घटा दिया जाए तो तापक्रम–संवेदना के स्थल अधिक संख्या में ज्ञात हो सकेंगे। परीक्षणों से यह बात स्पष्ट हुई है कि तापक्रम–संवेदनशीलता के स्थल मिनट–मिनट में बदलते रहते हैं।

चर्म–तापक्रम में संतुलन

व्यक्ति उष्ण–रक्त प्राणी है। उसमें रक्त–संचार की ऐसी व्यवस्था है कि उससे शरीर के तापक्रम में परिवर्तन हीं आता। शरीर की रक्त–नाड़ियां हृदय से सारे शरीर में गर्म रक्त प्रवाहित करती रहती हैं। परन्तु हमारे शरीर का तापक्रम वातावरण के सम्बन्ध में संतुलित ही रहता है। परीक्षणों द्वारा यह बात देखी गयी है कि जो अंग (चर्म–स्थल) कपड़े से ढँके रहते हैं उनका तापक्रम 35° से. और खुले चर्म–स्थलों का तापक्रम 33°से. रहा करता है। कान के उस भाग में जहां रक्त का प्रवाह कम रहता है तापक्रम केवल 26° से. पाया जाता है।

ठण्डक और गर्मी का विराधोत्मक अनुभव

कुछ परीक्षणों में यह देखा गया कि कुछ चर्म–स्थलों पर गर्म–उद्दीपक से ठण्डक की अनुभूति होती है। कुछ ठण्डक–संवेदनाओं के स्थलों पर 43° से. या इससे अधिक तापक्रम का उद्दीपक दिया जाए तो उनमें से कुछ ठण्डक की ही संवेदना देते हैं। इस संवेदना को विरोधात्मक ठण्डक और गर्मी की संवेदना कहा जाता है। ऐसे ही गर्म–संवेदना वाले स्थलों पर ठण्डक की उद्दीपक दिया जाए तो कुछ स्थल ठण्डक का अनुभव करते

हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रकृति ने गर्मी और ठण्डक की संवेदनाओं के लिए अलग–अलग मार्ग निर्धारित किए हैं। ये मार्ग तन्तु–पथ कहलाते हैं।

6.9 गति एवं आन्तरिक आवयविक संवेदनाएं

हमारे शरीर में गति–संवेदना का भारी महत्व है। इसके बिना हमारा शरीर कोई भी कार्य नहीं कर सकता। शरीर के जिन अवयवों से हमें गति का अनुभव होता है वे ज्ञानवाहक तन्तुओं से सम्बन्धित होते हैं। इन अवयवों की गति में मांसपेशियां अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। परन्तु दृष्टि–संवेदना मांसपेशियों के बिना भी बहुत–सी क्रियाओं के करने में सहायक होती है, और अंगों का वातावरण के साथ व्यवस्थापन करने में मदद देती है। विविध अंगों का बोध भी इसकी सहायता से होता है। शरीर के विभिन्न जोड़ मांसपेशियों से सम्बन्धित होते हैं और इनकी सहायता से गति करने में समर्थ होते हैं। अवयवों से सम्बन्धित मांसेपशियों स्नायुओं की सहायता से हड्डियों के साथ जुड़ी रहती है। जैसे ही हम अपना हाथ या पैर हिलाते हैं तो हमें संवेदना या संवेदनाओं की अनुभूति होती है। इससे हमें यह भी पता चल जाता है कि शरीर का कौन सा भाग गतिशील हुआ। आंखों से देखकर भी यह ज्ञान हो जाता है कि हमारा हाथ या पैर कहां है। परन्तु यदि हम आंखें बन्द कर लें तो हमें गति संवेदना से ही यह ज्ञान हो सकेगा कि हमारा हाथ या पैर कहां है, गति किस प्रकार की है और स्थिति क्या है? इस स्थिति में हम अपने जोड़ों, स्नायुओं तथा मांसपेशियों की सहायता पर निर्भर रहते हैं।

गति–सम्बन्धी संवेदना कभी अकेली नहीं आती। उसके साथ अन्य गति–संवेदनाएं भी मिली रहती हैं। ये अतिरिक्त गति–संवेदनाएं दृष्टि और स्पर्श–संवेदनाओं से मिली रहती है। परन्तु यह भी देखने में आया है कि यदि चर्म–सम्बन्धी संवेदना को समाप्त कर दिया जाये तो गति–संवेदना निरन्तर बनी रहती है। इसलिए हम यहां गति–संवेदना के स्थायीकरण में चर्म–संवेदना को अधिक महत्व नहीं दे सकते।

गति–संवेदना द्वारा हमें तौल और भार को अधिक महत्व नहीं दे सकते। तौल ज्ञात करते समय गति–संवेदना ही उसके मापन में योग देती है। वास्तव में तौल का अंकन करते समय हमें बल लगाना पड़ता है। हम तौल के समय कितना बल लगा रहे हैं या कितने तनाव–संवेदना एक नहीं होती। इनमें भेद होता है। वास्तव में मांसपेशियाँ तनाव–संवेदना में अधिक योग देती है। गति–संवेदना में इतना अधिक योग नहीं देती। तनाव–संवेदना की उत्पत्ति तो मांसपेशियों और स्नायुओं से होती है। जोड़ों में अनुभव की जाने वाली संवेदनाएं अवयवों की गति और स्थिति को जानने में

भारी योग देती हैं। कभी–कभी थकान के कारण मांसपेशियों में संकुचन पैदा हो जाता है। वह संकुचन भी गति–संवेदना की अनुभूति कराता है।

गति संवेदना के ग्राहक

जहाँ जोड़ों के बन्धन होते हैं वहाँ तन्तुओं की बहुत सी समाप्तियाँ होती हैं। ये समाप्तियाँ हड्डियों के आवरणों में भी पायी जाती हैं। इन्हीं स्थानों पर स्नायुकोशों में ज्ञानवाहक तन्तुओं के रेशे होते हैं और उनकी स्वतन्त्र समाप्तियाँ भी वही होती हैं। ये समाप्तियाँ तनाव–परिवर्तन के प्रति प्रतिक्रियाएं दिखाने में क्रियाशील रहती हैं। कंकाल–सम्बन्धी मांसपेशियों में कुछ मिलीमीटर लम्बी ज्ञानवाहक तंतुएं होती हैं तो मांसपेशी या रेशे कहीं जाती हैं। इन रेशों में तन्तुओं का स्वरूप जटिल होता है और इनमें तीन प्रकार की समाप्तियाँ मिलती हैं। पहली दो समाप्तियाँ तो पूर्व सूचना का कार्य करती हैं और तीसरी समाप्ति तनाव की विभिन्न स्थितियों में उनके प्रति प्रतिक्रिया दिखलाती है। ये मांसपेशीय रेशे मांसपेशी की गति के बाद हो जाने की सूचना देने में सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि आसनों और गतियों की पहचान जोड़ों के कार्य पर तथा उनकी रचना पर अधिक निर्भर करती है।

आन्तरिक आवयविकी संवेदनाएं

आवयविकी संवदेनाएं बहुत अनिश्चित होती हैं, परन्तु ये हमारे शारीरिक सुख से बहुत घनिष्ठता के साथ जुड़ी रहती हैं। सभी शारीरिक सुख और दुःख हमारी आन्तरिक आवयविकी संवेदनाओं पर निर्भर रहते हैं। यहां हम उनमें से कुछ का अध्ययन करेंगे।

अ) भूख

सामान्यतः जब पेट खाली हो जाता है तो उसके चार–पांच घंटे बाद भूख–संवेदना का अनुभव होता है, भूख तब लगती है तब रक्त में शक्कर की कमी हो जाती है और पेट की मांसपेशियां सिकुड़ने लगती हैं। इस सिकुड़न में एक प्रकार की गति–संवेदना अनुभव होती है। भूख और 'खाने की इचछा' में अन्तर होता है। भूख न रहने पर भी लोग खाने की इच्छा रखते हैं। जहां उन्हें कोई स्वादिष्ट खाद्य–सामग्री दिखी कि उसे खाने की इच्छा होने लगी। यदि भूख मिटाने की बात होती तो व्यक्ति साधारण वस्तु खाकर भी अपनी भूख मिटा लेता। परन्तु यह खाने की इच्छा व्यक्ति को कुछ न कुछ करने की प्रेरणा देती है। यह एक प्रेरक है। अब सांस्कृतिक विकास के साथ–साथ लोगों में खाने की इच्छा बहुत बढ़ी है, जबकि कुछ देशों में अभी भी लोग भूख से प्राण गवां रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध, वियतनाम के युद्ध, कोरिया के युद्ध, मध्य पश्चिमी एशिया के युद्ध और अन्य गरीब देशों की स्थितियों में असंख्य लोग भूख से मरे।

ब) प्यास

जब प्यास लगती है तो मुँह और कण्ठ सूखने लगता है। अत्यधिक प्यास में कण्ठ का आन्तरिक भाग इतना सूख जाता है कि मन घबराने लगता है। परीक्षणों से यह बात जानी गयी है कि प्यास तब लगती है जब लार–गंथियों की झिल्लियां मुँह और कण्ठ में नमी लाना बंद कर देती हैं। वास्तव में प्यास रक्त में पानी के अंश की कमी होने पर लगती है। जब शरीर को बहुत पसीना आता है, मूत्र रोग होता है या गुर्दे का रोग होता है तो व्यक्ति को प्यास और अधिक लगती है। ऐसी दशा में लार–ग्रंथियों की झिल्ली सूखने लगती है। जब कभी व्यक्ति के शरीर में एट्रोपिन नामक रासायनिक पदार्थ पहुँच जाता है तो उससे लार–ग्रन्थियों की स्वाभाविक क्रियाओं में बाधा पहुँचती है और मुँह एवं कण्ठ सूख जाता है। व्यक्ति ऐसी स्थिति में प्यास का अनुभव करता है। उसे पानी देने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस भांति आन्तरिक अवयवों की सहायता से व्यक्ति को प्यास का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। यही प्रत्यक्षीकरण एक प्रेरणा का कार्य करता है।

स) मूत्र और शौच करने की आवश्यकता

गुर्दे और बड़ी आंत की विशिष्ट दशाओं के कारण मूत्र और शौच करने की आवश्यकता अनुभव होती है। जब मूत्राशय और बड़ी आंत मूत्र एवं मल से भर जाती है तो व्यक्ति को मूत्र और शौच करने की संवेदना प्राप्त होती है। इन संवेदनाओं का सम्बन्ध अवयवों से ही होता है।

द) वायु की आवश्यकता

जब व्यक्ति श्वास के अवरोध की अनुभूति करता है तो उसे वायु ग्रहण करने (श्वसन) की इच्छा होती है। इस संवेदना का सम्बन्ध श्वास–सम्बन्धी अवयवों (जैसे–फेफड़ों और हृदय) से होता है। इसका सम्बन्ध आक्सीजन की कमी या कार्बन–डाइ–आक्साइड की रक्त में अधिकता से नहीं माना जाता।

य) परिवर्तन की आवश्यकता

जब व्यक्ति स्नायविक दुर्बलता से पीड़ित होता है तो वह वातावरण या वायुमण्डल में परिवर्तन की इच्छा अनुभव करता है। शरीर की विभिन्न मानसिक और शारीरिक स्थितियाँ व्यक्ति को परिवर्तन की आवश्यकता की संदेनाएं देती हैं।

र) शारीरिक थकान

जब व्यक्ति को शारीरिक थकान होती है तो मांसपेशियों में एक प्रकार का दर्द, खिंचाव होता है। थकान का कारण कोषों का नष्ट हो जाना अथवा मांसपेशियों में

कुछ विषैले रासायनिक पदार्थों का संचित हो जाना है। शारीरिक थकान से व्यक्ति विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का अनुभव करता है। यदि थकान सारे शरीर में व्याप्त होती है तो यह मान लिया जाता है कि रक्त में विषैला अंश पर्याप्त मात्रा में मिल चुका है। इस स्थिति में व्यक्ति कार्य करने की स्थिति में नहीं रहता।

उपरोक्त विवरण इस बात का स्पष्ट करता है कि हमारी शारीरिक आवश्यकताएं स्वभावतः आन्तरिक आवयविकी संवेदनाओं से सम्बन्धित होती हैं। इनकी पूर्ति के लिए हमें विभिन्न संवेदनाओं की अनुभूति करनी पड़ती है। जब ये आवश्यकताएं संतुष्ट हो जाती हैं तब नवीन अनुभवों का आभास होता है। भूख लगने पर भोजन करके जठराग्नि की तृप्ति होती है। वासावरोध की संवेदना शुद्ध वायु लेकर संतुष्ट हो जाती है। इससे मन और शरीर प्रफुल्ल और शक्ति से युक्त हो जाता है। यही बात शेष आवयविकी संवेदनाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

6.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद संवेदना के अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया। संवेदना के तथ्यों के विषय में जानकारी प्राप्त की। संवेदना के वर्गीकरण में दृष्टि संवेदना, श्रवण संवेदना तथा स्वाद संवेदना के विषय में अध्ययन प्राप्त किया। इसके पश्चात चर्म–सम्बन्धी संवेदनाएं के विषय में जानकारी प्राप्त की। इकाई के अन्त में गति एवं आन्तरिक आवयविक संवेदनाएं के विषय में अध्ययन किया।

6.11 प्रश्न

1. संवेदना से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. संवेदना के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।
3. संवेदना को समझाते हुए दृष्टि–संवेदना का वर्णन कीजिए।
4. श्रवण–संवेदना तथा स्वाद संवेदना– के मध्य अन्तर को समझाइए।
5. गंध संवेदना और चर्म संवेदना का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।
6. गति एवं आंतरिक संवेदना की व्याख्या कीजिए।

6.12 संदर्भ ग्रंथ

1. चौबे, डॉ. सरयू प्रसाद, सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, कानसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2005।

2. सिंह, डॉ. श्याम बिहारी, बाल–व्यवहार व्यतिक्रम, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1995।

3. मिश्र, डॉ. पी. डी., सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

4. जायसवाल, डॉ. सीताराम, शिक्षा में निर्देशन और परामर्श, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2010/2011।

5. आलम, डॉ शाह, एवं गुफरान डॉ. मोहम्मद, निर्देशन एवं परामर्श का मूलभूत आधार, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011।

6. सिंह, अरुण कुमार, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2004।

7. सुलेमान, डॉ. मुहम्मद एवं तौवाब, डॉ. मुहम्मद, असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004।

8. शर्मा, डॉ. सीमा, सामान्य मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011।

9. मिश्र, डॉ. पी. डी., असामान्य व्यवहार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

इकाई–7 प्रत्यक्षीकरण एवं समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा –

7.0 इकाई का उद्देश्य

7.1 परिचय

7.2 प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा

7.2.1 प्रत्यक्षीकरण की विशेषताएँ

7.2.2 प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया

7.2.3 प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक

7.3.0 समाजीकरण का अर्थ

7.3.1 समाजीकरण की परिभाषा

7.3.2 समाजीकरण की विशेषताएँ

7.3.3 समाजीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाएँ

7.3.4 समाजीकरण के अभिकरण तथा साधन

7.3.5 समाजीकरण के सिद्धान्त

7.4 सार संक्षेप

7.5 पारिभाषिक शब्दावली

अभ्यास प्रश्न – लघु विस्तृत

7.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

1. प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
2. प्रत्यक्षीकरण की विशेषताओं को जान सकेगें।
3. प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
4. प्रत्यक्षीकरण के निर्धारकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
5. समाजीकरण के अर्थ को जान सकेगें।
6. समाजीकरण की विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

7. समाजीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाओं पर प्रकाश डाल सकेंगे।
8. समाजीकरण के अभिकरण तथा साधनों के बारे में जान सकेंगे।
9. समाजीकरण के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

7.1 परिचय

समाज का निर्माण व्यक्तियों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया द्वारा होता है। समाज में व्यक्ति एक–दूसरे से अलग–अलग रहते हुए भी एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में ही नहीं आता है बल्कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक परिस्थितियों का भी सामना करता है। एक–दूसरे के सम्पर्क में आने पर व्यक्ति एक–दूसरे से प्रभावित होता है, वह दूसरे व्यक्ति के हाव भाव, संकेतों व्यक्तित्व, बात–चीत के ढंग तथा व्यवहारों के प्रत्यक्षीकरण द्वारा उसके आधार पर निर्णय लेता है। अर्थात् दूसरे व्यक्तियों के अनेक गुणों और विशेषताओं के सम्बन्ध में व्यक्ति जैसा प्रत्यक्षीकरण करता है उसी के अनुरूप वह दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में निर्णय लेता है। प्रस्तुत इकाई में प्रत्यक्षीकरण एवं समाजीकरण के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है।

7.2 प्रत्यक्षीकरण की परिभाषाएँ

आलपोर्ट के अनुसार ने प्रत्यक्षीकरण का अर्थ परिस्थिति के सम्बन्ध में व्यक्ति के सम्पूर्ण ज्ञान का विस्तार है।

सीकोर्ड तथा बेकमैन ने प्रत्यक्षीकरण के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्षीकरण के दो प्रकरण हैं, प्रथम अनुभवात्मक प्रक्रिया पर वैयक्तिक और सामाजिक कारकों के प्रभाव तथा द्वितीय सामाजिक लक्ष्यों या वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रत्यक्षात्मक संज्ञानात्मक अनुभवों का अध्ययन सम्मिलित है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षीकरण में व्यक्ति की अनुभवात्मक प्रक्रिया को अनेक वैयक्तिक तथा सामाजिक कारक प्रभावित करते हैं। प्रत्यक्षीकरण के द्वारा परिस्थिति का लक्ष्यों के प्रति व्यक्ति को प्रत्यक्षात्मक अनुभव होता है। एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के प्रति विचार, भावनाएँ तथा धारणाएँ निर्धारित करना मुख्यतः तीन परिस्थतियों पर निर्भार करता है–

1. प्रत्यक्षीकरण करने वाले व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में निर्णय करते समय सूचनाओं की मात्रा क्या है?
2. दोनों व्यक्यिों के मध्य किस प्रकार की अन्तर्क्रियाएँ हैं?

3. प्रत्यक्षीकरणकर्ता और दूसरे व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना किस मात्रा में हुई है?

व्यक्ति इन उपरोक्त परिस्थितियों के आधार पर प्रत्यक्षीकरण द्वारा दूसरे व्यक्ति के भाव, संवेग, सामाजिक प्रत्यक्षीकरण करता है।

7.2.1 प्रत्यक्षीकरण की विशेषताएँ

टाऊट ने प्रत्यक्षीकरण की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है:

1. प्रत्यक्ष की एकता और अविच्छिन्नता
2. प्रत्यक्षीकरण द्वारा ध्यान केन्द्रित करना
3. दृढ़ता प्राप्त होना
4. प्रत्यक्षीकरण द्वारा अनुभव से सीखना
5. स्वतन्त्र समायोजन
6. प्रत्यक्ष में स्मरण

मानव की बाल्यावस्था में जैसे–जैसे वह समाज के सम्पर्क में आता है। उसके अनुभवों और ज्ञान में वृद्धि होने के साथ–साथ उसके प्रत्यक्षीकरण में वृद्धि होती है, उसमें अर्थ लगाने तथा दूसरे के हाव भाव तथा विचारों को समझने की शक्ति का विकास होता है। अनुभवों में वृद्धि के साथ ही बच्चा दो वस्तुओं में भेद को समझने लगता है। मानव में समस्त परिस्थिति को एक साथ देखने की शक्ति का विकास होने तथा सम्बन्ध पक्षों के विकास होने से प्रत्यक्षीकरण की समझ विकसित होती है।

7.2.2 प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रियाएँ

प्रत्यक्षीकरण एक मानसिक प्रक्रिया तथा वस्तु की परिस्थिति के प्रति एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया है। इसके लिए उद्दीपक आवश्यक है। यह ग्राहय केन्द्रियों को प्रभावित करता है। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में निम्नलिखित प्रक्रियाएँ निहित होती है:

(1) ग्राहय प्रक्रियाँ

प्रत्यक्षीकरण में ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं का समावेश होता है। इसी के द्वारा व्यक्ति में प्रत्यक्षीकरण का ज्ञान विकसित होता है। जैसे देखने, सुनने या सूँघने की क्षमता से सम्बन्धित प्रत्यक्षीकरण ज्ञानेन्द्रियों की उत्तेजना से मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति में प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।

(2) प्रतीकात्मक प्रक्रियाँ

इसके अन्तर्गन व्यक्ति की विभिन्न वस्तुओं के प्रतीकों से अनुभव तथा भावनाएँ जुड़ी होता है जैसे भोजन पकने की सुंगध से ही हमारे मस्तिष्क के भोजन का स्वाद तथा तस्वीर उभरने लगती है। तथा हमारी भूख में वृद्धि होने लगती है।

(3) भावनात्मक प्रक्रियाएँः–

प्रत्यक्षीकरण में भावनात्मक प्रक्रियाओं का भी समावेश होता है। सुख या दुख की अनुभूति होने पर व्यक्ति का व्यवहार भी उसी के अनुरूप हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण मे तटस्थता का भाव विद्यमान रहता है।

(4) लालित्यात्मक प्रक्रियाएँः–

प्रत्यक्षीकरण की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत व्यक्ति में वस्तु के प्रति प्रिय या अप्रिय का भाव प्रदर्शित होता है। किसी वस्तु या परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण में सौन्दर्यानुभूति भी रहती है। यह व्यक्ति के पूर्व अनुभव तथा भावात्मक प्रक्रियाओं पर आधारित होता है। जो वस्तु हमें प्रिय लगती हैं, वही सुन्दर भी लगती है। जिस वस्तु के प्रति प्रियता या अप्रियता का भाव नहीं रहता, वह वस्तु हमें प्रिय या अप्रिय भी नहीं लगती है।

(5) एकीकरण की प्रक्रियाएँः–

इसके अन्तर्गत प्रत्यक्षीकरण अनेक ग्राहय केन्द्रियों से प्रभावित होता है लेकिन उसकी प्रक्रिया एक सी रहती है। जैसे किसी फूल का रंग तथा सुगन्ध अलग–अलग है लेकिन प्रत्यक्षीकरण में हमारे समक्ष केवल फूल की आकृति प्रकट होती है।

7.2.3 प्रत्यक्षीकरण के निर्धारकः–

प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करने वाले जितने भी महत्वपूर्ण कारक हैं, उन्हें मुख्यतः निम्न दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

(I) संरचनात्मक निर्धारक (Structural Determinants)

संरचनात्मक कारकों में भौतिक उद्दीपकों से सम्बन्धित कारक आते हैं। यह कारक व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। संरचनात्मक कारकों में कुछ प्रमुख कारक हैं–

(1) उद्दीपक की आवृत्ति :–

व्यक्ति के संज्ञानात्मक संगठन को उद्दीपक की पुनरावृत्ति महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। एक उद्दीपक की जितनी अधिक बार पुनरावृत्ति होती है उस पर व्यक्ति के ध्यान आकर्षण की उतनी ही अधिक सम्भावना होती है जिससे वह उसके संज्ञानात्मक संगठन में सम्मिलित हो जाता है। इसके विपरीत उद्दीपक की जितनी कम पुनरावृत्ति होगी उसके व्यक्ति के संज्ञानात्मक संगठन में सम्मिलित होने की उतनी ही कम सम्भावना होगी।

(2) उद्दीपक की तीव्रता :–

व्यक्ति अपने संज्ञानात्मक संगठन से किसी उद्दीपक का चयन करेगा या नहीं यह उद्दीपक की तीव्रता से प्रभावित होता है। सामान्यतः जिन उद्दीपकों की तीव्रता जितनी अधिक होती है उन उद्दीपकों के संज्ञानात्मक संगठन में सम्मिलित होने की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है। जैसे मन्द गति के प्रकाश की अपेक्षा तीव्र गति का प्रकाश ध्यान को अधिक आकर्षित करता है। फलस्वरूप व्यक्ति उसका ज्ञान उतना ही शीघ्र प्राप्त करता है।

(3) उद्दीपक की संख्याः–

उद्दीपकों की संख्या के आधार पर व्यक्ति अपने संज्ञानात्मक संगठन में उद्दीपक का चुनाव करता है। उद्दीपकों की संख्या जितनी अधिक होती है वे उद्दीपक व्यक्ति के संज्ञान को उनती सामाजिक प्रत्यक्षीकरण अधिक मात्रा में प्रभावित करते हैं।

(4) विरोधी उद्दीपकः–

विरोधी उद्दीपक भी संज्ञानात्मक संगठन को प्रभावित करने का प्रमुख कारक है। उदाहरण स्परूप जब दो परस्पर विरोधी या असमान उद्दीपक होते हैं तो व्यक्ति का ध्यान उन पर शीघ्र जाता जैः जैसे सफेद–काले या लाल–हरे रंग की उत्तेजना असमान या विरोधी होने के कारण व्यक्ति के ध्यान को अधिक आकर्षिक करती है। इसी प्रकार श्वेत व्यक्तियों के समूह में एक नीग्रो व्यक्ति हो तो वह सभी का ध्यान आकर्षित करता है।

(5) उद्दीपक का प्रदर्शन कालः–

व्यक्ति का संज्ञान उद्दीपक की प्रदर्शन काल अवधि से भी प्रभावित होता है। एक उद्दीपक एक व्यक्ति के सामने जिनते अधिक समय तक रहता है उस व्यक्ति के संज्ञान को प्रभावित करने की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है। जब उद्दीपक व्यक्ति

के सामने बहुत कम अवधि के लिए उपस्थित होते हैं तो उनसे संज्ञान के प्रभावित होने की सम्भावना उतनी ही कम होती है।

(6) उद्दीपक के प्रति अभिवृत्तिः–

समाजिक उद्दीपकों के प्रति व्यक्ति की अभिवृत्ति भाव उसके संज्ञान और प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करती है। जैसे एक धर्म सम्प्रदाय के व्यक्तियों का अपने धर्म सम्प्रदायों के व्यक्तियों के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति के कारण अच्छा व्यवहार होता है। जबकि दूसरे धर्म सम्प्रदायों के प्रति ऋणात्मक अभिवृत्ति के कारण बुरा व्यवहार होता है।

(7) मानसिक तत्परता

व्यक्ति की मानसिक तत्परता भी उसके प्रात्यक्षिक संगठन को प्रभावित करती है। जैसे किसी व्यक्ति के आने का इन्तजार करने पर प्रवेश द्वारा पर किसी भी प्रकार की आहट उस व्यक्ति के जाने की सूचना देती है। जिसकी कारण मानसिक तत्परता होता है।

(II) प्रकार्यात्मक निर्धारक

क्रच और कचफिल्ड के अनुसार, प्रकार्यात्मक निर्धारकों के अन्तर्गत ऐसे कारक आते हें जैसे व्यक्ति की आवश्यकताएँ, पूर्वानुभव, व्यक्ति की भाव–दशा, व्यक्ति की स्मृति सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को इन कारकों के अतिरिक्त अनेक कारक महत्वपूर्ण ढगं से प्रभावित करते हैं। कुछ महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक निर्धारकों का वर्णन निम्नलिखित है:–

1. सामाजिक अन्तः क्रियाओं के अन्तर्गत एक समूह या समाज के व्यक्तियों की पारस्परिक प्रक्रियाओं का विवरण होता है। एक समूह के सदस्यों की पारस्परिक प्रक्रियाएं उस समूह के सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। समूह के व्यक्तियों के अच्छे या बुरे पारस्परिक संबंधों पर भी प्रत्यक्षीकरण प्रभावित होता है। समूह के सदस्यों में अच्छे पारस्परिक संबंधों से वह एक दूसरे के गुणों का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। परन्तु इनके मध्य पारस्परिक संबंध मधुर न होने पर वह एक दूसरे के गुणों की अपेक्षा अवगुणों का प्रत्यक्षीकरण अधिक करते हैं।

2. प्रत्यक्षीकरणकर्ता की क्षमता

विभिन्न प्रत्यक्षीकरणकर्ता की निर्णय क्षमता में वैयक्तिक विभिन्नतायें होती हैं। कुछ व्यक्ति सामाजिक प्रत्यक्षीकरण उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण अधिक सही अथवा

शुद्ध ढंग से करते हैं, वहीं कुछ अन्य व्यक्ति इन्ही उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण उतने शुद्ध ढंग से नहीं कर पाते हैं, क्योंकि उनके प्रत्यक्षीकरण की क्षमता निम्न अथवा कमजोर होती है।

3. अन्य व्यक्तियों की विशेषताऐं

प्रत्यक्षीकरण में व्यक्तियों को कुछ व्यक्तियों के व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रत्यक्षीकरण में कठिनाई का अनुभव होता है दैनिक जीवन के अनुभव में प्रतीत होता है कि जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण सरलता से करता है तो उसका प्रत्यक्षीकरण का निर्णय अपेक्षाकृत शुद्ध प्रकार का होता है परन्तु जब वह दूसरे व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण करने में कठिनाई का अनुभव करता है तो उसका उस व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्षीकरण और निर्णय कुछ अशुद्ध रह जाता है।

4. आवश्यकताएँ और अनुक्रिया प्रबलता (Need and Response Salience):–

व्यक्ति में जिस प्रकार की आवश्यकताएँ या अन्तर्नोद होते है वह व्यक्ति वैसी ही अनुक्रियाएँ करता है। व्यक्ति की अनुक्रियाओं की प्रबलता उसकी आवश्यकताओं और अन्तर्नोदों से प्रभावित होती है। किसी आवश्यकता के उद्दोलित होने पर व्यक्ति में कुछ सम्बन्धित अनुक्रियाएँ उत्पन्न होती है। किसी आवश्यकता के उद्दोलन जितना ही अधिक होता है सम्बन्धित अनुक्रियाओं की प्रबलता उसी रूप में उतनी ही अधिक होती है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति में जितनी भूख होती हैं उसमें भोजन प्राप्त करने की अनुक्रिया उतनी ही प्रबल होती है।

5. मूल्य प्रणाली:–

सामान्यतः व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण उन मूल्यों से अधिक प्रभावित होता है जो व्यक्ति के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते हैं ये मूल्य सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर जितने ही अधिक महत्वूपर्ण होते है व्यक्ति का सामाजिक प्रत्यक्षीकरण उतना ही अधिक प्रभावित होता है।

6. प्रात्यक्षिंक बल (Perceptual Accentuation)

ब्रूनर और गुडमैन ने अपने एक प्रयोगात्मक अध्ययन में प्रात्यक्षित बल को किया है। यह प्रयोग दस वर्ष के बालकों पर किया गया। प्रयोग में विभिन्न आर्थिक स्तर के बच्चे थे। प्रयोग में प्रयोज्यों को पर्दे पर पड़ रही प्रकाश की गोल आकृति को यन्त्रों द्वारा इस प्रकार समायोजित करना था कि विभिन्न सिक्कों के आधार की वह आकृति बन जाए। इस प्रयोग में देखा गया कि इस प्रकार के बच्चों ने विभिन्न सिक्कों की जो

आकृतियों बनायी वे सभी आकृतियाँ सिक्कों के वास्तविक आकार से बड़ी थीं। इस प्रयोग में यह देख गया कि सिक्कों का जैसे–जैसे मूल्य बढ़ता गया मूल्य के बढ़ने के साथ–साथ बच्चों द्वारा बना ली गयी आकृतियों का आकार भी बढ़ता गया। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि गरीब घर के बच्चों ने सिक्कों के आकार के मूल्यांकन में अमीर घर के बच्चों की अपेक्षा गरीब घर के बच्चों ने सिक्कों का आकार बड़ा बनाया।

7. सूचनाओं की मात्रा एवं क्रम (Amount and Order of Information)

एक प्रत्यक्षीकरण करने वाले व्यक्ति को कितनी सूचनाएँ और किस क्रम में सूचनाएँ मिलती हैं– इससे भी व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण प्रभावित होता है।

8. अभ्यन्तर क्रमिक एवं अन्तर क्रमिक प्रभाव (Intraserial and Interserial Effect)

ताजफेल ने अभ्यन्तरक्रमिक प्रभाव के सम्बन्ध में कहा है कि यह वह प्रभाव है जो एक श्रेणी में दिये गये उद्दीपकों के मूल्य और आकार पर निर्भर करते हैं। यदि किसी श्रेणी में बड़े और छोटे दो प्रकार के उद्दीपक हैं तो प्रयोज्य बड़े उद्दीपक का मूल्यांकन करेगा और छोटे उद्दीपकों का अल्पांकन करेगा। अन्तरक्रमिक प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में ताजफेल ने कहा है कि यह वह प्रभाव है जो दो उद्दीपक श्रेणियों से सम्बन्धि होता है इन दो श्रेणी के उद्दीपकों में एक श्रेणी उद्दीपक मूल्यांकन उद्दीपक (Relevent to Value) होते हैं और दूसरी श्रेणी के उद्दीपक तटस्थ प्रकार के होते है।

9. पुरस्कार एवं दण्ड (Reward and Punishment)

पुरस्कार एवं दण्ड के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए अनेक मनोवैज्ञानितकों ने अपने–अपने प्रयोग किये। जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि व्यक्ति पुरस्कृत चित्रों या पुरस्कृत चित्रों के अंशों का प्रत्यक्षीकरण दण्डित चित्रों की अपेक्षा अधिक करते है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तरों का मिलान पाठ्य सामग्री से कीजिए।

1. प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा लिखिए।

.....

.....

2. प्रत्यक्षीकरण की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

अभ्यास 2

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

क) प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया

.....

.....

ख) प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक

.....

.....

7.3.0 समाजीकरण का अर्थ (Meaning of Socialization)

समाजीकरण की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम अंग्रेजी भाषा में 1828 ई0 के लगभग प्रारम्भ हुआ। शाब्दिक दृष्टिकोण से इसका अर्थ नवजात शिशु को सामाजिक व्यक्ति बनाने की प्रक्रिया से लगाया जाता है। इस बात का जिक्र **किंग्सले डेविस** ने पुस्तक Human Society में किया है। किंग्सले डेनिस का कथन है कि समाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को सामाजिक व्यक्ति बनाया या समाजीकृत किया जाता है। वास्तविकता यही है कि समाज और संस्कृति के बीच बच्चा पलता हुआ एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित हो जाता है। अर्थात् उसमें सामाजिक गुणों का समावेश हो जाता है। वह प्रक्रिया जिसके द्वारा एक जैविकीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदल जाता है और उसमें सामाजिक गुणों का समावेश हो जाता है, समाजीकरण कहलाता है। समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, लेकिन यह सीखने की प्रक्रिया के साथ–साथ व्यक्ति को अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से अनुकूलन करने को भी प्रेरित करती है। यह सीखने की प्रक्रिया समाज में ही रह कर संभव है। अनेक अध्ययनों एवं प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि जिन बच्चों को जन्म लेते ही मानव संसर्ग से दूर कर दिया गया वे या तो मर गए या अगर जिंदा रहे तो उनका व्यवहार पशुवत हो गया। इससे पता चलता है कि समाज में रहकर ही व्यक्ति का समाजीकरण हो सकता है और उसमें मानवोचित गुणों का विकास हो सकता है। समाजीकरण के

कारण ही व्यक्ति समाज के रीति–रिवाजों एवं आदर्शो को सीखकर उसे अपने जीवन में अपनाता है। समाजशास्त्रीय अर्थ में समाजीकरण का आशय सामाजिक प्रतिमानों तथा मानदंडों को सीखने से है ताकि व्यक्ति समाज का सक्रिय सदस्य बन सके। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में कुछ मूल्य, परंपराएँ, नियम आदि होते हैं, जिनके पालन की आशा उस समाज के सदस्यों से की जाती है। इन सभी बातों को सीखकर आत्मसात करने की प्रक्रिया को समाज शास्त्रीय भाषा में समाजीकरण कहा जाता है। इस प्रकार यह पता चलता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया मानव जीवन में एक अहम् भूमिका अदा करती है, क्योंकि उसी पर उसके संपूर्ण जीवन का अस्तित्व टिका होता है। अतः समाजीकरण मानव के जीवन में एक ऐसी प्रक्रिया है जो पग–पग पर उसके साथ रहती है तथा मृत्यु से पहले तक मानव भी उसका साथ निभाता है।

7.3.1 समाजीकरण की परिभाषा (Definition of Socialization)

समाजीकरण को विभिन्न समाजशास्त्रियों ने परिभाषित किया है। विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा समाजीकरण की दी गई परिभाषाओं में कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं:–

समाजीकरण को परिभाषित करते हुए **एच0एम0 जॉनसन** ने लिखा है, "समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।" इस परिभाषा से पता चलता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों को सीखता है।

समाजीकरण को परिभाषित करते हुए **ए0 डब्ल्यू0 ग्रीन** ने 'Sociology' में लिखा है, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।" ग्रीन की इस परिभाषा से पता चलता है कि समाजीकरण के द्वारा बच्चे का आत्म और व्यक्तित्व विकसित होता है। साथ ही इस प्रक्रिया के द्वारा बच्चा अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं से भी परिचित होता है।

फिचर ने समाजीकरण को परिभाषित करते हुए 'Sociology' में लिखा है, "समाजीकरण का व्यक्ति और उसके अन्य साथी व्यक्तियों के बीच पारस्परिक प्रभाव की एक प्रक्रिया है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों को स्वीकार करता तथा उनके साथ अनुकूलन करता है।" इस परिभाषा से यह पता चलता है कि समाजीकरण में दो व्यक्तियों के बीच पारस्परिक क्रिया होती है तथा इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति सामाजिक व्यवहार प्रतिमानों को सीखने के साथ–साथ उससे अनुकूलन भी करता है।

बोगार्डस ने समाजीकरण को परिभाषित किया है। उनके अनुसार समाजीकरण "वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य मानव कल्याण के लिए एक–दूसरे पर निर्भर होकर व्यवहार करना सीखते हैं और ऐसा करने में वे सामाजिक आत्म–नियंत्रण, सामाजिक जिम्मेदारियों और संतुलित व्यक्तित्वों का अनुभव करते हैं।" बोगार्डस की इस परिभाषा से पता चलता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया मानव एवं मानव के बीच होती है तथा इस प्रक्रिया में वे आत्म नियंत्रण, जिम्मेदारी और व्यक्तित्व का विकास करते हैं।

समाजीकरण की उपर्युक्त परिभाषाओं से पता चलता है कि समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है। इस सीखने की प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति अपने समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं को सीखता है। तथा उनके अनुरूप अपने व्यवहार को ढालता है। साथ ही इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है और वह समाज का एक क्रियाशील सदस्य बनता है। समाजीकरण की प्रक्रिया से एक जैविकीय प्राणी सामाजिक प्राणी के रूप में समाज में प्रतिस्थापित होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक प्रतिमानों से भी परिचित होता है और उसके अनुरूप व्यवहार करता है। फलतः उसका व्यवहार नियंत्रित रहता है तथा इस प्रकार की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव का संपूर्ण रूप से विकास होता है और यह प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहती है।

7.3.2 समाजीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Socialization)

समाजीकरण की अवधारणा तथा परिभाषाओं से इस प्रक्रिया की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। संक्षेप में इन्हें निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है :–

(1) सामाजिक सीख की प्रक्रिया– समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो सामाजिक सीख पर आधारित होती है। सामाजिक सीख व्यक्ति का जन्मजात गुण नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य अनुभव, प्रयत्न और प्रशिक्षण के द्वारा उन गुणों को सीखना है जिनके द्वारा व्यक्ति अपने समाज से अनुकूलन करके एक विशेष तरह के व्यक्तित्व को विकसित कर सके।

(2) सांस्कृतिक सीख का समावेश– समाजीकरण की प्रक्रिया सीखने की जिस प्रक्रिया से सम्बन्धित है, उसमें सांस्कृतिक सीख का सबसे अधिक समावेश होता है। सांस्कृतिक सीख का तात्पर्य व्यक्ति द्वारा अपनी संस्कृति सम्बन्धित नियमों, मूल्यों, विश्वासों, प्रथाओं, परम्पराओं, व्यवहार के ढंगों, भौतिक वस्तुओं के उपयोग तथा मनोवृत्तियों आदि को सीखने से है।

(3) अनुकरण से प्रभावित– समाजीकरण की प्रक्रिया में अनुकरण का विशेष स्थान है। अनुकरण वह विशेषता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आस–पास के दूसरे व्यक्तियों की

क्रियाओं को जागरूक रूप से समझकर स्वयं भी उसी तरह व्यवहार करने का प्रयत्न करता है।

(4) निरन्तरता– समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो जीवन के आरम्भ से अन्त तक चलती रहती है। यह सच है कि समाज के नियमों और मूल्यों के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को सीखने की प्रक्रिया बचपन और किशोरावस्था में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण होती है लेकिन जीवन का कोई स्तर ऐसा नहीं होता जिसमें हम समाज की आशाओं के अनुरूप विभिन्न प्रकार के व्यवहार करना सीखते हैं। व्यवहारों में होने वाला परिवर्तन और संशोधन समाजीकरण की निरन्तरता को ही स्पष्ट करता है।

(5) आत्म का विकास– इस प्रक्रिया का सम्बन्ध व्यक्ति में एक सन्तुलित आत्म (Balanced Self) को विकसित करने से है। आत्म हमारी वह मानसिक विशेषता है जिसके द्वारा हम दूसरे व्यक्तियों के विचारों के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं। दूसरे व्यक्ति हमें अच्छा, बुरा, सामाजिक अथवा समाज विरोधी आदि जैसा भी समझते हैं, उसी के अनुसार हम अपने बारे में स्वयं एक धारणा बना लेते हैं। यही धारणा हमारा आत्म है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति के आत्म का विकास होता है।

(6) अनुकूलन का गुण– समाजीकरण की प्रक्रिया में अनुकूलन की विशेषता का समावेश होता है। इसका अर्थ है कि समाजीकरण की प्रक्रिया जितने प्रभावपूर्ण ढंग से काम करती है, व्यक्ति अपनी विभिन्न दशाओं और समूह के दूसरे लोगों से उतना ही अधिक अनुकूलन और व्यवस्थापन करने लगता है। इससे भी व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलती है।

(7) एक सापेक्षिक प्रक्रिया– विभिन्न समाजों में समाजीकरण की प्रकृति एक–दूसरे के पूरी तरह समान नहीं होती। यह प्रक्रिया इस अर्थ में सापेक्षिक है कि समय और स्थान के अनुसार इसमें परिवर्तन देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए पश्चिमी समाजों में यौनिक स्वतन्त्रता को निन्दनीय नहीं समझा जाता, जबकि हमारे समाज में यह एक निन्दनीय व्यवहार है। इसका अर्थ है कि समाजीकरण वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति को अपने सामाजिक मूल्यों, नैतिक नियमों तथा परम्पराओं के अनुसार व्यवहार करने की सीख देती है।

समाजीकरण की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि इस प्रक्रिया का उददेश्य व्यक्तियों में नियमबद्ध जीवन को विकसित करना, उनकी क्षमताओं का विकास करना, सभी लोगों को अपनी सामाजिक भूमिकाओं का समुचित रूप से निर्वाह करने की सीख देना तथा वे दशाएँ विकसित करना है जिनमें व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके।

7.3.3 समाजीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाएँ (Process and Stages of Socialization)

समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन पर्यन्त चलती रहती है। इसके बाद भी फ्रायड का यह कथंन सच है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षो में समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति का जो संवेगाात्मक विकास होता है, वह जीवन भर उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। वास्तव में बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक एक व्यक्ति विभिन्न प्रकार के समूहों, संघों और संस्थाओं के सम्पर्क में आता है। तथा उनसे एक–दूसरे से भिन्न प्रकार के व्यवहार करना सीखता है। ऐसे सभी व्यवहार, अनुभव और मनोवृत्तियाँ समाजीकरण की प्रक्रिया में योगदान करती हैं। इस दृष्टिकोण से मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण की अनेक अवस्थाओं का उल्लेख किया है। जिनमें एक–दूसरे से भिन्न अभिकरण सीख की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इस सम्बन्ध में जॉन्सन ने समाजीकरण की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है जिन्हें उन्होंने (1) मौखिक अवस्था (2) शैशव अवस्था, (3) तादात्मीकरण की अवस्था, तथा (4) किशोर अवस्था कहा है। सुविधा के लिए समाजीकरण की प्रक्रिया के विकास को हम निम्न छः अवस्थाओं में विभाजित करके समझ सकते हैं:

(1) मौखिक अवस्था (Oral Stage) – समाजीकरण इस अवस्था का आरम्भ डेढ़ दो वर्ष तक चलती है। इस स्तर में बच्चे को अपने परिवार या दूसरे व्यक्तियों के बारे में कोई ज्ञान नहीं होता। बच्चा केवल अपनी माँ को जानता है। भूख प्यास अथवा किसी कष्ट को बच्चा रोकर अपनी माँ के सामने व्यक्त करता है। इस अवस्था में बच्चे की सभी आवश्यकताएँ केवल शारीरिक और मौखिक ही होती हैं। जिन्हें वह कुछ सीमा तक अस्पष्ट संकेतों के द्वारा व्यक्त करने लगता है।

(2) **शैशव अवस्था (Anal Stage)** – साधारणतया इस अवस्था का आरम्भ डेढ़–दो वर्ष की आयु से होता है तथा यह तीन–चार वर्ष की आयु तक चलती है। इसी अवस्था से बच्चे को सामान्य क्रियाओं का प्रशिक्षण देना आरम्भ होता है। यह प्रशिक्षण केवल परिवार के सदस्यों और विशेषकरण माँ द्वारा ही दिया जाता है। इस समय बच्चे से शौच सम्बन्धी क्रियाओं को स्वयं पूरा करने, कपड़े गन्दे न करने तथा स्वयं को साफ रखने की आशा की जाने लगती है।

(3) तादात्मीकरण की अवस्था (Identification Stage)– साधारणतया इस अवस्था का आरम्भ तीन–चार वर्ष की आयु से होकर बारह तेरह वर्ष की आयु तक चलता है। जॉन्सन ने इसे तादात्मीकरण की अवस्था इसलिए कहा है कि इसी अवस्था में बच्चे से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपनी आयु, लिंग, परिवार के नियमों तथा उसे

दिये जाने वाले प्रशिक्षण के अनुरूप व्यवहार करना आरम्भ करे। इसी स्तर में बच्चा पडोस के व्यक्तियों और स्कूल के साथियों के सम्पर्क में आता है।

(4) किशोरावस्था (Adolescence)– इस अवस्था का आरम्भ साधारणतया बारह तेरह वर्ष की आयु से होकर, अठारह वर्ष की आयु तक चलती है। समाजशास्त्रियों के अनुसार यह समाजीकरण की सबसे हमत्वपूर्ण अवस्था है। इसमें एक ओर बच्चे में अनेक जैविकीए, मानसिक और सामाजिक परिवर्तन होने लगते हैं तो दूसरी ओर इस अवधी में उसे दिया जाने वाला प्रशिक्षण जीवन भर उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना रहता है। इस अवस्था में किशोर का अधिकांश समय घर के बाहर स्कूल तथा खेल के साथियों के बीच व्यतीत होता है। इस आयु में शारीरिक विकास के साथ उसमें यौन सम्बन्धी भावनायें भी विकसित होने लगती हैं।

(5) वयस्क अवस्था (Adulthood)– एक व्यक्ति के वयस्क होने के साथ ही उसका सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक पर्यावरण तेजी से बदलने लगता है। उसके सम्पर्क का क्षेत्र बहुत बढ. जाने के कारण व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों और भूमिकाओं में बहुपरिवर्तन हो जाता है। एक ओर विवाह के कारण वह अपनी पत्नी तथा उसके पक्ष से सम्बन्धित बहुत से व्यक्तियों से नये सिरे से अनुकूलन करता है तो दूसरी ओर आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करने के कारण उसे अनेक तरह के नये सम्बन्ध स्थापित करने पडते हैं। विभिन्न संस्कृतिक, राजनीतिक तथा मनोरंजन सम्बन्धी संगठनों के सदस्य बनने से भी उसकी मनोवृत्तियों और विचारों में परिवर्तन होने लगता है। इस समय व्यक्ति को एक पिता, पुत्र, पति, मित्र अधिकारी अथवा कर्मचारी क्लव अथवा राजनीतिक दल के सदस्य तथा उनके दूसरी प्रस्थितियों से सम्बन्धित भूमिकाओं का साथ–साथ निर्वाह करना पड़ता है।

(6) वृद्धावस्था (Old Age) यह समाजीकरण की अन्तिम अवस्था है। अनेक समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने इसे समाजीकरण की निष्क्रियता का स्तर कहा है। ऐसा इस कारण से है कि इस स्तर में व्यक्ति सामाजिक सीख अथवा अनुकरण से बहुत कम प्रभावित होता है। उसके विचारों और व्यवहारों में बहुत कम लोच रह जाने के कारण वह अपनी आदतों में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं कर पाता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया का रूप विभिन्न संस्कृतियों में एक–दूसरे से कुछ भिन्न हो सकता है किन्तु प्रत्येक संस्कृति में यह अनेक जैविकीय तथा सामाजिक कारकों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होती है। मनुष्य में सीखने और अनुकरण करने की क्षमता काफी सीमा तक जैविकीय विशेषताओं से प्रभावित होती है लेकिन साथ ही समाज के विभिन्न नियम और मूल्य उसे यह बताते हैं कि इस क्षमता का उपयोग किस तरह किया जा सकता है।

7.3.4 समाजीकरण के अभिकरण तथा साधन (Agencies and Means of Socialization)

समाजीकरण के विभिन्न स्तरों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। कि यह एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया है। पूर्व–विवेचन से यह भी स्पष्ट हो चुका है कि समाजीकरण की विभिन्न अवस्थाओं में एक–दूसरें से भिन्न बहुत से समूह तथा संस्थाएँ सामाजिक सीख की प्रक्रिया में योगदान करते हैं। इस दृष्टिकोण से उन सभी अभिकरणों तथा साधनों की कार्य–प्रणाली को पुनः समझना आवश्यक है जो समाज के मूल्यों और मानदण्डों के अनुसार एक विशेष ढंग से व्यक्ति का समाजीकरण करती है।

(1) परिवार– समाजीकरण के अभिकरणों में परिवार का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। परिवार एक प्राथमिक समूह है जो स्नेह, त्याग, सहयोग, सेवा और अनौपचारिक अनुशासन के द्वारा बच्चे का समाजीकरण करता है। इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए किम्बाल यंग ने लिखा है, "समाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों में परिवार का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिवार में अन्तर्गत माता–पिता ही वह सबसे महत्पपूर्ण व्यक्ति हैं जो बच्चों के व्यवहारों और आदतों का निर्माण करते हैं।" आरम्भिक जीवन से ही बच्चा परिवार में माता–पिता भाई बहिनों और दूसरे सदस्यों के व्यवहारों से प्रभावित होने लगता है। इस समय उसका मस्तिष्क बिल्कुल स्वच्छ होता है। वह परिवार के सदस्यों को जैसे व्यवहार करते हुए देखता है, वही व्यवहार उसके मस्तिष्क में अंकित होने लगते हैं। इस तरह परिवार बच्चे को छोटे–छोटे व्यवहारों की सीख देता है। उचित और अनुचित का बोध कराता है तथा उसवे अनुशासन के नियमों का पालन करने का प्रशिक्षण देता है। परिवार के निर्देशों का पालन न करने पर तिरस्कार, बनावटी गुस्से अथवा सामान्य दण्ड के द्वारा बच्चे को नियमों के पालन करने की शिक्षा दी जाती है, जबकि अच्छे व्यवहार करने का प्रशंसा के द्वारा उसे पुरस्कार दिया जाता है।

(2) क्रीडा–समूह– परिवार के बाद बच्चे का सम्पर्क अपने खेल के साथियों से होता है। इन साथियों के बीच बच्चे को मिलने वाला पर्यावरण परिवार से कुछ भिन्न होता है। खेल के साथियों की आदतें तथा व्यवहार के ढंग कुछ भिन्न होने के कारण बच्चा नयी दशाओं से अनुकूलन करना सीखने लगता है। साथियों के साथ तरह–तरह के खेल खेलने में बच्चा कभी हारता है तो कभी जीतता है। इससे एक ओर उसे अपनी इच्छाओं का दमन करने की सीख मिलती है तो दूसरी ओर उसे अपनी कुशलता में वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती है। साथियों के बीच खेले जाने वाले खेलों की प्रकृति भी समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। स्वस्थ और रचनात्मक खेल बच्चे में सहयोग,

सहानुभूमि, नेतृत्व और प्रतियोगिता के गुण उत्पन्न करते हैं, जबकि बुरे खेल बच्चे में विरोध और संघर्ष की भावनाओं को प्रोत्साहन देते हैं।

(3) पड़ोस– बच्चे के समाजीकरण में पड़ोस का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। बच्चे के प्रति पड़ोसियों का विशेष स्नेह होने के कारण वे जहाँ एक ओर उसकी छोटी–छोटी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हैं, वहीं गलत व्यवहार करने पर उसकी आलोचना भी करते है। पड़ोस में बच्चे सीखता है। साथ ही, बच्चा यहीं से विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों में विभेद करना सीखता है। साथ ही, बच्चा यह भी समझने लगता है कि अपने परिवार से बाहर उससे किस तरह के व्यवहारों की आशा की जाती है। इस प्रकार पड़ोस से किया जाने वाला अनुकूलन भी समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

(4) विद्यालय– समाजीकरण के अभिकरण के रूप में विद्यालय का स्थान बहुत महत्पूर्ण है। साधारणतया चार–पाँच वर्ष की आयु से बच्चा प्रारम्भिक स्तर के विद्यालय में जाना आरम्भ कर देता है। यहीं उसकी उन आदतों का निर्माण होना आरम्भ होता है जो जीवनभर उसके व्यक्तित्व का अंग बनी रहती हैं। विद्यालय में बच्चे का सम्पर्क उन साथियों और शिक्षकों से होता है जिनकी आदतें, विचार, व्यवहार के ढंग, आर्थिक स्थिति तथा सांस्कृतिक विशेषताएँ प्रायः एक–दूसरे से बहुत भिन्न होती है। स्वाभाविक है कि एक–दूसरे से भिन्न विशेषताओं वाले बच्चों के बीच रहने से बच्चे में एक–दूसरे से अनुकूलन करने की क्षमता बढती है। तथा उसके विचारों और आदतों में भी परिवर्तन होने लगता है। स्कूल में मिलने वाले दण्ड अथवा पुरस्कार के आधार पर ही बच्चा स्वयं अपने बारे में एक धारणा विकसित करने लगता है। विद्यालय में मिलने वाली शिक्षा उसे उचित और अनुचित में भेद करना सिखाती है। सामान्य ज्ञान से उसकी तर्क–बुद्धि का विकास होता है तथा महापुरूषों की जीवनियाँ पढ़कर उसे अच्छे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। यह सभी दशाएँ सामाजिक सीख में सहायता देती हैं।

(5) विवाह– किशोरावस्था समाप्त होने के साथ व्यक्ति जब वैवाहिक जीवन आरम्भ करता है, तब उसे अपने व्यवहारों में नये सिरे से सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है। वास्तव में, विवाह से पहले पति–पत्नी के विचार सामाजिक मूल्य रहन–सहन के तरीके और व्यवहार के ढंग अक्सर एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। विवाह के बाद व्यक्ति को न केवल अपने जीवन साथी से समायोजन करना आवश्यक होता है वरन् अपनी पत्नी, बच्चों तथा अन्य नातेदारों के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन सामूहिक जीवन की तुलना में कम महत्वपूर्ण रह जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि समाजीकरण का मुख्य सम्बन्ध विभिन्न कर्तव्यों और दायित्वों को पूरा करने की सीख से है। वैवाहिक जीवन आरम्भ होते ही

व्यक्ति के सामने इतनी अधिक नयी भूमिकाएँ आ जाती हैं कि एक नियमबद्ध जीवन के द्वारा ही उनका निर्वाह किया जा सकता है। इसी कारण विवाह को समाजीकरण के एक प्रमुख माध्यम या अभिकर्ता के रूप में देखा जाता है।

(6) व्यावसायिक समूह– किसी न किसी व्यवसाय के द्वारा व्यक्ति अपनी और अपने परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। इसके फलस्वरूप अपने व्यापारिक साथियों, कार्यालय अथवा कारखाने के साथियों से जहाँ एक ओर वह सहयोग करता है, वहीं उनसे प्रतिस्पर्द्धा करना भी सीखता है। व्यवसाय के दौरान ही व्यक्ति को एक विशेष आर्थिक प्रस्थिति मिलती है जिसके अनुसार उसके अधिकारों का निर्धारण होता है। यह अधिकार उसे एक–दूसरे की तुलना में निम्न सामाजिक प्रस्थिति देते है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार अन्य लोगों से व्यवहार करना सीखता है। हानि–लाभ सम्पत्ति, जोखिम तथा प्रतिस्पर्द्धा से सम्बन्धित मनोवृत्तियाँ व्यावसायिक समूह ही उत्पन्न करते हैं।

(7) राजनीतिक सस्थाएँ– वर्तमान युग द्वितीयक समूहों का युग है। द्वितीयक समूहों में उन राजनीतिक समूहों का विशेष स्थान है जो व्यक्ति कानूनों, प्रशासनिक व्यवस्था, विभिन्न अधिकारों तथा नागरिक कर्तव्यों से परिचित कराकर उसका समाजीकरण करते हैं। आज सभी राज्य अपने नागरिकों के विकास के लिए अनेक कल्याण–कार्यक्रम चलाते हैं। इन कार्यक्रमों में की जाने वाली भागीदारी व्यक्ति के समाजीकरण को प्रभावित करती है। यह सच है कि राजनीतिक दलों के क्रियाकलापों में भाग लेने तथा अपने राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करने का सम्बन्ध राजनीतिक समाजीकरण से अधिक है किन्तु आज के लोकतान्त्रिक समाजों में यह राजनीतिक समाजीकरण भी वह महत्पवूर्ण आधार है। जिससे समाजीकरण की प्रक्रिया को बल मिलता है।

(8) धार्मिक संस्थाएँ– धर्म तथा धार्मिक संगठन व्यक्ति में मानवीय और नैतिक गुणों का विकास करके उसका समाजीकरण करते हैं। धार्मिक संस्थाएँ अपने विभिन्न विश्वासों और नियमों के द्वारा व्यक्ति को यह विश्वास दिलाती हैं कि अच्छे कर्मों का परिणाम ईश्वरीय पुरस्कार तथा सफलता है, जबकि बुरे कर्मों का परिणाम ईश्वरीय दण्ड के रूप में तरह–तरह के कष्ट प्राप्त होना है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति में पवित्रता, सच्चरित्रता न्याय, दया, सद्भावना और नैतिकता जैसे गुण विकसित होते हैं।

(9) संस्कृति– संस्कृति को समाजीकरण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण कहा जाता है। संस्कृति ही व्यक्ति को व्यवहार के उन ढंगों, सामाजिक मूल्यों, नियमों तथा परम्पराओं से परिचित कराती हैं। जिनसे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। विभिन्न समाजों में लोगों के सामाजिक व्यक्तित्व में जो भिन्नता देखने को मिलती है, उसका कारण भी विभिन्न समाजों और संस्कृति का एक–दूसरे से भिन्न होना है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण व्यक्ति के जीवन में निरन्तर चलते रहने वाली एक प्रक्रिया है। जीवन के आरम्भिक स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार, क्रीड़ा–समूह, पड़ोस और विद्यालय जैसे प्राथमिक समूहों का योगदान अधिक होता है, जबकि युवास्था के बाद अनेक द्वितीयक समूह जैसे– व्यावसायिक समूह, राजनीतिक दल, सांस्कृतिक संगठन तथा हितों पर आधारित संघ उसके समाजीकरण में योगदान करते है। इन सभी समूहों द्वारा समाजीकरण के लिए जिन विधियों का उपयोग किया जाता है, उनमें प्रशंसा, आलोचना, तिरस्कार, आरोप, सहयोग, प्रभुत्व, समायोजन, प्रशिक्षण, अनुकरण, दण्ड तथा पुरस्कार आदि प्रमुख है। इन्हीं विधियों को हम समाजीकरण भी कहते हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तरों का मिलान पाठ्य सामग्री से कीजिए।

1. समाजीकरण की अवधारणा लिखिए।

.....

.....

2. समाजीकरण की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

अभ्यास 2

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

क) समाजीकरण के अभिकरण

.....

.....

ख) समाजीकरण के साधन

.....

.....

7.3.5 समाजीकरण के सिद्धान्त (Theories of Socialization)

समाजीकरण का वास्तविक उद्देश्य क्या है तथा किस प्रक्रिया के द्वारा इस उद्देश्य को पूरा किया जाता है? इसे अनेक विद्वानों ने कुछ सिद्धान्तों की सहायता से स्पष्ट किया है। इनमें कुछ सिद्वान्त मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं, जबकि कुछ का आधार समाज की संरचना है। इनकी प्रकृति को संपेक्ष में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है।

(1) कूले का सिद्वान्त (Colley's Theory of Socialization)– चार्ल्स कूले की सिद्धान्त को आत्म दर्पण का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के द्वारा कूले ने यह स्पष्ट किया कि व्यक्तित्व के विकास का सबसे महत्पपूर्ण आधार व्यक्ति में आत्म अथवा स्व का समुचित विकास होना है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के आत्म को विकसित करके उसे एक सामाजिक प्राणी बनाती है। इसे स्पष्ट करते हुऐ कूले ने बताया कि मनुष्य के स्वभाव और मनोवृत्तियों का निर्माण पारस्परिक सम्पर्क से होता है। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर उनसे विभिन्न प्रकार की अन्तर्क्रियाएँ करता है। तब अपने बारे में दूसरे लोगों के विचारों के आधार पर वह एक विशेष धारणा बनाता है। यही धारणा उसका आत्म होती है। इस अर्थ में आत्म स्वयं का आईना अथवा स्वयं का दर्पण है। अपने बारे में दूसरे व्यक्तियों के विचारों और निर्णयों के आधार पर व्यक्ति या तो गौरव अनुभव करता है। अथवा उसमें लज्जा के भाव उत्पन्न होते हैं। लज्जा का भाव आत्म के विकास में बाधक होते हैं। जबकि गौरव की भावना आत्म के विकास में सहायता देती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के विभिन्न विचारों, आदतों, मनोवृत्तियों तथा व्यवहार के ढंगों का निर्धारण आत्म के विकास पर ही आध ाारित होता है। इस प्रकार सभी सामाजिक समूह और संस्थाएँ व्यक्ति के आत्म को समुचित रूप से विकसित करने का प्रयत्न करती हैं। वास्तव में आत्म के विकास से ही व्यक्ति और समाज के बीच व्यवस्थित सम्बन्ध विकसित होते हैं।

(2) मीड का सिद्धान्त– कुले की भाँति मीड ने यह स्वीकार किया कि व्यक्तित्व के विकास में आत्म के विकास का प्रमुख योगदान होता है तथा व्यक्ति अपने आत्म को दूसरे लोगों के विकास के सन्दर्भ में ही विकसित करता है। इसके बाद भी मीड ने आत्म के विकास में उस प्रक्रिया को अधिक महत्वपूर्ण माना है। जिसके द्वारा एक बच्चा या व्यक्ति दूसरे लोगों से भूमिका–ग्रहण करना सीखता है। भूमिका ग्रहण का अर्थ है कि बच्चा यह समझने का प्रयत्न करता है कि विभिन्न परिस्थितियों में उसे किस तरह व्यवहार करना चाहिए। आरम्भ में वह परिवार के सदस्यों को जिस तरह व्यवहार करते हुऐ देखता है, उसी तरह की भूमिका वह स्वयं गुडियों के साथ खेले जाने वाले खेल में निभाने का प्रयत्न करता है। कुछ बड़ा होने पर नाटकों व मंच पर किये जाने वाले

अभिनय में वह विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है। आर्थिक जीवन में प्रवेश करने पर जब वह परिवार के बाहर निकलकर अनेक दूसरे समूहों के साथ अन्तर्क्रिया करता है, तब उसके आत्म में अन्य लोगों के व्यवहारों का भी समावेश होने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज में व्यक्तियों के सामान्यीकृत व्यवहार ही व्यक्ति को सामाजिक रूप से आत्मचेतन व्यक्ति के रूप में परिवर्तित करते हैं। मीड के विचारों को चार प्रमुख आधारों पर समझा जा सकता है। (1) समाजीकरण का तात्पर्य आत्म का समुचित रूप से विकास होना है। (2) जब एक व्यक्ति अपने व्यवहार में सामान्यीकृत व्यवहार का समावेश कर लेता है तो उसके आत्म का विकास होता है। (3) आत्म का विकास होने से ही व्यक्ति एक जैविकीय प्राणी से आत्मचेतन सामाजिक प्राणी के रूप में बदल जाता है। (4) व्यक्ति के व्यवहारों पर संवेगात्मक और जैविकीय गुणों का प्रभाव जितना कम होता जाता है। उसका समाजीकरण उतना ही अधिक हो जाता है इससे स्पष्ट होता है कि समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति के आत्म को विकसित करके उसे सामाजिक रूप से आत्मचेतन व्यक्ति बनाना है।

(3) फ्रायड का सिद्धान्त (Freud's Theory)– इस सिद्धान्त को मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त कहा जाता है। एक ओर कूले और मीड ने आत्म के समुचित विकास को समाजीकरण का आधार माना है। वहीं फ्रायड ने मानव व्यवहारों को कुछ मानसिक दशाओं के आधार पर स्पष्ट किया है। इन मानसिक दशाओं में दो शक्तियाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं–प्रेम तथा घृणा। प्रेम व्यक्ति को रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा देता है, जबकि घृणा के प्रभाव से व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करने लगता है। इन दोनों शक्तियों की प्रकृति को फ्रायड ने इद (Id). अहम् (Ego) तथा पराहम् (Super-ego) की अवधारणा द्वारा स्पष्ट किया। इद हमारे अचेतन मन से सम्बन्धित वह भावना है जो व्यक्ति को प्रत्येक दशा में सुख प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। इद के सामने नैतिक, अनैतिक तथा अच्छे या बुरे का कोई विचार नहीं होता। अहम् वह शक्ति है जो व्यक्ति को सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने की प्रेरणा देती है यद्यपि आवश्यकता पडने पर नियमों के उल्लंघन का भी विरोध नहीं करती। पराहम् का सम्बन्ध तार्किक बुद्धि का उपयोग करते हुए सामाजिक मूल्यों के पालन से है। यह किसी भी दशा में नियमों के उल्लंघन की अनुमति नहीं देता। इस आधार पर फ्रायड ने यह स्पष्ट किया कि परिवार तथा अन्य समूहों का उद्देश्य व्यक्ति के अहम को सन्तुलित करना तथा पराहम को विकसित करना है। जिससे घृणा के स्थान पर प्रेम तथा नियमों के उल्लघंन की जगह नियमों के पालन को व्यक्तित्व का अंग बनाया जा सकें। वास्तव में फ्रायड के विचार मानव मन के तीन पक्षों अर्थात् अचेतन मन, चेतन मन तथा अवचेतन मन के विभाजन पर आधारित है, अतः इसके आधार पर समाजीकरण की विवेचना को अधिक उपयुक्त नहीं माना जाता।

(4) दुर्खीम का सिद्धान्त (Theory of Durkheim)– दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया की विवेचना व्यक्ति के मानसिक जीवन तथा सामूहिक जीवन के अन्तर के आधार पर की है। व्यक्ति का मानसिक जीवन वैयक्तिक होता है तथा यह अनेक जैविकीय दशाओं का परिणाम होता है। इसके विपरीत, समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति को समूह का एक उपयोगी अंग बनाना है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का जीवन स्वयं में कुछ नहीं है, वरन वह सामाजिक संरचना का एक अंग मात्र होता है। समाज में व्यक्ति विभिन्न प्रकार से जो अन्तर्क्रियाएँ करते हैं, उनसे एक सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। इसी सामूहिक चेतना को दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधान कहा। सामूहिक प्रतिनिधान में सम्पूर्ण समाज के मूल्यों और आदर्शों का समावेश होने के कारण उनका नैतिक दबाव इतना अधिक होता है कि समूह के सभी सदस्यों को उनके अनुसार व्यवहार करना आवश्यक होता है। इस दृष्टिकोण से समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति में अपने सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुसार व्यवहार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है।

वास्तविकता यह है कि समाजीकरण की प्रक्रिया को किन्हीं मनोवैज्ञानिक आधारों पर नहीं समझा जा सकता। समाजीकरण की प्रक्रिया का समाज की संरचना, सामाजिक समूहों तथा उत्पादन की प्रणाली से घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज की संरचना ही इस बात का निर्धारण करती है कि बच्चे में आत्म के विकास के लिए उसे पूरी स्वतन्त्रता दी जायेगी। अथवा कठोर नियन्त्रण और दण्ड के भय द्वारा उसके व्यवहारों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार बनाया जायेगा। दूसरी ओर प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के द्वारा भी समाजीकरण का कार्य भिन्न–भिन्न ढंगों से पूरा किया जाता है। इसे हम समाजीकरण के अभिकरणों के अन्तर्गत पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। कृषि और कुटीर उद्योग धन्धों पर आधारित अर्थ व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के बीच अधिक से अधिक अनुरूपता का होना आवश्यक समझा जाता है, वहीं औद्योगिक अर्थव्यवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्तिवादिता को भी स्वीकार कर लेती है। इस दृष्टिकोण से समाजीकरण का तात्पर्य किसी एक सार्वभौमिक प्रक्रिया से नहीं है बल्कि यह वह प्रक्रिया है जो समाज की आवश्यकताओं, परिस्थितियों तथा समाजिक मूल्यों के अनुसार व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों के रूप का निर्धारण करती है।

7.4 सार संक्षेप

प्रस्तुत इकाई में प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा और अर्थ के बारे में प्रकाश डाला गया है। साथ ही साथ प्रत्यक्षीकरण की विशेषताएं भी दी गई है। प्रस्तुत इकाई में ही समाजीकरण का अर्थ व परिभाषा प्रस्तुत की गई है एवं विशेषताओं आदि के बारे में वृहद चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया भी प्रदान की गई है एवं प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक के बारे में भी प्रकाश डाला गया है। इसी इकाई में समाजीकरण

की प्रक्रिया एवं अवस्थाएँ, समाजीकरण के अभिकरण तथा साधन एवं सिद्धान्तों के बारे में वृहद चर्चा की गई है।

7.5 पारिभाषिक शब्दाबली

प्रत्यक्षीकरण– प्रत्यक्षीकरण का अर्थ परिस्थिति के सम्बन्ध में व्यक्ति के सम्पूर्ण ज्ञान के विस्तार से है।

समाजीकरण– समाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को सामाजिक व्यक्ति बनाया या समाजीकृत किया जाता है।

अभ्यास प्रश्न –

लघु

1. प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा लिखिए?
2. प्रत्यक्षीकरण की विशेषताओं के बारे में लिखिए?
3. समाजीकरण का अर्थ लिखिए?
4. समाजीकरण की परिभाषा लिखिए?
5. समाजीकरण विशेषताओं के बारे में लिखिए?

विस्तृत

1. प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
2. प्रत्यक्षीकरण के निर्धारकों के बारे में लिखिए?
3. समाजीकरण की प्रक्रिया एवं अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
4. समाजीकरण के अभिकरण तथा साधनों की चर्चा कीजिए।

7.6 समाजीकरण के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. पान्डेय, डा0 गणेश, सामाजिक मनोविज्ञान, राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, वर्ष, 2004, पेज, 121–122
2. मिश्र, डा0 पी0 डी0, **सामाजिक** सम्बन्धों के मूल तत्व, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष, 1986, पेज, 418–420,

इकाई 8 : प्रेरणा या अभिप्रेरणा

इकाई की रूपरेखा –

8.0 इकाई का उद्देश्य

8.1 परिचय

8.1.2 प्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषा

8.1.3 प्रेरणा की विशेषतायें

8.1.4 आवश्यकता का अर्थ एवं परिभाषा

8.1.5 आवश्यकता की विशेषतायें

8.1.6 आवश्यकता की सामाजिक – सांस्कृतिक निर्धारक तत्व

8.1.7 समायोजन का अर्थ एवं परिभाषा

8.1.8 वैयक्तिक स्तर पर समायोजन

8.1.9 सामाजिक स्तर पर समायोजन

8.1.10 अभिप्रेरणा के सिद्धान्त

8.1.11 अभिप्रेरणा के प्रकार

8.1.12 सार संक्षेप

8.1.13 परिभाषिक शब्दावली

अभ्यास प्रश्न – लघु, विस्तृत

8.1.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

1. प्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषा के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
2. प्रेरणा की विशेषताओं को जान सकेगें।
3. आवश्यकता क्या होती है? इसके अर्थ एवं परिभाषा को जान सकेगें।
4. आवश्यकता के सामाजिक–सांस्कृतिक निर्धारकों के बारे में जान सकेगे।
5. आवश्यकता की विशेषताओं के बारे में जान सकेगें।

6. समायोजन का अर्थ एवं परिभाषा के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
7. विभिन्न स्तरों जैसे वैयक्तिक, सामाजिक तथा अन्य स्तरों पर समायोजन की स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

8.1 परिचय

व्यवहार क्यो उत्पन्न होता है ? इसी संदर्भ में प्रेरणा का संप्रत्यय विकसित हुआ। मानव व्यवहार को संचालित करने वाली शक्ति ही प्रेरणा है। इसी शक्ति को आवश्यकता या इच्छा कहते है। किसी भी व्यवहार प्रक्रिया को समझने के लिए सम्बन्धित आवश्कताओं या इच्छाओं को जानना आवश्यक है। अभिप्रेरित तत्वों के कई रूप हो सकते हैं, जैसे– उद्देश्य, प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ, प्रयोजन, आकांक्षाएँ, रुचियाँ, आदत आदि। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि व्यवहार सामान्य हो अथवा असामान्य, उसका संचालन तथा नियन्त्रण आवश्यकता तथा प्रणोदन द्वारा होता है। अभिप्रेरणा का समायोजन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। व्यक्ति का व्यवहार अभिप्रेरणाओं के अधीन होने के कारण समायोजन प्रक्रिया प्रभावित होती है। इसी आधार पर यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपनी प्रेरणाओं एवं विचारों में समन्वय या समंजन स्थापित नहीं कर पाता है उसके व्यवहार को असमायोजित या कुसमायोजित की संज्ञा दी जाती है। अतः यह जानना आवश्यक है कि व्यक्ति के सामान्य समायोजन में उसकी आवश्यकताओं तथा प्रेरणाओं का क्या प्रकार्य है ?

8.1.2 प्रेरणा का अर्थ एवं परिभाषाएँ

अभिप्रेरणा' शब्द की रचना लैटिन के मोटिक्स शब्द से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है। अतः प्रेरणा से व्यक्ति की वह आन्तरिक शक्ति या ऊर्जा का बोध होता है जिसके द्वारा व्यक्ति एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया करने के लिए उत्तेजित होता है। अतः अभिप्रेरणात्मक व्यवहार व्यक्ति की किसी आन्तरिक आवश्यकता से संचालित होता है। उदाहरण के लिए जब व्यक्ति को भूख लगती है तब भूख की आवश्यकता (शरीर में भोजन की कमी) व्यक्ति को विचलित कर उस व्यवहार की ओर उन्मुख करती है जिससे भोजन की प्राप्ति हो सके। इसका परिणाम यह होता है कि व्यवहार प्रेरणात्मक होने पर चयनात्मक तथा लक्ष्य निर्देशित हो जाता है। इस व्यबहार में निरन्तरता तब तक बनी रहती है जब तक लक्ष्य प्राप्ति ने हो जाय।

इस सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न–भिन्न परिभाषाएँ दी है। **फिशर** का विचार है, 'प्रेरणा क्रिया की एक प्रवृत्ति या प्रणोदन है जिसमें कुछ अंश अभिस्थापन व निर्देशन से जुड़ा होता है।

गिलफर्ड के विचारानुसार – 'प्रेरणा किसी खास आन्तरिक स्थिति या अवस्था को कहते हैं जो किसी क्रिया को प्रारम्भ करती है तथा उसे जारी रखती है।'

कोलमैन के अनुसार, 'प्रेरणा व्यक्ति की वह आन्तरिक दशा है जो व्यवहार को एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर उद्वेलित और निर्देशित करती है।'

शैरिफ, ग्लिमर तथा शोएन ने अपना विचार इस प्रकार रखा है कि अभिप्रेरणा व्यक्ति के क्रिया करने की उस प्रवृत्ति को कहेगें जो किसी प्रणोदन से आरम्भ होती है तथा अभियोजन में समाप्त होती है।'

इन परिभाषाओं से प्रेरणा की मुख्य प्रकृति यह स्पष्ट होती है कि प्रेरणा एक आन्तरिक कारक या स्थिति है जो किसी क्रिया या व्यवहार को एक निश्चित दिशा में जाग्रत करती है या उन्मुख करती है।

एक प्रेरणात्मक व्यवहार के क्या मुख्य आधार या कसौटियां है इसका उल्लेख काफर तथा एप्ली (1964) ने भी किया है जो इस प्रकार है –

1. प्रेरणा व्यक्ति को ऊर्जा प्रदान कर उत्तेजित करती है।
2. प्रेरणा व्यक्ति के व्यवहार को चयनात्मक तथा लक्ष्योन्मुख बनाती है।
3. प्रेरणा प्राणी के व्यवहार में तीव्रता तथा मन्दता उत्पन्न करती है।
4. प्रेरणा प्राणी के व्यवहार में स्वशोधन करती है।
5. प्रेरणा प्राणी के व्यवहार में उत्पन्न होने वाले द्वन्द्वों का समाधान प्रस्तुत करती है।
6. प्रेरणा प्राणी के व्यवहार को मितव्ययी बनाती है।

अभिप्रेरित व्यवहार का मुख्य कारण प्रणोदन व आवश्यकता है। इस संदर्भ में हल, हेब्ब आदि ने प्रत्येक प्रणोदन या 'अन्तर्नोद' की उत्पत्ति किसी न किसी शारीरिक आवश्यकता को माना है।

8.1.3 अभिप्रेरणा अथवा प्रेरणा की विशेषतायें

अभिप्रेरणा की निम्नलिखित विशेषतायें होती है –

1. प्रेरणा एक विशेष आन्तरिक अवस्था है।
2. इसके उत्पन्न होने से प्राणी में एक विशेष प्रकार का मानसिक तनाव तथा असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है।

3. इस तनाव को दूर करने के लिए व्यक्ति लक्ष्य निर्देशित अनुक्रिया करता है।
4. यह क्रिया निरन्तर लक्ष्य प्राप्ति तक चलती रहती है तथा लक्ष्य के अनुरूप ही क्रिया का रूप भी बदलता रहता है।
5. लक्ष्य प्राप्ति के बाद तनाव एवं मानसिक असन्तुलन समाप्त हो जाता है।

8.1.4 आवश्यकता अर्थ एवं परिभाषा

आवश्यकता एक प्रकार से आन्तरिक अवस्था है। हर प्राणी की कुछ–न–कुछ आवश्यकताएं होती है। इनकी सन्तुष्टि तथा असन्तुष्टि से व्यक्ति का व्यवहार प्रभावित होता है। बोरिंग तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने आवश्यकता को एक ऐसा अभाव माना है जो शरीर में तनाव उत्पन्न करके ऐसा व्यवहार उत्पन्न करती है जिससे असन्तुलन समाप्त हो जाता है। हल के अनुसार प्रणोदन व्यवहार को ऊर्जा प्रदान करता है। इस प्रकार वातावरण की उन वस्तुओं को जो प्राणी का अस्तित्व व विकास करने में सहायता प्रदान करती है, आवश्यकता कहते है। अपना अस्तित्व बनाये रखने तथा अपने को विघटन से बचायें रखने के लिए व्यक्ति प्रयासरत् रहता है यह प्रवृति मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक दोनों स्तरों पर कार्यरत् रहती है।

8.1.5 आवश्यकता की विशेषताएं

आवश्यकता की अग्रलिखित विशेषताएं हैं –

1. आवश्यकता एक प्रकार से आन्तरिक विशेषता है।
2. प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ आवश्यकतायें अवश्य होती है।
3. आवश्यकता की सन्तुष्टि तथा असन्तुष्टि से व्यक्ति का व्यवहार प्रभावित होता है।
4. आवश्यकता व्यक्ति को प्रेरणा प्रदान करती है।
5. आवश्यकता की अपूर्ति की अवस्था में व्यक्ति में प्रतिबल की वृद्धि होती है।

8.1.6 आवश्यकता के सामाजिक–सांस्कृतिक निर्धारक तत्व

1. **शारीरिक आवश्यकताएँ** – इसके अनतर्गत नींद से सम्बन्धित आवश्यकताएँ आती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। अर्थात् यह आवश्यकताएँ व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक प्रकार्यो को प्रभावित करती है। व्यक्ति ने

प्रतिबल तभी बढ़ता है जब व्यक्ति की इन मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ती है।

2. **सुरक्षा तथा पीड़ादायक उत्तेजनाओं का परिहार** – प्राणी की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह पीड़ादायक उत्तेजनाओं से बचना चाहता है। व्यक्ति के लिए भूख, प्यास, थकान, गर्मी, सर्दी तथा कुछ संवेग पीड़ादायक होते हैं। वह इनसे बचने के लिए अनेक सुरक्षा के उपाय ढूंढता है। विभिन्न प्रकार के समायोजनात्मक उपाय ढूंढता है किन्तु जब पीड़ाओं से बचने में स्वयं को असमर्थ पाता है तो कुसमायोजन प्रारम्भ हो जाता है।

3. **सेक्स** – इस जैविक प्रेरणा का मुख्य उद्देश्य सृजनात्मक है। इसे यौन–व्यवहार की संबा दी जाती है। विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों का व्यक्ति के यौन अभिप्रेरणाओं पर प्रभाव पड़ता है। यौन–व्यवहार में विचलन व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तर पर पाये जाते हैं। सामाजिक स्तर पर नैतिक स्तर के अवमूल्यन के कारण व्यक्ति में सैक्स के प्रति प्रेरणात्मक व्यवहार परिवर्तित होता है।

इस प्रकार शारीरिक आवश्यकताएँ आन्तरिक रूप से व्यक्ति को निरन्तर किसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए उत्तेजित करती है जैसा कि पेज का विचार है –

इसके तीन प्रमुख प्रकार्य है –

1. शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि
2. प्राणी की शारीरिक आघात से रक्षा करना
3. ऐसी क्रियाओं को उत्तेजित करना जो प्राणी को प्रजनन एवं शिशु रक्षा के लिए सहायक हो।

मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ

सम्य समाज में प्रायः जैविक आवश्यकताएँ तथा सुरक्षा प्रायः प्राणी को मिल ही जाती है इससे उन्हें संघर्ष या व्यवधान प्रायः नही के बराबर ही होता है जबकि कुछ मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अभाव में ही व्यक्ति में समायोजन, मानसिक स्वास्थ्य में गिरावट तथा अन्तर्द्वन्द्व जैसे स्थितियाँ उत्पन्न होती है। इसके लिए पेज ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये है –

आलपोर्ट महोदय ने इस मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न वृहद रूप माना है। उसमें मुख्य आवश्यकताएँ हैं –

1. रक्षा
2. जिज्ञासा

3. प्रेम एवं अनुमोदन की आवश्यकता
4. सम्बन्धन
5. श्रेष्ठता
6. आत्म सम्मान

सामाजिक आवश्यकताएँ

मनुष्य स्वभाव से ही सामूहिकता की प्रवृत्ति लिए हुए होता है। व्यक्ति अपने समूह में समाज से जुड़ा रहता है। इसी सामाजिक अभिप्रेरणा के कारण व्यक्ति सामाजिक रीति–रिवाजों, प्रथाओं के अनुसार व्यवहार करता है और अपने हर व्यवहार के लिए सामाजिक स्वीकृति चाहता है।

पेज ने मुख्य सामाजिक आवश्यकताएँ निम्नलिखित मानी हैं –

1. दूसरों से अनुक्रिया
2. मनोलैंगिक प्रेरणा
3. आदत एवं प्रेरणा
4. उत्तेजना

8.1.7 समायोजन का अर्थ व परिभाषा

एक छात्र अर्द्धवार्षिक परीक्षा में अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करना अपना लक्ष्य बनाता है, पर दूसरे छात्रों की प्रतियोगिता और अपनी कम योग्यता के कारण वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल होता है। इससे वह निराशा और असन्तोष, मानसिक तनाव और संवेगात्मक संघर्ष का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में वह अपने मौलिक लक्ष्य को त्यागकर अर्थात् अर्द्धवार्षिक परीक्षा में अपनी असफलता के प्रति ध्यान न देकर वार्षिक परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करना अपना लक्ष्य बनाता है। अब यदि वह अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी परिस्थिति या वातावरण से 'समायोजन' कर लेता है। पर यदि उसे सफलता नही मिलती है, तो उसमें 'असमायोजन' उत्पन्न हो जाता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए परिस्थितियों को अनुकूल बनाना या परिस्थितियों के अनुकूल हो जाना ही समायोजन कहलाता है। यह समायोजन व्यक्ति अपनी क्षमता, योग्यता के अनुसार करता है।

हम 'समयोजन' और 'असमायोजन' के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ दे रहे हैं, यथा –

बोरिंग, लैंगफेल्ड व वेल्ड – "समायोजन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा प्राणी अपनी आवश्यकताओं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में सन्तुलन रखता है।"

गेट्स व अन्य –"समायोजन निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने और अपने वातावरण के बीच संतुलित सम्बन्ध रखने के लिए अपने व्यवहार में परिवर्तन करता है।'

गेट्स व अन्य –"असमायोजन, व्यक्ति और उसके वातावरण में असन्तुलन का उल्लेख करता है।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समायोजन निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। साथ ही व्यक्ति, परिस्थिति तथा पर्यावरण के मध्य अपने को समायोजित करने के लिये अपने व्यवहार में परिवर्तन करता है। अतः समायोजन को संतुलित दशा कहा गया है।

समायोजन की विशेषतायें

समायोजन करने वाले व्यक्ति में निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं –

1. परिस्थिति का ज्ञान, नियत्रण तथा अनुकूल आचरण।
2. संतुलन।
3. पर्यावरण तथा परिस्थिति से लाभ उठाना।
4. समाज के अन्य व्यक्तियों का ध्यान।
5. संतुष्टि एवं सुख।
6. सामाजिकता, आदर्श चरित्र, संवेगात्मक रूप से अस्थिर, संतुलित तथा दायित्वपूर्ण।
7. साहसी एवं समस्या समाधान युक्त।

इसीलिये गेट्स ने कहा है – समायोजित व्यक्ति वह है जिसकी आवश्यकतायें एवं तृप्ति सामाजिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की स्वीकृति के साथ संगठित हो।

8.1.8 समायोजन के स्तर

यह कभी भी सम्भव नही है कि व्यक्ति की सभी इच्छाओं या आवश्यकताओं की पूर्ति हो, क्योंकि अनेक ऐसी इच्छाएँ होती है जो पूर्णतः समाज–विरोधी होती है या व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर होती है या कम अंश में ही पूर्ण होती है। अतः समायोजन को जानते समय यह भी जानना आवश्यक है कि समायोजन का क्या–क्या रूप हो सकता है। कभी–कभी व्यक्ति अपनी इच्छाओं एवं वातावरण की अनेक परिस्थितियों के साथ

समायोजन करने में असफल रहता है या गलत ढंग से समायोजन कर लेता है। अतः यहाँ समायोजन के अन्य रूपों के सम्बन्ध में भी जानना आवश्यक है। यहां यह बताना उल्लेखनीय है कि समायोजन की विभिन्न श्रेणियों में किसी भी प्रकार की भेदक रेखा नही खींची जा सकती, क्योंकि इन श्रेणियों में प्रकार का अन्तर नही है बल्कि अंश या तीव्रता का अन्तर है। नीचे हम उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन कर रहे हैं –

समायोजनात्मक प्रतिक्रियाएँ – इस श्रेणी में व्यक्ति की वे प्रतिक्रियाएँ आती है जो परिस्थितियों के साथ मिलकर व्यक्त होती है। जब व्यक्ति एक कार्य करना चाहता है और बाधक परिस्थितियाँ उस कार्य में बाधा पहुँचाती है तो सबसे सामान्य तरीका यही है कि वह और मेहनत एवं बुद्विमानी से कार्य करे। जैसे एक विद्यार्थी परीक्षा में फैल होने की कुण्ठा से बचाव करने के लिए अधिक मेहनत करता है और सामान्यतः ऐसा करने पर उसे सफलता भी मिलती है। इस प्रकार वह अपनी प्रेरणाओं में सन्तुलन रखता है और कुण्ठा का शिकार नहीं होता। इस प्रकार समायोजनात्मक प्रतिक्रियाओं में मुख्यतः व्यक्ति की रचनात्मक प्रतिक्रियाएँ आती है जिसमें व्यक्ति अपने वातावरण या सामाजिक नियमों या मान्यताओं को मानता है; एक रूढ़िवादी की तरह नहीं बल्कि एक सच्चे दृष्टिकोण के कारण; और अपनी प्रेरणाओं के साथ उनका सन्तुलन करने का प्रयास करता है। **सिमण्ड्स** के मतानुसार, इस प्रकार की उपयुक्त प्रतिक्रियाओं से व्यक्तित्व विकास या व्यक्ति में परिपक्वता आती है। **सीशोर व काट्ज** के अनुसार इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की जाँच के लिए निम्नांकित आधारभूत तत्व हैं –

1. वे प्रतिक्रियाएँ जिनसे व्यक्ति को इच्छित लक्ष्य प्राप्त हो या प्राप्ति में सहायक हो,
2. जिनसे व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो तथा निरन्तर वृद्धि हो,
3. जिनसे समाज को लाभ पहुंचे तथा साथ ही साथ किसी व्यक्ति को नुकसान भी नहीं पहुंचे,
4. जिनसे व्यक्ति में इस प्रकार के आत्मविश्वास का विकास होता है कि वह भविष्य की समस्याओं को साहस व दृढ़ता के साथ सुलझा सके।

8.1.9 अंशतः समायोजनात्मक या अर्द्ध–सन्तुलित प्रतिक्रियाएँ

जब व्यक्ति प्रेरणाओं को सिद्ध करने के लिए परिस्थितियों के साथ सन्तुलन करता है तो केवल यही सम्भव नही है कि उसकी प्रेरणा पूर्ण रूप से सन्तुष्ट ही हो जाय। दूसरे शब्दों में, सभी प्रेरणाएं पूर्ण रूप से समायोजनात्मक सिद्ध नहीं होती।

कुछ में आंशिक समायोजन ही होता है; उदाहरण स्वरूप, एक विद्यार्थी परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने के लिए मेहनत के स्थान पर यह दिवास्वप्न देखता है कि पेपर आउट हो जायेगा, कापी जांचने वाले निरीक्षक का पता चल जायेगा, आदि। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी कल्पनाओं के माध्यम से आंशिक समायोजन स्थापित कर लेगा, परन्तु उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार की प्रक्रियाओं को ही अंशतः समायोजनात्मक या अर्द्ध–सन्तुलित प्रतिक्रियाएँ कहते हैं। फिशर ने इसके अन्तर्गत क्षतिपूर्ति आदि क्रियाओं को रखा है।

असमायोजनात्मक प्रतिक्रियाएँ

जब व्यक्ति अपनी प्रेरणाओं का परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर पाता तो उन्हें असमायोजनात्मक प्रतिक्रिया कहते है। व्यक्ति सामाजिक व बौद्धिक प्राणी होने के फलस्वरूप अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है। उसके सम्मुख विभिन्न प्रेरकों की सन्तुष्टि करने की समस्या रहती है। जब व्यक्ति ऐसे कार्यो को निरन्तर करता रहता है जिनसे कि समायोजन में बाधा पहुंचती है तो इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं को असमायोजित प्रतिक्रियाएँ कहते है; जैसे – मद्यपान की आदत डालना जिससे कि वह स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सके। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं को करने वाला व्यक्ति परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया करने से इन्कार कर देता है। वह यह निश्चिय कर लेता है कि उसे परिस्थितियों के प्रति निषेधात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करनी है। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत प्रतिगम तथा शैशवकालीन व्यवहार से सम्बन्धित क्रियाएँ भी आती है। व्यक्ति कभी–कभी एक विशेष प्रेरणा या आवश्यकता पर ध्यान नहीं देता तथा अन्य क्रियाएँ करने में लगा रहता है। ऐसी अवस्था में वह प्रेरणा कुण्ठित हो जाती है तथा उस कुण्ठित प्रेरणा का दमन होना शुरू हो जाता है। दमन के प्रयास को ही असमायोजनात्मक प्रतिक्रियाएँ कहते है।

विसमायोजनात्मक प्रतिक्रियाएँ

इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं में वे प्रतिक्रियाएँ आती है जिनका गलत ढंग से समायोजन होता है। इस प्रकार का समायोजन क्योंकि व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए हानिकारक है अतः इसे विसमायोजनात्मक प्रतिक्रियाएँ कहते है। इस प्रकार की क्रियाएँ करने वाले व्यक्तियों की समाज में आलोचना होती है तथा धीरे–धीरे इनका व्यवहार सामान्य व्यवहार से भिन्न होने लगता है। इस प्रकार के व्यक्ति न तो स्वयं ही उन्नति कर पाते हैं और न ही इनके द्वारा समाज व देश की ही उन्नति होती है। उसका सामाजिक सम्बन्ध धीरे–धीरे बिगड़ता जाता है। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं से अनेक असामान्य व्यवहार व मानसिक विकृतियों का जन्म होता है। इस प्रकार से इन प्रतिक्रियाओं के

कारण व्यक्ति को न तो इच्छित लक्ष्य की ही प्राप्ति होती है और न ही इनकी सहायता से भावी समस्याओं के समाधान में ही सहायता प्राप्त होती है। ये व्यक्ति व्यर्थ में ही दिवास्वप्नों में लीन होकर अपना समय बरबाद करते हैं। विफलताओं से बचाव के लिए वह प्रेरणाओं को अधिक दमित करना सीख लेता है तथा अत्यधिक दमन के कारण व्यक्ति दैनिक जीवन की अनेक भूलों, असामान्य व्यवहारों व मानसिक व्याधियों से ग्रस्त होता जाता है। उसके अन्दर सदैव एक हलचल बनी रहती है जिससे उसमें आत्मविश्वास व उत्साह की असमर्थता आ जाती है। **सीशोर व काट्ज** के अनुसार, असमायोजित प्रतिक्रियाओं में निम्न तत्व निहित रहते हैं –

1. जो व्यक्ति को इच्छित एवं प्रारम्भिक लक्ष्य या उसके उपयुक्त स्थानापन्न लक्ष्य की प्राप्ति से दूर ले जाये।
2. जो व्यक्ति को केवल अस्थायी सात्वना प्रदान करे तथा वास्तव में हानिकारक हो।
3. जिसके कारण व्यक्ति समाज का बोझ समझा जाये। वह अन्य व्यक्तियों से तो सहायता ले परन्तु दूसरों की सहायता न कर सके।
4. जिससे व्यक्ति के मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य को हानि पहुंचे, उसकी कार्यक्षमता में ह्रास हो या आत्मविश्वास की कमी।

फिशर ने इन प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत अवदमन आरोपण बाध्यतामूलक आदि क्रियाओं को रखा है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तरों का मिलान पाठ्य सामग्री से कीजिए।

1. 'अभिप्रेरणा' की अवधारणा लिखिए।

.....

.....

2. 'अभिप्रेरणा' की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

अभ्यास 2

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

क) आवश्यकता के सामाजिक – सांस्कृतिक निर्धारक तत्व

.....

.....

ख) समायोजन के स्तर

.....

.....

8.1.10 अभिप्रेरणा के सिद्धान्त–

अभिप्रेरणा के अग्रलिखित सिद्धान्त हैं–

अभिप्रेरणा का संज्ञानात्मक सिद्धान्त–

समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाओं और निर्णयों का चयन व्यक्तिगत ज्ञान और संज्ञान के आधार पर करता है। अभिप्रेरणा के संज्ञानात्मक सिद्धान्त का विकास टालमैन और लैविन द्वारा किये गये अध्ययनों के आधार पर हुआ है। **टालमैन** और **लैविन** ने व्यवहार के घटित होने का प्रमुख कारण संज्ञान को बताया है। संज्ञान के बिना व्यवहार की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इनके अनुसार व्यवहार का स्त्रोत शक्ति है। टालमैन के अनुसार शक्ति का स्त्रोत आवश्यकताओं और अन्तर्नोदों का उद्दीपन है। अर्थात जब कोई व्यक्ति कोई कार्य करता है तो इस कार्य को करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति उस व्यक्ति की आवश्यकताओं और उद्दीपन के उत्प्रेरकों से प्रेरित होती है। इस सम्बन्ध में लेविन का विचार टालमैन से भिन्न है। लेविन के अनुसार शक्ति का स्त्रोत आवश्यकताओं और अन्तर्नोदों का उद्दीपन नहीं है बल्कि व्यक्ति में उपस्थित तनाव है। लेविन के अनुसार जब कोई भी व्यक्ति लक्ष्य निर्देशित करता है तो उस व्यक्ति के शक्ति के स्त्रोत तनाव में कमी हो जाती है।

अभिप्रेरणा के संज्ञानात्मक सिद्धान्त को निम्न पदो के आधार पर संक्षिप्त रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. इस सिद्धान्त के लिए सर्वप्रथम आवश्यक तत्व उद्दीपकों की प्राप्ति है। व्यक्ति यह उद्दीपक बाहय वातावरण या आन्तरिक अवस्थाओं से प्राप्त कर सकता है।
2. इसका दूसरा तत्व शक्ति स्त्रोत है। जो उपर्युक्त वर्णन में स्पष्ट है।
3. तीसरा तत्व लक्ष्य से सम्बन्धित है। व्यक्ति सामान्यतया ऐसे लक्ष्यों का चयन करता है। जिससे उसे सन्तोष प्राप्त होने की आशा हो।
4. चर्तुथ तत्व व्यवहार तथा क्रिया से सम्बन्धित है। अभिप्रेरणात्मक व्यवहारों को करते समय व्यक्ति अपने व्यवहार तथा क्रिया को ऐसा रूप देता है। जिससे कि उसे सरलता से लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।
5. लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति को भावनात्मक रूप से सन्तुष्टि की प्राप्ति होती है।

मैसलों का सिद्धान्तः–

मैसलो के सिद्धान्त को आवश्यकताओं के अनुक्रमांक विकास का सिद्धान्त कहते हैं। मैसलों के अनुसार व्यक्ति में अवश्यकताओं का विकास एक निश्चित क्रम में होता है। यह क्रम निम्नलिखित है।

मैसलो के अनुसार मानव आवश्यकताएँ मूलभूत जैविक आवश्यकताओं से आत्म वास्तवीकरण के पदानुक्रम में होती हैं। निम्न स्तरीय आवश्यकताएँ जैसे–जैसे सन्तुष्ट होती जाती हैं वैसे–वैसे ही क्रमशः उच्च स्तरीय आवश्यकताओं का विकास होता जाता है। उच्च स्तरीय आवश्यकता के विकसित होने के बाद निम्न स्तरीय आवश्यकता का महत्व कम हो जाता है तथा दूसरे व्यक्ति में पद सोपान संगठन उच्च स्तरीय आवश्यकताओं के विकसित होने के बाद विकसित होता है।

8.1.11 सम्प्रेरणाओं के प्रकार

I- जन्मजात या जैविकीय प्रेरकः–

मनुष्य को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आवश्यक होती है। जैविकीय आवश्यकताएँ स्वाभाविक तथा जन्मजात आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किये बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है। जैविकीय प्रेरक (जैसे भूख लगना, प्यास लगना, आराम आदि) मानव तथा पशु दोनों

में समान रूप से पाये जाते हैं। परन्तु इनकी सन्तुष्टि के तरीके दोनों में भिन्न–भिन्न होते हैं। जैविकीय प्रेरकों में निम्नलिखित प्रमुख है–

1. भूख

भूख व्यक्ति की मूल प्रेरणा है जिसके कारण वह सक्रिय होकर अनेक क्रियाएं करता है। मानव शरीर की जैविकीय रचना इस प्रकार की होती है कि उसे जीवित रखने के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए वह बाध्य होता है। भूख भी मानव की एक ऐसी ही आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के बिना शारीरिक सन्तुलन बिगडने लगता है, कार्य क्षमता में कमी हो जाती हैं, बौद्धिक क्रियाओं में हास होता हैं, क्रोध बेचैनी आदि वढ़ जाती है तथा व्यक्ति का किसी कार्य में मन नहीं लगता है।

2. प्यास (Thirst)

भोजन की भाँति प्यास भी एक विशिष्ट शारीरिक आवश्यकता है। प्यास लगने पर गला, जीभ, मुँह आदि सूखने लगता है। तथा लार ग्रन्थियों की क्रिया धीमी पड जाती है। व्यक्ति जब तक पानी पीकर इसकी तृप्ति नहीं कर लेता, उसकी बेचैनी समाप्त नहीं होती है। अतः मानव तथा पशु दोंनो के लिए इसकी पूर्ति करना आवश्यक है।

3. काम (Sex)

मनोविश्लेषणवादी काम भावना को मानव तथा पशुओं के लिए महत्वपूर्ण जैविकीय प्रेरक मानते हैं। उनके उनुसार काम ही व्यवहार का स्त्रोत है। काम के प्रति दृष्टिकोण व्यवहार में परिवर्तन ला देता है। काम भावना की उचित सन्तुष्टि न होने पर व्यक्ति में हीन भावना तथा तनाव की उत्पत्ति होती है, जिससे व्यक्ति में कभी–कभी अपराध की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है।

4. नींद (Sleep)

एक स्वस्थ शारीरिक तथा मानसिक अवस्था के लिए व्यक्ति में नींद की पूर्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। नींद व्यक्ति को शारीरिक तथा मानसिक आराम प्रदान करता है। नींद पूरी न होने पर अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे विभ्रम, अकुलाहट, बेचैनी, चिड़चिड़ापन, अकेन्द्रित मन, विषाद, धबराहट होने लगती है। उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। प्रत्यक्षीकरण तथा ज्ञानात्मक विघटन होने लगता है।

5. सुरक्षा (Security)

व्यक्ति सुरक्षा से ही अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति को कष्ट उत्पन्न करने वाली स्थितियों से बचना सिखाया जाता है। कष्ट या असुरक्षा की भावना में (जैसे बीमारी, शरीर के किसी अंग में दर्द, डर आदि) व्यक्ति में

चिन्ता, असंतोष, भय तथा धवराहट आदि स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा उसका व्यवहार असामान्य हो जाता है।

II- अर्जित अथवा सामाजिक प्रेरक (Achieved or Sociogenic Motives)

जन्मजात या जैविकीय प्रेरकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रेरकों को व्यक्ति अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण से प्राप्त करता है। इन्हें अर्जित अथवा सामाजिक प्रेरक कहते हैं। इन प्रेरकों को व्यक्ति स्वयं समाज में रहकर अर्जित करता है। इन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है:–

(अ) सामान्य सामाजिक प्रेरक

(ब) व्यक्तिगत सामाजिक प्रेरक

(अ) सामान्य सामाजिक प्रेरक (General Social Motives)

ये प्रेरक व्यक्ति को सामाजिक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं ये सभी व्यक्तियों में प्रायः समान रूप से होते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्य प्रेरक निम्नलिखित हैं:

1. सामूहिकता (Gregariousness)

ये एक समाज जनित प्रेरक है। सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में पायी जाती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा तथा अपनी जैविकीय और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। इस प्रकार इसी उद्देश्य से व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए समूह में रहते हैं।

2. आत्म स्थापन (Self-assertion)

आत्म स्थापन व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति है। यह प्रेरणा समाज के रीति रिवाज तथा व्यवहार द्वारा प्रभावित होती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वह अपने को दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ प्रदर्शित करें, दूसरों से अधिक शक्तिशाली शक्तिवान और श्रेष्ठ बनाने के लिए दूसरे से इसलिए व्यक्ति अपने को अधिकाधिक प्रभावशाली शक्तिशाली हो तथा शत्रुओं को पराजित कर सके। इसलिए व्यक्ति अपने को अधिकाधिक प्रभावशाली शक्तिवान और श्रेष्ठ बनाने के लिए दूसरे से अधिक परिश्रम करता है। इससे आत्म स्थापन प्रेरक द्वारा व्यक्ति की क्षमताओं का विकास होता है तथा योग्यता बढ़ती है। वह अधिक से अधिक रचनात्मक कार्यों को करने के लिए प्रेरित होता है।

3. संग्रहता (Acquistivene)

बिगेल होल ने संग्रहता के परिप्रेक्ष्य में कहा है कि शारिरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संग्रहता की प्रेरणा विकसित होती है। व्यक्ति भोजन, वस्त्र आदि का संग्रहण अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। परन्तु संग्रहता को प्रेरणा केवल शारीरिक आवश्यकताओं के साथ सम्बन्धित नहीं है। अनेक समूहों में आत्म स्थापन के लिए भी सम्पत्ति का संग्रह किया जाता है। इस प्रेरणा के द्वारा व्यक्ति वस्तुओं को अर्जित कर रचनात्मक कार्यो में रूचि लेता है।

4. अतिक्रमणता (Aggressiveness)

अतिक्रमणता प्रेरणा व्यक्ति अपने सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण से अर्जित करता है। यह व्यक्ति में संघर्ष की प्रवृत्ति को विकसित करती है। जब व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है तो वह बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वों के साथ संघर्ष कर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है।

(ब) वैयक्तिक सामाजिक प्रेरक (Individual Social Motive)

वैयक्तिक सामाजिक प्रेरकों को व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा अर्जित करता है। व्यक्तियों के मध्य वैयक्तिक भिन्नताओं के कारण इन प्रेरकों में भी व्यक्तियों के मध्य भिन्नता होती है। इसके अन्तर्गत प्रमुख प्रेरक निम्नलिखित हैः

1. आदत (Habit)

किसी क्रिया व्यवहार को बार–बार दोहराने से आदत का विकास होता है। एक बार आदत का विकास हो जाने पर जब उसे किसी प्रकार का उत्तेजक प्राप्त होता है तो वह स्वयं व्यक्ति को क्रियाशील करती है। और वह स्वतः चालित रूप से कार्य करना आरम्भ कर देता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभवों मानव व्यवहार की अभिप्रेरणाएँ के आधार पर आदतें अपना रूप ग्रहण कर लेती हैं। इन आदतों की पूर्ति उचित ढंग से न होने पर व्यक्ति के अन्तद तनाव का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार आदतें व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित तथा प्रभावित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हमारे रीति रिवाज, परम्पराएँ, लोकाचार तथा धार्मिक नियम आदि सामाजिक आदतें हैं। समाजीकरण के द्वारा इनका पालन करने की आदतों का विकास किया जाता है।

2. जीवन लक्ष्य (Life Goal)

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का कोई न कोई निश्चित लक्ष्य होता है जो व्यक्ति की इच्छाओं, प्रेरणाओं तथा विचारों पर आधारित होता है। लक्ष्य निर्धारण के पश्चात् व्यक्ति उसकी प्राप्ति के लिए उसी दिशा में प्रयास करता है। व्यक्ति के लक्ष्यों में भिन्नता के कारण उनका व्यवहार भी भिन्न–भिन्न होता है। ये लक्ष्य समाज के अनुकूल होते हैं

व्यक्ति जिस प्रकार के सामाजिक पर्यावरण में रहता है, उसका लक्ष्य भी उसी से प्रभावित होता है।

3. आकांक्षा का स्तर (Level of Aspiration)

समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षाओं के स्तर में भिन्नता पायी जाती है। व्यक्ति के लक्ष्यों के अनुसार कुछ सदस्यों की आकांक्षाए बहुत उच्च होती हैं तथा कुछ की सीमित होती हैं। इसकी प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नों पर निर्भर करती है। आकांक्षाओं का विकास भी सामाजिक लक्ष्यों के अनुसार व्यक्ति के सामाजिक पर्यावरण के अनुसार होता है।

4. अभिरूचि (Interest)

समाज के विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कषतिक पर्यावरण से प्रभावित व्यक्तियों की रूचियों में भी भिन्नता पायी जाती है। जिन वस्तुओं को प्राप्त करने में व्यक्ति की अभिरूचि होती है। व्यक्ति उसके लिए अधिक प्रयास करते हैं। अभिरूचियाँ व्यक्ति के व्यवहारों, कार्यों तथा उसके संकेन्द्रित मन को प्रभावित करती है। अपनी अभिरूचि ये इच्छा की वस्तु जब तक व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती, वह उसके लिए प्रयास करता रहता

है।

5. मनोवृत्ति (Attitude)

व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार उसकी अभिवृत्ति या मनोवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता है। मनोवृत्ति किसी भी व्यक्ति या वस्तु अथवा उत्तेजना के प्रति हो सकती है। यह वह स्थायी मानसिक तत्परता या प्रवृत्ति है जिसका संगठन या निर्माण अनुभवों के आधार पर होता है और उसके व्यवहार पर गत्यात्मक और निर्देशात्मक प्रभाव पड़ता है। मनोवृत्तियाँ जन्मजात नहीं होती हैं। वस्तु, व्यक्ति घटना या समूह आदि के सम्बन्ध में मनोवृत्तियों को व्यक्ति सीखता है। मनोवृत्ति के आधार पर ही व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों, समूहों या किसी घटना आदि के प्रति अपनी सोच या व्यवहार को व्यक्त करता है। यह धनात्मक तथा ऋणात्मक किसी भी प्रकट की हो सकती है।

6. अचेतन प्रेरणाएँ (Unconscious Motivation)

मानव की अनेक इच्छाएँ जिनकी पूर्ति नहीं हो पाती है वे अचेतन मन में दव जाती है और वहीं सन्तुष्ट होने का प्रयास करती हैं फ्रायड के अनुसार हमारे दैनिक व्यवहार की अनेक बातों का संचालन अचेतन मन से होता है। असामान्य व्यवहार तथा विभिन्न प्रकार की मानसिक व्याधियाँ हमारे अचेतन मन पर आधारित होती है। यह

व्यक्ति के व्यवहार को निरन्तर प्रभावित करती है। जब अचेतन मन अधिक शक्तिशाली हो जाता है तो मनोविकास भी उत्पन्न हो जाता है।

7. संवेद (Emotions)

स्वेग अचेतन प्रेरणा की भाँति ही मानव के व्यवहार को प्रभावित करते हैं, इसका महत्व व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने तथा प्रेरणा देने में महत्वपूर्ण होता है। संवेगों से व्यक्ति अधिक क्रियाशील हो जाता है। संवेग की अवस्था में व्यक्ति का व्यवहार सामान्य अवस्था से भिन्न होता है।

8.1.12 सार संक्षेप

प्रस्तुत इकाई में प्रेरणा अथवा संप्रेरणा की परिभाषा और अर्थ के बारे में प्रकाश डाला गया है। साथ ही साथ प्रेरणा की विशेषताएं भी दी गई है। प्रस्तुत इकाई में ही आवश्यकता का अर्थ व परिभाषा प्रस्तुत की गई है एवं जैविक आवश्यकतायें, मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें, सामाजिक आवश्यकतायें आदि के बारे में वृहद चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में समायोजन की परिभाषा, अर्थ तथा विशेषताएं भी प्रदान की गई है एवं समायोजन का विभिन्न स्तरों पर समायोजनात्मक क्रिया के बारे में भी प्रकाश डाला गया है। इसी इकाई में अभिप्रेरणा के सिद्धान्तों के बारे में वृहद चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में अभिप्रेरणा के प्रकारों के बारे में भी प्रकाश डाला गया है।

8.1.13 परिभाषिक शब्दावली

प्रेरणा– प्रेरणा एक आन्तरिक कारक या स्थिति है जो किसी क्रिया या व्यवहार को एक निश्चित दिशा में जाग्रत करती है या उन्मुख करती है।

आवश्यकता– वातावरण की उन वस्तुओं को जो प्राणी का अस्तित्व व विकास करने में सहायता प्रदान करती है, आवश्यकता कहते है।

समायोजन– लक्ष्य प्राप्ति के लिए परिस्थितियों को अनुकूल बनाना या परिस्थितियों के अनुकूल हो जाना ही समायोजन कहलाता है।

अभ्यास प्रश्न –

लघु,

1. प्रेरणा से आप क्या समझते हैं?
2. प्रेरणा की परिभाषा एवं विशेषताएं लिखिए?
3. आवश्यकता क्या है?

4. शारीरिक आवश्यकतायें क्या होती है? वर्णन कीजिए।
5. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं पर एक टिप्पणी लिखिए?
6. सामाजिक आवश्यकतायें क्या होती हे?
7. समायोजन क्या है?
8. समायोजन की विशेषताएं लिखिए?
9. व्यक्ति के विभिन्न स्तरों पर समायोजन की प्रक्रियाओं के बारे में लिखिए।

विस्तृत

1. अभिप्रेरणा के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
2. अभिप्रेरणा के प्रकारों के बारे में लिखिए।

8.1.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, लाभ एवं तिवारी गोविन्द, असमान्य मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, वर्ष 2001, पेज 99–100.
2. पाठक, पी.डी., शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, वर्ष 2007, पेज 420–422.
3. मिश्र, डा0 पी0 डी0, सामाजिक सम्बन्धों के मूल तत्व, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष, 1986, पेज, 455–458.

इकाई–9 सीखना

9.0 इकाई का उद्देश्य

9.1 परिचय

9.2 सीखने का अर्थ

9.2.1 सीखने की परिभाषा

9.2.2 सीखने की विशेषतायें

9.2.3 सीखने के कारक

9.2.4 सीखने के नियम तथा सिद्धांत

9.3 सार–संक्षेप

9.4 पारिभाषिक शब्दावली

अभ्यास प्रश्न

लघु, विस्तृत

9.5 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.0 इकाई का उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को आपके सम्मुख इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि आप लोगों को सीखने के बारे में विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो सके। वास्तव में हम जानते हैं कि सीखना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसी के संदर्भ में प्रस्तुत इकाई आपके सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1– सीखने के अर्थ को स्पष्ट कर सकेगें।

2– सीखने की परिभाषाओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें ।

3– सीखने की विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगे।

4– सीखने के नियम व सिद्धान्तों के बारे में लिख सकेगें।

5– सीखने के कारकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

6– सीखने के मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, भौतिक और सामाजिक कारकों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

9.1 परिचय

व्यक्ति अपने प्रारम्भिक जीवन से सीखना प्रारम्भ कर देता है तथा जीवन पर्यन्त सीखता ही रहता है। मानव जीवन में सीखने का महत्वपूर्ण स्थान है। जन्म के समय व्यक्ति असहाय प्राणी होता है, वह धीरे–धीरे अन्य व्यक्तियों के अनुभव से लाभ उठाकर सीखने का क्रम आरम्भ कर देता है। व्यक्ति वातावरण के अनुसार समायोजन करने का प्रयत्न करता है। वातावरण के अनुकूल व्यवस्थापन करने में परिपक्वता एवं अनुभूति से लाभ उठाने की योग्यता नामक तत्व सहायता पहुँचाते हैं।

व्यक्ति का व्यवहार प्रारम्भिक अवस्था में जन्मजात गुणों से प्रभावित होता है। ये गुण मनुष्यों से कहीं ज्यादा मात्रा में पशुओं में विद्यमान होते हैं। शनैः–शनैः मानव के जन्मजात गुणों में संशोधन होता रहता है। इस परिवर्तन का एक मात्र कारक सीखना होता है। अतः मानव व्यवहार में सीखना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

9.2 सीखने का अर्थ

प्रत्येक प्राणी कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां लेकर जन्म लेता है। जो प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओं को दिशा निर्देशित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात संस्करण होते हैं जो प्राथमिक प्रतिक्रिया को निर्धारित करते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के माध्यम से वह स्वयं को पर्यावरण के अनुसार बनाने का प्रयत्न करता है। इसलिए व्यक्ति उन प्रतिक्रियाओं को बार–बार अभ्यास द्वारा सीखता है जो वातावारण के लिए उपयुक्त होती हैं। इस अर्थ में हम सीखने को इस प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं कि 'वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को अपनाने की प्रक्रिया ही सीखना है।'

सीखने से हमारा तात्पर्य 'संचयी उन्नति' से भी होता है। सीखनें में विकास का आकलन उन परिवर्तनों द्वारा मापा जाता है जो सीखने की क्रिया के समय होते हैं। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में सीखने की प्रक्रिया अपरिष्कृत रूप में होती है तथा उनकी प्रतिक्रियायें दोषपूर्ण भी हो सकती है; पर धीरे–धीरे शिक्षा एवं अभ्यास के प्रभाव से यह परिष्कृत होती जाती है। इस प्रकार जिन कार्यों को प्रारम्भ में सीखने में कठिनाई का अनुभव करता है, वहीं धीरे–धीरे वह उन कार्यों को व्यक्ति सरलता से करने लगता है। अनुभव द्वारा लाभ प्राप्त करना व्यक्ति की उन्नति का द्योतक होता है। पर सीखने का अभिप्राय यांत्रिक विधि से अभ्यास के माध्यम से तथ्यों को प्राप्त करना मात्र ही नहीं होता है वरन् सीखने में साधन, मूल्यांकन एवं वस्तुओं का

नियोजन भी शामिल होता है। इस प्रकार इनकी कई अर्थों में व्याख्या करनी पड़ती है। अतः हमें सीखने की परिभाषा पर पूर्ण रूप से विचार कर लेना चाहिये।

9.2.1 सीखने की परिभाषा

गेटस् के अनुसार 'अनुभव द्वारा व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को ही सीखना कहते हैं व्यक्ति क्या सीखता है? इसका निर्धारण शारीरिक स्वास्थ्य एवं परिस्थिति पर आधारित होता है।

मनुष्य वातावरण के प्रभाव से बहुत अधिक प्रभावित होता है। वह अपने चारों ओर की परिस्थिति से नहीं बच सकता है। मानव में रुचि, निपुणता एवं योग्यता सभी सीखने की क्रिया की ही उपज होती हैं ।

बर्नहट के अनुसार 'सीखना व्यक्ति के कार्यों में एक स्थायी संपवर्तन लाना है जो निष्चित परिस्थितियों में किसी इच्छा को प्राप्त करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा लाया जाता है।

व्यक्ति के कार्यों पर निर्भर करने वाली संस्था एक सक्रिय प्रक्रिया है। यद्यपि मानसिक अभिवृद्धि अथवा प्रौढ़ता विकास की प्रक्रिया है। इस संदर्भ में व्यक्ति बहुत कम कुछ कर सकता है।

किम्बाल यंग के अनुसार 'सीखने को प्रत्युत्तर व्यवस्था में हुए एक परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि जानबूझ कर अथवा अचेतन रूप से नवीन अथवा पुराने प्रत्युत्तरों द्वारा लाया गया है।

इस प्रकार, सीखने का अभिप्राय किसी निश्चित परिस्थिति में समस्या के समाधान के लिए व्यवहार में स्थायी अथवा अस्थायी परिवर्तन होता है।

9.2.2 सीखने की विशेषताएं

सीखने की प्रक्रिया ही सामाजीकरण की प्रक्रिया को सम्भव बनाती है। सीखने की प्रक्रिया में नये–नये अनुभव होते हैं जो कि सीखने की विशेषताओं को दर्शाते है। सीखने की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1– सीखना एक सामाजिक– मनौवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मानव के प्रयत्न एवं अनुभव से ही सीखना सम्भव होता है ।

2– सीखने का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यह उद्देश्य मानव को अपने सम्पूर्ण पर्यावरण में अनुकूलन स्थापित करने के लिए होता है।

3– सीखने की प्रक्रिया में मानव व्यवहार में परिवर्तन आता है, ये परिवर्तन स्थायी अथवा अस्थायी हो सकता है।

4– सीखने के दौरान व्यक्ति विभिन्न प्रकार की आदतों एवं व्यवहारों को संगठित करता है।

5– सीखने का सम्बन्ध परिपक्वता से है। परिपवक्ता के साथ–साथ सीखने की प्रक्रिया तेज हो जाती है।

6– सीखना सही और गलत, दोनों ही रूप में हो सकता है।

9.2.3 सीखने के कारक

सीखना निरन्तर चलने वाली एक जटिल प्राक्रेया है जिसमें अनेक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, शारीरिक तथा भौतिक कारकों का योग होता है। सामाजिक सीख की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक निम्न हैं–

(अ) मनोवैज्ञानिक कारक

सीखने की प्रक्रिया एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक कारक सम्मिलित होते हैं–

1– प्रणोदन

प्रणोदन एक प्रकार की उत्तेजना है जो व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। किम्बाल यंग के अनुसार 'प्रणोदन एक शक्तिशाली उत्तेजना है जो प्रतिक्रया को प्रेरित करती है। कोई भी उत्तेजना शक्तिशाली होने पर प्रणोदन हो सकती है अर्थात् जब कोइ भी इच्छा या उत्तेजना इतनी प्रबल हो सकती है कि वह व्यक्ति को किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित करती है तो ऐसी उत्तेजना को प्रणोदन कहते हैं।

2– संकेत–

संकेत यह निश्चित करते हैं कि व्यक्ति, कब, कहाँ और कैसी प्रतिक्रया करेगा। प्रणोदन के कारण अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया का चुनाव करेगा, इसका निर्देशन संकेत द्वारा ही प्राप्त होता है।

प्रणोदन और संकेत दोनों का जन्म उत्तेजनाओं से होता है। दोनों में काफी समानताएं हैं संकेत ही हमें समय एवं परिस्थिति के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार को करने का निर्देश देते हैं। सीखने के लिए यह आवश्यक है कि मानव अपनी प्रतिक्रया को विशेष ढंग से व्यक्त करे तथा उनका समुचित निर्देशन करें। इसके अभाव में सीखने का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता है। संकेत के द्वारा सीखने का ही कार्य किया जाता है।

3– प्रतिक्रया–

प्रणोदन एवं संकेत के कारण व्यक्ति जो व्यवहार या क्रिया करता है उसे ही प्रतिक्रिया कहते हैं। इसका अर्थ है कि प्रतिक्रिया सदैव ही प्रणोदन एवं संकेत के सन्दर्भ में व्यक्ति की जाती है। व्यक्ति कितना सीखेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रतिक्रिया को कितनी सरलता के साथ किया जाता है। प्रतिक्रिया एवं सीखने में धनिष्ठ सम्बन्ध है।सीखने की सफलता सही प्रतिक्रिया व्यक्त करने पर निर्भर करती है।

4– प्रबलीकरण एवं पुष्टीकरण

किसी चीज को सीखने के लिए व्यवहार को बार–बार दोहराया जाता है, इससे यही व्यवहार स्थिर हो जाता है। इसे ही पुष्टीकरण कहते हैं।

5– सामान्यीकरण तथा विभेदीकरण–

किसी भी व्यवहार को सीखने में सामान्यीकरण एवं विभेदन करने की क्षमता महत्वपूर्ण होती है। यह सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाती है।

6– सुगमता

मानव उन व्यवहारों को शीघ्र सीख लेता है, जो उसे सरल एवं लाभदायक लगते हैं। वैयक्तिक भिन्नता के कारण लाभ–हानि हर व्यक्ति के लिए अलग–अलग होते हैं।

7– प्रत्याशा

पूर्व ज्ञान के आधार पर क्रिया करने से पहले ही जो प्रतिक्रिया जागृत हो जाती है, उसे ही प्रत्याशा कहते हैं। प्रत्याशा हमें विशेष प्रकार के व्यवहार को करने के लिए प्रेरित करती है, जो सीखने में सहायक है ।

(ब) शारीरिक कारक

सीखने की प्रक्रिया में शारीरिक कारकों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है, जो निम्नलिखित हैं–

1. अन्तःस्त्रावीग्रन्थियाँ

अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ हमारी शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले रस की मात्रा कम या ज्यादा होने पर शारीरिक क्रियाएं प्रभावित होती हैं, जो सीखने की क्रिया को प्रभावित करती है, ये ग्रन्थियाँ मानव का शारीरिक एवं मानसिक विकास करती हैं।

2. केन्द्रीय स्नायु मण्डल

मानव मस्तिष्क के सीखने की क्षमता स्नायु मण्डल पर निर्भर करती हैं। स्नायु

मण्डल पर ही चिन्तन, अनुभव, याददाश्त एवं मानसिक क्रियाओं का संचालन निर्भर करता है। इन सबका सीखने से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

3. रोग

शारीरिक एवं मानसिक बीमारी की अवस्था में सीखने की क्रिया शिथिल हो जाती है।

4. आयु

आयु एवं सीखने का एक–दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सीखने के लिए परिपक्वता की आवश्यकता होती है जो आयु बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है।

5. लिंग भेद

कुछ कार्य पुरुष तथा कुछ कार्य स्त्रियाँ जल्दी सीख लेती हैं। यह कार्य के प्रकार तथा स्त्री एवं पुरुष के स्वभाव पर भी निर्भर करता है कि वे किस प्रकार के कार्य को शीघ्र सीख लेंगे।

6. थकान

थकान सीखने की क्रिया को प्रभावित करती है इससे एकाग्रता में कमी आती है एकाग्रता में कमी सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

7. नशीले पदार्थों का सेवन

नशीले पदार्थ जैसे–अफीम, भांग आदि के प्रयोग से शारीरिक एवं मानसिक शिथिलता आती है, जिसके फलस्वरूप सीखने की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

(स) भौतिक कारक

भौतिक कारकों का भी मानव के सीखने की प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ता है। शुद्ध हवा, पानी, तापमान, मौसम प्राकृतिक पर्यावरण आदि का मानव के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह कहा जाता है, कि पर्यावरण अप्रत्यक्ष रूप से सीखने की प्रक्रिया में शामिल है। हटिंगन ने जलवायु एवं सभ्यता के सम्बन्ध को बताते हुए कहा है कि अधिक गर्म एवं अधिक सर्दी वाला मौसम सीखने में बाधक होता है। मौसम स्वास्थ्य को प्रभावित करता है और स्वास्थ्य की स्थिति का सीखने की प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है।

(द) सामाजिक कारक

व्यक्ति जिस ाज में रहता है उस समाज की व्यवस्था से सम्बन्धित व्यवस्थायें व्यक्ति को सीखने के लिए प्रेरित करती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति

सीखता है। इसमें विभिन्न सामाजिक कारक हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) प्रशंसा एवं दण्ड

समाज में व्यक्ति के द्वारा किये गये अच्छे कार्यों के लिए उसको पुरस्कृत किया जाता है जो व्यक्ति को अच्छे व्यवहार एवं कार्यों को शीघ्र ही सीखने के लिये प्रेरित करता है। इसी प्रकार समाज में स्थापित मानकों के आचरण के विपरीत आचरण करने पर व्यक्ति की निन्दा होती है और सम्भवतः दण्ड के प्रावधान भी होते हैं, जिससे व्यक्ति गलत कार्यों और व्यवहारों से बचता है। समाज में प्रशंसा एवं दण्ड सीखने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं।

(2) अनुकरण

अनुकरण के अन्तर्गत हम अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक गुणों को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में हस्तान्तरित करते हैं। अनुकरण में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार एवं गुणों को सीखता है। अनुकरण सीखने की प्रक्रिया को सरल बना देता है। इसमें गलतियाँ होने की सम्भावना कम रहती है, बच्चा माता–पिता के व्यवहारों से ही सीख कर अपने व्यवहार को निर्धारित करता है।

(3) सुझाव,

सुझाव सीखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मेक्डूगल के अुनसार सुझाव संवहन की एक प्रक्रिया है, जिसमें किसी व्यक्ति के द्वारा दिया गया सुझाव बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। जब किसी वृद्ध, लोकप्रिय व्यक्ति, आदर्श एवं महान लोगों के द्वारा सुझाव दिये जाते है, तो सीखने वाला उनको शीघ्र ही स्वीकार कर लेता है। सुझाव व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से दिये जाते हैं। जब व्यक्ति निर्णय करने की स्थिति में नहीं होता है तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति सुझावों का अनुसरण करता है।

(4) प्रतिस्पर्धा

सीखने का एक माध्यम प्रतिस्पर्धा भी है। प्रतिस्पर्धा में सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति कठिन परिश्रम करता है और इस दौरान वह कई बातों को सीखता है। व्यक्ति जीवन में किसी भी स्तर पर जब स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का सामना करता है, तो उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए अपनी क्षमताओं का प्रयोग करता है। यह स्थिति उसे सीखने की ओर अग्रसर करती है।

(6) सांस्कृतिक कारक

प्रत्येक व्यक्ति के समाजीकरण में उसके सांस्कृतिक गुणों की अहम् भूमिका होती है। विभिन्न सास्कृतिक स्वरूप जैसे– भाषा, धर्म, रीति–रिवाज, प्रथाएं एवं भौतिकता का सीखने की प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति समाज में समायोजन स्थापित करता है और उसका ज्ञान, कौशल एवं व्यवहार परिष्कृत होता जाता है। यह सब सीखन की प्रक्रिया पर निर्भर करता है।

उपरोक्त के आधार पर हम कह सकते हैं, कि सीखना एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें भौतिक एवं सामाजिक कारकों का योग होता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तरों का मिलान पाठ्य सामग्री से कीजिए।

1. सीखने का अर्थ लिखिए।

.....

.....

2. सीखने की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

अभ्यास 1

सीखने के कारकों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

9.2.4 सीखने के नियम एवं सिद्धान्त–

सीखने के नियमों की रचना थार्नडाइक ने की है। सीखने के इन नियमों की उत्पत्ति प्रयोग विधि द्वारा हुआ। इनमें तीन प्रमुख नियमों का समावेष होता है। (1) अभ्यास का नियम (2) प्रयास का नियम एवं (3) तत्परता का नियम।

(1) **अभ्यास का नियम**– इसकी प्रमुख दो भागों में विभक्त किया गया

(अ) उपयोग का (ब) अनुपयोग का नियम।

(अ) उपयोग का नियम–

ज्ञात स्थिति और प्रतिक्रया में परिवर्तनात्मक सम्बन्ध बना दिया जायें और अन्य दषायें समान रहने पर इस सम्बन्ध की शक्ति बढ़ जाती है।

(ब) अनुपयोग का नियम–

जब एक लम्बी अवधि तक स्थिति और प्रतिक्रिया में परिवर्तनात्मक सम्बन्ध नहीं बनाया जाता है तो सम्बन्ध शक्ति क्षीण हो जाती है ।

संक्षेप में हम कह सकते है कि यदि शेष बातें वैसी ही रहती हैं तो अभ्यास द्वारा शक्ति बढ़ जाती है और अभ्यास की कमी स्थिति और प्रतिक्रियाओं में एक साथ कार्य करते है। हम स्वतंत्रता से आनंद मिलने वाली क्रियाओं को दोहराते हैं तथा दुःख मिलने वाली क्रियाओं को छोड़ते जाते हैं अभ्यास के द्वारा एक विषय को दृढ़ करते हैं तथा अभ्यास की कमी से विषय की स्मृति कमजोर हो जाती है। अनाभ्यास का समय जितना अधिक होगा स्मृति में उतनी ही अधिक हानि होगी। मानवीय मस्तिष्क बार–बार प्रयोग में आने वाली वस्तुओं को धारण कर लेता है। वह शब्द जिन्हें हम बहुधा लिखते है बहुत ही कम अवस्थाओं में गलत होते हैं तथा लिखने तथा वार्तालाप में कम आने वाले शब्दों को अधिक भूलते हैं। उपयोग और अनुपयोग के दो रूप सिखने तथा भूलने के समानान्तर चलते हैं। उपयोग से धारण करते हैं तथा अनुपयोग से भूलते हैं। जिसका हम अभ्यास नहीं करते वह बिना सीखा रह जाता है।

(2) प्रयास का नियम–

इस नियम के अन्तर्गत जब परिणाम सुखप्रद या संतोषप्रद होते हैं तो हम उस प्रतिक्रिया को बार–बार दोंहराते हैं। संतोषप्रद परिणाम शक्ति वर्धक होते हैं और कष्टकारक स्थिति तथा प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को निर्बल बना देते हैं। संवेगात्मक स्थिति सीखने के अनुभव में शमिल होती है। सफलता और विफलता निश्चित सीमा तक सीखने की प्रक्रिया को प्रमाणित करती है।

(3) तत्परता का नियम–

इस नियम के अनुसार जब व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिये तैयार होता है तो वह प्रक्रिया उसे सुख पहुँचाती है पर इसके विपरीत दशा होने पर मानसिक कष्ट होता है। जब व्यक्ति सीखने को तैयार नहीं होता है तो दुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार उसे संतोष और असंतोष मिलता रहता है। जब व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिये तैयार होता है तो उसे शीघ्र सीखता है और संतोष भी अधिक मात्रा में मिलता है। अपेक्षाकृत जब सीखने को तैयार नहीं होता है। किसी समस्या के सम्बन्ध में तत्परता उसकी समाधान करने की इच्छा के समान है।

इस प्रकार अभ्यास का निमय, प्रभाव का नियम तथा तत्परता का नियम अलग अलग न होकर एक दूसरे पर आधारित हैं। साथ–ही साथ एक दूसरे से सम्बन्धित भी हैं। अभ्यास पर तत्परता और संवेगात्मक तनाव अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। फलस्वरूप अभ्यास के संवेगात्मक, प्रभाव दूसरे व्यक्ति में तत्परता निश्चित करते हैं।

9.3 सार संक्षेप

प्रस्तुत इकाई में सीखना क्या है, तथा सीखने की परिभाषाओं के बारे में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य में कुछ जन्मजात संस्करण तथा प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो उसकी प्राथमिक प्रतिक्रिया को निर्धारित करते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के द्वारा व्यक्ति अपने को वाह्य जगत या समाज के अनुकूल बनाने का प्रयास कर स्वयं को जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में परिवर्तित करता है। इसके लिए व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण की उन सभी प्रतिक्रियाओं को बार–बार अभ्यास के द्वारा सीखने का प्रयास करता है तो वातावरण के लिए उपयुक्त होती है। अतः इस प्रकार वातावरण के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया को ग्रहण करने की प्रक्रिया को सीखना कहते हैं।

अतः सीखना व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन से शुरू होकर जीवन के अंत तक चलती रहती है। प्रस्तुत इकाई में सीखने के सभी तथ्यों को समाहित किया गया है। इसी इकाई में सीखने के विभिन्न विशेषताओं तथा कारकों के बारे में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सीखने के कारकों में मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, भौतिक और सामाजिक कारकों के बारे में अलग–अलग विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी इकाई के अन्त में सीखने के नियम व सिद्धान्तों के बारे में प्रकाश डाला गया है जिसमें बताया गया है कि वे कौन से नियम व सिद्धान्त हैं जो सीखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

9.4 पारिभाषिक शब्दावली

सीखना– सीखने का अभिप्राय किसी निश्चित परिस्थिति में समस्या के समाधान के हेतु व्यवहार में स्थायी अथवा अस्थायी परिवर्तन होता है।

सीखने के मनोवैज्ञानिक कारक– सीखने के मनोवैज्ञानिक कारकों से तात्पर्य, प्रणोदन, संकेत प्रतिक्रिया, प्रबलीकरण एवं पुष्टीकरण, सामान्यीकरण तथा विभेदीकरण, सुगमता तथा प्रत्याशा इत्यादि के बारे में जानकारी से है।

सीखने के शारीरिक कारक– सीखने के शारीरिक कारकों से तात्पर्य, अन्तःस्त्रावी ग्रंथियां, केन्द्रीय स्नायु मण्डल, रोग, आयु, लिंग–भेद, थकान तथा नशीले पदार्थों के सेवन इत्यादि से है।

सीखने के भौतिक कारक– सीखने के भौतिक कारकों का तात्पर्य, शुद्ध हवा, पानी, तापमान, मौसम, प्राकृतिक पर्यावरण से है।

सीखने के सामाजिक कारक– सीखने के सामाजिक कारकों से अर्थ, प्रशंसा एवं दण्ड, अनुकरण, सुझाव, प्रतिस्पर्धा, सहयोग तथा सांस्कृतिक कारकों से है।

अभ्यास–प्रश्न

लघु

(1) सीखने का अर्थ स्पष्ट कीजिए?

(2) सीखने की परिभाषा लिखिए?

(3) सीखने की विशेषताओं के बारे में बताइये?

(4) सीखने के कितने नियम है?

(5) सीखने के किसी एक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए?

(6) सीखने के भौतिक कारक से आप क्या समझते?

विस्तृत :

(1) सीखने की अवधारणा देते हुए सीखने के विभिन्न कारकों का वर्णन कीजिए।

(2) सीखना क्या है? सीखने के विभिन्न नियमों व सिद्धान्तों के बारे में लिखिए।

9.5 संदर्भ ग्रंथ सूची

1– मोरर, ओ.एच.इड, लर्निंग थियरी एण्ड पर्सनॉल्टी डायनामिक्स, रोनाल्ड प्रेस, न्यूयार्क, 1950 ।

2– मिश्र, डा0 प्रयागदीन, सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष 1997, पेज, 673– 674 ।

3– सिंह, डी.के. एवं अन्य, मानव समाज संगठन एवं विघटन के मूल तत्व, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, वर्ष 2010, पेज 112–117 ।

इकाई 10 : पूर्वाग्रह (Prejudice)

विषय वस्तु –

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 पूर्वाग्रह का अर्थ

10.4 पूर्वाग्रह की विशेषतायें

10.5 पूर्वाग्रह के स्रोत

10.6 पूर्वाग्रह के परिणाम

10.7 पूर्वाग्रह को कम करने की विधियाँ

10.8 सारांश

10.9 शब्दावली

10.10 सन्दर्भ पुस्तकें

10.11 आदर्श अभ्यास कार्य

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय में पूर्वाग्रह के विषय में चर्चा की जा रही है। पूर्वाग्रह किस प्रकार से व्यक्ति की सोच और उसके व्यवहार को प्रभावित करता है इस विषय पर मनोविज्ञान में विस्तारित चर्चा किये गये तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। इस यूनिट का अध्ययन करने के बाद निम्न बातों को समझा जा सकता है।

1. पूर्वाग्रह की प्रकृति और स्वरूप के बारे में समझ।
2. पूर्वाग्रह के पैदा होने के कारणों का ज्ञान।
3. पूर्वाग्रह से उत्पन्न अभिवृत्तियों और मानव व्यवहारों का अध्ययन।
4. पूर्वाग्रह को रोकने की विधियों का ज्ञान।

10.2 प्रस्तावना

व्यक्ति का जीवन समूह द्वारा संचालित होता है। समूह में ही व्यक्ति का समाजीकरण तथा व्यक्तित्व का विकास होता है। उसमें सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं और लोकाचारों का आत्मीकरण भी समूह में होता है। व्यक्ति समूह द्वारा ही सामाजिक

प्राणी बनता है। उसमें समूह के प्रति निष्ठा, सम्मान, विश्वास, प्रेम और समूह के अन्य लोगों के प्रति सहयोग, सहचारिता और सम्बन्ध जैसे महत्वपूर्ण सकारात्मक गुण परिलक्षित होते हैं। यह सभी गुण व्यक्ति के समूह से तदात्मीकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं। उपरोक्त को पढ़कर ऐसा लगता है कि समूह व्यक्ति में सिर्फ सकारात्मक सद्गुणों का ही विकास करता है, परन्तु यह सच नहीं है। समाज में स्तरीकरण एवं विभेदीकरण के परिणामस्वरूप सभी सदस्य समूह में एक समानता नहीं होती है। समाज में समूहों के बीच प्रस्थिति, धर्म, जाति, अर्थ, भाषा और संस्कृति के कारण काफी भेद रहते हैं। इन्हीं भेदों के कारण समूह अपने सदस्यों में न केवल सद्गुण को पैदा करते हैं बल्कि अन्य समूहों के सदस्यों के प्रति द्वेश, ईर्ष्या, ग्लानि और पूर्वाग्रह को भी अपने सदस्यों को आत्मसात करने के लिये भी दबाव डालता है। जैसे भारतीय समाज में जाति के आधार पर बने समूह अपने सदस्यों का अन्य जाति के लोगों से श्रेष्ठ तथा उनसे भेदभाव करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। यह एक पूर्वाग्रह का सामान्य उदाहरण है। पूर्वाग्रह समाज की एकता एवं स्थिरता के लिये खतरे के साथ–साथ व्यक्तित्व विघटन और रूढ़ियुक्ति के लिये जिम्मेदार होता है। सामाजिक मनोविज्ञान में पूर्वाग्रह, रूढ़ियुक्ति (Stereo type) और भेद–भाव (Discrimination) का अध्ययन एक दूसरे से जोड़कर सामाजिक अभिवृत्ति, सामाजिक अभिप्रेरणा तथा सामाजिक व्यवहार को समझने के लिये किया जाता है।

10.3 पूर्वाग्रह (Prejudice) का अर्थ

पूर्वाग्रह शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द प्रेजुडिसियम (Prijudicium) से हुयी है। जिसका अर्थ अपेक्षित तथ्यों का परीक्षण किये बिना किसी निर्णय पर पहुंच जाना, जो कि तर्क संगत न होकर पूर्व निश्चय पर आधारित होता है। इस प्रकार से देखें तो पूर्वाग्रह एक अपरिपक्व निर्णय से सम्बन्धित हैं। जैसा कि ब्रिट (1950) ने कहा है। पूर्वाग्रह का वास्तविक अर्थ अपरिपक्व अथवा पक्षपात पूर्ण मत है (The word Prejudice actually means a premature or biased opinion)।

न्यूकोम्ब (1950) ने पूर्वाग्रह को एक प्रतिकूल अभिवृत्ति (Attitude) बताया है। जो कि दूसरे व्यक्ति या समूह के पक्ष में न होकर उसके विरोधी और विपरीत होती है। शेरिफ और शेरिफ (1969) ने भी पूर्वाग्रह को समूह के सदस्यों की नकारात्मक अभिवृत्ति माना है, जो इस समूह के मानदण्डों से ही निष्कर्ष स्वरूप निकलती है। यह दूसरे समूह या उसके सदस्यों के प्रति होती है। (Group Prejudices may be defined as the negative

attitudes of group members from their established norms/towards another group and its members)।

मायर्स (2005) ने पूर्वाग्रह को परिभाषित करते हुये कहा है कि यह किसी समूह या उसके सदस्यों के प्रति एक नकारात्मक पूर्व निर्णय है। (Prejudices is a negative prejudgment of a group and its individual members) बैरोन, ब्रायन और ब्रान्सकालन (2008) का मानना है कि पूर्वाग्रह अभिवृत्ति का भावनात्मक भाग जो सामाजिक समूहों की ओर होता है। (Prejuces is the feeling component of attitude towards social group)। अर्थात् पूर्वाग्रह किसी व्यक्ति के प्रति वह नकारात्मक भावनायें है जो उसकी समूह सदस्यता के कारण पैदा होती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वाग्रह एक समूह या उसके सदस्यों की वे नकारात्मक भावनाए या अभिवृत्ति है जो अपरिपक्व और विरोधी होती है और जिनका लक्ष्य अन्य सामाजिक समूह के सदस्य होते हैं। पूर्वाग्रह का सम्बन्ध । व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों से न हो कर उसकी समूह की सदस्यता से होता है। इसलिये पूर्वाग्रह व्यक्ति आधारित नहीं होता है। जैसे अमेरिका के गोरे लोग अफ्रीकी मूल के काले लोगों को हेय दृष्टि से देखते हैं, उन्हें कम बुद्धिमान और योग्य मानते हैं। इस तरह की धारणा में पूर्वाग्रह साफ दिखता है।

10.4 पूर्व धारणाओं की विशेषतायें (characteristics of Prejudice)

1. बी कुप्पुस्वामी (1975) ने पूर्वाग्रह के लक्षण पर विचार प्रकट करते हुये कहा कि **यह निराधार निर्णय पर आधारित** होता है। अर्थात् व्यक्ति के ऐसे मत जिनका कोई वास्तविक आधार नहीं होता है और न ही व्यक्तिगत अनुभव से उत्पन्न होते हैं, बल्कि ऐसे मत समूह द्वारा बनाये गये मापदण्डों के निष्कर्षों से उत्पन्न होते है और बचपन से ही व्यक्ति की सोच में डाल दिये जाते हैं। जैसे ब्राह्मण बालक को लगातार यह बताया जाता है कि निम्न जाति के लोगों के घर नहीं जाना है, उनके यहाँ नहीं खाना है या उनके साथ–साथ नहीं खेलना है, क्योंकि वे गन्दे होते हैं या अर्स्पृश्य होते हैं।

2. **पूर्वाग्रह में दूसरे समूह के प्रति प्रतिकूल अभिवृत्ति भी निहित रहती है (कुप्पूस्वामी, 1972)**। पूर्वाग्रह में केवल स्थिररूप (Stereotype) मत ही नही होता है बल्कि साथ ही साथ अन्य समूह के सदस्यों के प्रति विरोधी भाव और नकारात्मक अभिवृत्ति भी होती है। व्यक्ति की यह नकारात्मक अभिवृत्ति अन्य समूह के सदस्यों के साथ व्यवहार करने में साफ दिखायी पड़ती है। जैसे कि एक हिन्दू का एक मुसलमान

के साथ बैठकर भोजन न करना। या मुसलमान व्यक्ति द्वारा हिन्दुओं पर अविष्वास रखनाँ आदि। इन उदाहरणों में नकारात्मक अभिवृत्ति स्पष्ट दिख रही है। चाहे वह एक साथ भोजन न करना या दूसरे पर विष्वास न जताना।

3. पूर्वाग्रह व्यक्ति समूह में सीखता है यह जन्मजात नहीं होता है, क्योंकि **समूह व्यक्तियों को पूर्वाग्रही बनाता है (कुप्पूस्वामी, 1972)।** समूह अपने सदस्यों के लिये मापदण्डों, रीतियों मूल्यों एवं मान्यताओं का निर्माण करता है तथा यह अपेक्षा रखता है कि समूह के सदस्य इन्हें ग्रहण करें। समाजीकरण द्वारा ये सभी चीजें व्यक्ति को सिखायी जाती हैं। इस सिखाने की प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने समूह के बारे अच्छी–अच्छी बातें बतायी जाती हैं, ताकि उन्हें अपने समूह पर गर्व हो तथा स्वजातीय उत्कृष्टता (Enthnocentric) की भावना पैदा हो। इसके साथ–साथ उनमें अन्य समूह के सदस्यों के बारे में गलत एवं अपरिपक्व जानकारी दी जाती है। जैसे कि उच्च जातीय के बच्चों को बताया जाता है कि निम्न जाति के लोग गन्दे होते है, वे नहाते नहीं हैं, और उनके पास से बदबू आती है, इत्यादि।

4. **पूर्वाग्रही मतों में बदलाव कम होते हैं तथा अतिजीविता तथा सुदृढ़ीकरण ज्यादा होता है।** जैसे कि उच्च जाति वाले व्यक्ति के सामने एक पढ़ा–लिखा साफ सुथरे कपड़े पहने हुये एक निम्न जाति का युवक जो कि पेशे से वैज्ञानिक है, आता है तो पूर्वाग्रही व्यक्ति के मन में निम्न जाति के प्रति जो विचार होते है तो वह बदल नहीं जाते हैं। अपितु पूर्वाग्रही व्यक्ति अपने मतों का पुनर्बचाव करते हुये इसे अपवाद मान लेता है। जब कभी उसकी भेट ऐसे निम्न जाति के व्यक्ति से होती है जो गरीब है, गन्दे कपड़े पहना हुआ है और अषिक्षित है तो ऐसी स्थिति में पूर्वाग्रही व्यक्ति में पूर्वधारणायें और दृढ़ हो जाती हैं।

10.5 पूर्वाग्रह के स्रोत (Source of Prejudices)

पूर्वाग्रह का निर्माण कैसे होता है? पूर्वाग्रह का स्रोत क्या है? या पूर्वाग्रह का विकास किस प्रकार से होता है? इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जो पूर्वाग्रह के अध्ययन के दौरान उत्पन्न होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इसकी उत्पत्ति, विकास और कारकों पर कई विचार दिये है। इसका उपयोग हम पूर्वाग्रह को सम्पूर्णता (Totality) में समझने के लिये करते हैं। जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ में ही पूर्वाग्रह की उत्पत्ति में समूह के योगदान की चर्चा की गयी है। क्या सिर्फ समूह ही पूर्वाग्रह के लिये दोषी है। ऐसा मानना त्रुटियुक्त होगा। समूह के अन्दर ऐसी कई सारी सामाजिक प्रक्रिया और प्रघटनायें होती रहती है जो पूर्वाग्रह को सदस्यों में उत्पन्न करने के लिये दोषी होती हैं। इसलिये पूर्वाग्रह के कारकों

और स्रोतों का पता लगाना काफी जटिल कार्य है। डेविड जी0 मेयर्स (2005) ने पूर्वाग्रह के विकास को समझाने के लिये तीन मुख्य स्रोतों का सहारा लिया।

1. सामाजिक स्रोत (Social Source)
2. प्रेरणात्मक स्रोत (Motivational Source)
3. संज्ञानात्मक स्रोत (Cognitive Source)

10.5.1 सामाजिक स्रोत (Sociological Source)

सामाजिक स्रोत पूर्वाग्रह के निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से सहायक है। सामाजिक व्यवस्था (Social System) का निर्माण समाज को विकासशील गतिशील नियन्त्रित और सुदृढ़ करने के लिये हुआ है। पर जब इस सामाजिक व्यवस्था में दोष उत्पन्न हो जाये तो यही व्यवस्था उपरोक्त उद्देश्यों के विपरीत काम करने लगती है। दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में समूहों की सामाजिक प्रस्थिति, भूमिका और संसाधनों पर नियन्त्रण में काफी अन्तर दिखने लगता है। साथ-ही साथ सामाजिक प्रक्रियायें इस अन्तर को और बढ़ा देती हैं।

इस दृष्टि से देखें तो पूर्वाग्रह के निर्माण में सबसे बड़ा सहायक कारक **सामाजिक असमानता तथा सामाजिक अन्तर** है। जैसा कि शेरिफ (1953) ने भी माना है कि सामाजिक अन्तर तब बहुत ज्यादा होता है। जब समूह–समूह के सम्बन्ध ा अमैत्रीपूर्ण या विरोधी होते हैं। जब अमैत्रीपूर्ण परस्पर क्रिया बहुत लम्बी अवधि तक चलती रहती है तो यह सामाजिक अन्तर, समूह के प्रतिमान का रूप ले लेती है। जब सामाजिक समूहों में प्रस्थिति, भूमिका, सहभागिता संसाधन या नियन्त्रण तथा शक्ति के स्तर में असमानता होती है तो समूहों में संघर्ष, तनाव और अमैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पैदा हो जाते हैं। समूह के सदस्य दूसरे समूह के लोगों को शत्रु के रूप में देखने लगते हैं क्योंकि उन्हें दूसरे समूहों से खतरा महसूस होता है। यह भय और शत्रुता सामूहिक प्रतिमानों के माध्यम से समूह के सदस्य के मन में बैठ जाती है। जैसे भारतीय समुदाय में जाति व्यवस्था के कारण सामाजिक समूहों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। इस व्यवस्था से कुछ जातियों समाज में उच्च प्रस्थिति और शक्ति लिये हुये हैं तो वहीं कई जाति समूह समाज में निम्न प्रस्थिति, शक्तिहीन और कम संसाधनों पर नियन्त्रण प्राप्त है। जब निम्न जाति समाज में उच्च प्रस्थिति औा संसाधनों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये उच्च जाति को चुनौती देती है तो उच्च

जाति समूह भयभीत हो जाता हैं और निम्न जाति के प्रति शत्रुता को बढ़ा देता है। सदस्यों में निम्न जाति समूह के प्रति शत्रुता को बढ़ा देता है। सदस्यों में निम्न जाति समूह के प्रति क्रोध, भय और ईर्ष्या की भावना पैदा हो जाती है। यही नकारात्मक भावना पूर्वाग्रह का रूप धारण कर लेती है।

मैकी और स्मिथ (2002) ने पूर्वाग्रह से जुड़े नकारात्मक संवेगों पर चर्चा करते हुये बताया है कि सभी प्रकार के पूर्वाग्रह में कोई एक संवेग नहीं होता है, बल्कि विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रह में अलग–अलग संवेग मुख्य भूमिका में होते हैं, जिनमें भय, क्रोध, ईर्ष्या, दोष और घृणा की भावनाओं का सम्बन्ध पूर्वाग्रह से सबसे ज्यादा होता है। लोग भंगियों से नफरत करते है, उनके मन भंगियों के लिये पूर्वाग्रह होता है कि वे गन्दे होते हैं। इस पूर्वाग्रह में घृणा की भावना मुख्य है। इसलिये पूर्वाग्रह के विकास में नकारात्मक भावनाओं का बढ़ना इसके लिये महत्वपूर्ण है।

समाजीकरण (Socialization) एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया जिसके माध्यम से समूह के सदस्य आचार, व्यवहार, मूल्य, रीति–रिवाज और अनुरूप सामाजिक आचरण इत्यादि को सीखता है और आत्मसात करता है। यह प्रक्रिया सामाजिक नियन्त्रण तथा सदस्यों के समूह से सम्बन्ध को मजबूत करता है। हर समाज में व्यक्ति का समाजीकरण बचपन से उसके समूह में प्रारम्भ हो जाता है। उसे क्या करना है, क्या खाना है, क्या और कैसे बोलना है कैसा आचरण करता आदि के साथ–साथ उसे क्या नहीं करना है वह भी सिखाया जाता है। समाजीकरण में बालकों के अन्दर अच्छी बातों के साथ–साथ ऐसी कई गलत बातों को भी बताया जाता है जो बालक ने कभी भी अनुभव नहीं की होती है। जैसे की दक्षिण अफ्रीका में श्वेत बच्चों का निग्रो या अफ्रीकन मूल के बच्चों के साथ उचित अन्तर न बरतने पर दण्ड मिलता था (होरोबिट्ज एण्ड होरोबिट्ज, 1938) श्वेत बच्चों में इस प्रकार अन्तर बरतनें के कोई स्वाभाविक कारण नही समझ में आते थे, किन्तु उन्हें ऐसा करने के लिये कहा जाता था। इसी प्रकार भारत में बचपन से बच्चों को कैसे रहना है, किनके साथ खेलना है, किनसे दूरी बनानी है और क्यों बनानी है आदि के बारे में हमेषा बताया जाता है। जातिगत समूह समाजीकरण के माध्यम से अपने समूह के सदस्य में अन्य समूह के प्रति एक प्रकार के स्थिर रूप में पैदा कर देते हैं जिसमें नकारात्मक भावना भी जुड़ी होती हैं। अतः हम कह सकते है कि समाजीकरण एक महत्वपूर्ण सामाजिक स्रोत है जो पूर्वाग्रह को उत्पन्न करने में तथा उसके विकास में योगदान देता है।

सामाजिक प्रभुत्व (Social Domination) स्थापित करने की प्रवृत्ति सामाजिक समूहों में होती है। ऐसा करने के लिये समूह अधिकारों, शक्तियों को बढ़ाकर दूसरे समूहों

पर नियन्त्रण करने की कोशिश करते हैं। समूह अपने प्रभाव को बनाने और बढ़ाने के लिये अन्य समूह के सदस्यों को निशाना बनाते हैं। वे अन्य समूह के सदस्यों के बारे में गलत अफवाहें फैलाते हैं, जिससे लोग दूसरे समूह के सदस्यों से नफरत करें। इस प्रकार के कृत का प्रयोग लोग सत्ता प्राप्त करने या अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये करते हैं। जैसे नात्जियों ने जर्मनी में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यहूदी वर्ग के लोगों के बारे में गलत अफवाहें फैलाई और उन्हें जर्मन लोगों की हिंसा का निशाना बनना पड़ा। इसी प्रकार की गतिविधियों का सहारा एक समूह दूसरे समूह के ऊपर प्रभुत्व तथा नियन्त्रण बनाने के लिये करता है।

10.5.2 प्रेरणात्मक स्रोत (Motivational Source)

पूर्वाग्रह को पोषित तो सामाजिक स्रोत करता है पर व्यक्ति के पूर्वाग्रही बने रहने, नकारात्मक व्यवहार प्रदर्षित करने तथा उसके आक्रामक अभिवृत्ति के पीछे प्रेरणात्मक कारक भी जरूर कार्य करते हैं। एक समूह के सदस्यों में एक समान तीव्रता वाला पूर्वाग्रह नही होता है बल्कि व्यक्ति कितना दृढ़ पूर्वाग्रही है यह निर्भर उसके संवेगों, सोच समूह से उसके सम्बन्ध, सामाजिक पहचान तथा प्रस्थिति की इच्छा आदि पर निर्भर करता है। प्रेरणात्मक शक्तियाँ पूर्वाग्रह को कम करने का भी काम करती है। यहाँ पर उन कारकों की बात की जा रही है जिसकी वजह से व्यक्ति में अन्य समूह के लिये पूर्वाग्रह की धारणा और सशक्त हो जाती है।

दर्द और कुण्ठा कई बार व्यक्ति में आक्रामकता और विरोधी व्यवहार करने को प्रेरित करती है जब व्यक्ति का कोई काम किसी कारण से नहीं सफल हो पाता है तो वह कुण्ठा और दोष भावना से बचने के लिये अपनी असफलता का दोष उन लोगों पर थोप देता है जिनसे वह पूर्वाग्रही रहता है। इस प्रकार की कुण्ठा (Frustation) तब पैदा होती है जब दो समूहों में किसी संसाधन को प्राप्त करने, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सर्वोच्चता को प्राप्त करने की प्रतियोगिता में सम्मिलित होते हैं। इसमें एक समूह की जीत दूसरे के लिये कुण्ठा का विषय हो जाती है। यही बात **समूह संघर्ष सिद्धान्त (Group Conflict theory)** भी मानती है। उदाहरण के लिये हम लोगों ने सुना और देखा भी है विदेशों मे रह रहे प्रवासी भारतीयों पर स्थानीय लोग द्वारा हमला किया गया। इन हमलों की कई वजहों मे से प्रमुख वजह यह भी थी कि कुछ स्थानीय लोग प्रवासीय भारतीय की व्यवसायिक सफलता से कुण्ठित थे।

हम सभी समूह में जीते हैं और हमारी पहचान भी समूह के जुड़ाव से होती है जैसे हम हिन्दू है या हम पुरुष है या हम लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्यार्थी है

हम उत्तर प्रदेश के रहने वाले है आदि। हमारी पहचान में सिर्फ हमारे व्यक्तिगत गुणों एवं विशेषकों और अभिवृत्ति का ही योगदान नहीं होता है बल्कि इसके साथ ही हमारी नजदीकी, सदस्यता और झुकाव किस समूह से है यह भी हमारी पहचान (Social identify) को बनाने के लिये जरूरी है। हम कौन है? क्या हैं? आदि की आत्म (Self) की अवधारणा के लिये सामाजिक पहचान आवश्यक होती है। समूह सदस्यता की भावना से व्यक्ति के आत्म प्रत्यय (Self concept) को बल मिलता है। समूह से जुड़ी अच्छी बातों से व्यक्ति का आत्म सम्मान (Self Esteam) बढ़ता है और 'हम' की भावना का विकास होता है। जब हमारे कॉलेज के विद्यार्थी किसी प्रतियोगिता में सफल होते हैं तो हम भी गौरवान्वित महसूस करते हैं। इससे व्यक्ति के आत्म सम्मान में वृद्धि होती है। पर कई बार हम लोग अपनी सर्वोच्चता साबित करने के लिये अन्य समूहों को नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। इससे भी व्यक्ति आत्म सम्मान की अनुभूति प्राप्त करता है। इसके लिये व्यक्ति अपने समूह का मूल्यांकन अच्छे रूप में करता है। ताकि वह भी अच्छा साबित हो सके **(J.C. Turner, 1984)**। जब व्यक्ति अन्तः समूह (in group) जिसका वह सदस्य होता है, को अच्छा साबित करने की कोशिश में वाह्य समूह (out group) जिसका वह सदस्य नहीं होता है, बुरा बताने की कोशिश करता है, तो इस प्रकार पूर्वाग्रह का निर्माण होता हैं।

आज के प्रतियोगी युग में व्यक्ति प्रस्थिति, सम्मान, पहचान, समूह द्वारा स्वीकारे जाने की इच्छा, धन, शक्ति और प्रसिद्धी प्राप्त करने के लिये संघर्ष करता नजर आता है। उपरोक्त को पाने के लिये व्यक्ति में एक प्रेरणा का स्तर भी ऊँचा होना चाहिये ताकि उसे प्रतियोगिता में सफलता मिलने की सम्भावना बढ़ सके। इस प्रकार की सम्प्रेरणा व्यक्ति की दृढ़ इच्छा, आत्म विष्वास तथा अपने प्रयासों से मिलती है, किन्तु जब व्यक्ति को लगता है कि उसकी सफलता में अन्य लोग बाधक बन सकते हैं तो व्यक्ति में उनके प्रति ईर्ष्या पैदा हो जाती है। वह अन्य समूह के सदस्यों से उत्कृष्ट दिखने के लिये इसी ईर्ष्या को पूर्वाग्रह में बदल देता है जब भारत और पाकिस्तान किसी भी खेल में आमने–सामने होते हैं तो उसका रोमांच अन्य टीमों के साथ हो रहे खेल से अलग होता है, क्योंकि दोनों ही देश अपनी सर्वोच्चता साबित करना चाहते हैं। दोनों देश के खिलाड़ियों में अलग प्रकार की प्रेरणा का स्तर दिखायी पड़ती है जिसमें बदला लेने, नीचा दिखाने, क्रोध, ईर्ष्या, कुण्ठा आदि नकारात्मक संवेग खिलाड़ियों के अभिवृत्ति में दिखायी देते हैं, खेल महज प्रतियोगिता न होकर दोनों के लिये प्रतिष्ठा और सम्मान का विषय बन जाता है। हम यहाँ दोनों देशों के खिलाड़ियों में पूर्वाग्रह को देख सकते हैं जिनमें एक दूसरे के प्रति सम्मान कम, ईर्ष्या और क्रोध अधिक होता हैं।

10.5.3 संज्ञानात्मक स्रोत (Cognitive Source)

पूर्वाग्रह को समझने के लिये मस्तिष्क के संज्ञानात्मक प्रक्रिया को जानना बहुत जरूरी है। मस्तिष्क में कैसे धारणाओं का जन्म होता है?, कैसे ये विचार आगे की सोच को प्रभावित करते हैं? कैसे हमारी सोच में स्थिर रूप का विकास होता है? और कैसे हम इन स्थितियों की मदद से किसी निर्णय पर पहुंचते हैं? यह सभी प्रष्न पूर्वाग्रह के विचारों के आने तथा बने रहने की स्थितियां बताने में सहायक होते हैं।

पूर्वाग्रह और स्थिर रूप का विकास सामाजिक परिस्थितियों के साथ–साथ व्यक्ति की सोच में भी होता है। व्यक्ति अपने पर्यावरण से समायोजन करने के लिये प्रत्यक्षबोध या प्रत्यक्षीकरण (Perception) का प्रयोग करता है। प्रत्यक्षीकरण संज्ञानात्मक प्रक्रिया की वह क्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों से प्राप्त ज्ञान के द्वारा समस्याओं के सुलझाने की, नये विचारों के निर्माण तथा उद्दीपकों के प्रति सही अनुक्रिया करने सम्बन्धी कार्य करता है। इसी के द्वारा स्थिररूप का भी निर्माण होता है। स्थिर रूप (Stereoype) किसी समूह के लोगों से जुड़ी विशेषकों और गुणों से सम्बन्धित त्रुटियुक्त मत या विश्वास होते हैं जो श्रेणीकरण और सामान्यीकरण के द्वारा प्राप्त होते हैं। व्यक्ति इन्हीं स्थिररूपों के द्वारा किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान के बारे में अपना निर्णय देता है। जैस कि जापानी लोग मेहनती होते हैं, अंग्रेज बहुत धूर्त होते हैं या फ्रांसीसी बहुत फैशनेबल होते हैं आदि उदाहरण में व्यक्ति ने एक समूह के लोगों के बारे में एक धारणा बना रखी है और वह उसी मत को हर अमेरिकी, अंग्रेज और जापानी के बारे में लागू करता है। यहाँ स्थिररूप के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि यह नकारात्मक और सकारात्मक दोनो हो सकता है।

श्रेणीकरण (Categorization) स्थिररूपों के निर्माण का वह सिद्धान्त है जो पूर्वाग्रह के विकास के लिये अहम् है। व्यक्ति वाह्य दुनिया को समझने के लिये उसको कई आधारों पर बांट देता है। जैसे पर्यावरण वैज्ञानिक, वातावरण और जलवायु और इकोतन्त्र को बांटकर उसका अध्ययन करता है, जैसे जीव विज्ञान जीवों का वर्गीकरण करते हैं और जैसे हम इन्सान लोगों का वर्गीकरण कई आधार पर जैसे रंग–भाषा, वेश–भूषा, संस्कृति, प्रजाति, जाति तथा सामाजिक प्रस्थिति इत्यादि पर करते हैं। इसी श्रेणीकरण के द्वारा हम अपने और दूसरे में अन्तर करने की कोशिश करते हैं। हमारा मस्तिष्क इस अन्तर के द्वारा चीजों को समझता है, उसे स्मृति में संचित करता है तथा नये प्रत्ययों के निर्माण में उपयोग करता है। मस्तिष्क तर्क द्वारा श्रेणीकरण और सामान्यीकरण की प्रक्रिया को संवर्धन करता रहता है। जिससे व्यक्ति

सही तरीके से निर्णय ले पाये, किन्तु जब श्रेणीकरण और सामान्यीकरण के द्वारा स्थिर रूपों का निर्माण हो जाता है तब व्यक्ति के इन स्थिर रूपों से जुड़े विचारों में परिवर्तन नही होते हैं। इस प्रकार का विचार व्यक्ति वाह्य समूह के सदस्यों के लिये बनाता है। वह वाह्य समूह के प्रत्येक सदस्य में एक जैसे गुणों को देखता है। जैसे व्यक्ति यह कहे कि घुमन्तु जनजाति के लोग जो शहर में रहते हैं वह अपराधी होते हैं। इसे मनोविज्ञान में वाह्य समूह में समांगता (Out Group Homogenity Effect) कहते हैं। इसमें व्यक्ति वाह्य समूह के सभी सदस्यों के लिये एक ही प्रकार का मत रखता है। इस प्रकार की विचारधारा से व्यक्ति में पूर्वाग्रह का विकास होता है। व्यक्ति अपने समूह के प्रति तो लचीला रुख रखता है परन्तु दूसरे समूह के सदस्यों के लिये उसके विचार अपरिवर्तित रहते हैं। इससे व्यक्ति की सोच और व्यवहार दोनों ही अन्य समूह के प्रति पक्षपातपूर्ण होती है।

10.6 पूर्वाग्रह के परिणाम (Consequences of Prejudice)

पूर्वाग्रह सिर्फ व्यक्ति की सोच तक सीमित नही रहता है बल्कि उसकी अभिवृत्ति, व्यवहार और उसके कार्यों में भी दिखता है, जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तियों के समूहों में संघर्ष। असामाजिक कृत भेदभाव लोगों का दूसरे समूहों के सदस्यों से प्रेम में कमी, ईर्ष्या और विरोध बढ़ोत्तरी समाज में असहयोग और भेदभाव की घटनाओं का बढ़ना आदि। **गार्डन एलपोर्ट** ने अपनी पुस्तक **'नेचर ऑफ प्रुजिडिस'** में पूर्वाग्रह के दुष्परिणामों की चर्चा की है, जिसमें उन्होंने पांच प्रकार की स्थितियों के उत्पन्न होने की बात की है जो निम्न हैं –

1. प्रतिवाग्मिता (Antilocution)
2. परिहार (Aviodanu)
3. भेदभाव (Discrimination)
4. षारीरिक आक्रमण (Physical Attack)
5. उन्मूलन या समाप्त (Extermination)

प्रतिवाग्मिता की स्थिति को समझाते हुये एलपोर्ट ने कहा है कि यह एक नकारात्मक शाब्दिक टिप्पणी (Negative Verbal Remark) है जो किसी व्यक्ति, समूह या समुदाय के बारे में बिना उसको सीधा निषाना बनाये हुये कही जाती है। इस प्रकार की टिप्पणी पूर्वाग्रही व्यक्ति किसी समूह या उसके सदस्यों को बदनाम करने या उसका मजाक उड़ाने के लिये अन्य व्यक्तियों से कहता है। जैसे हम देखते हैं कि लोग किसी

समुदाय विशेष के सदस्यों के बारे में भद्दे चुटकुले बनाते हैं। इन चुटकुलों का सीधा उद्देश्य उस समुदाय को नुकसान पहुंचाना तो नहीं होता है परन्तु यह चुटकुले अवश्य ही उस समुदाय विशेष के लोगों की गलत छवि आम जन में पैदा करने की कोशिश करते हैं।

परिहार की स्थिति तब दिखायी पड़ती है जब मजबूत शक्ति सम्पन्न या बहुसंख्यक समूह कमजोर शक्तिहीन या अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों से दूरी बनाने लगते हैं। बहुसंख्यक समूह के सदस्य अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों से मिलना–जुलना बन्द कर देते हैं, उनके साथ सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी सीमित कर देते है आदि। इस प्रकार की गतिविधियों से बहुसंख्यक समूह दूसरे समूह को कोई सीधा नुकसान तो नहीं पहुंचाते हैं और न ही उसकी कोई ऐसी मनसा होती है पर वह इन समूहों से दूरी बनाकर उन्हें अलगाव की स्थिति में डाल देते हैं। जैसे कि कुष्ठ रोगियों के साथ होता है कि लोग उनके साथ बैठना, खाना, और रहना पसन्द नहीं करते है, उनको सामान्य लोगों के निवास से दूर रखा जाता है। उनके आवास सामान्य लोगों के सम्पर्क से दूर बनाये जाते हैं।

पूर्वाग्रह से उत्पन्न उपरोक्त दो स्थितियों में पूर्वाग्रही व्यक्ति दूसरे समूह के सदस्यों को प्रत्यक्षरूप से नुकसान या हानि नहीं पहुंचाते है किन्तु अन्य तीन स्थितियों में पूर्वाग्रह का रूप प्रतिरोधी, कष्ट देने वाला और क्षति पहुंचाने वाला होता है।

भेदभाव का उत्पन्न होना एक ऐसी स्थिति है जिसमें पूर्वाग्रही व्यक्ति या समूह दूसरे समूह के लोगों के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं, उन्हें समाज में मौजूद सुविधाओ, संसाधनों, सेवाओं, अवसरों और अधिकारों का उपयोग एवं उपभोग करने से रोकते हैं। यह स्थिति तब पैदा होती है जब सामाजिक अन्तर बढ़ने लगता है। जिससे समूहों के मध्य गतिरोध और प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है। फलस्वरूप समूहों मे क्रोध, आक्रामकता, विरोध और शत्रुता की भावना का विकास होता है। इसे हम वर्तमान में हो रहे घटनाक्रम से जोड़कर समझ सकते है जैसे महाराष्ट्र के कुछ शहरों में उत्तर भारतीयों का स्थानीय लोगों द्वारा विरोध हुआ था। स्थानीय लोग गैर मराठी लोगों को स्थानीय निकायों और कार्यालयों में रिक्त पद के लिये प्रतियोगिता परीक्षा में बैठने से रोक रहे थे। इस प्रकार के भेदभाव का उदाहरण जाति व्यवस्था से उत्पन्न पूर्वाग्रहों में भी दिखता है।

शारीरिक आक्रमण पूर्वाग्रह का एक उग्र रूप है, जिसमें पूर्वाग्रही व्यक्ति या समूह दूसरे समूहों के लोगों के ऊपर हिंसात्मक कृत करता है तथा उनकी सम्पत्तियों को

नुकसान पहुंचाने का प्रयास करता हैं। इस प्रकार स्थिति तब उत्पन्न हो जाती है जब लोगों के संवेग उग्र हो जाते हैं। जैसे साम्प्रदायिक दंगे का स्वरूप, जिसमें दो सम्प्रदाय के लोगों के बीच शारीरिक झड़प और एक दूसरे की सम्पत्तियों को नष्ट करने की कोशिश की जाती है।

उन्मूलन पूर्वाग्रह की वह स्थिति है जिसमें प्रतियोगी समूह के सम्पूर्ण उन्मूलन करने की तीव्र अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार की अभिव्यक्ति हाल में असम में हुये सामुदायिक हिंसा में देखने को मिली जिसमें बांग्ला बोलने वाले लोगों को असम से निकालने के लिये सामुदायिक संघर्ष और नरसंहार की घटना हुयी। जिसमें सैकड़ों लोगों की जाने गयी और हजारों विस्थापित हुयें। इसी प्रकार की घटना आजादी के बाद भारत और पाकिस्तान के कई शहरों मे साम्प्रदायिक दंगों के रूप में हुयी, जिसमें लाखों लोग मारे गये और करोड़ो लोगों को अपने घरों को छोड़ना पड़ा।

10.7 पूर्वाग्रह को कम करने की विधियाँ (Methods For Countering The Prejudice)

पूर्वाग्रह की उत्पत्ति ऐसे अतार्किक और असत्य विश्वासों से होती है जिसका कोई वास्तविक आधार नहीं होता है। पूर्वाग्रह का निर्माण और विकास इस प्रकार से होता है कि समय के साथ इसमें जड़ता आती रहती है और व्यक्ति के पूर्वाग्रह को समाप्त कर पाना मुष्किल होता है। ये विश्वास इतने स्थायी होते है कि व्यक्ति कुतर्कों और पूर्व निर्णयों से इसे और परिपक्व करता है और अपनी अभिव्यक्ति एवं अभिवृत्ति में स्थान प्रदान करता है। पूर्वाग्रह को समाप्त कर पाना मुश्किल कार्य है फिर भी मनोवैज्ञानिकों ने कुछ उपायों की चर्चा की है जो पूर्वाग्रह को कम करने में सहायक होते हैं।

सामाजिक सीख के द्वारा पूर्वाग्रह का निर्माण होता है और इसी के द्वारा पूर्वाग्रह को कम भी किया जा सकता है। बचपन से बच्चों के मन सामाजिक सीख द्वारा दूसरे समूहों के बारे में एक प्रकार की स्थिररूपों का निर्माण किया जाता है जिसमें दूसरे समूहों के सदस्यों से जुड़े गुणों, अवगुणों और उनकी संस्कृति के बारे में सूचना एवं मत पैदा किये जाते हैं। इसको सिखाने के लिये दण्ड, प्रोत्साहन एवं प्यार का सहारा लिया जाता है। बाद में यही सीख व्यक्ति के पूर्वाग्रह में परिवर्तित हो जाती है। पूर्वाग्रह को कम करने के लिये जरूरी है कि व्यक्ति को बचपन से ही दूसरे लोगों के बारे में तथ्य परक सूचना और वास्तविक अनुभव के अवसर उपलब्ध कराने चाहिये। बच्चों को दूसरे धर्म, जाति, राज्य, भाषा, संस्कृति एवं लोगों के बारे में नकारात्मक चीजें न बतलायी जायें। उन्हें अन्य समूहों के बच्चों के साथ खेलने, बाते करने और सम्पर्क बढ़ाने के लिये प्रेरित किया

जाय। सामाजिक सीख का सबसे ज्यादा प्रभाव बाल्यावस्था में पड़ता है। इसलिये बच्चों के सकारात्मक विकास के लिये उनमें अन्य लोगों के प्रति विश्वास, स्नेह, प्रेम, मित्रता आदि का भाव सृजित करना चाहिये ताकि बच्चों के कोमल मन में दूसरों के प्रति सम्मान और आदर भाव उत्पन्न हो। इस प्रकार की सामाजिक सीख व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार सोच और सम्बन्धों में मधुरता, सहयोग और साथ मिल–जुलकर जीवन जीना सिखाता है।

मेल–जोल या सम्पर्क, पूर्वाग्रह को कम करने की एक महत्वपूर्ण रणनीति है लोगों में पूर्वाग्रह का निर्माण तब होता है जब उनके बीच सामाजिक अन्तर बढ़ता है, उनमें दूरियां बढ़ती है (शारीरिक दूरियां) और उनके बीच सम्पर्क और संचार के अवसर कम हो जाते हैं। लोगों को एक दूसरे को जानने के लिये सम्पर्क की आवश्यकता होती है। इसलिये जब दो भिन्न–भिन्न समूहों के सदस्यों में सम्पर्क होता है तब वे एक–दूसरे से सम्बन्धित समानताओं को जान पाते हैं और एक दूसरे के विभेदों या भिन्नताओं को स्वीकारते और सम्मान देते हैं। सम्पर्क के माध्यम से लोगों में अन्य समूहों के सदस्यों के बारे में विरोधी वाह्य समूह की भावना को तोड़ने में मदद मिलती है। भारत में देखें तो जहाँ दो धार्मिक समुदाय के लोग एक दूसरे के आस–पास रहते है उनमें लगातार सम्पर्क और संचार बना रहता है तथा एक दूसरे की मदद करते हैं। वहाँ साम्प्रदायिक दंगे न के बराबर हुये हैं। क्योंकि वहाँ का जीवन एक दूसरे के सहयोग और मेलजोल पर निर्भर रहता है। इसलिये हमारे देश की संस्कृति में इसके के लिये गंगा–जमुनी तहजीब शब्द का प्रयोग किया जाता हैं। अर्थात् हमारी संस्कृति, हमारा समाज और हमारा जीवन एक–दूसरे से जुड़ा हुआ है। यहां हर समुदाय, समूह तथा भाषा भाषी के लोगों का एक दूसरे के विकास में योगदान रहता है। अतः हम कह सकते है कि अनुकूल परिस्थितियों में सम्पर्क दो पूर्वाग्रही समूहों के बीच घृणा और शत्रुता की भावना को मिटा सकता है, या कम कर सकता है।

सामाजिक कानून, एक और प्रविधि है जिसके निर्माण और अनुपालन द्वारा राज्य पूर्वाग्रही लोगों के व्यवहार और आचरण को नियन्त्रित कर पूर्वाग्रह पैदा करने वाली स्थिति और घटनाओं को रोकती है। पर सामाजिक कानूनों की सीमा होती है। इसके अनुपालन के लिये लोगों को बाध्य किया जा सकता है पर लोगों की मानसिकता को नहीं बदला जा सकता है। इसलिये कुप्पुस्वामी का कहना है कि सामाजिक कानून पूर्वाग्रह की रोकथाम के लिये तभी उपयोगी है जब इसको सामाजिक प्रतिमानों के एक अंग के रूप में स्वीकारा जाये। सामाजिक कानूनों के माध्यम से भारत में निम्न जाति के लोगों के अधिकारों एवं उनके हितों की रक्षा की गयी है, जिसका परिणाम यह है

कि आज निम्न जाति के लोगों के साथ भेदभाव और सामाजिक अन्याय में काफी कमी आयी है।

पूर्वाग्रह को कम करने के लिये व्यक्ति के संज्ञानात्मक प्रक्रिया में रूढ़ि युक्ति या स्थिर रूप के विकास को बाधित करना आवश्यक है, क्योंकि रूढ़ियुक्ति का विकसित रूप पूर्वाग्रह होता है। स्थिर रूप के माध्यम से व्यक्ति पूरे समूह के सदस्यों को एक तरह से देखता है, उसका यह त्रुटिपूर्ण सामान्यीकरण उसके प्रत्यक्षण प्रक्रिया को दूषित करता है, जिसकी वजह व्यक्ति का व्यवहार तार्किक न होकर काल्पनिक तथ्यों पर आधारित होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की मानसिकता संकुचित हो जाती है। इसलिये जरूरी है कि व्यक्ति को अपनी मान्यताओं और विचारों का निर्माण परीक्षण और वास्तविक अनुभवों पर करना चाहिये तथा स्थिर रूप मान्यताओं को नकारने की कोशिश करनी चाहिये।

10.8 सारांश

किसी व्यक्ति का पूर्वाग्रह एक प्रकार की उसकी नकारात्मक अभिवृत्ति है जिसकी उत्पत्ति और विकास समूह के अन्दर सामाजिक सीख, सम्प्रेरणा और सामाजिक प्रतिमानों द्वारा होती है। यह स्थायी और समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार है। पूर्वाग्रह व्यक्ति के अन्दर नकारात्मक संवेग, सोच ईर्ष्या और विरोधी भावनाओं को पोषित करता है जिससे व्यक्तियों और समूहों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और लोगों का अपमान, तिरस्कार, असमानता और सामाजिक अन्याय की घटनाये समाज में बढ़ जाती हैं। जो सामाजिक व्यवस्था के सन्तुलन और स्थिरता के लिये घातक होती हैं। इसलिये समाज में व्यक्तियों द्वारा अन्य लोगों पर अपराध, हिंसा और अमानवीय कृत को रोकने के लिये पूर्वाग्रह को समझना, इसका अध्ययन करना तथा इसको कम करने के लिये उपायों की खोज करना आवश्यक है।

10.9 शब्दावली

स्व (Self) – व्यक्तित्व का पक्ष जिसमें व्यक्ति द्वारा अपने विषय में धारणा निहित होती है।

आत्म प्रत्यय (Self concept) – व्यक्ति का अपने बारे में वह विचार, जो दूसरों के नजरिये पर आधारित होता है।

सामाजिक प्रतिमान (Social Norm) व्यवहार के अनुमोदित तरीके या नियम, जो व्यवहारों के सम्पादन हेतु दिशा–निर्देश का कार्य करते हैं और

इनके साथ पुरस्कार और दण्ड के रूप में अनुज्ञाये जुड़ी होती हैं।

10.10 सन्दर्भ पुस्तके

1. न्यू काम्ब (1950), सोशल साईकोलॉजी, ड्रायडेन।
2. शेरिफ और शेरिफ (1956), ऐन आउटलाइन ऑफ सोशल साईकोलॉजी, हार्पर।
3. मार्यस, डी0 (2005) सोशल साईकोलॉजी, मैग्राहिल।
4. बेरोन, ब्रायन और ब्रान्सकाम्ब (2008), सोशल साईकोलॉजी, पीर्यसन।
5. कुप्पुस्वामी बी0 (1972), समाज मनोविज्ञान : एक परिचय, हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
6. मैंकी, डी0एम0 और स्मिथ, ई0आर0 (2002), फ्रॉम प्रिजुडिस टु इण्टर ग्रुप इमोशन, डिफरेण्टसियेटेड रीयेक्शन टु सोशल ग्रुप, साईकोलॉली प्रेस।
7. होरोविट्ज और होरोविट्ज (1938), सोशियोमेट्री।
8. टर्नर, जे0सी0 (1984), सोशल आइडेन्टिफिकेशन एण्ड साइकोलाजिकल ग्रुप फार्मेशन, इन एच0 टेजफैल (एडि0), द सोशल डायमेंशन, कैम्ब्रिज प्रेस।
9. एलपोर्ट, जी0 (1954), द नेचर ऑफ प्रिजुडिस, एडिशन वेशले।

9.11 आदर्श प्रश्न अभ्यास कार्य

1. पूर्वाग्रह की विशेषताओं की व्याख्या कीजिये?
2. पूर्वाग्रह के स्रोत कौन–कौन से हैं?
3. 'पूर्वाग्रह समूह द्वारा स्वीकृत व्यवहार है' इसको स्पष्ट कीजिये।
4. पूर्वाग्रह के दुष्परिणामों की चर्चा करें।

बोध प्रश्नों के उत्तरः

उत्तर 1: पूर्वागृह, स्थिररूप का विकसित स्वरूप है। स्थिररूपों के माध्यम से व्यक्ति में ऐसे मत अथवा विश्वास पैदा होते हैं जिनका तार्किक परीक्षण अभी बाकी होता है। यह एक त्रटिपूर्ण समान्यीकरण होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य समूहों के सदस्यों के बारे में एक विचार बनाता है। यह विचार नकारात्मक और सकारात्मक दोनों हो सकते हैं किन्तु जब व्यक्ति में दूसरे समूह के सदस्यों के प्रति नकारात्मक विचार

ज्यादा हावी होने लगते हैं तथा इन स्थिररूपों के साथ नकारात्मक संवेग जुड़ने लगते हैं तब यह पूर्वागष्ह का रूप धारण कर लेता है। पूर्वागृह एक नकारात्मक अभिवृत्ति है।

उत्तर 2: पूर्वागृह व्यक्ति की नकारात्मक सोच को बताता है। जिसमें किसी समूह के सदस्यों के प्रति व्यक्ति के मत में क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, ग्लानी और शत्रुता आदि संवेग पैदा होते हैं। इन संवेगों के कारण व्यक्ति का व्यवहार पक्षपातपूर्ण और विरोधी हो जाता है। नकारात्मक संवेग पूर्वागृह की एक मुख्य विशेषता है।

उत्तर 3: प्रतिवाग्मिता किसी समूह या उसके सदस्यों के लिये की गयी नकारात्मक शाब्दिक टिप्पणी को कहते हैं। इसका उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से दूसरे समूह के सदस्यों को निशाना बनाना या नुकसान पहुंचाना नहीं होता है। फिर भी इसके माध्यम से दूसरे समूह के सदस्यों की छवि को गलत तरीके से पेश करने की कोशिश होती है। इसके लिए चुटकुले/कहावते या अन्य व्यंग के तरीकों का प्रयोग होता है।

इकाई 10 : दृष्टिकोण (VIEW POINT)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 दृष्टिकोण का अर्थ

11.3 दृष्टिकोण की सामान्य विशेषताएँ

11.4 दृष्टिकोण के साधनों की मौलिक विशेषताएँ

11.5 दृष्टिकोण के प्रकार

11.6 दृष्टिकोण और विश्वास में सम्बन्ध

11.7 दृष्टिकोण और प्रेरणा में सम्बन्ध

11.8 दृष्टिकोण और मूल्य में सम्बन्ध

11.9 दृष्टिकोण का विकास

11.10 दृष्टिकोण को प्रभावित करने वाले कारक

11.11 सारांश

11.12 शब्दावली

11.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.14 बोध प्रश्न

11.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई में दृष्टिकोण की चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे:

1. दृष्टिकोण का अर्थ क्या है?
2. दृष्टिकोण के कितने प्रकार है?

3. दृष्टिकोण की मौलिक विशेषताएँ क्या है?
4. दृष्टिकोण और प्ररेणा में क्या सम्बन्ध है?
5. दृष्टिकोण और विश्वास में क्या अन्तर है?
6. दृष्टिकोण और मूल्य किस भाँति सम्बन्धित है?
7. दृष्टिकोणों का निर्माण और विकास कैसे होता है?

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

दृष्टिकोण मानव व्यवहार का आन्तरिक पहलू है जो किसी वस्तु, व्यक्ति, विचार अथवा उत्तेजना आदि के सम्बनध में हो सकता है। दृष्टिकोण किसी व्यक्ति के अनुभव, ज्ञान एवं प्रत्यक्षात्मक प्रक्रियाओं का स्थायी संगठन है और प्रत्युत्तर तत्परता का मिला–जुला रूप है। अनुभव, ज्ञान और प्रत्यक्षात्मकता में परिवर्तनों के साथ–साथ दृष्टिकोण भी परिवर्तित होते रहते हैं। मत तथा दृष्टिकोण में अन्तर है। जिन पर हम विश्वास करते हैं और सत्य मानते हैं, मत ऐसी बातों से सम्बन्धित होता है। हमारे अनुभवों के सम्बन्ध में निर्णय भी मत हो सकता है। मत की अपेक्षा दृष्टिकोण अधिक जटिल प्रक्रिया है। माँ के हृदय में अपने बच्चे के संरक्षण का दृष्टिकोण होता है, जिसके कारण वह रोते हुए बच्चे के पास सब काम छोड़ कर दौड़ी हुई आती है और रोते हुए बच्चे को गोद में उठा लेती है तथा उसे चुप करने के प्रत्येक उपाय करती है। दृष्टिकोणों का व्यक्ति के समायोजन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन दृष्टिकोणों का निर्माण होता है। दृष्टिकोण व्यक्ति की अर्जित विशेषताएँ हैं। व्यक्ति के सामाजिक जीवन की प्रत्येक क्रिया का आधार इसकी दृष्टिकोण होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में दृष्टिकोण के अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। यह व्यक्तित्व को निरन्तरता प्रदान करता हैं। यह उसके दैनिक प्रत्यक्षीकरण और प्रक्रियाओं को अर्थ पूर्ण बनाता है तथा उसके विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता देती हैं।

दृष्टिकोण सामाजिक मनोविज्ञान में अध्ययन किया जाने वाला एक नवीन परन्तु मौलिक विषय है। जिसके बारे में अभी बहुत अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। क्योंकि इस विषय पर समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा अभिव साहित्य की रचना की जा रही है। समाज मनोविज्ञान के अन्य महत्वपूर्ण विषयों की ही तरह दृष्टिकोण भी एक मौलिक विषय है। समाज मनोविज्ञान की समस्याएँ दृष्टिकोण से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। मनोवैज्ञानिकों ने दृष्टिकोण की महत्ता एवं सत्ता को स्वीकार ही नहीं

किया है अपितु इसे अत्याज्य भी माना है। मानव व्यवहार के मुख्यतः दो स्थूल भाग हैं (1) आन्तरिक व्यवहार और (2) बाह्य व्यवहार। दृष्टिकोण का सम्बन्ध व्यवहार के आन्तरिक या मानसिक पक्ष से है। सामाजिक व्यवहारों की दिशा निर्धारण में दृष्टिकोण का अधिक महत्व है। यही कारण है कि समाज मनोवैज्ञानिकों के लिए दृष्टिकोण का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

11.2 दृष्टिकोण का अर्थ (Meaning of View Point)

इस विषय पर सीधे–सीधे कोई स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध नहीं है फिर भी यह कहा जा सकता है कि "किसी व्यक्ति, वस्तु, उत्तेजना अथवा इसके समूहों के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति की प्रत्यक्षात्मक और ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के स्थायी संगठन तथा प्रत्युत्तर तत्परता के मिले–जुले रूप को ही दृष्टिकोण कहते हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि दृष्टिकोण किसी के सम्बन्ध में हो सकता है अर्थात् दृष्टिकोण किसी वस्तु, व्यक्ति, विचार अथवा उत्तेजना आदि के सम्बन्ध में हो सकती है। दृष्टिकोण किसी व्यक्ति के अनुभव, ज्ञान एवं प्रत्यक्षात्मक प्रक्रियाओं का स्थायी संगठन है और प्रत्युत्तर तत्परता का मिला–जुला रूप है। अनुभव, ज्ञान और प्रत्यक्षात्मकता में परिवर्तनों के साथ–साथ दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाते हैं। मत तथा दृष्टिकोण में अन्तर है। जिन पर हम विश्वास करते हैं और सत्य मानते हैं, मत ऐसी बातों से सम्बन्धित होता है। हमारे अनुभवों के सम्बन्ध में निर्णय भी मत हो सकता है।

स्पष्ट है कि मत की अपेक्षा दृष्टिकोण अधिक जटिल प्रक्रिया है। माँ के हृदय में अपने बच्चे के संरक्षण का दृष्टिकोण होता है, जिसके कारण वह रोते हुए बच्चे के पास सब काम छोड़ कर दौड़ी हुई आती है और रोते हुए बच्चे को गोद में उठा लेती है तथा उसे चुप करने के प्रत्येक उपाय करती है। दृष्टिकोणों का व्यक्ति के समायोजन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन दृष्टिकोणों का निर्माण होता है। दृष्टिकोण व्यक्ति की अर्जित विशेषताएँ हैं। व्यक्ति के सामाजिक जीवन की प्रत्येक क्रिया का आधार इसका दृष्टिकोण होता है। दृष्टिकोण के व्यक्ति में अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। यह व्यक्तित्व को निरन्तरता प्रदान करता हैं। यह उसके दैनिक प्रत्यक्षीकरण और प्रक्रियाओं को अर्थपूर्ण बनाता है तथा उसके विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक है।

दृष्टिकोण व्यक्ति के विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता देती हैं। यह देखा गया है कि सभी दृष्टिकोणों की रचना एक सी नहीं होती है और न ही दृष्टिकोण

प्रभाव की दृष्टि से एक समान होता है। प्रत्येक दृष्टिकोण की कर्षण शक्ति भिन्न–भिन्न होती है। यदि दिशा की दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक दृष्टिकोण की कर्षण शक्ति की दो विशेषताएँ पाई जाती हैं–(1) धनात्मक कर्षण शक्ति (2) ऋणात्मक कर्षण शक्ति।

11.3 दृष्टिकोण की सामान्य विशेषताएँ (General Characteristics of View Point)

दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती हैं :

1. दृष्टिकोण जन्मजात नहीं होते

दृष्टिकोण को किसी घटना, वस्तु, व्यक्ति या समूह आदि के सम्बन्ध में सीखा जाता है। भोजन करना व्यक्ति सीखता है। भोजन के सम्बन्ध में व्यक्तियों के दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न होते हैं। दृष्टिकोण के विकास में व्यक्ति का ज्ञान, अनुभव और प्रत्यक्षात्मक योग्यताएँ सहायक हैं।

2. दृष्टिकोण बहुत कुछ स्थायी होते हैं

व्यक्ति सामाजिक प्राणी के रूप में विभिन्न दृष्टिकोण सीखता है और समय–समय पर आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी करता रहता है। जब व्यक्ति अपना पर्यावरण और समाज छोड़कर दूसरे समाज और पर्यावरण में चला जाता है तो उसका दृष्टिकोण भी नये समाज और पर्यावरण के अनुसार बदल जाता है। दृष्टिकोण में निरन्तरता और स्थिरता का गुण तो अवश्य होता है परन्तु पुनर्संगठन होने पर दृष्टिकोण बदल जाता है। यह पुनर्संगठन तभी होता है जब व्यक्ति दूसरे लगभग स्थाई वातावरण और समाज में आता है।

3. दृष्टिकोण में विषय–वस्तु सम्बन्ध

प्रत्येक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति या उत्तेजना होती है, बिना पृष्ठभूमि के दृष्टिकोण नहीं होता है। अतः दृष्टिकोण की उत्पत्ति और विकास शून्य में नहीं होती है। दृष्टिकोणों का विकास और उत्पत्ति तभी होती है जब इसकी पृष्टिभूमि में कम से कम दो पक्ष अर्थात् विषय और वस्तु होते हैं। विषय वह व्यक्ति है जिसमें दृष्टिकोण की उत्पत्ति और विकास होता है तथा वस्तु कोई भी विशिष्ट व्यक्ति, वस्तु समूह, समस्या या परिस्थिति, आदि होती है।

4. दृष्टिकोण में प्रेरणात्मक क्रियात्मक तत्व होते हैं

दृष्टिकोण व्यक्ति को किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु, घटना अथवा परिस्थिति आदि के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार से क्रिया करने के लिए भी प्रेरित कर सकता है।

5. दृष्टिकोण व्यवहार को दिशा प्रदान करता है

दृष्टिकोण मानव व्यवहार को प्रभावित ही नहीं करता अपितु उसे एक दिशा भी प्रदान करता है। व्यक्तियों में आकर्षण–विकर्षण, घृणा–प्रेम, रुचि–अरुचि, पक्ष–विपक्ष आदि का मूल कारण हमारे दृष्टिकोण ही हैं। एक व्यक्ति को दृष्टिकोण का ज्ञान हो जाने पर उसके व्यवहार को अपेक्षाकत सरलता से समझा जा सकता है। दृष्टिकोण का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति भविष्य व्यवहार के सम्बन्ध में पूर्व कथन कर सकते हैं, क्योंकि प्रायः व्यक्ति दृष्टिकोण के निर्देशन में ही कार्य करता है।

6. दृष्टिकोण संवेगों और अनुभूतियों से सम्बन्धित होता है

एक वस्तु या परिस्थिति के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टिकोणों के कारण जब वाद–विवाद होता है तो ऐसे दृष्टिकोणों का सम्बन्ध अनुभूतियों और संवेगों से होता है।

11.4 दृष्टिकोण के साधनों की मौलिक विशेषताएँ (Basic features of Factors of View Point)

दृष्टिकोण की घटकों की निम्नलिखित विशेषताएं हो सकती हैं :

दृष्टिकोण के तीन घटक संज्ञान, भाव और क्रिया हैं। यह तीनों ही घटक भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों में कर्षण–शक्ति और बहुविविधता की दृष्टि से भिन्न–भिन्न होते हैं। अतः दृष्टिकोण के तीनों घटकों की कर्षण–शक्ति और बहुविविधता की विशेषता पायी जाती है। दृष्टिकोण के तीनों घटकों की कर्षण–शक्ति से अभिप्राय है कि दृष्टिकोण के यह तीनों घटक अत्यधिक अंश से अत्यधिक कम अंश तक किसी मात्रा में हो सकते हैं।

बहुविविधता का अर्थ है कि दृष्टिकोण के प्रत्येक घटक के कई–कई और घटक अवश्य होते हैं। दृष्टिकोण के संज्ञान घटक की विविधता का जनता पार्टी के प्रति दृष्टिकोण के उदाहरण द्वारा दिया जा सकता है। एक व्यक्ति में जनता पार्टी के प्रति धनात्मक दृष्टिकोण है, परन्तु वह जनता पार्टी क्या है, उसकी नीतियाँ क्या हैं

आदि की जानकारी नहीं रखता है। इस व्यक्ति में जनता पार्टी के प्रति संज्ञान में विविधता नहीं है। एक अन्य व्यक्ति में जनता पार्टी के प्रति धनात्मक दृष्टिकोण है साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि जनता पार्टी क्या है, उसकी नीतियाँ क्या हैं, वह जनता के लिए क्या कर रही है, उसने अनुशासन पर विजय कहाँ तक प्राप्त की है, आदि। इस दूसरे व्यक्ति में आत्मवृत्ति के संज्ञान की बहुविविधता अधिक है। इसी प्रकार से दृष्टिकोण के भाव घटक में भी बहुविधता पायी जाती है।

दृष्टिकोण में तीन घटक संज्ञान, भाव और क्रिया हैं। इन तीनों घटकों की कर्षण–शक्ति में संगति होती है। इस दिशा में जो अध्ययन हुए हैं उनमें यह पाया गया है कि विभिन्न दृष्टिकोण घटकों की कर्षण–शक्ति में उच्च सह–सम्बन्ध होता है। एक अध्ययन में यहूदियों का दृष्टिकोण मापन के लिए दृष्टिकोण मापन का विकास किया गया। इस दृष्टिकोण मापन में कुछ मापनियाँ संज्ञानात्मक घटक की कर्षण–शक्ति का मापन तथा अन्य क्रियात्मक घटक इन तीनों प्रकारों के सह– सम्बन्ध गुणांक की गणना की गई।

एक व्यक्ति के अन्दर पायी जाने वाले अनेक दृष्टिकोण एक–दूसरे से सम्बन्धित भी हो सकते हैं और एक–दूसरे से पृथक भी हो सकते हैं। इस दिशा में हुए अध्ययनों में यह देखा गया कि व्यक्ति की कोई भी दृष्टिकोण पूर्ण रूप से एकांकी स्थिति में नहीं होता है। इन अध्ययनों में यह भी देखा गया है कि दृष्टिकोण के पुंज होते हैं। एक व्यक्ति में दृष्टिकोण के कई–कई पुंज हो सकते हैं। दृष्टिकोण के यह पुंज बड़े भी हो सकते हैं और छोटे भी साथ ही एक पुंज के दृष्टिकोणों में अन्तर्सम्बद्धता कम से साधारण और उच्च कोटि तक किसी भी मात्रा की हो सकती है।

11.5 दृष्टिकोण के प्रकार (Types of View Point)

सामान्य दृष्टिकोण के दो प्रमुख प्रकार होते हैं :

1. सकारात्मक दृष्टिकोण
2. नकारात्मक दृष्टिकोण

सकारात्मक दृष्टिकोण

सकारात्मक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति जीवन में नवीन ऊर्जा का संचार करता है और ऐसा व्यक्ति समाज के लिए हितकारी और लाभकारी होता है। पानी से आधे भरे हुए एक गिलास को सकारात्मक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कहेगा कि यह आधा भरा हुआ

है और इसे अभी आधा और भरना है, इससे उसकी सकारात्मकता का पता चलेगा। ऐसा व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में आगे रहता है और कभी भी अवसाद ग्रस्त नहीं होता है।

नकारात्मक दृष्टिकोण

नकारात्मक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति के जीवन में ऊर्जा का अभाव रहता है और व्यक्ति समाज के लिए अहितकारी और अलाभकारी होता। पानी से आधे भरे हुए एक गिलास को नकारात्मक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कहेगा कि यह आधा खाली है और यह हमेशा खाली ही रहेगा। इससे उसकी नकारात्मकता का पता चलेगा। ऐसा व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में पीछे रहता है और सदैव अवसाद ग्रस्त रहता है।

11.6 दृष्टिकोण और विश्वास में सम्बन्ध (Relation between View Point and Faith)

दृष्टिकोण और विश्वास एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी भिन्न हैं। इनके सम्बन्धों को जानने से पहले आवश्यक होगा कि विश्वास का अर्थ समझ लें। क्रेच और क्रेचफील्ड के अनुसार, 'विश्वास एक व्यक्ति के संसार के किसी भी पहलू के सम्बन्ध में प्रत्यक्षीकरण और चुनाव का एक स्थायी संगठन है। क्रेच और क्रेचफील्ड ने आगे लिखा है कि विश्वास एक वस्तु के अर्थों का नमूना है। यह एक वस्तु के बारे में एक व्यक्ति के ज्ञानात्मक विषयों की सम्पूर्णता है।' साधारणतः व्यक्ति वातावरण में अनेक वस्तुओं का प्रत्यीक्षकरण करता है। फलस्वरूप प्रत्यक्षीकरण के कुछ स्थायी संगठनों का निर्माण होता है। यह संगठन अधिक स्पष्ट भी होते हैं। यही एक व्यक्ति का विश्वास है। दृष्टिकोण और विश्वास दोनों ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं हैं। दोनों में निम्नलिखित अन्तर हैं:

1. प्रत्येक दृष्टिकोण में विश्वास होता है परन्तु प्रत्येक विश्वास में दृष्टिकोण नहीं होता है।

2. दृष्टिकोण में विशेष परिस्थितियों में क्रिया आवश्यक होती है परन्तु विश्वास में क्रिया होना आवश्यक नहीं है।

3. साधारणतः दृष्टिकोण का परिवर्तन सरल है परन्तु विश्वास में परिवर्तन इसलिए कठिन है कि विश्वास दृष्टिकोण की अपेक्षा देर से बनते हैं।

4. दृष्टिकोण बहुधा अनुकूल या प्रतिकूल होते हें परन्तु विश्वास में इन दोनों का अभाव पाया जाता है।

5. व्यक्तियों के व्यवहार को दृष्टिकोण सक्रिय रूप से प्रभावित करते है क्योंकि इसमें प्रेरणात्मकता और संवेगात्मकता के तत्व पाये जाते हैं। दूसरी ओर विश्वास में इन तत्वों का अभाव होता है।

6. दृष्टिकोण में अन्धविश्वास की सम्भावना कम होती है परन्तु विश्वास में अन्धविश्वास के पाये जाने की सम्भावना अधिक होती है।

11.7 दृष्टिकोण और प्रेरणा में सम्बन्ध (Relation between View Point and Motivation)

दृष्टिकोण और प्रेरणा (प्रेरणा से तात्पर्य उस वस्तु से है जो प्राणी को कार्य करने के लिए उत्तेजित करती है या प्राणी के एक बार कार्य करने के लिए तैयार हो जाने के बाद क्रिया के लिए निर्देशन करती है और उत्साहित करती है और आपस में एक–दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं) में निम्नलिखित सम्बन्ध होता है :

1. प्रेरणाएं उत्पन्न होती हैं और तब तक विद्यमान रहती है जब तक क्रिया पूर्ण नहीं होती है। क्रिया के पूर्ण होते ही प्रेरणा समाप्त हो जाती है। दूसरे दृष्टिकोण अधिक स्थाई है।

2. दृष्टिकोण और प्रेरणा दोनों का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होता है।

3. दोनों में ही संवेगात्मक और प्रत्यक्षात्मक भाव रहता है।

4. दृष्टिकोणों का क्षेत्र प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और प्रेरणाओं का क्षेत्र उतना विस्तत नहीं होता है।

5. प्रेरणाओं में गतिशीलता अधिक पायी जाती है, साथ ही साथ इनका क्रियात्मक पक्ष अधिक प्रभावशाली होता है। दूसरी ओर दृष्टिकोणों में ज्ञानात्मक और संवेगात्मक पक्ष अधिक प्रभावशाली होता है।

11.8 दृष्टिकोण और मूल्य में सम्बन्ध (Relation between View Point and Values)

किम्बल यंग के अनुसार, "मूल्य उन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते है जिनके प्रति हम अपनी इच्छाओं और दृष्टिकोणों को ले जाते हैं।"

बोनर के अनुसार, "प्राकृतिक वस्तु कोई अर्थ ग्रहण करती है तब वह मूल्य बन जाती है। बिना अर्थ के कोई मूल्य नहीं होता है।"

संक्षेप में, मूल्य इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि व्यक्ति और समाज इनको पाने की हर चेष्टा करते हैं तथा इस चेष्टा में बड़े से बड़ा त्याग कर सकते हैं और व्यक्ति इन्हीं मूल्यों के लिए जीवित रहते हैं। दृष्टिकोण और मूल्यों के सम्बन्ध निम्नलिखित हैं :

1. मूल्य वस्तुगत होते हैं और दृष्टिकोण आत्मगम।
2. मूल्यों का आधार सामाजिक आदर्श और उद्देश्य हुआ करते हैं। बहुधा समाज में उन्हीं वस्तुओं को महत्व दिया जाता है तो सामाजिक आदर्शों के अनुकूल होते हैं। यही मूल्य शक्ति के दृष्टिकोणों का आधार हुआ करते हैं।
3. दृष्टिकोण व्यक्ति क्रिया की दिशाओं से सम्बन्धित होती हैं जबकि मूल्य प्रत्यक्षीकरण की दिशा के सूचक होते हैं।
4. जब कोई वस्तु दृष्टिकोण का लक्ष्य बन जाती है तो वह मूल्य बन जाती है, दूसरी ओर दृष्टिकोण किसी वस्तु की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति है।

11.9 दृष्टिकोण का विकास (Dvelopment of View Point)

व्यक्ति का दृष्टिकोण आयु और अनुभवों के बढ़ने के साथ–साथ विकसित होता रहता हैं। एक समूह के सदस्यों के कुछ दृष्टिकोण समान होते हैं तथा अन्य के भिन्न भी होते हैं। दृष्टिकोणों का विकास एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि दृष्टिकोण स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास में भी सहायक है, और एक व्यक्ति के दृष्टिकोणों से उसका व्यक्तित्व परिवर्तित होता है। दृष्टिकोणों का निर्माण आवश्यकताओं की संतुष्टि की प्रक्रिया के संदर्भ में होता है। व्यक्ति का समूह सम्बन्ध उसके दृष्टिकोण के निर्माण में अधिक महत्वपूर्ण होता है। निम्नलिखित कारक दृष्टिकोणों के विकास में सहायक हैं:

क्रेच और क्रचफील्ड की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि दृष्टिकोण के निर्धारण में प्रेरणा तत्व महत्वपूर्ण हैं। जैविक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की प्रेरणाएं दृष्टिकोण के विकास में सहायक हैं। दृष्टिकोणों का विकास और निर्माण व्यक्ति की आवश्यकताओं की संतुष्टि पर भी निर्भर करता है। बहुधा यह देखा गया है कि व्यक्ति की जिन आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है उनके प्रति उसमें धनात्मक दृष्टिकोण का निर्माण और विकास होता रहता है परन्तु जिन आवश्यकताओं की संतुष्टि नहीं हो पाती है उनके प्रति व्यक्ति में निषेधात्मक दृष्टिकोण का विकास होता है। इसी प्रकार के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक व्यक्तियों के प्रति धनात्मक तथा बाधक व्यक्तियों के प्रति निषोधात्मक दृष्टिकोणों का विकास होता है। इस दिशा में रोजेनबर्ग (1956) के अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि धनात्मक तथा निषेधात्मक दृष्टिकोण तथा दृष्टिकोण की तीव्रता का सम्बन्ध व्यक्ति के उन विश्वासों से होता है जो उसकी लक्ष्य प्राप्ति के नैमित्तिक मूल्यों के प्रति होते हैं। एक अन्य अध्ययन में भी यह देखा गया कि व्यक्ति की आवश्यकताएं, रुचियाँ तथा आकांक्षाएँ भी दृष्टिकोणों को सार्थक एवं महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती हैं।

2. सूचना एवं प्रचार

जिस उत्तेजना के सम्बन्ध में व्यक्ति को सूचनाएँ जितनी ही अधिक मिलती हैं या प्रचार अधिक देखता है उस उत्तेजना के सम्बन्ध में उसमें दृष्टिकोण का निर्माण जल्दी हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि एक समाज के लोग विध्वंसकारी हथियारों के बारे में नहीं जानते हैं या इसकी सूचना उनको नहीं है तो निश्चय ही उनके दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में तटस्थ होंगे। स्मिथ का यहाँ तक कहना है कि केवल किताब मात्र में पढ़ने के आधार पर ही किसी के सम्बन्ध में धनात्मक या ऋणात्मक दृष्टिकोण का विकास हो सकता है। दृष्टिकोण के परिवर्तन के लिए आधुनिक युग में प्रचार का प्रयोग अधिक किया जाता है। उदाहहरण के लिए यह प्रचार और सूचना का ही प्रभाव है कि संगठन कांग्रेस के बड़े–बड़े कार्यकर्ताओं के प्रति अब लोगों का दृष्टिकोण पहले जैसा नहीं है अर्थात् परिवर्तित हो गया है।

इस दिशा में एक महत्वपूर्ण अध्ययन J.O. Morrissette. (1958) द्वारा किया गया है, जिसमें Heider's Balance Theory का उपयोग हुआ है। इस अध्ययन में मेरीसेट्टी ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्तियों अथवा वस्तुओं आदि के प्रति दृष्टिकोण

निर्माण में प्रयोज्यों द्वारा सूचना का उपयोग, अन्तर्सम्बन्ध दृष्टिकोणों की संगति और दृष्टिकोण निर्माण की पूर्णस्थिति के संदर्भ में होता है। अतः दृष्टिकोण निर्माण में सूचना ही सब कुछ नहीं है। बच्चों के लिए सूचना स्रोत माता–पिता या अभिभावक होते हैं, विद्यार्थियों के लिए अध्यापक और पुस्तकें होती हैं। इसी प्रकार से पुजारी धार्मिक व्यक्तियों के लिए सूचना स्रोत है। कुछ अध्ययनों में यह भी देखा गया है कि व्यक्ति किन स्रोतों को अधिक विश्वसनीय मानते हैं। एक अध्ययन (Cottrell and Eberhart, 1948) में देखा गया है कि महत्वपूर्ण सूचना स्रोत निम्न प्रकार से हैं :–

1. प्रयोज्यों की आय और शिक्षा का सम्बन्ध उनके सूचना स्रोतों से है। अधिक आय और शिक्षा वाले प्रयोज्य पत्र–पत्रिकाओं को अच्छा सूचना स्रोत मानते हैं।
2. सूचना स्रोत के पक्ष में रेडियो को अल्प सूचना वाले प्रयोज्य विश्वसनीय स्रोत मानते हैं। अधिक सूचना प्राप्त करने वाले प्रयोज्य रेडियो और समाचार पत्र दोनों को ही विश्वसनीय स्रोत मानते हैं।
3. पत्र–पत्रिकाओं को विश्वसनीय स्रोत मानने के कारण इससे विस्तृत सूचना का प्राप्त होना है तथा रेडियो को विश्वसनीय स्रोत मानने का कारण इससे शीघ्र सूचना प्राप्त होना है।

3. समूह प्रभाव

दृष्टिकोण के निर्माण और विकास को समूह सम्बन्धन भी महत्वपूर्ण एवं सार्थक ढंग से प्रभावित करता है। व्यक्ति जिस समूह में रहता है उसी समूह का उसके सामाजीकरण पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। सामाजीकरण प्रतिक्रिया में वह तादात्मीकरण को मुख्य रूप से अपनाता है। इसी तादात्मीकरण के आधार पर वह समूह के विश्वास, मूल्य और प्रतिमानों को सीखता है और साथ–साथ वह उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण को भी सीखता है जिनसे वह तादात्मीकरण करता है अथवा वह जिन व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है।

समूह के विश्वास भी दृष्टिकोण के निर्माण और विकास में सहायक होते हैं। समान विश्वासों के आधार पर समान दृष्टिकोण का निर्माण होता है। इस दिशा में गिलबर्ट (1950) ने अध्ययन किया है। उसने काज एवं ब्रेली (1932) के अध्ययनों को समान प्रतिदर्श पर दुहराया। गिलबर्ट को 1932 में किए गए अध्ययन और 1950 में किए गये अध्ययनों में पर्याप्त समानता मिली। अतः उसने यह निष्कर्ष निकाला कि

विश्वासों और रूढ़ि युक्तियों में पर्याप्त स्थिरता होती है। समूह के मूल्य भी पर्याप्त रूप से दृष्टिकोण निर्माण एवं विकास को प्रभावित करते हैं। स्मिथ (1947) ने यह अध्ययन किया कि मूल्यों एवं विश्वासों का दृष्टिकोण के निर्माण और विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। उसने इन प्रभावों का अध्ययन साक्षात्कार विधि द्वारा किया। प्रथम साक्षात्कार में विश्वास और दृष्टिकोणों के सम्बन्ध पर सूचना एकत्र की तथा द्वितीय साक्षात्कार में उसने दृष्टिकोण और मूल्यों के सम्बन्ध में सूचना एकत्र की। उसने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति के केन्द्रीय मूल्य दृष्टिकोण सम्बन्धी संज्ञान को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। समूह प्रतिमान भी समूह सदस्यों के दृष्टिकोणों के निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। कैम्पबेल और उनके साथियों (1954) ने एक अध्ययन इस दिशा में किया है जिसमें उन्होंने राजनीति से सम्बन्धित दृष्टिकोण पर प्राथमिक समूहों के प्रभाव का अध्ययन किया है। उसने अपने अध्ययनों के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला कि इस प्रकार के दृष्टिकोण को परिवार, मित्र मण्डली तथा कार्य सहयोगियों के दृष्टिकोण प्रभावित करती है।

5. व्यक्तित्व

फ्रेंच (1947) ने अपने अध्ययन में 20 परीक्षणों और प्रविधियों का प्रयोग कर यह देखा कि भिन्न–भिन्न धार्मिक दृष्टिकोण वाले प्रयोज्यों की व्यक्तित्व संरचना में पर्याप्त अन्तर था। इस दिशा में एक अध्ययन (H. McClosky, 1958) कन्जर्वेटिव मापनी तैयार की जिसमें प्रयोज्यों को उदार, पर्याप्त उदार, पर्याप्त रूढ़िवादी तथा चरम रूढ़िवादी, चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता था। उसने अपने अध्ययन में इन चार प्रकार के प्रयोज्यों को 52 दृष्टिकोण मापनियाँ और व्यक्तित्व मापनियाँ भरवाई। अध्ययन के पश्चात कुछ प्रमुख निष्कर्ष निम्न प्रकार से थे :–

1. रूढ़िवादी दृष्टिकोण उन व्यक्तियों में विकसित होते हैं जो कम शिक्षित, बुद्धिमान और जिन्हें पर्याप्त सूचनाए नहीं मिलती हैं।
2. रूढ़िवादी दृष्टिकोण वाले व्यक्ति में भय, विनम्रता और निराशा के लक्षण होते हैं तथा यह लोग अपने बारे में कम सोचने वाले व्यक्ति होते हैं।
3. विद्रोह, अहम् सुरक्षा अपराध, मनमुटाव, अधिक व्यक्तित्व लक्षण चरम रूढ़िवादियों में साधारण रूढ़िवादियों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।
4. चरम रूढ़िवादियों में निम्न आत्मविश्वास, निम्न सामाजिक उत्तरदायित्व, निम्न प्रभुत्व तथा निम्न जागरुकता की विशेषताएं भी सामान्य रूढ़िवादियों की अपेक्षा

अधिक मात्रा में होती हैं। इन परिणामों के समान ही परिणाम कैम्पबेल (1960) और उनके साथियों को उनके अध्ययन में प्राप्त हुए।

5. सामाजिक सीखना और सामाजिक संस्थाएँ

परिवार, स्कूल, मन्दिर, मस्जिद, चर्च, आदि समाज की कुछ ऐसी संस्थाएं हैं जहां पर व्यक्तियों को सामाजिक शिक्षण दिया जाता है। यह सामाजिक शिक्षण भी दृष्टिकोणों के निर्माण और विकास में सहायक है। आज भी नियमों और प्रचार के बावजूद समाज में व्यक्ति अछूतों के प्रति, प्रतिकूल दृष्टिकोण सीखता है तथा भिन्न–भिन्न जातियों के प्रति विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण विकसित करता है। मर्फी तथा न्यूकाम्ब आदि मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर दृष्टिकोण के निर्माण में सामाजिक सीखने के महत्व पर प्रकाश डाला है।

6. प्रत्यक्षात्मक कारक

दृष्टिकोणों के निर्माण में प्रत्यक्षीकरण कारक भी महत्वपूर्ण हैं। यह सत्य है कि "जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी" अर्थात व्यक्ति जैसी उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण करेगा उसी प्रकार से उस व्यक्ति के दृष्टिकोण का निर्माण और विकास होगा। व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण जितना ही शुद्ध और स्पष्ट होगा दृष्टिकोणों भी उतनी ही अधिक स्पष्ट और स्वस्थ बनेंगी।

7. सांस्कृतिक कारक

व्यक्तित्व के निर्माण में भौतिक और सामाजिक पर्यावरण का महत्वपूर्ण योग है। संस्कृति इन दोनों प्रकार के पर्यावरण का परिचायक है। क्रोबर (1948) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह सिद्ध किया कि संस्कृति का व्यक्ति के व्यवहार के निध ारिण में महत्वपूर्ण हाथ है। दृष्टिकोण जन्मजात न होकर समाज और संस्कृति के प्रभाव के कारण उत्पन्न होती हैं। नाडल (1937), कुक (1952) एवं होगेन (1952) आदि ने अपने अध्ययनों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दृष्टिकोणों के विकास और निर्माण में संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, साहित्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, आदि का समग्र रूप ही संस्कृति कहलाता है। दृष्टिकोण का निर्माण और विकास व्यक्ति का एक प्रकार का सीखा हुआ व्यवहार होता है। यह सीखा हुआ व्यवहार संस्कृति से प्रभावित होता है। यह भी देखा गया है कि जब भौतिक या अभौतिक संस्कृति में कोई परिवर्तन अभिवृत्तियों

के संस्कृति के किसी तत्व में कोई परिवर्तन होता है तो वह परिवर्तन दृष्टिकोण के निर्माण एवं विकास को प्रभावित करता है।

8. उद्दीपक पुनरावृत्ति और परिचितता

एक अध्ययन (Najonc, 1968) में यह देखा गया है कि उद्दीपक के लिए वरीयता उतनी अधिक बढ़ती है जितना ही अधिक उद्दीपक की पुनरावृत्ति होती है। उद्दीपक की पुनरावृत्ति के साथ–साथ उद्दीपक से सम्बन्धित भावनाएँ भी बार–बार जागृत होती हैं। अतः हम अवस्था में अभिवृत्तियों को निर्माण और विकास हो सकता है। उद्दीपक की पुनरावृत्ति में सूचना अनिश्चित क्रम में तथा थोड़े से परिवर्तित रूप में होनी चाहिए।

9. प्रकार्यात्मक निर्धारण

इन निर्धारकों को स्पष्ट करते हुए क्रेच और क्रेचफील्ड ने लिखा है कि इन निर्धारकों से हमारा अभिप्राय उन कारकों से है जैसे आवश्यकताएँ, माँग और संवेग, आदि इस प्रकार के निर्धारकों में उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त व्यक्तित्व और विश्वास कारक भी आते हैं। जिस व्यक्ति का जैसा ही व्यक्तित्व होता है उसमें उसी प्रकार के दृष्टिकोण का निर्माण होता है। गम्भीर और शान्तिप्रिय व्यक्तियों में दृष्टिकोण भिन्न प्रकार की निर्मित होंगी। इसी प्रकार से विश्वास भी दृष्टिकोण के निर्माण और विकास को प्रभावित करते हैं। यह देखा गया है कि जिन चीजों के प्रति व्यक्ति का धनात्मक विश्वास होता है उसमें उनके प्रति धनात्मक दृष्टिकोण निर्मित होती है। इसी प्रकार जिन चीजों के प्रति व्यक्ति में ऋणात्मक विश्वास होता है उनके प्रति उसमें ऋणात्मक दृष्टिकोण विकसित होती है।

10. दृष्टिकोण में परिवर्तन

दृष्टिकोण बहुत कुछ स्थायी होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परिवर्तित नहीं होते हैं। समाज में रह कर व्यक्ति दृष्टिकोण को सीखता है या अर्जित करता है। अतः इनका परिवर्तन भी सम्भव है। क्रेच और क्रेचफील्ड के अनुसार दृष्टिकोणों में परिवर्तन के कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे–

(1) दृष्टिकोण की दिशा में परिवर्तन से दृष्टिकोण बदल जाते हैं।

2) जब कुछ निश्चित विश्वास समाप्त हो जाते हैं तो भी दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाते हैं या कुछ विशेष प्रकार के दृष्टिकोणों का विकास रुक जाय या कुछ को प्रोत्साहन

मिल जाये तो भी दृष्टिकोण परिवर्तित होते हैं। दृष्टिकोणों में परिवर्तन दो प्रकार का हो सकता है :–

(1) अनुकूल परिवर्तन

जब किसी दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिकोण की कर्षण–शक्ति के अनुकूल होता है तो ऐसे परिवर्तन को अनुकूल परिवर्तन कहते हैं, जैसे–यदि अभिवृत्ति धनात्मक है तो और अधिक धनात्मक हो जाय या ऋणात्मक है तो अधिक ऋणात्मक हो जाय।

(2) प्रतिकूल परिवर्तन

जब किसी दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिकोण की कर्षण शक्ति के विपरीत होता है तो ऐसे परिवर्तन को प्रतिकूल परिवर्तन कहते हैं, जैसे– यदि दृष्टिकोण धनात्मक है तो और अधिक धनात्मकता कम होती जाय और कम होते–होते दृष्टिकोण ऋणात्मक हो जाय। इसी प्रकार ऋणात्मक दृष्टिकोण की यदि ऋणात्मकता कम होती जाय और इतनी कम हो जाय कि दृष्टिकोण धनात्मक हो जाय। दृष्टिकोण में परिवर्तन अनुकूल होगा या प्रतिकूल यह इस बात पर निर्भर करता है कि दृष्टिकोण में कौन–कौन सी विशेषताएं हैं। इन विशेषताओं का वर्णन इसी अध्ययन से पहले किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति की अभिवृत्तियाँ हैं उस व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं और व्यक्तित्व शीलगुणों पर भी अभिवृत्तियों का परिवर्तन निर्भर करता है। मूसेन (1950) के अध्ययनों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि व्यक्तित्व सम्बन्धी कारक दृष्टिकोण परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। दृष्टिकोण परिवर्तन इस बात पर भी निर्भर करता है कि समूह में उस दृष्टिकोण विशेष की क्या स्थिति है।

11.10 दृष्टिकोण को प्रभावित करने वाले कारक (Affecting factors to View Point)

दृष्टिकोण को निम्नलिखित कारक प्रभावित करते हैं :

1. जनमाध्यम एवं सम्प्रेषण

पत्र–पत्रिकाएं, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि कुछ प्रचलित जनमाध्यम और सम्प्रेषण के साधन हैं। इन साधनों द्वारा किसी देश के अधिकांश व्यक्तियों पर सूचना पहुँचाई जा सकती है और इन साधनों द्वारा बार–बार सूचना देकर दृष्टिकोण का परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए सरकार परिवार नियोजन की

योजना चला रही है, संतान नियमन का प्रचार कर रही है। इस प्रकार के प्रचार और सम्प्रेषण का प्रभाव यह पड़ा है कि लोगों की इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण परिवर्तित हो गये हैं और संतान नियमन उचित समझा जाने लगा है। पीटरसन और थर्सटन (1937) ने अमेरिकन बच्चों के दृष्टिकोण परिवर्तन एवं चलचित्रों के प्रभाव का अध्ययन किया। इन विद्वानों ने यह देखा कि चलचित्रों के माध्यम से इन बच्चों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन जल्दी हो जाते हैं। शैरिफ और शैरिफ का भी कहना है कि "आज के अत्यधिक जटिल समाजों में व्यक्ति और समूह दोनों ही सम्प्रेषण की विभिन्न विधियों द्वारा अपने दृष्टिकोण का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। समाचार पत्र, पत्रिकाएं, पुस्तकें, रेडिया और टेलीविजन लोगों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।"

2. सम्पर्क

पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा भी दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाते हैं। जब व्यक्ति एक दूसरे से सम्पर्क में आते हैं और साथ–साथ उठने–बैठने, खाने–पीने और रहने का अवसर मिलता है तो ऐसे सम्पर्क से भी दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाया करती है।

3. स्कूल

दृष्टिकोण के परिवर्तन पर शिक्षा संस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। बालक जिस विद्यालय में पढ़ता है वहाँ का वातावरण, स्कूल के साथी, अध्यापक, यह सभी उसके व्यवहार को प्रभावित करते है। इन सभी लोगों का व्यवहार, व्यक्तित्व और अभिवृत्तियाँ एक बच्चे की दृष्टिकोण का परिवर्तन कर सकती हैं और दृष्टिकोण का निर्माण भी।

4. प्रतिष्ठा निर्देश

प्रतिष्ठा निर्देशों के कारण भी दृष्टिकोण परिवर्तित होता हैं। जब कोई व्यक्ति किसी बड़े नेता, समाज सुधारक, वैज्ञानिक, महात्मा या विद्वान के भाषण को सुनता है तो कभी–कभी भाषण द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा निर्देशों क कारण भी दृष्टिकोण का परिवर्तन हो जाया करता है। गाँधी जी के विचारों के कारण दलितों के प्रति आज हम लोगों की अभिवृत्ति वैसी नहीं है जैसी कि चालीस वर्ष पहले थी।

5. व्यक्तिगत स्पष्ट अनुभव

प्रायः देखा गया है कि लोग आँखों देखी बात पर अधिक विश्वास करते हैं। किसी भी वस्तु, घटना या व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में व्यक्तिगत और स्पष्ट अनुभव दृष्टिकोण के परिवर्तन में अधिक सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति में

अपनी पत्नी के साथ कटु व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर विवाह और स्त्रियों के प्रतिकूल दृष्टिकोण का विकास हो सकता है। साथ–साथ यह भी सम्भव है कि इस व्यक्ति सम्पर्क ऐसी स्त्री से हो जिसमें उदारता, सहानुभूति, प्रेस और सहयोग पर्याप्त मात्रा में हो तो निश्चय ही उस व्यक्ति की पूर्वनिर्मित दृष्टिकोण में परिवर्तन हो सकता है और उस व्यक्ति में स्त्रियों के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण का विकास हो सकता है। इस प्रकार उसका प्रतिकूल दृष्टिकोण अनुकूल दृष्टिकोण में परिवर्तित हो गया। माँ के प्रति उसके बेटों का दृष्टिकोण अनुकूल हुआ करता है परन्तु सौतेली माँ का व्यवहार जब मारपीट और शरीरिक कष्ट पहुँचाने वाला होता है तो बच्चे माँ कहकर पुकारना नहीं चाहते।

6. संस्कृति

टेलर के अनुसार, "संस्कृति वह जटिल पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, क़ानून, रीति–रिवार्ज और समाज के सदस्य के नाते मनुष्य की अर्जित अन्य योग्यताएँ और आदतें भी सम्मिलित हैं।" प्रत्येक समाज की संस्कृति अलग–अलग होती है। संस्कृति के अनुसार भी दृष्टिकोण को विकास और परिवर्तन होता है। भारत के लोगों में दलितों के प्रति जो दृष्टिकोण है वैसा दृष्टिकोण अमेरिका या इंगलैण्ड के लोगों में दलितों के प्रति नहीं है। लिंटन का कहना है कि, "सम्पूर्ण रूप में, संस्कृति किसी भी समाज के सदस्यों के जीवन के प्रत्येक कार्य में अनिवार्य पथ–प्रदर्शन का कार्य करती है।"

वेनडिक्ट ने भी कहा है कि, "संस्कृति उस कच्चे माल को देती है जिससे व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि वह माल कम है तो व्यक्ति को हानि होती है और यदि अधिक है तो व्यक्ति अवसर से लाभ उठा सकता है।"

ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, प्रथा, प्रौद्योगिकी आदि का अग्रसर रूप ही संस्कृति है अतः संस्कृति के लक्षणों का दृष्टिकोण के निर्माण, विकास और परिवर्तन पर प्रकाश पड़ना स्वाभाविक है। जब एक संस्कृति के लोग दूसरी संस्कृति के लोगों सम्पर्क में आते हैं तब भी उनके दृष्टिकोण के परिवर्तन परस्पर सम्पर्क के कारण हो सकते हैं।

7. व्यक्ति और दृष्टिकोण परिवर्तन

दृष्टिकोण परिवर्तन का एक प्रमुख कारण व्यक्तित्व और उसकी विशेषताएँ भी हैं। एक अध्ययन में यह देखा गया है कि तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति सूचना अधिक ग्रहण

करते हैं तथा मन्द बुद्धि वाले कम। अधिक बुद्धि वाले व्यक्ति स्थिति का मूल्यांकन मन्द बुद्धि वाले व्यक्तियों की अपेक्षाकृत शुद्ध ढंग से करतें हैं। अधिक बुद्धि वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन अनुभवों के आधार पर अधिक होता है जबकि कम बुद्धि वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण का परिवर्तन प्रचार और सूचना ग्रहण पर अधिक निर्भर करता है। सामान्य अनुनयशीलता भी व्यक्तित्व का एक प्रमुख घटक है। स्त्रियों में अनुनयशीलता अधिक और पुरूषों में कम पायी जाती है। अध्ययनों में यह देखा गया है कि जिन व्यक्तियों में अनुनयशीलता अधिक पायी जाती है उन व्यक्तियों में अभिवृत्ति परिवर्तन अपेक्षाकृत शीघ्र होता है।

कुछ अध्ययनों में यह देखा गया है कि दृष्टिकोण परिवर्तन संज्ञानात्मक आवश्यकताओं और शैली से भी प्रभावित होता है। इन विद्वानों का विचार है कि संज्ञानात्मक स्पष्टता की अनुक्रिया करते हैं जब उन्हें नवीन सूचना प्राप्त होती है। यह नवीन सूचनाएँ उनकी पूर्व अभिवृत्तियों को इस अवस्था में प्रभावित कर सकती हैं। इन मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि परिवर्तन होने की सम्भावना होती है। एक अन्य अध्ययन (Linton and Graham, 1959) में यह देखा गया है कि परिवर्तनशील बालकों की दृष्टिकोण में परिवर्तन सम्प्रेषण के अनुरूप होते हैं तथा अपरिवर्तनशील बालकों की अभिवृत्तियों पर सम्प्रेषण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

8. समूह का प्रभाव

समूह के प्रत्येक या अधिकांश सदस्यों को समूह के आदर्शों, मूल्यों और नियमों आदि के अनुसार कार्य व्यवहार करना पड़ता है। यदि कोई सदस्य समूह के प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार नहीं करता है तो अस समूह को सदस्यता से हटा दिया जाता हैं बहुध ा उसी दृष्टिकोण को अर्जित करता है जो एक समूह के अधिकांश व्यक्तियों में पायी जाती हैं। लेविन ने अपने अध्ययनों के आधार पर बताया कि दृष्टिकोण के परिवर्तन में समूह निर्णय भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। उसने यह देखा कि जिस समूह में सिर्फ व्याख्यान दिया गया उसमें दृष्टिकोण का परिवर्तन केवल 3 प्रतिशत हुआ जबकि सामूहिक निर्णय वाले में लगभग 32 प्रतिशत दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। सम्भवतः लेविन और उनके साथियों ने ही सर्वप्रथम यह अध्ययन किया कि कार्य और दृष्टिकोण समूह निर्णयों से किस प्रकार प्रभावित होता है। एक अध्ययन में यह देखा गया कि समूह की निर्धारित अभिवृत्तियों को समूह के नये सदस्य शीघ्र ग्रहण करते हैं अर्थात उसके दृष्टिकोण से शीघ्र परिवर्तन होता है।

9. समूह माध्यम और व्यक्तिगत प्रभाव

एक अध्ययन (Lazarasfeld, Berelson and Gandet, 1944) में यह देखा गया कि समूह माध्यम की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रभाव मतदान परिवर्तन को अधिक प्रभावित करता है। इन मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि व्यक्तिगत प्रभाव इसलिए श्रेष्ठ है कि इसमें आमने–सामने करना अधिक सम्भव है। समूह माध्यम और व्यक्तिगत प्रभाव के अन्य अध्ययन (Katz and Lazarasfeld, 1955) में यह देखा कि व्यक्तिगत प्रभाव व्यक्ति के वैयक्तिक निर्णयों को अधिक सार्थक एवं महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। व्यक्तिगत का यहाँ अभिप्रायः है भोजन तथा घरेलू सामान के सम्बन्ध में व्यक्तिगत निर्णय आदि।

10. अपेक्षित भूमिका का निर्माण

अपेक्षित भूमिका के निर्वाह का अर्थ है कि समूह के एक सदस्य किस भूमिका की आशा करता है। उदाहरण के लिए व्यापारी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अमीर, गरीब, जात–पात, काले–गोरे, आदि के आधार पर अपने खरीददारों से व्यवहार नहीं करेगा वरन् व्यवहार करते समय एक व्यापारी अपने सभी खरीददारों से समानता का व्यवहार करेगा। जिस प्रकार एक अध्यापक करता है। इस प्रकार की भूमिका का निर्वाह की अपेक्षा उसके विद्यार्थी और समाज करता है। एक समान भूमिका का निर्वाह भी दृष्टिकोण परिवर्तन को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है।

11.11 सारांश

दृष्टिकोण किसी व्यक्ति के अनुभव, ज्ञान एवं प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं का स्थायी संगठन है और प्रत्युत्तर तत्परता का मिला–जुला रूप है। अनुभव, ज्ञान और प्रत्यक्षात्मकता में परिवर्तनों के साथ–साथ दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाते हैं। मत तथा दृष्टिकोण में अन्तर है। जिन पर हम विष्वास करते हैं और सत्य मानते हैं, मत ऐसी बातों से सम्बन्धित होता है। हमारे अनुभवों के सम्बन्ध में निर्णय भी मत हो सकता है। स्पष्ट है कि मत की अपेक्षा दृष्टिकोण अधिक जटिल प्रक्रिया है। माँ के हृदय में अपने बच्चे के संरक्षण का दृष्टिकोण होता है, जिसके कारण वह रोते हुए बच्चे के पास सब काम छोड़ कर दौड़ी हुई आती है और रोते हुए बच्चे को गोद में उठा लेती है तथा उसे चुप करने के प्रत्येक उपाय करती है। दृष्टिकोणों का व्यक्ति के समायोजन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन दृष्टिकोणों का निर्माण होता है। दृष्टिकोण व्यक्ति की अर्जित विशेषताएँ हैं। व्यक्ति के सामाजिक

जीवन की प्रत्येक क्रिया का आधार इसका दृष्टिकोण होता है। दृष्टिकोण के व्यक्ति में अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। यह व्यक्तित्व को निरन्तरता प्रदान करता हैं। यह उसके दैनिक प्रत्यक्षीकरण और प्रक्रियाओं को अर्थ पूर्ण बनाता है तथा उसके विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता देता हैं। स्पष्ट है कि मत की अपेक्षा दृष्टिकोण अधिक जटिल प्रक्रिया है। माँ के हृदय में अपने बच्चे के संरक्षण का दृष्टिकोण होता है, जिसके कारण वह रोते हुए बच्चे के पास सब काम छोड़ कर दौड़ी हुई आती है और रोते हुए बच्चे को गोद में उठा लेती है तथा उसे चुप करने के प्रत्येक उपाय करती है। दृष्टिकोणों का व्यक्ति के समायोजन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन दृष्टिकोणों का निर्माण होता है। दृष्टिकोण व्यक्ति की अर्जित विशेषताएँ हैं। व्यक्ति के सामाजिक जीवन की प्रत्यक क्रिया का आधार उसका दृष्टिकोण होता है। दृष्टिकोण के व्यक्ति में अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। यह व्यक्तित्व को निरन्तरता प्रदान करता हैं। यह उसके दैनिक प्रत्यक्षीकरण और प्रक्रियाओं को अर्थ पूर्ण बनाता है तथा उसके विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक है।"

11.12 शब्दावली

समूह	:	जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलते हैं तब समूह बनता है।
विशेषज्ञ	:	विशेष प्रकार का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति जो अपने क्षेत्र में माहिर होता है।
प्रत्यक्ष	:	जो आंखों के सामने हुआ हो या हो रहा हो।

11.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डी. एन. श्रीवास्तव, 1997 आधुनिक समाज मनोविज्ञान, आगरा।

डी. एन. श्रीवास्तव, 1997 आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, विनो्द पुस्तक मंदिर, आगरा।

पी. डी. मिश्र, 2002, सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।

एम. एल. गुप्त एवं डी. डी. शर्मा, 2001 मानव समाज, साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा।

लाभ सिंह एवं योगेन्द्र तिवारी, 1985, असामान्य मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

11.14 बोध प्रश्न

टिप्पणी 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

(2) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1) दृष्टिकोण परिवर्तन को प्रभावित करने वाले साधन से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

(2) दृष्टिकोण और प्ररेणा में सम्बन्ध बताइए ?

.....

.....

(3) दृष्टिकोण और मूल्य में क्या सम्बन्ध है?

.....

.....

11.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. दृष्टिकोण निम्नलिखित कारकों से परिवर्तित होता है :

जनमाध्यम एवं सम्प्रेषण

पत्र–पत्रिकाएं, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि कुछ प्रचलित जनमाध्यम और सम्प्रेषण के साधन हैं। इन साधनों द्वारा किसी देश के अधिकांश व्यक्तियों पर सूचना पहुँचाई जा सकती है और इन साधनों द्वारा बार–बार सूचना देकर दृष्टिकोण का परिवर्तन किया जा सकता है।

सम्पर्क

पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा भी दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाते हैं। जब व्यक्ति एक दूसरे से सम्पर्क में आते हैं और साथ–साथ उठने–बैठने, खाने–पीने और रहने का अवसर मिलता है तो ऐसे सम्पर्क से भी दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाया करती है।

स्कूल

दृष्टिकोण के परिवर्तन पर शिक्षा संस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। बालक जिस विद्यालय में पढ़ता है वहाँ का वातावरण, स्कूल के साथी, अध्यापक, यह सभी उसके व्यवहार को प्रभावित करते है। इन सभी लोगों का व्यवहार, व्यक्तित्व और अभिवृत्तियाँ एक बच्चे की दृष्टिकोण का परिवर्तन कर सकती हैं और दृष्टिकोण का निर्माण भी।

प्रतिष्ठा निर्देश

प्रतिष्ठा निर्देशों के कारण भी दृष्टिकोण परिवर्तित होता हैं। जब कोई व्यक्ति किसी बड़े नेता, समाज सुधारक, वैज्ञानिक, महात्मा या विद्वान के भाषण को सुनता है तो कभी–कभी भाषण द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा निर्देशों क कारण भी दृष्टिकोण का परिवर्तन हो जाया करता है।

व्यक्तिगत स्पष्ट अनुभव

प्रायः देखा गया है कि लोग आँखों देखी बात पर अधिक विश्वास करते हैं। किसी भी वस्तु, घटना या व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में व्यक्तिगत और स्पष्ट अनुभव दृष्टिकोण के परिवर्तन में अधिक सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति में अपनी पत्नी के साथ कटु व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर विवाह और स्त्रियों के प्रतिकूल दृष्टिकोण का विकास हो सकता है।

संस्कृति

टेलर के अनुसार, "संस्कृति वह जटिल पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, रीति–रिवार्ज और समाज के सदस्य के नाते मनुष्य की अर्जित अन्य योग्यताएँ और आदतें भी सम्मिलित हैं।" प्रत्येक समाज की संस्कृति अलग–अलग होती है। संस्कृति के अनुसार भी दृष्टिकोण को विकास और परिवर्तन होता है।

व्यक्ति और दृष्टिकोण परिवर्तन

दृष्टिकोण परिवर्तन का एक प्रमुख कारण व्यक्तित्व और उसकी विशेषताएँ भी हैं। एक अध्ययन में यह देखा गया है कि तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति सूचना अधिक ग्रहण

करते हैं तथा मन्द बुद्धि वाले कम। अधिक बुद्धि वाले व्यक्ति स्थिति का मूल्यांकन मन्द बुद्धि वाले व्यक्तियों की अपेक्षाकृत शुद्ध ढंग से करतें हैं। अधिक बुद्धि वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन अनुभवों के आधार पर अधिक होता है जबकि कम बुद्धि वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण का परिवर्तन प्रचार और सूचना ग्रहण पर अधिक निर्भर करता है।

समूह का प्रभाव

समूह के प्रत्येक या अधिकांश सदस्यों को समूह के आदर्शों, मूल्यों और नियमों आदि के अनुसार कार्य व्यवहार करना पड़ता है। यदि कोई सदस्य समूह के प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार नहीं करता है तो अस समूह को सदस्यता से हटा दिया जाता हैं बहुधा उसी दृष्टिकोण को अर्जित करता है जो एक समूह के अधिकांश व्यक्तियों में पायी जाती हैं।

समूह माध्यम और व्यक्तिगत प्रभाव

एक अध्ययन (Lazarasfeld, Berelson and Gandet, 1944) में यह देखा गया कि समूह माध्यम की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रभाव मतदान परिवर्तन को अधिक प्रभावित करता है। इन मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि व्यक्तिगत प्रभाव इसलिए श्रेष्ठ है कि इसमें आमने–सामने करना अधिक सम्भव है। समूह माध्यम और व्यक्तिगत प्रभाव के अन्य अध्ययन (Katz and Lazarasfeld, 1955) में यह देखा कि व्यक्तिगत प्रभाव व्यक्ति के वैयक्तिक निर्णयों को अधिक सार्थक एवं महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। व्यक्तिगत का यहाँ अभिप्रायः है भोजन तथा घरेलू सामान के सम्बन्ध में व्यक्तिगत निर्णय आदि।

अपेक्षित भूमिका का निर्माण

अपेक्षित भूमिका के निर्वाह का अर्थ है कि समूह के एक सदस्य किस भूमिका की आशा करता है। उदाहरण के लिए व्यापारी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अमीर, गरीब, जात–पात, काले–गोरे, आदि के आधार पर अपने खरीददारों से व्यवहार नहीं करेगा वरन् व्यवहार करते समय एक व्यापारी अपने सभी खरीददारों से समानता का व्यवहार करेगा।

2. दृष्टिकोण और प्रेरणा (प्रेरणा से तात्पर्य उस वस्तु से हैं जो प्राणी को कार्य करने के लिए उत्तेजित करती है या प्राणी के एक बार कार्य करने के लिए तैयार हो

जाने के बाद क्रिया के लिए निर्देशन करती है और उत्साहित करती है और आपस में एक–दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं) में निम्नलिखित सम्बन्ध होता है :

- प्रेरणाएं उत्पन्न होती हैं और तक तक विद्यमान रहती है जब तक क्रिया पूर्ण नहीं होती है। क्रिया के पूर्ण होते ही प्रेरणा समाप्त हो जाती है। दूसरे दृष्टिकोण अधिक स्थाई है।
- दृष्टिकोण और प्रेरणा दोनों का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होता है।
- दोनों में ही संवेगात्मक और प्रत्यक्षात्मक भाव रहता है।
- दृष्टिकोणों का क्षेत्र प्रेरणाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और प्रेरणाओं का क्षेत्र उतना विस्तत नहीं होता है।
- प्रेरणाओं में गतिशीलता अधिक पायी जाती है, साथ ही साथ इनका क्रियात्मक पक्ष अधिक प्रभावशाली होता है। दूसरी ओर दृष्टिकोणों में ज्ञानात्मक और संवेगात्मक पक्ष अधिक प्रभावशाली होता है।

3. किम्बल यंग के अनुसार, "मूल्य उन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके प्रति हम अपनी इच्छाओं और दृष्टिकोणों को ले जाते हैं।"

बोनर के अनुसार, "प्राकृतिक वस्तु कोई अर्थ ग्रहण करती है तब वह मूल्य बन जाती है। बिना अर्थ के कोई मूल्य नहीं होता है।"

संक्षेप में, मूल्य इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि व्यक्ति और समाज इनको पाने की हर चेष्टा करते हैं तथा इस चेष्टा में बड़े से बड़ा त्याग कर सकते हैं और व्यक्ति इन्हीं मूल्यों के लिए जीवित रहते हैं। दृष्टिकोण और मूल्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित हैं :

- मूल्य वस्तुगत होते हैं और दृष्टिकोण आत्मगम।
- मूल्यों का आधार सामाजिक आदर्ष और उद्देश्य हुआ करते हैं। बहुधा समाज में उन्हीं वस्तुओं को महत्व दिया जाता है तो सामाजिक आदर्शों के अनुकूल होते हैं। यही मूल्य शक्ति के दृष्टिकोणों का आधार हुआ करते हैं।
- दृष्टिकोण व्यक्ति क्रिया की दिशाओं से सम्बन्धित होती हैं जबकि मूल्य प्रत्यक्षीकरण की दिशा के सूचक होते हैं।
- जब कोई वस्तु दृष्टिकोण का लक्ष्य बन जाती है तो वह मूल्य बन जाती है, दूसरी ओर दृष्टिकोण किसी वस्तु की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति है।

इकाई 12 विश्वास (Belief)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 विश्वास

12.2.1 विश्वास की परिभाषा

12.2.2 विश्वास की विशेषताएँ

12.2.3 विश्वास के प्रकार

12.2.4 विश्वास और आस्था

12.2.5 आधारभूत धार्मिक विश्वास

12.3 अभिवृत्ति और विश्वास

12.4 सारांश

12.4 बोध प्रश्न

12.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई में विश्वास की चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे:

- विश्वास की परिभाषा के विषय में
- विश्वास की विशेषताएं,
- विश्वास के प्रकार के विषय में,
- टोटम वाद और विश्वास को,
- अभिवृत्ति और विश्वास।

12.1 प्रस्तावना (Introduction)

विश्वास किसी वस्तु में भरोसा या किसी तथ्य को मानना है। विश्वास ही व्यक्ति को वस्तुओं का अर्थ बताता है। वह वस्तु का वस्तु के बारे में संपूर्ण ज्ञान होता है, उसमें सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों के संगठनों का संगठन सम्मिलित रहता है। धार्मिक विश्वास के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता में विश्वास, आत्मा की अमरता में विश्वास, मृत्योपरान्त जीवन में विश्वास, पुर्नजन्म में विश्वास, स्वर्ग–नरक सम्बन्धी विश्वास या मोक्ष की धारणा में विश्वास आदि सम्मिलित। किसी प्रस्ताव अथवा विचार के सत्य मानना विश्वास का द्योतक है। सामान्यतः यह स्वीकृति बौद्धिक होती है। विश्वास व्यक्ति में एक ऐसी मानसिक दशा के निर्माण करते है, जो उसके स्वैच्छिक क्रिया के जनक का काम करती है। विश्वास कई प्रकार के हो सकते है यथा वैज्ञानिक विश्वास सनकपन पर आधारित विश्वास, अंधविश्वास आदि। सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के बारे में हम विश्वास रखते है। यह विश्वास कथनों और मान्यताओं के रूप में होते है। विश्वास न सच्चे होते है न झूठे। उदाहरण स्वरूप काली बिल्ली के रास्ता काटने पर दूसरे के पश्चात जाना। मानव समाज में विश्वासों का महत्वपूर्ण स्थान है। विश्वासों के आधार पर ही व्यक्ति प्रथाओं, नियमों और धर्म आदि का पालन करता है। जिन विश्वासों को सामाजिक अनुमोदन प्राप्त होता है वे सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। आस्था और विश्वास एक नहीं हैं दोनों में अन्तर है। आस्था मे संपूर्णता, गहनता एवं तीव्रता होती है जबकि विश्वास बौद्धिक होने के कारण आस्था की तरह स्थायी की तरह स्थायी नहीं होता है। आस्था हृदय परक है तो विश्वास बुद्धिपरक है। आस्था का विषय आन्तरिक है जबकि विश्वास के विषय आन्तरिक और बाह्य दोनों हैं। आस्था स्थायी और अपरिवर्तनशील होती है जबकि विश्वास का परित्याग किया जा सकता है, परिणामस्वरूप यह अस्थायी और परिवर्तनशील होता है। आस्था में आत्मसंलग्रता और सहभागिता का भाव बना रहता है इसलिए व्यक्ति इसमें तटस्थ नहीं रह पाता है जबकि विश्वास में व्यक्ति तटस्थ बना रह सकता है। आस्था जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, वहीं पर विश्वास व्यक्ति के व्यक्तित्व को उतना प्रभावित नहीं कर पाता है।

12.2 विश्वास (Belief)

धर्म–सम्बन्धी विश्वास को विश्वास के रूप में अभिहित किया जाता है। धार्मिक विश्वास के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता में विश्वास, आत्मा की अमरता में विश्वास, मृत्योपरान्त जीवन में विश्वास, पुर्नजन्म में विश्वास, स्वर्ग–नरक सम्बन्धी विश्वास या

मोक्ष की धारणा में विश्वास आदि सम्मिलित। धार्मिक विश्वास की दृढ़ता ही धर्म में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। दुर्खीम ने विश्वास को एक सामाजिक तथ्य माना है। विश्वास हमारी अभौतिक संस्कृति का अंग है और यह हमारे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी प्रकार के व्यवहारों को प्रभावित करता है। विश्वास किसी वस्तु या विचारधारा को सही मानने की स्वीकृति है। यह मस्तिष्क की वह स्थिति है जो किसी व्यक्ति या वस्तु में आस्था या भरोसा व्यक्त करती है।

विश्वास किसी वस्तु में भरोसा या किसी तथ्य को मानना है। विश्वास ही व्यक्ति को वस्तुओं का अर्थ बताता है। वह वस्तु का वस्तु के बारे में संपूर्ण ज्ञान होता है, उसमें सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों के संगठनों का संगठन सम्मिलित रहता है। उदाहरण के लिए, यदि दो लोग मानते हैं कि ग्रमीण लोग बुद्धू होते हैं तो गांव के लोगों के बारे में उनके संज्ञान के बहुत पहलू हैं जिनका उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान है, जैसे ग्रामीण लोग अनपढ़ या कम पढ़े–लिखे होते हैं। उन्हें आधुनिक दुनिया एवं विज्ञान की जानकारी नहीं है, उनकी बुद्धि का विकास नहीं हुआ है, उनकी भाषा एवं संस्कृति का विकास नहीं हुआ है, उन्हें कपड़े पहनने का ढंग नही आता है, वे झोपड़ियो में रहते हैं आदि। ये सभी धारणाएं उनके बारे में हमारा संज्ञान एकत्रित कर देती हैं। व्यक्ति उन बातों के बारे में धारणाए बना सकता है जिन्हें उसने देखा तक नहीं। ईश्वर को हमने देखा नहीं फिर भी हम काल्पनिक आकृतियों में उसका काल्पनिक संज्ञान विकसित करके उनके बारे में विश्वास करते हैं कि वह सर्वशक्तिमान है, सर्वत्र विद्यमान है, वह सब कुछ देखता है और व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार फल मिलता है।

12.2.1 विश्वास की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने विश्वास समय–समय पर विश्वास की जो परिभाषाएं दी वे निम्नलिखित प्रकार से हैः

ब्लैकस्टोन ने धार्मिक की परिभाषा करते हुए कहा है कि, "किसी निष्ठा के विषय के प्रति सम्पूर्ण प्रतिबद्धता ही धार्मिक विश्वास है।

मार्गन, किंग, विस्ज एवं स्कोपलर लिखते है, "वस्तुओं के गुणों के बारे में जो विचार या संज्ञान होते है, उन्हें ही विश्वास कहा जाता है।"

वशेल एवं कपूर के अनुसार" वस्तुओं या विचारों के बीच संबंध की अभिव्यक्ति को विश्वास कहते हैं।"

एक अन्य परिभाषा के अनुसार, धार्मिक विश्वास को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है, 'धार्मिक विश्वास विशिष्टता का दावा करता है। विश्वास के इस रूप में निर्दिष्ट और समर्पित वास्तविकता का स्वरूप विस्मयकारी और दूरगामी है। उसमें व्यक्तित्व परिवर्द्धित और प्रतिष्ठित होता है। इस बात पर सुस्पष्ट बल दिया जाता है कि धार्मिक विश्वास का आरोपण और विकास तर्कणा के प्रति साक्षात अपील के द्वारा नहीं अपितु बौद्धिकता से संगति रखता है।

कच और कचफील्ड (1958) ने विश्वास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "विश्वास एक व्यक्ति के संसार में किसी भी पहलू के सम्बन्ध में प्रत्यक्षीकरण और चुनाव का एक स्थायी संगठन है।" कच और चकफील्ड ने आगे लिखा है कि विश्वास एक वस्तु के अर्थों का नमूना है। यह एक वस्तु के बारे में एक व्यक्ति के ज्ञानात्मक विषयों की सम्पूर्णता है।

इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स में विश्वास को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है, 'विश्वास आश्वासन अथवा दृढ़ धारणा की मानसिक स्थिति है। यह अपने आन्तरिक अनुभूतियों के प्रति मन की वह मनोवृत्ति है जिसमें वह अपने द्वारा निर्दिष्ट वास्तविकता को यथार्थ महत्व या मूल्य के रूप में स्वीकृत और समर्थित करता है।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विश्वास तर्क से परिपूर्ण है और वास्तविकता के प्रति आज्ञाकारिता का भाव पाते हैं।

थियोडोरसन लिखते हैं कि विश्वास किसी भी वास्तविकता के बारे में एक कथन है जिसे एक व्यक्ति द्वारा सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है।

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि विश्वास का स्वरूप विशिष्टता से आच्छादित है। धार्मिक विश्वास का गठन उस रूप में नहीं हुआ है जिस रूप में विश्वास के अन्य गठित हुये हैं। धार्मिक विश्वास न तो साधारण विश्वास है और न ही वैज्ञानिक विश्वास है। धार्मिक विश्वास को रहस्यात्मक मान लेना उचित नहीं है क्योंकि इसकी विषय–वस्तु ईश्वर और आत्मा में विश्वास है। धार्मिक विश्वास में इच्छा, भावना और संवेग के कारण सक्रियता आती है। यह प्रत्यक्षतः तर्क से सम्बन्धित न होकर भी परोक्षतः तर्क से सम्बन्धित है। धार्मिक विश्वास उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को आमूल चूल रूप में परिवर्तित कर देता है, जो इसे धारण करता है। धार्मिक विश्वास को तर्क विरोधी, अबौद्धिक या अयौक्तिक नहीं कहा जा सकता है। अनेक उदाहरणों से धार्मिक विश्वास तर्कसंगत होता है और बुद्धिसम्मत भी होता है। स्पष्ट होता है कि

व्यक्ति के प्रत्याक्षीकरण के आधार पर बने संगठन ही विश्वास हैं। प्रत्यक्षीकरण के आधार पर निर्मित स्थायी संगठनों में स्पष्टता का गुण भी पाया जाता है।

12.2.2 विश्वास की विशेषताएँ

किसी प्रस्ताव अथवा विचार के सत्य मानना विश्वास का द्योतक है। सामान्यतः यह स्वीकृति बौद्धिक होती है। विश्वास व्यक्ति में एक ऐसी मानसिक दशा का निर्माण करते है, जो उसके स्वैचछिक क्रिया के जनक का काम करती है। विश्वास कई प्रकार के हो सकते है यथा वैज्ञानिक विश्वास सनकपन पर आधारित विश्वास, अंधविश्वास आदि।

सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के बारे में हम विश्वास रखते है। यह विश्वास कथनों और मान्यताओं के रूप में होते है। विश्वास न सच्चे होते है न झूठे। विश्वास पर यकीन किया जाता है। उदाहरण स्वरूप काली बिल्ली के रास्ता काटने पर दूसरे के पश्चात जाना।

मानव समाज में विश्वासों का महत्वपूर्ण स्थान है। विश्वासों के आधार पर ही व्यक्ति प्रथाओं, नियमों और धर्म आदि का पालन करता है। जिन विश्वासों को सामाजिक अनुमोदन प्राप्त होता है वे सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। विश्वास की विशेषताएं निम्नलिखित हैः

(1) विश्वास का संबंध मानव के मस्तिष्क से है।

(2) इसका संबंध मानव की आस्था एवं भरोसे से है।

(3) यह हमारी अभौविक संस्कृति का अंग है।

(4) विश्वास के उल्लेख सम्य एवं शिक्षित समाजों के साहित्य में किया जाता है।

(5) असभ्य एवं अशिक्षित समाजों में लोकगीतों, कथाओं, गाथाओं, धर्म एवं जादू–टोने की आत्माओं में विश्वासों को व्यक्त किया जाता है।

(6) विश्वास सत्य एवं असत्य हो सकते है।

(7) अधिकांशतः विश्वासों का संबंध धर्म एवं ईष्वर तथा अलौकिक शक्ति से होता है।

(8) विश्वास प्राकृतिक एवं सामाजिक दोनों ही हो सकते है।

12.2.3 विश्वास के प्रकार

विश्वास मुख्यतः दो प्रकार का होता है

1. **वैज्ञानिक विश्वास**

जिनका संबंध विज्ञान एवं वैज्ञानिक विषयों एवं प्रयोगों से होता है।

2. **अवैज्ञानिक विश्वास**

जिनका वैज्ञानिक परीक्षण नहीं हुआ है या वे विज्ञान की कसौटी खरे नही उतरे है। अंधविश्वास इसी श्रेणी में आते है। जैसे हम भूत–प्रेत, परग्रही द्वारा अपहरण से लेकर भविष्यवाणी करना, हवा से वस्तु उत्पन्न करने से लेकर पुनर्जन्म जैसी विचित्र बातों पर विश्वास कर सकते हैं।

रोंस ने समाज में विद्यमान विश्वासों का पाँच भागों में बाँटा है–

(1) समाज में यह विश्वास जम जाता है कि समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन उचित है और उसका उलंघन अनुचित है। मानव के प्रत्येंक कार्य को कोई न कोई अलौकिक शक्ति देख रही है जो व्यक्ति को समाज स्वीकृत कार्य करने का पुरस्कार एवं समाज विरोधी कार्य करने पर दण्ड देता है।

(2) एक विश्वास यह है कि आत्मा अजर अमर है मरने के बाद व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार ही अगला अन्म मिलता है। अगला जन्म सुखमय या दुःखमय होगा, यह उसके पहले के जन्म के कार्यों पर निर्भर है। कर्म एवं मुक्ति की धारणा प्रमुख रूप से हिन्दुओं में पायी जाती है।

(3) एक विश्वास यह भी है कि व्यक्ति को अच्छे व बुरे कर्मों का फल इसी जीवन में पुरस्कार व दण्ड के रूप में अवश्य मिलता है। दण्ड की देवी अदृश्य रूप से व्यक्ति के कार्यों को देखती रहती है।

(4) स्वर्ग एवं नरक में विश्वास भी समाज में नियंत्रण बनायें रखता है। स्वर्ग–प्राप्ति की इच्छा लोगों को सत्कर्म करने को प्रेरित करती है एवं नरक से बचने की इच्छा बुरे कार्य करने से व्यक्ति को रोके रखती है।

(5) भूतप्रेतों एवं पूर्वजों की आत्मा में विश्वास भी समाज में नियंत्रण रखता है। लोग यह मानते है कि बुरे कार्यों से पूर्वजों की आत्मा को ठेस पहुँचती है, अतः वे समाजविरोधी व्यवहारों से बचते है।

विश्व के प्रचलित प्रमुख धर्मो में विश्वास देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म में ईश्वर के अवतार, पुनर्जन्म में विश्वास और मोक्ष की धारणा में विश्वास धार्मिक विश्वास का ही उदाहरण है। इसी प्रकार ईसाई धर्मो और इस्लाम धर्मो की यह मान्यता कि ईश्वर ने विश्व की रचना से की है धार्मिक विश्वास का ही उदाहरण है। ईसाई धर्मावलम्बी की यह धारणा कि ईसा मसीह कुमारी मरियम के पुत्र है, धार्मिक विश्वास ही कहा जायेगा। इसी प्रकार इस्लाम धर्म की यह मान्यता कि हजरत मुहम्मद साहब अन्तिम देवदूत हैं, भी धार्मिक विश्वास का ही उदाहरण है। इसी प्रकार कई धर्मो में अनेक चमत्कारों को भी धार्मिक विश्वास का ही उदाहरण है इसी प्रकार कई धर्मो में अनेक चमत्कारों को भी धार्मिक विश्वास के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। धार्मिक विश्वास के अत्यन्त प्रबल होने के कारण आसानी से परित्याज्य नहीं है। एक धार्मिक व्यक्ति अपने विश्वासों की रक्षा करना अपना पावन कर्तव्य समझता है। धार्मिक विश्वास के विषय आन्तरिक होते हैं, जिनका अभिव्यक्तिकरण व्यवहार और आचरण के माध्यम से होता है।

धर्म–दार्शनिकों ने धार्मिक विश्वास के चार आधारों का उल्लेख किया है जिनकी व्याख्या अधोलिखित ढंग से की जा सकती है, ये हैं–(1) आस्था (2) दैवी–प्रकाशना (3) तर्क–बुद्धि और (4) रहस्यानुभूति।

12.2.4 विश्वास आस्था

आस्था को प्रायः धार्मिक विश्वासं का आधारभूत स्तम्भ माना जाता है। प्रायः इस शब्द का प्रयोग विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा अर्थो में होता है।

प्रो. ब्राइटमैन ने आस्था को तीन अर्थो में प्रयुक्त किया हैः (1) आस्था श्रुति की स्वीकृति के रूप में प्रयुक्त होती है। **सन्त अगस्टाइन** ने आस्था को अनुमतिजन्य ज्ञान कहा है। (2) आस्था को ईश्वरीय देन के रूप में भी अभिहित किया जाता है, **सन्त पॉल** का कथन है, 'आस्था , प्रेम, और आज्ञा ईश्वर की देन है। (3) आस्था को विश्वास के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। आस्था को विश्वास या आज्ञाकारिता के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

सर्व्रप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आस्था और विश्वास एक नहीं हैं। दोनों में अन्तर है। आस्था मे संपूर्णता, गहनता एवं तीव्रता होती है जबकि विश्वास बौद्धिक होने के कारण आस्था की तरह स्थायी की तरह स्थायी नहीं होता है। आस्था हृदय परक है तो विश्वास बुद्धिपरक है। आस्था का विषय आन्तरिक है जबकि

विश्वास के विषय आन्तरिक और बाह्य दोनों हैं। आस्था स्थायी और अपरिवर्तनशील होती है जबकि विश्वास का परित्याग किया जा सकता है, परिणामस्वरूप यह अस्थायी और परिवर्तनशील होता है। आस्था में आत्मसंलग्रता और सहभागिता का भाव बना रहता है इसलिए व्यक्ति इसमें तटस्थ नहीं रह पाता है जबकि विश्वास में व्यक्ति तटस्थ बना रह सकता है। आस्था जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, वहीं पर विश्वास व्यक्ति के व्यक्तित्व को उतना प्रभावित नहीं कर पाता है।

विश्वास का विभाजन Belief in और Belief that के बीच किया गया है। किसी मनुष्य अथवा ईश्वर की सत्ता में विश्वास Belief in कहा जाता है जबकि किसी प्रतिज्ञप्ति अथवा कथन में विश्वास Belief that कहा जाता है। इस तथ्य का उल्लेख एच एच प्राइस ने किया है।

इन दोनों प्रकार के विश्वासों में मूल अन्तर यह है कि Blief in तर्कणा से परे है परन्तु belief in में युक्ति एवं तर्क के लिए समुचित स्थान है। इस प्रकार को आस्था के समकक्ष माना जा सकता है। आस्था और विश्वास में से विश्वास आस्था की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

विश्वास एवं आस्था में भी घनिष्ठ संबंध है, अतः कई बार इनका प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। विश्वास किसी वस्तु के बारें में विचार एवं संज्ञान है, जबकि आस्था का संबंध धर्म से है। किसी धर्म में विश्वास के लिए आस्था, शब्द का प्रयोग किया जाता है। हम दैनिक जीवन में धार्मिक आस्था शब्द का प्रयोग करते हैं। धर्म के किसी सम्प्रदाय के लिए भी आस्था शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार का प्रयोग सामान्यतः पष्चिम देशों में हुआ है। वहां व्यकित से प्रश्न किया जाता है– तुम किस 'फेथ' में विश्वास करते हो''।

स्पष्ट है कि विश्वास और आस्था दोंनों शब्दों में पर्याप्त समानता होते हुए भी इनमें अंतर है। विश्वास का संबंध किसी वस्तु के बारे में विचार या संज्ञान से है जबकि आस्था का संबंध धार्मिक विश्वास से है। विश्वास का संबंध लौकिक और अलौकिक दोनों वस्तुओं एवं संसार से है जबकि आस्था का संबंध अलौकिक संसार से है। विश्वास की तुलना में आस्था अधिक स्थिर एवं स्थायी होती है।

12.2.5 आधारभूत धार्मिक विश्वास

धार्मिक अनुभवों में निहित धार्मिक विश्वासों के उचित मूलभूतता के लिये तर्क को अवश्य ही, न केवल ईसाईयत के विश्वासों के लिये प्रयुक्त होना चाहिये, बल्कि यहूदी,

इस्लाम, हिन्दू तथा बौद्ध आदि सभी धर्मो के लिये प्रयुक्त होना चाहिये। (इसी कारण से मैंने दैवी तथा अतीद्रिय एवं विशेषकर एकेश्वरवादी शब्द ईश्वर का प्रयोग किया है– उदाहरण के लिये अद्धैत तथा बौद्ध मत के समर्थक इस बात से सहमत नहीं होंगे कि प्रमुख धार्मिक विवाद वैयक्तिक देवता के होने अथवा न होने के बारे में नहीं है।) चूँकि इन परपंराओं के विश्वासों में से कुछ विश्वासों के बीच अत्यधिक भिन्नता है, जो इस संभावना को उत्पन्न करती है कि कुछ ऐसे विश्वास सत्य है तथा दूसरे असत्य, अथवा कुछ विश्वास पूर्णरूप से भ्रमात्मक नहीं है, तथा धार्मिक अनुभव के विशेष रूपों से उत्पन्न होने वाले अधिक विशिष्ट विश्वासों के बीच भेद करने की आवश्यकता है। यह भेद धार्मिक अनेकता और धार्मिक आलोचनाओं तथा मत विषयक विवादों के लिये "तार्किक स्थान" बनाता है। यह आधुनिक संदेहवाद की गंभीरता तथा गहनता को भी स्वीकार करता है, जो कि धार्मिक अनुभव के विशेष क्षणों पर प्रश्न करने के साथ–साथ सामान्य तौर पर धार्मिक अनुभव के संज्ञानात्मक लक्षणों को अस्वीकार करता है, उनका खंडन करता है।

धार्मिक विश्वासों को दो स्तरों पर चुनौती दी जा सकती है। एक स्तर पर एक विशेष विश्वास को इसलिये चुनौती दी जाती है क्योंकि यह हमारे दूसरे धार्मिक विश्वासों के साथ संगत नहीं है। उदाहरण के लिये, जिम जोन्स का यह विश्वास, कि अपने अनुयायियों को 1978 में जोन्सटाउन में सामूहिक आत्महत्या करने के लिये प्रेरित करने के लिये उसे ईश्वरीय आदेश मिला था, ईश्वर के स्नेही तथा दयालु होने के विश्वास का लंडन करता है। क्या परम सत्ता वैयक्तिक है अथवा निर्वेयक्तिक, क्या ब्रह्मांड की सृष्टि शून्य से की गयी अथवा यह उद्भूत हुआ अथवा स्वयं ब्रह्मांड ही शाश्वत है, क्या मनुष्यों का पुर्नजन्म होता है या नहीं आदि–आदि ऐसे प्रश्न है जिनके विषय में विभिन्न धर्मो को अस्वीकार करते हैं। ए धर्म के अनुयायी बी धर्म के विश्वासों में से कुछ को अस्वीकार करते है, क्योंकि वे ए धर्म के उनके अपने ए–विश्वासों के साथ असंगत है। धार्मिक अनुभव एक अतीद्रिय दैवी सत्ता के जानकारी की स्थापना करते हैं ।

दूसरे एवं गहन स्तर पर अतीद्रिंय/ईश्वरीय/ ईश्वर की सत्ता में आधारभूत विश्वास को ही चुनौती दी गयी है। यह किसी विशेष धार्मिक विश्वास पर धार्मिक दृष्टि से प्रश्न उठाना नहीं हैं, बल्कि धार्मिक विश्वास के लिये एक अधार्मिक अथवा धर्मविरोधी चुनौती है। इस प्रकार औपचारिक ढंग से यह इंद्रियानुभव की सामान्य वैधता अथवा जड़–जगत की वास्तविकता के विषय में दार्शनिक संदेह के अनुरूप है।

परन्तु सारी समानता मात्र यही तक है। जैसाकि हमने पहले ही देखा है कि अतींद्रिय सत्ता में विश्वास जड़–जगत की सत्ता के बारे में दार्शनिकों द्वारा किये गये पूर्णतया सैद्धातिक संदेह की अपेक्षा अधिक गंभीर चुनौतियों का विषय है। आधारभूत प्रात्यक्षिक विश्वास के साथ मात्र औपचारिक साम्यानुमान द्वारा आधारभूत धार्मिक विश्वास की अनुरूप ढंग से प्रतिरक्षा करना पर्याप्त नहीं हैं। उनके बीच महत्वपूर्ण भिन्नतायें हैं जो इस बात का प्रस्ताव करती हैं कि जबकि भौतिक संसार में आधारभूत विश्वास को मान लेना तर्कसंगत है, किन्तु आधारभूत धार्मिक विश्वास को मान लेना कम तर्कसंगत है अथवा तर्कसंगत ही नहीं है। क्योंकि हमारे पास जड़–जगत के अस्तित्व में संदेह करने के लिये कोई आधार ही नहीं हैं, किन्तु ईश्वरीय सत्ता में संदेह करने के लिये हमारे पास ठोस आधार हो सकता है।

विलियम आल्सटन ने धार्मिक अनुभव को इंद्रियानुभव से भिन्न दिखाने के लिये एक तरीका ढूँढ निकाला। एक प्रमुख अंतर यह है कि मनुष्यों में धार्मिक अनुभव सार्वभौम नहीं हैं, जबकि इंद्रियानुभव है। प्रत्येक व्यक्ति हमारे भौतिक वातावरण के बारे में विश्वासों को स्वीकार करता है, और उसके बिना कोई जीवन यापन कर ही नहीं सकता। तथापि ईश्वरीय के विषय में विश्वास करने की न तो प्रत्येक को आवश्यकता है, और न ही प्रत्येक उसमें विश्वास करता हैं। धार्मिक अनुभव, तथा इन्हें प्रतिबिंबित करने वाले विश्वास मानव उत्तर–जीविता तथा उन्नति के लिये वैकल्पिक अतिरिक्त तथा अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

दूसरा अंतर यह हैं कि "सभी साधारण प्रौढ़ मनुष्य, वे चाहे जिस सभ्यता के हों, अपने इंद्रियानुभव को इंद्रियग्राह्य या वस्तुनिष्ठ बनाने में मूलतः समान वैचारिक योजना का प्रयोग करते हैं," जबकि धार्मिक लोग अनेक समूहों में बँटे हुये हैं, जो ईश्वरीय अवधारणा अत्यंत भिन्न–भिन्न ढंग से करते हैं कुछ पावन त्रिमूर्ति या त्रित्व में, कुछ अदोनाद में, कुछ अल्लाह में, कुछ शिव में, कुछ विष्णु में, और फिर भी दूसरे निर्वैयक्तिक, ब्रह्मन्, या ताओं, अथवा धर्माकाय आदि में विष्वास करते हैं। इस प्रकार, जबकि इंद्रियानुभव संपूर्ण मानव जाति में लगभग एक रूप अथवा समान है, धार्मिक अनुभव भिन्न–भिन्न धार्मिक सभ्यताओं में लक्षणात्मक दृष्टि से अलग–अलग रूपों में पाया जाता हैं। इसका सुझाव है कि वस्तुनिष्ठ वास्तविक वातावरण द्वारा हम पर थोप दिये गये अनुभव के एक प्रकार के बजाय, यह सांस्कृतिक दृष्टि से मानव द्वारा की गयी एक

चर सृष्टि हैं और एक ऐसा समय आ सकता है जब इसकी हमें कोई आवश्यकता ही न हो।

एक तीसरा अंतर यह है कि (जैसा हमने पहले ही देखा) इंद्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित विशेष विश्वासों की जाँच निरीक्षण द्वारा की जा सकती हैं। उदाहरण के लिये, यदि आप एक वृक्ष को देखने का विश्वास करते हैं, तो अन्य इंद्रियानुभवों द्वारा तथा दूसरों के अनुभव द्वारा इसकी पुष्टि या खंडन किया जा सकता है। आदतन इंद्रियानुभव पर हम जिस प्रकार हमेशा सामान्यतः भरोसा करते हैं, या उसे जो विश्वसनीयता प्रदान करते हैं, उसके आधार पर मानव समुदाय को प्रायः इस विवाद के समाधान द्वारा संतुष्ट कर सकते हैं। परन्तु धार्मिक अनुभव के विषय में ऐसी जाँच करने की कोई सामान्य स्वीकृत प्रक्रिया नहीं हैं। जब कोई यह दावा करता हैं कि उसने ईश्वर की उपस्थिति के प्राकट्य का अनुभव किया है, तो कोई भी ऐसा स्वीकृत उपाय नहीं हैं जिसके द्वारा दूसरे भी उस घटना की पुष्टि कर सकें। कुछ लोग इस सूचना को स्वीकार करने के लिये पहले से ही उद्यत होंगे, जबकि अन्य लोग–हमारे आधुनिक धर्मनिरपेक्षीकृत पश्चिम में अधिकांश लोग–थामस हॉब्स की इस टिप्पणी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होंगे कि जब एक मनुष्य कहता है कि स्वप्न देखा कि ईश्वर ने उससे बात की। किसी विशेष धार्मिक अनुभव की सूचना के प्रति एक संदेहात्मक प्रतिक्रिया प्रायः धार्मिक अनुभव के बारे में एक सामान्य संदेहवाद को अभिव्यक्त करेगी।

जिस ईश्वरीय सत्ता के प्रति मानवी धार्मिक अनुभव एक संज्ञानात्मक अनुक्रिया है, उस ईश्वरीय सत्ता में आधारभूत धार्मिक विश्वास के बारे में इन अन्तरों के सामूहिक प्रभाव की एक वास्तविक संदेह उत्पन्न करना है न कि मात्र विलक्षण ढंग से एक दार्शनिक प्रकार के संदेह को। इन अन्तरों के प्रभाव को व्यर्थ करने का प्रयास करते हुये आल्सटन ने यह दिखाया कि धार्मिक अनुभव का कल्पित विषय (जो उनकी चर्चा में एक वैयक्तिक ईश्वर है), इंन्द्रियानुभव के कल्पित विषय अर्थात् भौतिक जगत से उसी प्रकार से भिन्न हो सकता है जिस प्रकार ये यह प्राकृतिक एवं वैद्य ढंग से इन अन्तरों को उत्पन्न करता है।

कल्पना कीजिये (अ) ईश्वर के व्यवहार में किसी क्रम या नियमितता जानने की दृष्टि से वह ईश्वर हमारे लिये "पूर्णतया अन्य" है, और वह सृजित प्राणियों से अत्यधिक भिन्न है। आगे भी कल्पना कीजिये कि (ब) बिल्कुल उन्हीं कारणों से, ईश्वर

किसके समान है इसका हमें केवल क्षीणतम, सर्वाधिक संक्षिप्त तथा सर्वाधिक असुरक्षित बोध हो सकता है। अंत में कल्पना कीजिये कि (स) ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था की है कि मनुष्य ईश्वर की उपस्थिति को सुस्पष्ट तथा गलत न होने योग्य ढंग से मात्र तभी जान सकता है ज बवह कुछ निश्चित एवं कठि शर्तों को पूरा करे।

इन तीनों में से प्रथम बात यह प्रस्ताव करती है कि जड़–वस्तु के व्यवहार की जिस प्रकार हम जांच कर सकते हैं आखिरकार उसी प्रकार हम कल्पित दैवी–क्रिया–कलाप की जांच क्यों नहीं कर सकते। क्योंकि जहां तक हम प्राकृतिक विश्व की कार्य प्रणाली को समझ पाते हैं, हम उसमें घटित होने वाले परिवर्तनों के बारे में भविष्यवाणी करना सीख सकते हैं। इसके विपरीत, चूँकि हम ईष्वर की अनन्त प्रकृति को नहीं समझ पाते, इसलिये दैवी–क्रिया–कलाप किस रूप में होगा इसकी भविष्यवाणी करने की अपेक्षा हम नहीं कर सकते। दूसरी बात यह सुझाव देती है कि क्यों विभिन्न मानव समूहों ने ईश्वर का अनुभव तथा उसकी अवधारणा इतने भिंन्न–भिन्न ढंग से की। क्योंकि ऐसा हो सकता है कि संज्ञान में जो मानवी चर तत्व है वहीं ईश्वर की हमारी जानकारी में स्वभावतः महत्वपूर्ण भिन्नताओं को उत्पन्न करते हैं। अंत में तीसरी बात यह सुझाव देती है कि क्यों धार्मिक अनुभव के प्रवाहों में से एक में कुछ लोग सहभागिता करते हैं जबकि दूसरे लोग नहीं करते। यदि हम ईश्वर के बारे में चेतन होने के लिये बाध्य नहीं हैं, बल्कि अपने भ्रष्टा के सम्बन्ध में संज्ञान की दृष्टि से स्वतन्त्र है, तो क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि किसी समय में कुछ लोगों को ईश्वर का बोध है जबकि दूसरों को नहीं है। आल्सटन द्वारा ईश्वरवादी शब्दों में सूत्रबद्ध इन अनुचिंतनों को अनीश्वरवादी धार्मिक शब्दों में भी समान ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

इस प्रकार यदि हम धार्मिक अनुभव तथा इंन्द्रियानुभव के विषयों के बारे में आध ाारभूत भिन्नताओं को ध्यान में रखे, तो यह सम्भव है कि उनके बीच भिन्नतायें ठीक उसी प्रकार से है जैसा कि उन्हें होना चाहिये। इस प्रकार ये भिन्नतायें स्वयं में ही इस बात का खंडन करने के लिये एक कारण की स्थापना नहीं करती कि धार्मिक अनुभव अतींद्रिय दैवी सत्ता के प्रति एक संज्ञानात्मक अनुक्रिया हो सकता है।

इस प्रकार अभी तक यह निष्कर्ष वैध प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य है कि धार्मिक अनुभव के महान ऐतिहासिक प्रवाहों में से किसी एक में सहभागिता करने वाले उन लोगों पर अबौद्धिक होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता जो इन धार्मिक अनुभवों को प्रतिबिंबित करने वाले विश्वासों को स्वीकार करते हैं तथा उनके आधार पर

जीवन–यापन की तरफ अग्रसर होते हैं। प्लाटिंगा के शब्दों में, वे लोग किसी ज्ञानमीमांसीय कर्तव्य का उल्लंघन नहीं कर रहे, अथवा न ही एक त्रुटिपूर्ण प्रज्ञात्मक संरचना का निर्माण कर रहे है बल्कि पूर्णतया अपेन ज्ञानमीमांसीय अधिकारों के भीतर है। हालांकि वे अनिवार्यतः एक गंभीर ज्ञानमीमांसीय जोखिम उठा रहे हैं– एक ऐसा जोखिम जिसको उठाना अबौद्धिक नहीं है किंतु जिसके प्रति उन्हें चेतन होना चाहिये।

धार्मिक विश्वास करने तथा अविश्वास करने का ढंग संदिग्धता की एक स्थिति में घटित होता है। प्रमुख ईश्वरवादी तथा प्रमुख ईश्वर–विरोध दोनों प्रकार के तर्क अनिर्णायक है। ब्रह्मांड के बारे में, तथा ब्रह्मांड के एक भाग के रूप में हमारे अपने स्वयं के बारे में सोचना तथा अनुभव करना धार्मिक एवं प्रकृतिवादी दोनों ढंग से सम्भव है। क्योंकि वे लोग जो कभी–कभी जीव्रन का धार्मिक ढंग से अनुभव करते हैं, उनके लिये अनुभव के उस प्रकारे प्रतिबिम्बित करने वाले विश्वास को मानना पूर्णतया बौद्धिक हो सकता है। ठीक उसी समय, जो लोग धार्मिक अनुभवों में सहभागिता नहीं करते उनके लिये ऐसे विश्वासों को स्वीकार न करना तथा यह मान्यता रखना कि ये अनुभव हमारे मानवी इच्छाओं तथा आदर्शों की अभिव्यक्ति मात्र है, उतना ही बौद्धिक है।

तथापि हमारी स्थिति का एक दूसरा स्वरूप यह है कि यदि इन सबके बाद भी ब्रह्मांड की संरचना धार्मिक ढंग से हुयी है, तो अन्ततः इसकी पुष्टि हमारे अनुभव में ही होगी। अन्य शब्दों में, हम तथ्य विषयक एक ऐसे विवाद का सामना कर रहे हैं, जो इस समय इस ढंग से संदिग्धता द्वारा ढका हुआ है कि विश्वास तथा अविश्वास दोनों वर्तमान समय में गम्भीर त्रुटि के जोखिम से भरे हैं। विश्वासकर्ता भ्रम में होने की संभावना तथा इसके फलस्वरूप आत्म–वंचना की अवस्था में जीवन–यापन का जोखिम उठाता है। अविश्वासकर्ता सभी संतों में या वास्तविकताओं में सर्वाधिक मूल्यवान को खोने का जोखिम उठाता है।

चलिए अब हम ब्रह्मांड की वर्तमान धार्मिक संदिग्धता को स्वीकार करने वाले विश्वासकर्ता पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। ऐसा व्यक्ति विलियम जेम्स "विश्वास के लिये अधिकार' के तर्क के एक संशोधन में इस जोखिम को उठाने के लिये प्रतिज्ञापन प्राप्त कर सकता है। जेम्स विश्वास के लिये एकमात्र आधार विश्वास की इच्छा अथवा प्रवृत्ति को मानते हैं। उनका दावा है कि यदि हमारे पास ऐसी प्रवृत्ति है तो हम अनुरूप ढंग से विश्वास करने के अधिकारी है। किंतु जहां तक कोई विश्वास सिद्ध या असिद्ध होने के योग्य नहीं है वहां तक यह ऐसे प्रत्येक और किसी भी

विश्वास को वैध बना देगा जिसको मानने के लिये कोई प्रवृत्ति रखता है। हम जेम्स के तर्क को इस प्रकार से पुनः सूत्रबद्ध कर सकते है। व्यवहारिक प्रश्न यह है कि क्या ईश्वर के प्रामाणिक बोध के रूप में धार्मिक अनुभव पर भरोसा किया जाय अथवा नहीं। हमने देखा है कि उस पर भरोसा करना अथवा न करना दोनों बौद्धिक दृष्टि से उचित अर्थात् अनुज्ञेय है। प्रत्येक विकल्प महत्वपूर्ण निष्कर्ष देता है। क्योंकि एक को अवश्य ही जोखिम उठाना चाहिये या तो, यदि अविश्वास, महान शुभ को खोते हुये, वास्तव में सभी शुभों में महानतम को खोते हुये, गलत स्थान पर हो, अथवा दूसरी तरफ, यदि विश्वास के होने पर जेम्स निश्चित ही पूरी युक्ति के साथ तर्क करेंगे कि हमें स्वयं के लिये चुनाव का पूरा अधिकार है। इसलिये लोग अपने उन विश्वासों को मानने के लिये औचित्यपूर्ण है जो या तो पूर्णतया उनके अपने धार्मिक अनुभवों में निहित है अथवा उस ऐतिहासिक परम्परा के अनुभवों में निहित है अथवा उस ऐतिहासिक परम्परा के अनुभव में निहित है जिससे वे सम्बन्धित हैं, और इसकी पुष्टि उनके अपने धार्मिक अनुभव की तीव्रता तथा अति अल्प क्षेत्र द्वारा होती है।

निःसंदेह जैसा कि जेम्स प्रायः स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं और पसकल ने निश्चित ही माना, यह विकल्प उतना निर्णायक या अंतिम नहीं हो सकता अर्थात जो शाश्वत लाभ अभवा हानि की तरफ ले जाता है। यदि ब्रह्मांड की संरचना धार्मिक दृष्टि से इस प्रकार हुयी है जो अंततः प्रवृत्त होंगे–अथवा, पारम्परिक धर्मशास्त्रीय भाषा में, शाश्वत जीवन को प्राप्त करेंगे। तब "महान शुभ को खोना, वास्तव में सभी शुभों में महानतम को खोना" मात्र अस्थायी होगा, भले ही यह इस वर्तमान जीवन के शेष भाग तक बना रहे। ऐसी स्थिति में अविश्वासकर्ता ईश्वरीय सत्ता के साथ चेतन सम्बन्ध के वर्तमान शुभ को और इस सम्बन्ध में व्यतीत होने वाले जीवन दोनों को स्थिति में विश्वासकर्ता द्वारा भी एक संतुलित करने वाला एक खतरा मोल लिया जाता है। क्योंकि यदि विश्वासकर्ता गलत हुआ, तो वह हमारी मानवी स्थिति की कठिन सच्चाइयों का सामना करने में असफल होने की शर्मनाक स्थिति में पतित होता है और इसके बजाय सांत्वना देने वाले भ्रम की स्थिति में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक सीमित एवं अज्ञान युक्त प्राणी की भांति एक ऐसे ब्रह्मांड में है, जो धार्मिक विश्वास करने के लिये हमें जागरूक करता है और फिर भी हम पर इस सम्भावना को भी बनाये रखता है कि यह जागरूकता एक धोखा या छलावा है।

"एक छोटी लड़की अपने पिता के साथ पुल पार कर रही होती है। उसके पिता लड़की को कहते है कि बेटा तुम मेरा हाथपकड़ लो नहीं तो नदी में गिर जाओगी, छोटी लड़की कहती है कि नहीं "आप मेरा हाथ पकड़ों। उसके पिता को बहुत आश्चर्य होता है और वह लड़की से पूछते हैं, कि बेटा इन दोनों में फर्क क्या है। छोटी लड़की जवाब देती है कि दोनों में बहुत फर्क है। आपका हाथ पकडती हूँ और भगवान न करें कुछ हो जाता है तो मैं आपका हाथ छोड़ सकती हूँ। लेकिन अगर आप मेरा हाथ पकड़ते है तब चाहे कुछ भी हो जाए आप मेरा हाथ नहीं छोडोगे। किसी भी रिश्ते में विश्वास की जड़े बंधन में नहीं संबध में हैं। तभी कहते हैं किसी भी रिश्तें में विश्वास की जड़े बंधन में नहीं संबध में हैं। तभी कहते हैं कि किसी ऐसे इंसान का हाथ पकड़ो जिस पर आप पूरा विश्वास कर सकते हों।

12.3 अभिवृत्ति और विश्वास (Attitude and Belief)

अभिवृत्ति और विश्वास की परिभाषाओं का यदि विश्लेषण किया जाय तो दोनों में सम्बन्ध और अन्तर दृष्टिगोचर हो जाता है। यह दोनों प्रत्यय एक–दूसरे से सम्बन्धित होतु हुए भी भिन्न दृष्टिगोचर होतु हैं। दोनों में कुछ महत्वपूर्ण सम्बन्ध निम्न प्रकार से हैं –

1. अभिवृत्ति में संज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तीनों ही संघटक पाये जाते हैं जबकि विश्वास में केवल एक ही संघटक पाया जाता है। यह संघटक है ज्ञानात्मक या प्रत्याक्षात्मक विशेषता।
2. अभिवृत्ति का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है जबकि दूसरी ओर विश्वास का क्षेत्र अभिवृत्ति की अपेक्षा संकुचित होता है।
3. व्यक्ति में पायी जाने वाली अभिवृत्तियों में से प्रत्येक अभिवृत्ति में विश्वास संप्रत्यय भी निहित होता है। दूसरी ओर इस व्यक्ति में पाये जाने वाले विश्वासें में अभिवृत्ति संप्रत्यय का होना आवश्यक नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि विश्वास अभिवृत्ति का भाग हो सकता है लेकिन अभिवृत्ति विश्वास का भाग नहीं हो सकती है।
4. व्यक्ति में पायी जाने वाली अभिवृत्तियों में चूंकि क्रिया संगटक पाया जाता है अतः अभिवृत्ति विशेष से सम्बन्धित परिस्थिति में क्रिया होना आवश्यक है। विश्वास में इस प्रकार की क्रिया नहीं पायी जाती है।

5. गहन और स्पष्ट अनुभवों के आधार पर अभिवृत्तियों में परिवर्तन अपेक्षाकृत सरल है जबकि विश्वास में परिवर्तन अपेक्षाकृत कठिन है।

6. प्रत्येक अभिवृत्ति दिशा की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं – (1) अनुकूल अभिवृत्ति दूसरा प्रतिकूल अभिवृत्ति। दूसरी ओर विश्वास में इन दोनों का अभाव रहता है।

7. अभिवृत्ति में संवेगात्मक और प्रेरणात्मक दोनों प्रकार के तत्व पाये जाते हैं। दूसरी ओर विश्वास में यह तत्व नहीं पाये जाते हैं।

8. विश्वास अन्ध विश्वास भी हो सकता है लेकिन अभिवृत्ति में यह विशेषता नहीं पायी जाती है।

"पर्वतारोहियों का एक दल एक अजेय पर्वत पर विजय के लिए निकला, उनमें एक अतिउत्साही पर्वतारोही भी था जो यह चाहता था कि पर्वत के शिखर पर विजय पताका फहराने का उसे ही मिले, रात्रि के घने अन्धकार में वह अपने तम्बू से चुपके से निकल पड़ा और अकेले ही उसने पर्वत पर चढ़ना आरंभ किया, गहरी काली रात में, जब हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था, वह शिखर की ओर बढ़ता रहा, बहुत प्रयास करने के बाद शिखर जब कुछ ही दूर प्रतीत हो रहा था तभी अचानक उसका पैर फिसला और वह तेजी के नीचे की तरफ गिरने लगा, उसे अपनी मृत्यु सामने ही दिख रही थी लेकिन उसकी कमर से बंधी रस्सी ने झटके से उसे रोक दिया, घने अन्धकार में उसे नीचे कुछ नहीं दिख रहा था, रस्सी को जकड़कर ऊपर पहुँच पाना संभव नहीं था, बचने की कोई सूरत न पाकर वह चिल्लाया –हे ईश्वर..... मेरी मदद करो! तभी अचानक एक गंभीर स्वर कहीं गूँज उठा– "तुम मुझसे क्या चाहते हो?

पर्वतारोही बोला – "हे ईश्वर मेरी रक्षा करो!

"क्या तुम्हें सच में विश्वास है कि मैं तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ

"हाँ ईश्वर मुझे तुम पर पूरा विश्वास है" – पर्वतारोही बोला,

"ठीक है, अगर तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो अपनी कमर से बंधी रस्सी काट दो. .....?

यह सुनकर पर्वतारोही का दिल डूबने लगा, कुछ क्षण के लिए वहाँ एक चुप्पी सी छा गई और यह सुनकर पर्वतारोही का दिल डूबने लगा, कुछ क्षण के लिए वहाँ एक चुप्पी सी छा गई और उस पर्वतारोही ने अपनी पूरी शक्ति से रस्सी को पकड़े रहने का

निश्चय कर लिया, अगले दिन बचाव दल को एक रस्सी के सहारे लटका हुआ पर्वतारोही का ठंड से जमा हुआ शव मिला, उसके हाथ रस्सी को मजबूती से थामे थे और वह धरती से केवल दस फुट की ऊँचाई पर था, यदि अपने रस्सी को छोड दिया होता तो वह पर्वतीय ढलान से लुढकता हुआ मामूली नुकसान के साथ जीवित बच गया होता, ईश्वर में सम्पूर्ण आस्था और विश्वास रखना सहज नहीं है, ऐसी दशा में क्या आप अपनी रस्सी छोड़ देते?"

12.4 टोटमवाद और विश्वास (Totemism and Belief)

भारत के बहुत से समुदायों में भी ऐसे टोटम पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए देखा गया है कि महाराष्ट्र में ताम्बे का पारिवारिक नाम रखने वाले लोग नाग को अपना कुलदेवता मानते है और कभी भी नाग नहीं मारते सतपुड़ा के जंगलों में रहने वाले भीलों में यह देखा गया कि हर गुट का एक टोटम जानवर या वृक्ष था जैसे कि पतंगे, सॉप शेर, मोर, बांस पीपल, बगैरह।

संसार के विभिन्न प्रदेशों में इस प्रथा का विभिन्न रूप पाया जाता है। पशु–पक्षी, वृक्ष–पौधों पर जाति या जनजाति का नामकरण अत्यंत प्रचलित सामाजिक प्रथा है जो सभ्य और असभ्य दोनों प्रकार के समाजों में पाई जाती है। असभ्य समाजों में यह प्रथा बहुत प्रचलित है और कही–कही इसे जनजातीय धर्म का स्वरूप भी प्राप्त है। उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर रहनेवाली हैड, टिलिगिट, क्वाकीटुल आदि जनजातियों में पशु आकार के विशाल और भयानक खंभे पाए जाते है, जिन्हें इन जातियों के लोग देवता मानते है। इन के इन जातियों में टोडेम, ओडोडेम आदि शब्दों का प्रयोग होता है, जिसकी ध्वनि टोटेम शब्द में हैं। मध्य आस्ट्रेलिया के अरूट आदिवासी अफ्रीका के पूर्वी मध्य प्रदेशों तथा भारत की जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित हैं। इतिहासकारों का ऐसा मत है कि प्राचीन काल में कभी टोटेमीयुग रहा होगा, जिसके अवशेष आज के टोटेमी रीति –रिवाज है। ऐसे इतिहासकारों में राईनाख और मैकलैनन के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार की विचारधारा के अनुसार राईनाख ने (1900 ई. में) टोटेमिज्म के प्रधान लक्षणों की एक तालिका प्रस्तुत की। इस तालिका के अनुसार,

1. कुछ पशु मारे या खाये नहीं जाते और ऐसे पशुओं को उन समुदायों में व्यक्ति पालते है।

2. ऐसा कोई पशु यादि मर जाय, तो उसकी मृत्यु शोक मनाते हैं। मृतक पशु का कही–कही विधिवत् संस्कार भी किया जाता है।

3. कही–कहीं पशुमांस भक्षण पर निषेध विशिष्ट पशु के विशिष्ट अंग पर होता है।

4. ऐसे पशु को यादि मारना या बलि देना पड़ जाए तो प्रार्थना आदि के साथ निषेध का उल्लंघन विधिपूर्वक किया जाता है।

5. बलि देने पर भी उस पशु का शोक मनाया जाता है।

6. त्यौहारों पर उसे पशु की खाल आदि पहनकर उसका स्वाँग भरा जाता है।

7. गण और व्यक्ति उस पशु पर अपना नाम रखते हैं।

8. गण के सदस्य अपने झंडों और अस्त्रों पर पशु का चित्र अंकित करते है या उसे अपने शरीर पर गुदवाते है।

9. यदि पशु खूखाँर हो तो भी उसे मित्र और हितैषी मानते है।

10. विश्वास करते है कि टोटेम – पशु उन्हें यथासमय चैतन्य और सावधान कर देगा।

11. पशु गण के सदस्यों को उनका भविष्य बताकर उनका मार्गदर्शन करता है, ऐसी उनकी धारणा है।

12. टोटेमवादी उस पशु से अपनी उत्पत्ति मानते है और उससे घनिष्ट संबंध बनाये रखते हैं।

संसार में गणचिन्ह वाद (टोटेमिज्म) के लक्षणे सब कही एक से नहीं पाये जाते है। उदाहरणतः हैडा तथा टिलिगिट जातियों में गणचिन्हवाद सामाजिक प्रथा है, परन्तु उसका धार्मिक स्वरूप विकसित नहीं है मध्य आस्ट्रेलिया की अरून्टा जाति में टोटेम – धर्म और रीतियाँ पूर्ण विकसित है, टोटेमी पशु की नकल या स्वाँग नहीं उतारते। अफ्रीका की बंगड़ा जाति में गणचिन्हवाद का धार्मिक रूप अप्राप्य है।

भारत की मुंडा, उराँव, संथाल आदि जातियों में टोटम केवल केवल गणराज्य और गणचिन्ह के रूप में प्रयुक्त होता है। वहाँ टोटम–पूजा की पंरपराएँ नहीं पाई जाती। आदिवासी कला पर गण का प्रभाव प्रचुर मात्रा में मिलता है। छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश में घरों की दीवारों पर टोटम के चित्र देखने में आते हैं। न्यूजीलैंड के माओरी अपनी नौकाओं पर अपने टोटम का चित्र उकेर देते है। कई अन्य जनजातियों में पहनने

के वस्त्र, शस्त्र, उपकरण और झंडे सब पर टोटम चित्रित रहता है। विशेषतः उत्तरी अमेरिका और आस्ट्रेलिया की आदिवासी कला पर गणचिन्ह का प्रभाव बहुत गहरा है।

टोटमगण के सदस्य अपने टोटम की अलौकिक और मानसिक संतान मानते है। वे अपने गण में विवाह नहीं करते। इस प्रकार टोटमवादी सभाओं में वहिविवाह की रीति मान्य होती है। सर जेम्स फरेजर का विचार है कि टोटमवाद और वहिविवाह में कार्यकरण का संबंध है और वे सदैव साथ–साथ जाते हैं। टोटम को अलौकिक रूप से गणचिन्ह मानने के कारण टोटमी गण के सदस्य आपस में रक्तसंबंध मानते हैं और इस कारण परस्पर विवाह नहीं करते।

धर्म की अवधारणा को स्थापित करने में दुर्खीम फुस्तेल दी कालेन्जेज के पवित्र और अपवित्र किस्म के बीच विभाजन का अनुसरण करते है। दुर्खीम कहते हैं कि यह भ्रामक है कि धर्म के अस्तित्व के लिए अलौकिक देवत्व जरूरी है विश्वास और आचरण की ऐसी व्यवस्थाएं है जिन्हें हमें बिलकुल उचित ढंग से धार्मिक कहना चाहिए। लेकिन जहां देवता और आत्माएं या तो पूरी तरह गायब हैं या सिर्फ तुच्छ महत्व की है। धार्मिक विश्वास क्या है? दुनिया वस्तुओं और संकेतों के दो पूर्णतः अलग–अलग वर्गों से बंट गई है। पवित्र और अपवित्र के बीच यह निरपेक्ष है। स्वतंत्र चिंतन के इतिहास की वस्तुओं की दो श्रेणियों का ऐसा दूसरा उदाहरण मौजूद नही है जिन्हे इतनी गंभीरता से अलग किया गय हो या जो इतने मौलिक ढंग से एक दूसरे के खिलाफ हों।

पवित्र का विषेष लक्षण इस बात में प्रकट होता है कि वह धार्मिक आदेशों ओर निषेधों से घिरा होता है जे अपवित्र से उसके भौतिक विभेद को लागू करते है। धर्म कभी महज विश्वास क समूह नहीं रहा इसमें हमेशा ही निश्चित धार्मिक आचरण और निश्चित संस्थागत स्वरूप शामिल रहते है। ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसकी चर्च न हो। दीगर बात है कि उसके रूप व्यापक रूप से बदलते रहते है। इस संदर्भ में दुर्खीम कहते है कि चर्च को अवधारणा का संबंध भक्तों के निश्चित समूह से जुड़े नियमपूर्वक संचालित आनुष्ठानिक संगठन के अस्तित्व में है। इसका आषय यह नही है कि अनिवार्य रूप से विशेषज्ञ पुरोहित हो ही। इस तरह दुखींम धर्म की अपनी विख्यात परिभाषा तक पहुंचते है पवित्र चीजों के सापेक्ष विश्वासों और आचरणों की एकीकृत व्यवस्था तक वैसे विश्वास और आचरण तक जो चर्च नामक एक ही नैतिक समुदाय से एकताबद्ध हो जाते है वे सभी लोग जो उनसे चिपक जाते है।

इस परिभाषा के अनुसार टोटेमवाद धर्म का ही एकरूप है। इस तथ्य के बावजूद कि इसने कोई व्यक्तिकृत देवता या आत्मा नहीं है। आज जहां तक हमें मालूम है उसमें यह निश्चय ही सबसे आदिम किस्म का धर्म है और सभवतः अब तक अस्तित्वमान रूपों में सबसे आदिम अतः टोटेमवाद में निहित तथ्यों को अलग करना अनुमानतः इसके साथ ही मानवता में धार्मिक भावनाओं के उदय की ओर ले जाने कारणों की खोज करना है।

टोटेमवाद संगठन की व्यवस्था से अभिन्न रूप से जुड़ा है जो आस्ट्रेलियाई समाजों का लक्षण है। टोटेमवादी गोत्र का विशिष्ट लक्षण है कि जो नाम गोत्र–समूह की पहचान का बोध कराता है वह भौतिक वस्तु का नाम होता है यानी टोटेम। ऐसा माना जाता है कि उसमें बहुत विशेष गुण होते हैं। एक ही जनजाति में दो गोत्रों का टोटेम एक समान नहीं होता। माना जाता है कि अपने टोटेम के कारण गोत्र के सदस्यों में मौजूद गुणों की जांच पड़ताल से साबित होता है। टोटेम का पवित्र लक्षण धार्मिक अनुपालनों में प्रकट होता है। वही उसे उन साधारण वस्तुओं से अलग करता है जिनका उपयोग उपयोगितावादी उद्देश्यों के लिए किया जाता है। विभिन्न धार्मिक आदर्श और निषेध भी टोटेमवादी प्रतीक को घेरे रहते हैं। टोटेम का जो प्रतिरूप वस्तुओं पर रखा जाता है या जो व्यक्ति को सजाता है, उन्हें अकसरहां खुद टोटेमवादी वस्तुओं से जुड़े प्रतिरूपों की बनिस्बत ज्यादा सख्ती से लागू किया जाता है।

फिर भी इसके अतिरिक्त गोंत्र के सदस्य खुद पवित्र गुण संपन्न होते हैं। जहां अत्यधिक विकसित धर्मो में आस्तिक अपवित्र होता है, टोटेमवाद में ऐसी बात नहीं होती। हर आदमी टोटेम धारण करता है। इसका महत्व है कि वह खुद टोटेम की धार्मिकता में साझीदार हैं और ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति ओर उसके टोटेम के बीच वंश संबंधी जुड़ाव होता है। इस तरह टोटम तीन किस्म की वस्तुओं को पवित्र मानता है:

(1) टोटेम

(2) टोटेमवादी प्रतीक और

(3) खुद गोत्र के सदस्यों को।

पवित्र वस्तुओं की ये तीन श्रेणियां सामान्य ब्राह्मांड विज्ञान का अंग हैं। आस्ट्रेलियाई की नजर में दुनिया में मौजूद सारी चीजें जनजाति के अंग हैं। वे उसके संघटक तत्व हैं। इस तरह कहा जाए तो उसके स्थायी सदस्य हैं। ठीक मनुष्यों की तरह ही समाज के संगठन में उनका निश्चित स्थान है। इस तरह उदाहरण के तौर पर बादल एक टोटेम में हैं तो सूरज दूसरे टोटेम में : संपूर्ण प्रकृति की टोटेमवादी गोत्र संगठन पर आधारित व्यवस्थित वर्गीकरण में ला दिया जाता है। एक निष्चित गोत्र या गोत्र समूह में वर्गीकृत सभी वस्तुएं

अपने–आप के साथ संबद्ध रहती हैं। मनुष्य 'उन्हे अपना मित्र कहते हैं' और सोचते हैं कि वे उन्हीं की तरह वैसे ही हाड़ मांस के बने हैं। इससे साबित होता है कि धर्म का दायरा उससे बहुत आगे तक विस्तृत है जितना शुरू में लगता था। 'इसमें टोटेमवादी जानवर और गोत्र के मनुष्य सदस्य शामिल हैं। साथ ही ऐसा कुछ नहीं हैं जिसका गोत्र में या टोटेम के अधीन वर्गीकरण नहीं हुआ है। इसलिए उसी तरह ऐसा कुछ नहीं हो जो अलग–अलग मात्रा में धार्मिकता का कुछ गुण नहीं ग्रहण करता।'

इस तरह पहले से अलग कर ली गई तीन किस्म की पवित्र वस्तुओं में कोई अपना पवित्र लक्षण किसी अन्य से नहीं पाते क्योंकि वे सभी साझे धर्मनिष्ठा में शरीक हैं। इसलिए उनका पवित्र उदाहरण ऐसे स्रोत्र से निकलना चाहिए जिसमें वे सब शामिल हों। उसे ऐसी शक्ति से निकलना चाहिए जिसमें सब आंशिक रूप से शरीक हों। लेकिन फिर भी जो उनसे अलग न हो।

आस्ट्रेलियाई टोटेमवाद में उस पवित्र ऊर्जा को उन वस्तुओं से स्पष्टतः अलग नहीं किया गया है जो उसे मूर्त रूप देते हैं। कुछ अन्य जगहों पर भी ऐसा हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी अमरीकी भारतीयों में और मालेनेशिया में, जहां इसे माना कहा जाता है। आस्ट्रेलियाई टोटेमवाद में विस्तृत और सर्वव्यापी रूप में पाई जाने वाली धार्मिक ऊर्जा इस सामान्य शक्ति के बाद सभी अति विशिष्ट रूप धारण किए अवतारों का उद्‌गम स्रोत हैं। वे ही अति जटिल धर्मो मे देवताओं, आत्माओं और दैत्यों के रूप में प्रकट होते हैं।

इसलिए धर्म के अस्तित्व की व्याख्या के क्रम में हमें उस सामान्य ऊर्जा के आधार की तलाश जरूर करनी चाहिए जो सभी पवित्र वस्तुओं का स्रोत हैं। भौतिक वस्तुओं के रूप में टोटेम द्वारा प्रस्तुत संवेदना से हो इसका व्याख्या नहीं हो पाती कि उन्हें ही दैवी शक्ति क्यों समर्पित की जाए। टोटेमवादी वस्तुंए अकसरहां तुच्छ जीव–जंतु या छोटे पौधे होते हैं। वे अपने भीतर से धर्मनिष्ठा का सशक्त बोध नहीं करा पाते जो उन पर आरोपित हैं। जो भी हो टोटेम के प्रतिनिधित्व को आम तौर पर टोटेमवादी वस्तु से ज्यादा पवित्र माना जाता हैं। इससे साबित होता कि 'टोटेम, सबसे बढ़कर, प्रतीक चिह्न है। यानपी किसी अन्य चीज की भौतिक अभिव्यक्ति।' इस तरह टोटेम पवित्र ऊर्जा और गोत्र समूह की पहचान का प्रतीक है। दुर्खीम भारी–भरकम अंदाज में पूछते हैं कि 'इस तरह अगर वह एक ही साथ भगवान और समाज दोनों

का प्रतीक है तो इसके पीछे कारण क्या नहीं है कि भगवान और समाज एक हैं?' गोत्र समूह अपने–आपमें टोटेमवादी सिद्धान्त हैं। कल्पना में इसकी इस प्रस्तुति और प्रतिनिधित्व किसी वनस्पति या जानवर के बोधगम्य रूप में होती हैं और वहीं वनस्पति या जानवर टोटेम का काम करता है। इस बंधन और समाज दोनों पर समाज का नियंत्रण रहता हैं और ये दोनों पवित्र के जुड़वा लक्षण है। पवित्र वस्तु को श्रेष्ठ हस्ती समझा जाता हैं। चाहे वह विकीर्ण अमूर्त शक्ति के रूप में मौजूद हो या व्यक्तित्व के रूप में। यह व्यक्ति पर समाज की श्रेष्ठता का प्रतीक बन जाता है:

सामान्य तरीके से इस बात में शंका की गुंजाइस नहीं है कि समाज में वह सब कुछ है जो मानव मन में दैवत्व की अनुभूति पैदा करने के लिए जरूरी है। सहज ढंग से उन पर अपने प्रभावों की बदौलत वह इसे पूरा करता है क्योंकि सदस्यों की नजर में समाज का वही स्थान है जो उसके भक्तों की नजर में भवगवान का। भगवान दरअसल सबसे पहले एक अस्तित्व है जिसे मनुष्य कुछ निश्चित मायनों में अपने से श्रेष्ठ मानते हैं जिस पर उन्हें विश्वास है कि वे निर्भर हैं। चाहे वह चेतनाशील यक्तित्व हो, जैसे ज्यूस या जावेह, या टोटेमवाद में काम आने वाली अमूर्त शक्तियां। दुर्खीम यह तर्क नहीं देते कि 'समाज धर्म से बनता है।'इसी गलतफमी से विचार को बल मिलता है कि दि एलिमेंटरी फार्म्स में वे 'आदर्शवादी' रूख अपना लेते हैं। इसके ठीक विपरीत उनकी प्रस्थापना है कि धर्म आत्मनिर्माण की अभिव्यक्ति है। वह मानव समाज का स्वंतत्र विकास है। यह आदर्शवादी सिद्धांत नहीं है। यह तो उस विधिशास्त्रीय सिद्धांत के अनुकूल है जिसके अनुसार सामाजिक तथ्यों की व्याख्या दूसरे सामाजिक तथ्यों की शब्दावली में की जानी चाहिए।

दुर्खीम ठोस तरीके से यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि किस तरह धार्मिक प्रतीकवाद का उत्पादन और पुनरूत्पादन धार्मिक अनुष्ठान में होता है। आस्ट्रेलियाई समाज वैकल्पिक चक्रों में सगे–सम्बन्धियों का हर समूह अलग–अलग जीता है। इसमें वह अपने सारे क्रियाकलापों को आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में लगाता है। दूसरे चक्र में गोत्र या परिवार समूह के लोग एक निश्चित अवधि के लिए एक साथ जमा होते हैं (यह कुछ दिनों की छोटी अवधि हो सकती है या कई महीनों तक चल सकती है।)

भारत में गणचिन्हवाद (टोटमवाद)

भारत में पश्चिमी समाज में साँप और सपेरों का देश कहा जाता है, शायद इसलिए कि यहाँ टोटम की जड़े काफी गहरी है। भारत में अनेक टोटेमी जातियॉ है।

संथाल जाति में सौ से अधिक ऐसे गण है। राजस्थान और खानदेश के भील 24 गणों में विभाजित है, जिनमें से कई के नाम पशुपक्षियों तथा वृक्षों पर अधारित लगते हैं। महाराष्ट्र के कतकरी, माध्यप्रदेश के गोंड और राजस्थान के मीना, मिलाला आदि जातियों में भी गणों के नमा उनके प्रदेश में पाए जानेवाले पशुपक्षियों पर रखे जाते है। इन सभी जायितों में टोटेम के शररी की वस्तुओं (जैसे पंख, खाल, पत्तियाँ या लकड़ी) और टोटेम के चित्र तथा संकेतों को भी पवित्र मानकर उनकों पूजा जाता है और टोटेम को नष्ट करने पर कठोर प्रतिबंध होता है। इनके साथ ही भारत में ऐसी अनेक जातियॉ है जो टोटेम पर अपने गण अथवा समुदाय का केवल नाम रखती है बहुत सी ऐसी हैं जो केवल टोटेम को पूजती है। मालवा और राजस्थान ने बंगाल में रहने वाली ऐसी अनेक जातियॉ (बागड़ीस, महिश्द और मोरा) का उल्लेख किया है। मालवा और राजस्थान में भी ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिनमें नाम के अतिरिक्त टोटेमवाद का कोई अन्य लक्षण नहीं मिलता।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

2) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

(1) विश्वास की विशेषताओं की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

(2) विश्वास कितने प्रकार का होता है?

.....

.....

.....

(3) टोटेमवाद को समझाइए।

.....

.....

.....

12.5 सारांश

किसी प्रस्ताव अथवा विचार को सत्य मानना विश्वास का द्योतक है। सामान्यतः यह स्वीकृति बौद्धिक होती है। विश्वास व्यक्ति में एक ऐसी मानसिक दशा क निर्माण करते है, जो उसके स्वैचछिक क्रिया के जनक का काम करती है। विश्वास कई प्रकार के हो सकते है यथा वैज्ञानिक विश्वास सनकपन पर आधारित विश्वास, अंधविश्वास आदि। सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के बारे में हम विश्वास रखते है। यह विश्वास कथनों और मान्यताओं के रूप में होते है। विश्वास किसी वस्तु में भरोसा या किसी तथ्य को मानना है। विश्वास ही व्यक्ति को वस्तुओं का अर्थ बताता है। वह वस्तु का वस्तु के बारे में संपूर्ण ज्ञान होता है, उसमें सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों के संगठनों का संगठन सम्मिलित रहता है। धार्मिक विश्वास के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता में विश्वास, आत्मा की अमरता में विश्वास, मृत्योपरान्त जीवन में विश्वास, पुर्नजन्म में विश्वास, स्वर्ग–नरक सम्बन्धी विश्वास या मोक्ष की धारणा में विश्वास आदि सम्मिलित। आस्था मे संपूर्णता, गहनता एवं तीव्रता होती है जबकि विश्वास बौद्धिक होने के कारण आस्था की तरह स्थायी की तरह स्थायी नहीं होता है। आस्था हृदय परक है तो विश्वास बुद्धिपरक है। आस्था का विषय आन्तरिक है जबकि विश्वास के विषय आन्तरिक और बाह्य दोनों हैं। आस्था स्थायी और अपरिवर्तनशील होती है जबकि विश्वास का परित्याग किया जा सकता है, परिणामस्वरूप यह अस्थायी और परिवर्तनशील होता है। आस्था में आत्मसंलग्रता और सहभागिता का भाव बना रहता है इसलिए व्यक्ति इसमें तटस्थ नहीं रह पाता है जबकि विश्वास से व्यक्ति तटस्थ बना रह सकता है।

विश्वास एक व्यक्ति या एक समाज कि एक मानसिक स्थिति है जो कि अनुमान को सच करने का आधार है। ठीक इसी प्रकार टोटमवाद आदिम समाज में विश्वास का बहुत ही बड़ा परिवचायक है। टोटेम समाज में फैले उस विश्वास को कहते है जिसमें मनुष्यों का किसी जानवर, वृक्ष, पौधे या अन्य आत्मा से सम्बन्ध माना जाए।

12.6 शब्दावली

धर्म : किसी एक या अधिक पारलैकिक शक्ति में विश्वास और इसके साथ–साथ उसके साथ जुड़ी रीति, रिवाज, परम्परा पूजा–पद्धति और दर्शन का समूह है।

दर्खाइम : फ्रांस के महान सामाजशास्त्री थे। कार्ल मार्क्स तथा मैक्स वेबर के साथ वे भी आधुनिक समाज विज्ञान के मुख्य शिल्पी एवं समाजशास्त्र के जनक कहे जाते है।

टोटेम : समाज में फैले उक्त विश्वास को कहते है जिसमें मनुष्यों का किसी जानवर, वृक्ष, पौधे या अन्य आत्मा से सम्बन्ध मान जाए।

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डी. के सिंह सौरभ पालीवाल, रोहित मिश्र, मानव समाज एवं विघटन के मूल तत्व, 2001 लखनऊ।

पी.डी. मिश्र, सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, 1985, लखनऊ।

जी. के. अग्रवाल, समाजशास्त्र, 1999, आगरा।

राम बिहारी सिंह तोमर, ग्रामीण समाजशास्त्र, 1995 आगरा।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) किसी प्रस्ताव अथवा विचार के सत्य मानना विश्वास का द्योतक है। सामान्यतः यह स्वीकृति बौद्धिक होती है। विश्वास व्यक्ति में एक ऐसी मानसिक दशा क निर्माण करते है, जो उसके स्वैचछिक क्रिया के जनक का काम करती है। विश्वास कई प्रकार के हो सकते है यथा वैज्ञानिक विश्वास सनकपन पर आधारित विश्वास, अंधविश्वास आदि। सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के बारे में हम विश्वास रखते है। यह विश्वास कथनों और मान्यताओं के रूप में होते है। विश्वास न सच्चे होते है न झूठे। विश्वास पर यकीन किया जाता है। उदा0 काली बिल्ली के रास्ता काटने पर दूसरे के पश्चात जाना। मानव समाज में विश्वासों का महत्वपूर्ण स्थान है। विश्वासों के आधार पर ही व्यक्ति प्रथाओं, नियमों और धर्म आदि का पालन करता है। जिन विश्वासों को सामाजिक अनुमोदन प्राप्त होता है वे सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

I. विश्वास का संबंध मानव के मस्तिष्क से है।

II. इसका संबंध मानव की आस्था एवं भरोसे से है।

III. यह हमारी अभौविक संस्कृति का अंग है।

IV. विश्वास के उल्लेख सम्य एवं शिक्षित समाजों के साहित्य में किया जाता है।

V. असभ्य एवं अशिक्षित समाजों में लोकगीतों, कथाओं, गाथाओं, धर्म एवं जादू–टोने की आत्माओं में विश्वासों को व्यक्त किया जाता है।

VI. विश्वास सत्य एवं असत्य हो सकते है।

VII. अधिकांशतः विश्वासों का संबंध धर्म एवं ईश्वर तथा अलौकिक शक्ति से होता है।

VIII. विश्वास प्राकृतिक एवं सामाजिक दोनों ही हो सकते है।

2) विश्वास मुख्यतः दो प्रकार का होता है

I. **वैज्ञानिक विश्वास –** जिनका संबंध विज्ञान एवं वैज्ञानिक विषयों एवं प्रयोगों से होता है।

II. **अवैज्ञानिक विश्वास–** जिनका वैज्ञानिक परीक्षण नहीं हुआ है या वे विज्ञान की कसौटी खरे नही उतरे है। अंधविश्वास इसी श्रेणी में आते है। जैसे हम भूत–प्रेत, परग्रही द्वारा अपहरण से लेकर भविष्यवाणी करना, हवा से वस्तु उत्पन्न करने से लेकर पुनर्जन्म जैसी विचित्र बातों पर विश्वास कर सकते हैं।

रोंस ने समाज में विद्यमान विश्वासों का पाँच भागों में बाँटा है–

i. समाज में यह विश्वास जम जाता है कि समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन उचित है और उसका उलंघन अनुचित है। मानव के प्रत्येंक कार्य को कोई न कोई अलौकिक शक्ति देख रही है जो व्यक्ति को समाज स्वीकृत कार्य करने का पुरस्कार एवं समाज विरोधी कार्य करने पर दण्ड देता है।

ii. एक विश्वास यह है कि आत्मा अजर अमर है मरने के बाद व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार ही अगला अन्म मिलता है। अगला जन्म सुखमय या दुःखमय होगा, यह उसके पहले के जन्म के कार्यों पर निर्भर है। कर्म एवं मुक्ति की धारणा प्रमुख रूप से हिन्दुओं में पायी जाती है।

iii. एक विश्वास यह भी है कि व्यक्ति को अच्छे व बुरे कर्मों का फल इसी जीवन में पुरस्कार व दण्ड के रूप में अवश्य मिलता है। दण्ड की देवी अदृश्य रूप से व्यक्ति के कार्यों को देखती रहती है।

iv. स्वर्ग एवं नरक में विश्वास भी समाज में नियंत्रण बनायें रखता है। स्वर्ग–प्राप्ति की इच्छा लोगों को सत्कर्म करने को प्रेरित करती है एवं नरक से बचने की इच्छा बुरे कार्य करने से व्यक्ति को रोके रखती है।

v. भूतप्रेतों एवं पूर्वजों की आत्मा में, विश्वास भी समाज में नियंत्रण रखता है। लोग यह मानते है कि बुरे कार्यों से पूर्वजों की आत्मा को ठेस पहुँचती है, अतः वे समाजविरोधी व्यवहारों से बचते है।

3. भारत को पश्चिमी समाज में साँप और सपेरों का देश कहा जाता है, शायद इसलिए यहॉ टोटम की जड़े काफी गहरी है। भारत में अनेक टोटेमी जातियाँ हैं। संथाल जाति जातियाँ हैं। संथाल जाति में सौ से अधिक ऐसे गण है जिनके नाम पशु पक्षी और वृक्ष पर रखे जाते हैं। इसी प्रकार दक्षिण बिहार की ही जाति में लगभग पचास ऐसी टोटमी गण है। राजस्थान और खानदेश के भील 24 गणों में विभाजित है, जिनमें से कई के नाम पशुपक्षियों तथा वृक्षों पर आधारित लगते है। महाराष्ट्र के कतकरी, मध्यप्रदेश के गोंड और राजस्थान के मीना, मिलाला आदि जातियों में भी गणों के नाम उनके प्रदेश में पाए जाने वाले पशुपक्षियों पर रखे जाते हैं। इन सभी जातियों में टोटेमी गण नाम के साथ–साथ टोटेमवाद के कई लक्षण भी वर्तमान है जैसे टोटेम को अलौकिक पितृ मानन, टोटेम के शरी की वस्तुओं (जैसे पंख, खाल, पत्तियॉ या लकड़ी) और जैसे टोटेम के चित्र था संकेतों को भी पवित्र मानकर उनको पूजा जाता है और टोटेम के नष्ट करने पर कठोर प्रतिबंध होता है। इनके साथ ही भारत में ऐसी अनेक जातियॉ है जो टोटेम पर अपने गण अथवा समुदाय का केवल नाम रखती है। बहुत सी ऐसा है जो केवल टोटेम को पूजती है। मजूमदार ने बंगाल में रहने वाली ऐसी अनेक जातियॉ (बागड़ी महिश्द और मोरा) का उल्लेख किया है। मालवा और राजस्थान में भी ऐसी अनेक जातियॉ हैं जिनमें नाम के अतिरिक्त टोटेमवाद का कोई अन्य लक्षण नहीं मिलता।

इकाई–13 रूढ़िवादिता

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 प्रमुख सामाजिक प्रतिमान एवं रुढ़ियाँ

13.2.1 सामाजिक प्रतिमानों की विशेषताएं

13.2.2 सामाजिक प्रतिमानों का समाजशास्त्रीय महत्व

13.3 जनरीतियां अथवा लोकरीतियां

13.3.1 जनरीतियों की परिभाषा

13.3.2 जनरीतियों की विशेषताए

13.3.3 जनरीतियों का महत्व

13.4 रूढ़ियाँ / लोकाचार

13.4.1 रूढ़ि (लोकाचार) की परिभाषाएं

13.4.2 विशेषताएँ

13.4.3 रूढ़ियों के प्रकार

13.4.4 सामाजिक जीवन में लोकाचारों का महत्व

13.4.5 जनरीति तथा लोकाचार (रूढ़ियाँ) में अन्तर

13.5 प्रथा

13.5.1 प्रथा की विशेषताएं

13.5.2 प्रथा तथा जनरीति में अन्तर

13.6 परम्परा

13.6.1 परम्परा की विशेशताएं

13.6.2 परम्पराओं का महत्व

13.7 सारांश

13.8 प्रश्न

13.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के अन्तर्गत सामाजिक प्रतिमान एवं रुढ़ियाँ के विषय में अध्ययन कर सकेंगे। इसके पश्चात जनरीतियां अथवा लोकरीतियां को समझ सकेंगे।

रूढ़िवादिता के विषय में अध्ययन कर सकेंगे। रूढ़िवादिता का अर्थ तथा परिभाषाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। इसके पश्चात् रूढ़िवादिता की विशेषताओं का अध्ययन कर सकेंगे तथा इकाई के अन्त में प्रथा एंव परम्परा का वर्णन कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में में रूढ़िवादिता के विषय पर विचार किया गया है। रूढ़िवादिता के अर्थ तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई रूढ़िवादिता की परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है। रूढ़ियों से तात्पर्य जनप्रिय रीतियों एवं परम्पराओं से है। जब इनमें इस निर्णय का समावेश हो कि वें सामाजिक कल्याण के लिए लाभदायक हैं और जब व्यक्ति को उनका पालन किये जाने के लिए बाध्य किया जाता है। यद्यपि उन्हें किसी सत्ता द्वारा समन्वित नहीं किया जाता है। जनरीतियां कार्य (व्यवहार) करने की वे विधियां जो एक समाज या समूह में समान रूप से पायी जाती हैं तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं। एक जनरीति उस समय लोकाचार बन जाती है जब उसके साथ कल्याण की भावना का तत्व जोड़ दिया जाता है। रूढ़ियों की विशेषताओं का उल्लेख भी किया गया है। इसके पश्चात् रूढ़ियों के प्रकारों का वर्णन भी किया गया है। इसके पश्चात प्रथाएं समूह के द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की ऐसी विधियां हैं जो इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना विचारे ही मान्यता दे दी जाती है और इस प्रकार ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।

13.2 प्रमुख सामाजिक प्रतिमान एवं रुढ़ियाँ

सामाजिक प्रतिमान को सामाजिक मानदण्ड अथवा सामाजिक आदर्श नियम भी कहते हैं। समाजशास्त्र में सामाजिक प्रतिमानों के अध्ययन का विशेष महत्व है क्योंकि ये सामाजिक सम्बन्धों को नियमित करते हैं और समाज–व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हम सामाजिक प्रतिमानों के आधार पर ही हम किसी मानवीय व्यवहार

को उचित या अनुचित ठहरा सकते हैं। सामाजिक प्रतिमानों के अभाव में सामाजिक जीवन अस्त–व्यस्त हो जायेगा। सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए ही मानव अनेक प्रथाओं, रीति–रिवाजों, परिपाटियों, रुढ़ियों एवं कानूनों, आदि की रचना करता है, जिन्हें हम सामाजिक प्रतिमान कहते हैं। सामाजिक नियम ही सामाजिक प्रतिमान कहलाते हैं। बीरस्टीड लिखते हैं, "बिना प्रतिमानों के सामाजिक जीवन असम्भव होगा और समाज में कोई व्यवस्था नहीं रह पायेगी।" डेविस ने भी लिखा है, "आदर्श नियमों के अभाव में मानव समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।"

13.2.1 सामाजिक प्रतिमानों की विशेषताएं

सामाजिक प्रतिमानों की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट रूप समझने के लिए हम यहां उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है :–

1. सामाजिक प्रतिमान का अर्थ उन सामाजिक नियमों से है जिनके पालन की अपेक्षा उस समाज के सभी सदस्यों से की जाती है।
2. सामाजिक प्रतिमानों में अनेक छोटे एवं बड़े नियम और उपनियम होते हैं।
3. सामाजिक प्रतिमान सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। हम ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं जिसके कोई आदर्श–नियम न हों।
4. मानव समाज की आदर्श व्यवस्था लाखों वर्ष पुरानी है। इसका विकास मानव समाज के एक अंग के रूप में हुआ है, क्योंकि यह सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति में सहायक है। सामाजिक प्रतिमान मानव समाज के साथ ही उत्पन्न हुए हैं।
5. सामाजिक प्रतिमानों का पालन बाह्य दबाव के कारण ही नहीं किया जाता वरन् इसलिए भी किया जाता है कि लम्बे समय से उनका पालन करने के कारण वे मानव व्यवहार के अभिन्न अंग बन चुके हैं और मानव स्वचालित रूप से अपने व्यवहार में आजीवन उनका पालन करता है।
6. सामाजिक प्रतिमान मानव का पथ–प्रदर्शन करते हैं तथा उसके अपने व अन्य व्यक्तियों के बारे में निर्णयों को निर्धारित करते हैं। सामाजिक प्रतिमानों के पालन तथा उल्लंघन से ही व्यक्तित्व तथा समाज की बहुत–सी समस्याएं उत्पन्न होती हैं।
7. सामाजिक प्रतिमान सापेक्ष होते हैं अर्थात् सामाजिक प्रतिमान सभी व्यक्तियों पर

अथवा सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए, जो प्रतिमान स्त्रियों के लिए उचित हैं, वे सदैव ही पुरुषों के लिए भी उचित हों, यह जरूरी नहीं है। सैनिक से सम्बन्धित प्रतिमान डॉक्टर से प्रतिमानों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार से विवाह के प्रतिमान जन्मोत्सव के प्रतिमान से भिन्न होते हैं।

8. सामाजिक प्रतिमान नैतिक कर्तव्य की भावना से सम्बन्धित होते हैं अर्थात् ये यह बताते हैं कि किसी भी व्यक्ति को विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ही कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करने चाहिए, अवष्य करने चाहिए अथवा अनिवार्य रूप से करने चाहिए। इनमें कर्तव्य–पालन की भावना निहित है।

9. सामाजिक प्रतिमानों में विकल्प भी होते हैं। वे यह संकेत करते हैं कि किसी एक प्रतिमान की तुलना में दूसरा कौन–सा प्रतिमान चुनना चाहिए, लेकिन पूर्णतया किसी एक प्रतिमान को चुनने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जाता।

10. सामाजिक प्रतिमान लिखित एवं अलिखित दोनों प्रकार के होते हैं। प्रथा, परम्परा, रूढ़ियां एवं फैशन अलिखित सामाजिक प्रतिमान है तो कानून लिखित प्रतिमान है।

11. सामाजिक प्रतिमानों का सम्बन्ध सामाजिक उपयोगिता एवं आवश्यकताओं से है। अतः आवश्यकताओं के बदलने के साथ–साथ सामाजिक प्रतिमानों में भी परिवर्तन आता है।

12. सामाजिक प्रतिमानों का सम्बन्ध समाज की वास्तविक परिस्थितियों से होता है। उदाहरण के लिए, यदि समाज ये प्रतिमान बना दे कि हर व्यक्ति के पास अपनी कार होनी चाहिए, लेकिन कार खरीदने के पैसे एवं सुविधाओं के अभाव में यह प्रतिमान व्यर्थ होगा।

13. सामाजिक प्रतिमान सामाजिक नियन्त्रण के वे साधन हैं जो मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित एवं व्यवस्थित करते हैं। ये सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते हैं।

13.2.2 सामाजिक प्रतिमानों का समाजशास्त्रीय महत्व

हम यहां व्यक्ति के जीवन में सामाजिक प्रतिमानों के महत्व तथा व्यक्ति और सामाजिक प्रतिमानों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करेंगे :–

1. सामाजिक प्रतिमानों का एक महत्व यह है कि ये सामाजिक सीख की प्रक्रिया को सरल बना देते हैं। सामाजिक प्रतिमानों के प्रभाव में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अधिकार का दावेदार बन जायेगा, इससे समाज में संघर्ष पैदा हो जायेगा और व्यक्ति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। सामाजिक प्रतिमान सामाजिक सीख के लिए उपयुक्त वातावरण बनाते हैं और उन तरीकों को भी स्पष्ट करते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने कार्यों को भली प्रकार से कर सकता है।

2. सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति के निर्णय को सरल बना देते हैं। प्रारम्भ से ही सामाजिक प्रतिमानों के शिक्षण एवं अभ्यस्तता के कारण व्यक्ति को किसी परिस्थिति में निर्णय लेने के लिए उलझना नहीं पड़ता वरन् वह प्रतिमानों के अनुरूप ही कार्य करता है। उदाहरण के लिए, हम कक्षा में कैसे बैंठे, जूते कैसे पहनें, वस्त्र कैसे धारण करें, पानी कैसे पीया जाय, भाषा किस तरह बोली जाय, अभिवादन के तरीके क्या हो, इन सभी के बारे में समाज में प्रतिमान पाये जाते हैं जिनके आधार पर एक व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार कर सकता है।

3. सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति में समूह के प्रति निष्ठा, उत्साह एवं आकांक्षाओं को जाग्रत करते हैं। लोग सामाजिक नियमों के प्रति कर्तव्य–परायणता दिखाते हैं। सामाजिक प्रतिमानों का पालन करके हम सामाजिक बने रहते हैं, जिसका अर्थ है सामाजिक रूप में उत्तरदायी बने रहना।

4. बीरस्टीड कहते हैं कि बिना सामाजिक प्रतिमानों के सामाजिक सम्बन्ध अनियमित, गड़बड़ और सम्भवतः खतरनाक हो जाएंगे। ये प्रतिमान ही हैं जो सामाजिक जीवन को व्यवस्थित, स्थिर एवं भविष्यवाणी करने योग्य बनाते हैं जो कि सामाजिक संरचना के महत्वपूर्ण तत्व हैं। अप्रतिमानता व नियमहीनता की स्थिति में कोई भी समाज अधिक समय तक नहीं चल सकता। अतः जहाँ प्रतिमान नहीं है वहां समाज भी नहीं है।

5. सामाजिक प्रतिमान बाह्य दबाव एवं बन्धन के कारण स्वीकार नहीं किये जाते वरन् इनके व्यक्ति के व्यक्तित्व के अंग माने जाने के कारण व्यक्ति स्वतः ही अचेतन रूप में उनका पालन करता है। ये व्यक्ति का पथ–प्रदर्शन करते हैं और उनके पालन से व्यक्ति में आत्म चेतना, आत्मविश्वास और कर्तव्य–पालन की भावना में वृद्धि होती हैं।

6. सामाजिक प्रतिमान हमारे व्यवहारों एवं विचारों को प्रभावित करते हैं। इन्हीं के माध्यम से हम अपने व्यवहार को व्यवस्थित तथा समाज के अन्य सदस्यों के अनुकूल

बनाते हैं। इनके द्वारा ही समाज एक संगठित संरचना प्राप्त करता है तथा सामाजिक जीवन के कार्य व्यवस्थित होते हैं।

7. किसी समाज का अध्ययन करने का सबसे अच्छा तरीका उसके सामाजिक प्रतिमानों का विश्लेषण करना है। जब हम किसी समाज की जनरीतियों, लोकाचारों, प्रथाओं, कानूनों, परम्पराओं एवं स्थाओं को जान जाते हैं तब हम उस समाज के बारे में काफी जान लेते हैं। इस प्रकार प्रतिमान समाज के अध्ययन में सहायक होते हैं।

8. जनरीतियां, प्रथाएं एवं रूढ़ियां, आदि कुछ ऐसे सामाजिक प्रतिमान हैं जिनका विकास मानव समाज में व्यवस्था एवं नियन्त्रण बनाये रखने के लिए किया जाता है। अन्य शब्दों में, सामाजिक प्रतिमान समाज में व्यवस्था, स्थिरता एवं एकरूपता कायम रखते हैं। ये हमें समाज एवं संस्कृति से अनुकूलन में सहयोग देते हैं। समाज में अनेक प्रकार के प्रतिमान पाये जाते हैं जिनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण होते हैं तो कुछ कम। इनका महत्व बताते हुए बीरस्टीड लिखते हैं, "समाज स्वयं एक व्यवस्था है जिसका अस्तित्व सामाजिक प्रतिमानों से ही सम्भव हो पाता है, इस प्रकार सामाजिक प्रतिमान ही सामाजिक संगठन का निचोड़ है।"

13.3 जनरीतियां अथवा लोकरीतियां

इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमरीका के प्रोफेसर ग्राहम समनर ने 1906 में अपनी पुस्तक 'फोकवेज' में किया था। यदि हम शाब्दिक दृष्टि से देखें तो यह शब्द दो शब्दों Folk तथा Ways का योग है (Folk + ways = folkways) जिसका क्रमशः अर्थ है–जन या जनता तथा रीतियां (जन+रीतियां = जनरीतियां) अर्थात् कार्य करने के तरीके या रीतियां जो समाज के लोगों द्वारा अपनायी जाती हैं, जनरीतियां कहलाती हैं। अन्य शब्दों में, जनरीतियां समूह की आदतों को कहते हैं। हमारे अधिकांश दैनिक व्यवहार जनरीतियों द्वारा प्रभावित होते हैं। जनरीतियां अपेक्षाकृत स्थायी व्यवहार है।

13.3.1 जनरीतियों की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने नजरीतियों या लोकरीतियों की परिभाषा इस प्रकार से की है :–

मैकाइबर एवं पेज के अनुसार, "जनरीतियां समाज में मान्यता प्राप्त अथवा स्वीकृत व्यवहार की प्रणालियां हैं।"

ग्रीन के अनुसार, "जनरीतियां कार्य (व्यवहार) करने की वे विधियां जो एक समाज या समूह में समान रूप से पायी जाती हैं तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।

मैरिल व एलरिज के अनुसार, "शाब्दिक अर्थ में जनरीतियां जनता की रीतियां है अथवा सामाजिक आदतें हैं जो समूह द्वारा अपेक्षित हैं तथा दैनिक जीवन में व्यवहार के फलस्वरूप विकसित हुई हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम जनरातियों की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं।

13.3.2 जनरीतियों की विशेषताएं

1. जनरीतियां समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत तथा मान्यता प्राप्त विधियां हैं।

2. जनरीतियां हमारे स्वभाव में इतनी घुल–मिल जाती हैं कि हम अनजाने ही उनका पालन करते हैं। समनर ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है, "जनरीतियां प्राकृतिक शक्तियों के समाज होती हैं जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता है।"

3. जनरीतियों का जन्म स्वतः होता है तथा बार–बार दोहराने से इनका रूप विकसित हो जाता है। कानून की तरह इनका निर्माण किसी विधान –निर्मात्री सभा द्वारा नहीं किया जाता।

4. जनरीतियां मानव के लिए उपयोगी हैं। इनके आधार पर ही व्यक्ति सामाजिक मूल्यों एवं पर्यावरण से अपना अनुकूलन स्थापित करता है।

5. बीरस्टीड कहते हैं कि किसी समाज की जनरीतियों की सूची बनाना बड़ा कठिन है क्योंकि प्रत्येक समाज में इनकी संख्या असंख्य है। समाज के विकास के साथ–साथ जनरीतियों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

6. जनरीतियां मानव व्यवहार नर नियन्त्रण रखती हैं तथा समाज के सभी सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करती हैं।

7. जनरीतियां पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती है। प्रत्येक पीढ़ी के अपने अनुभव उसमें जुड़ते जाते हैं और उसमें परिपक्वता आती जाती है।

8. जनरीतियां अलिखित होती हैं। अतः ये कानून की भांति स्पष्ट नहीं होती।

9. जनरीतियों में व्यवस्था एवं समूह कल्याण की भावना निहित होती है।

10. समाज में कुछ जनरीतियां अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं तो कुछ कम महत्पूर्ण। महत्वपूर्ण जनरीतियों का उल्लंघन करने पर समाज में तीव्र प्रतिक्रिया होती हैं जबकि कम महत्वपूर्ण के उल्लंघन कर हल्की निन्दा या आलोचना की जाती है।

11. एक समाज की जनरीतियां प्रायः दूसरे समाज की जनरीतियों से भिन्न होती हैं।

12. जनरीतियों का पालन कराने के लिए औपचारिक संगठन नहीं होता है। वरन् औपचारिक साधनों जैसे, हंसी–मजाक, व्यंग, आलोचना, आदि की शक्ति इनके पीछे होती है।

13. जनरीतियां समय के साथ परिवर्तित होती हैं, यद्यपि ये परिवर्तन का विरोध करती हैं। उदाहरण के लिए, अभिवादन, भोजन, वस्त्र पहनने, आदि की जनरीतियां जो वैदिक युग में थीं वे आज नहीं है।

14. जनरीतियां अनियोजित एवं असगठित होती हैं।

15. चूंकि एक समाज की अपनी जनरीतियां होती हैं। अतः उससे सम्बन्धित दण्ड व्यवस्था भी उसी समूह तक सीमित होती है। इसलिए एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य नहीं हैं, उसकी जनरीतियों का उल्लंघन करने पर या तो उसकी सामाजिक आलोचना होती ही नहीं है औद यदि होती भी है तो उसका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उदाहरण के लिए, गांवों में पति–पत्नी हाथ में डालकर नहीं चलते, किन्तु कोई विदेशी यदि गांव में ऐसा करते हैं और गांव वाले उनकी आलोचना करते हैं तो इसका विदेशी दम्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

13.3.3 जनरीतियों का महत्व

जनरीतियों का हमारे जीवन में बहुत महत्व है। वे हमें सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण में रहने की कला सिखाती हैं। वे जीवन की सम्भावनाओं से हमारे मस्तिष्क को स्वतन्त्र करके हमारी कार्यक्षमता को बढ़ाती हैं। बार–बार दोहराने के कारण जनरीतियां हमारे कार्य करने और विचार करने की आदत बन जाती हैं तथा वे हमारे मानसिक जीवन की अकथनीय सीमाओं का निर्माण करती हैं। ये हमारे व दूसरों के व्यवहारों के बारे में भविष्यवाणी करने की क्षमता प्रदान करती हैं जिससे हम जीवन में सुरक्षा तथा व्यवस्था अनुभव करते हैं। जनरीतियों उल्लंघन करने पर व्यक्ति अपने को सामाजिक सम्पर्क से पृथक् पाता है। ऐसी अवस्था में समाज में उसका जीवन

अत्यधिक कठिन हो जाता है। प्रो. डेविस कहते हैं, यदि मानव जीवन के आधारभूत तथ्य कहीं दिखायी देते हैं तो समाज की लोकरीतियों में, क्योंकि हम इन लोकरीतियों से अपनी जीवन आरम्भ करके उन्हीं तक सीमित रहते हैं।

बीरस्टीड जनरीतियों का महत्व बताते हुए कहते हैं, "कोई भी समाज जनरीतियों के बिना नहीं रह सकता। वे सामाजिक संरचना के अंग हैं और सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करती हैं।

1. जनरीतियां समाज में एकरूपता लाने का कार्य करती हैं।
2. मानव की आवश्यकता पूर्ति में सहायता करती हैं।
3. मानव व्यवहार को सरल बना देती हैं।
4. एक पीढ़ी का ज्ञान एवं अनुभव दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाती हैं।
5. मानव समाज में नियन्त्रण रखने का कार्य करती हैं।
6. जनरीतियों के अध्ययन से हम किसी समाज के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

13.4 रूढ़ियाँ / लोकाचार (Mores)

सामाजिक प्रतिमानों में रूढ़ियों या लोकाचारों (**Mores**) का प्रमुख स्थान माना जाता है। जनरीतियों की भाँति रूढ़ियाँ भी औपचारिक सामाजिक प्रतिमान हैं। कहने का अर्थ यह है कि रूढ़ियों के पीछे भी समाज की स्वीकृति होती है। जनरीतियों से ही रूढ़ियों का निर्माण होता है, जब कोई जनरीति किसी समूह में बहुत अधिक व्यवहार में आती है तो वह उस समूह के लिए आवश्यक समझी जाती है तो वह रूढ़ि का रूप धारण कर लेती है।

Mores शब्द लैटिन भाषा के **Mos** शब्द का बहुवचन है जिसका अर्थ प्रथा से है। इस शब्द का प्रयोग समूह द्वारा अपेक्षित परम्परागत व्यवहारों के लिए किया गया है। **Mores** शब्द की एक व्याख्या यह भी है कि इसकी उत्पत्ति **Moral** शब्द से हुई है। अतः इसका प्रयोग नैतिकता के पर्यायवाची के रूप में भी किया गया है। समाजशास्त्र में **Mores** शब्द का प्रयोग करने का श्रेय अमरीकन समाजशास्त्री समनर को है। **Mores** शब्द का हिन्दी रूपान्तरण लोकाचार एवं रूढ़ियां दोनों ही हैं। सामान्यतः रूढ़ि शब्द का प्रयोग दकियानूसी, पिछड़े एवं बिगड़े हुए प्रथागत व्यवहारों के लिए किया जाता है जबकि 'मूर्स'

(Mores) का अर्थ ऐसे व्यवहारों से है जिनमें समूह–कल्याण की भावना होती है। अतः हम **Mores** के लिए रूढ़ियां शब्द के स्थान पर 'लोकाचार' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

समनर ने रूढ़ियों (Mores) का प्रयोग उन जनरीतियों के लिए किया है जिन्हें समूह कल्याण हेतु आवश्यक माना जाता है। उनका कथन है कि "रूढ़ियों से मेरा तात्पर्य जनप्रिय रीतियों एवं परम्पराओं से है, जब इनमें इस निर्णय का समावेश हो कि वे सामाजिक कल्याण के लिए लाभदायक हैं और जब व्यक्ति को उनका पालन किए जाने के लिए बाध्य किया जाता है यद्यपि उन्हें किसी सत्ता द्वारा समन्वित नहीं किया जाता है।"

समनर के दृष्टिकोण को सूत्र के रूप में निम्न प्रकार रखा जा सकता है :

रूढ़ियाँ = जनरीतियाँ + उचित एवं अनुचित का निर्णय + समूह कल्याण के तत्व

(Mores) = (Folkways + judgement of right or wrong + element of group welfare)

इस प्रकार लोकाचार वे सामाजिक व्यवहार हैं जिनकी समूह द्वारा अपेक्षा की जाती है तथा ये नैतिकता की भावना पर आधारित होते हैं। लोकाचारों में समूह–कल्याण की भावना निहित होती है। इसलिए इन्हें अधिक दृढ़तापूर्वक स्वीकृति प्रदान की जाती है। समूह द्वारा किसी लोकाचार की भावना के उल्लंघन को बहुत गम्भीर समझा जाता है। लोकाचार का सम्बन्ध समूह की आधारभूत आवश्यकताओं से होता है। ये सामाजिक नियन्त्रण का एक अनौपचारिक साधन है।

जनरीतियां ही आगे चलकर लोकाचार में परिवर्तित हो जाती हैं। जब कोई जनरीति समाज में लम्बे समय से प्रचलित हो, जिसे समूह के लिए आवश्यक माना जाता हो और जिसका पालन करना समूह के हित में हो तो वह लोकाचार का रूप ले लेती है। लोकाचार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं : जैसे, एक–विवाह की प्रथा, सती–प्रथा, बाल–विवाह की प्रथा, विधवा –विवाह निषेध, सम्पत्ति उत्तराधिकार के नियम, पत्नी का पति के प्रति वफादार होना, आदि।

13.4.1 रूढ़ि (लोकाचार) की परिभाषाएं (Definitions of Mores)

रूढ़ि (लोकाचार) की प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित है–

समनर (Sumner) के अनुसार, "जब जनरीतियों में जीवन को उचित रूप से व्यतीत करने का दर्शन और उनमें समूह के कल्याण की भावना जुड़ जाती है तब जनरीतियाँ ही रूढ़ियों का रूप ले लेती है।"

ग्रीन (Green) के अनुसार, "कार्य करने के वे सामान्य तरीके जो जनरीतियों की अपेक्षा अधिक निश्चित व उचित समझे जाते हैं तथा जिनका उल्लंघन करने पर गम्भीर व निर्धारित दण्ड दिया जाता है, रूढ़ियाँ कहलाती हैं।"

लुम्ले (Lumley) के अनुसार, "एक जनरीति उस समय लोकाचार बन जाती है, जब उसके साथ कल्याण की भावना का तत्व जोड़ दिया जाता है।"

मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार, "जब जनरीतियों के साथ समूह कल्याण की धारणाएँ तथा उचित एवं अनुचित के स्तर मिल जाते हैं तो जनरीतियाँ, रूढ़ियों में परिवर्तित हो जाती हैं।"

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "लोकाचार की प्रथाएँ एवं समूह–दैनिक कार्य हैं जिन्हें समाज के सदस्यों द्वारा समूह की सतत् अवस्थिति हेतु अनिवार्य माना जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि लोकाचार ऐसे व्यवहार हैं जिनमें समूह कल्याण की भावना निहित होती है, जिसका पालन करना समूह द्वारा उचित माना जाता है और जिसका उल्लंघन करने पर समूह द्वारा दण्ड की व्यवस्था की जाती है। लोकाचारों को अधिक स्पष्टतः समझने के लिए हम यहां उनकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

13.4.2 विशेषताएँ (Characteristics)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर रूढियों में निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं–

(1) स्वतः विकास : लोकाचारों का विकास स्वतः होता है, कानून की भांति उनका जानबूझकर किसी संगठन विशेष द्वारा निर्माण नहीं किया जाता है।

(2) अनुदार (रूढ़िवादी) प्रवृत्ति : लोकाचार अनुदार प्रवृत्ति के होते हैं। चूंकि उनके निर्माण में समूह का अनुभव जुड़ा होता है, अतः एक समूह के लोग अपने लोकाचारों को परिवर्तित करने के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, बाल–विवाह

एवं दहेज को समाप्त करने के लिए भारत में कानून बना दिये गये हैं फिर भी इन लोकाचारों का पालन किया जाता है।

(3) स्वाभावित : चूंकि लोकाचार समाज में एक लम्बे समय से स्थापित होते हैं, अतः वे स्वाभाविक होते हैं। एक बच्चा अपने समाज के लोकाचारों को समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा स्वतः ही सीखता और आत्मसात कर लेता है। समनर कहते हैं कि लोकाचार हमें अतीत के द्वारा प्राप्त होते हैं तथा प्रारम्भ से ही लोकाचारों के मध्य जीवन व्यतीत करने के कारण ये अत्यधिक स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार लोकाचार कठिनता से ही आलोचना का विषय बन पाते हैं। धीरे–धीरे लोकाचार व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं और अचेतन रू॰ में व्यक्ति इनका पालन करता रहता है।

(4) नैतिकता का अंश : लोकाचारों में नैतिकता का काफी अंश होता है। अतः उकना पालन धार्मिक कर्तव्य के रूप में किया जाता है।

(5) समूह कल्याण की भावना : लोकाचार में समूह–कल्याण की भावना निहित होती है। इनका उल्लंघन होने पर समूह को हानि होती है।

(6) लोकाचार अनौनचारिक सामाजिक प्रतिमान हैं : इनका निर्माण करने एवं पालन कराने वाला कोई विशिष्ट औपचारिक संगठन नहीं होता है वरन् इनका पालन करना व्यक्ति स्वयं अपना दायित्व समझते हैं।

(7) सामाजिक नियन्त्रण : लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण का एक सशक्त साधन है। इनके पीछे जनमत का दबाव होता है। कोई भी व्यक्ति लोकाचारों का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता। उनकी आलोचना करने वाले को समाज की ओर से कठोर दण्ड दिया जाता है।

(8) समूह द्वारा अपेक्षित व्यवहार : लोकाचार समूह द्वारा अपेक्षित व्यवहार है। प्रत्येक समूह अथवा समाज अपने सदस्यों से एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करने की अपेक्षा करता है, क्योंकि वे व्यवहार प्रथागत होते हैं, उनमें भूतकाल का अनुभव जुड़ा होता है और वे समूह–कल्याण के लिए आवश्यक माने जाते हैं।

(9) किसी व्यवहार की वैधता व अवैधता का निर्णय लोकाचार करते हैं : किसी भी व्यवहार को वैध या अवैध लोकाचारों के आधार पर ही माना जाता है। जो व्यवहार लोकाचार के अनुरूप होते हैं वे सही एवं वैध माने जाते हैं, उनके विपरीत व्यवहार अवैध एवं गलत माने जाते हैं।

(10) लोकाचार सर्वव्यापी नहीं होते : सभी समय एवं सभी स्थानों पर समान रूप से लागू होने वाले लोकाचार नहीं होते हैं। प्रत्येक समूह के अपने लोकाचार होते हैं।

(11) लोकाचार का प्रभाव कानून से अधिक होता है : लोकाचारों का भी प्रभाव एवं दबाव कानून से अधिक होता है। इनकी रक्षा करने वाला स्वयं समाज है और समाज का प्रत्येक व्यक्ति इनका पालन कराने में सिपाही की तरह भूमिका निभाता है।

13.4.3 रूढ़ियों के प्रकार (Types of Mores)

रूढ़ियाँ दो प्रकार के सामाजिक प्रतिमानों (Social Norms) को प्रस्तुत करती है।

(1) सकारात्मक (Positive)

(2) नकारात्मक (Negative)

सकारात्मक रूढ़ियाँ कुछ विशेष व्यवहारों पर बल देती हैं जैसे माता–पिता का आदर करना, ईमानदार होना आदि और नकारात्मक रूढ़ियाँ कुछ विशेष व्यवहारों को न करने पर बल देती हैं या निषेध लगाती हैं जैसे– चोरी न करना, जुआँ न खेलना आदि इन्हें सामाजिक वर्जना (Social Taboo) भी कहा जाता है।

लोकाचारों का एक दूसरा वर्गीकरण उनकी विशिष्ट एवं सामान्य प्रकृति के आधार पर किया जाता है।

विशिष्ट लोकाचार किसी परिस्थिति विशेष में दो व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं, जैसे– पति–पत्नी का सम्बन्ध, चिकित्सक एवं रोगी का सम्बन्ध, धर्म गुरु तथा अपने पाप को स्वीकार करने वाले व्यक्ति का सम्बन्ध, आदि।

सामान्य लोकाचारों का सम्बन्ध अनेक प्रकार की परिस्थितियों एवं सम्बन्धों से होता है। उदाहरणार्थ, ईमानदार होने का उपदेश, साहसी अथवा अच्छा व्यवसायी होने का उपदेश, आदि। कभी–कभी नियम इतनी सामान्य प्रकृति के होते हैं कि लोकाचार के पालन का सिर्फ उपदेश दिया जाता है, चाहे परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों। उदाहरणार्थ, हमें अच्छा जीवन बिताना चाहिए, पापों से बचना चाहिए, दूसरे की बुराई से बचना चाहिए, मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, इत्यादि।

13.4.4 सामाजिक जीवन में लोकाचारों का महत्व

लोकाचारों के सामाजिक जीवन में महत्व एवं उपयोगिता को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :–

1. लोकाचार समाज में नियन्त्रण रखने का कार्य करते हैं क्योंकि इनके पीछे पितृ– आत्माओं एवं अलौकिक शक्ति का भय होता है।

2. लोकाचारों द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

3. लोकाचार हमारे तथा दूसरों के व्यवहारों के बारे में भविष्यवाणी करने की क्षमता प्रदान करते हैं जिससे हम जीवन में सुरक्षा तथा व्यवस्था का अनुभव करते हैं।

मैकाइबर एवं पेज ने लोकाचारों के महत्व को इस प्रकार प्रकट किया है :–

4. लोकाचार हमारे अधिकांश निजी व्यवहारों को निश्चित करते हैं। ये समाज के सदस्यों को एक विषेष प्रकार का व्यवहार करने को बाध्य करते हैं और कुछ व्यवहारों को करने पर रोक लगाते हैं।

5. लोकाचार व्यक्ति तथा समूह में एकरूपता स्थापित करते हैं। लोकाचार व्यक्ति को अपने समुदाय, सामाजिक वर्ग अथवा लिंग के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं। समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों के अनुसार आचरण करके व्यक्ति समूह तथा अपने अन्य साथियों के साथ एकरूपता स्थापित कर लेता है।

6. लोकाचार सामाजिक सुदृढ़ता के संरक्षक है। प्रत्येक सामाजिक इकाई अथवा समूह के अपने लोकाचार होते हैं। लिंग, आयु वर्ग और प्रत्येक समूह के लिए तथा परिवार से लेकर राष्ट्र तक और उससे परे सभी समूहों के लिए भी भिन्न–भिन्न लोकाचार पाये जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के लोकाचार समूह की सुदृढ़ता को बनाये रखने का कार्य करते हैं। शहरी समुदायों की अपेक्षा ग्रामीण समुदायों में लोकाचार अधिक बाध्यतापूर्ण एवं एकता पैदा करने वाले होते हैं।

7. लोकाचार सामाजिक कल्याण का कार्य करते हैं।

8. लोकाचार नवीन पीढ़ी को समाज की कार्यविधियों का ज्ञान कराते हैं तथा उनके समाजीकरण में योग देते हैं।

9. लोकाचार समाज में मूल्यों और नैतिकता को प्रोत्साहन देते हैं।

13.4.5 जनरीति तथा लोकाचार (रूढ़ियाँ) में अन्तर

कई बार लोकाचार एवं जनीतियों में अन्तर इतना सीमान्त होता है कि उन्हें पृथक करना कठिन होता है। इन दोनों में यह समानता है कि दोनों की उत्पत्ति अति प्राचीन है, दोनों ही अनियोजित, अतार्किक तथा तुलनात्मक रूप से अपरिवर्तनीय हैं।

दोनों इस दृष्टि से समान हैं कि इनके पालन की स्वीकृति अनौपचारिक तथा सामुदायिक होती हैं और इनका पालन कराने वाला कोई विशेष अधिकारी नहीं होता। फिर भी इनमें निम्नांकित भेद पाये जाते हैं :–

1. जनरीतियां व्यवहार के सामान्य नियम है जबकि लोकाचार को समाज के लिए अधिक आवश्यक माना जाता है।

2. जनरीतियों की प्रकृति वैयक्तिक है अर्थात् इनका पालन करना व्यक्ति के हित में होता है जबकि लोकाचारों की प्रकृति सामूहिक होती है अर्थात् इनका पालन करना समूह के कल्याण के लिए आवश्यक समझा जाता है। जनरीतियों के उल्लंघन से व्यक्ति को जबकि लोकाचारों के उल्लंघन से समूह को हानि होती है।

3. जनरीतियों एवं लोकाचार में उचित एवं अनुचित की मात्रा में भिन्नता पायी जाती है। उदाहरण के लिए, एक विशेष ढंग से कपड़े पहनना जनरीति है, लेकिन कपड़े पहनना लोकाचार है। यदि हम एक समाज के अनुकूल वस्त्र नहीं पहनेंगे तो हमारी हंसी होगी, लेकिन यदि हम वस्त्र ही नहीं पहनेंगे तो यह एक गम्भीर बात होगी तथा इसे अशिष्टता समझा जायेगा।

4. जनरीति की अपेक्षा लोकाचारों को व्यापक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है।

5. लोकाचारों का विकास जनरीतियों से होता है। जनरीतियां ही आगे चलकर लोकाचार में बदल जाती हैं।

6. जनरीतियों की अपेक्षा लोकाचार में परिवर्तन धीमी गति से होता है। अक्सर लोकाचार परिवर्तन का विरोध करते हैं और समाज की आवश्यकता की पूर्ति के अनुरूप कम ही बदलते हैं।

7. जनरीतियों की अपेक्षा लोकाचार अधिक स्पष्ट, दृढ़ एवं कठोर होते हैं।

13.5 प्रथा (Custom)

प्रथाएं भी अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान है। प्रथा शब्द का प्रयोग ऐसी जनरीतियों के लिए होता है जो समाज में बहुत समय से प्रचलित हों। प्रथा में भी समूह–कल्याण के भाव निहित होते हैं। यही कारण है कि कई बार प्रथा एवं लोकाचार का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है जबकि जनरीतियों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है तो ये प्रथाओं के नाम से जानी जाती हैं।

प्रो. डेविस लिखते हैं, "प्रथा शब्द विशेषकर उन व्यवहारों की ओर संकेत करता है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता चला आया है, अथवा प्रथाएं वे व्यवहार हैं जिनका पालन केवल इसलिए किया जाता है कि बीते हुए समय में उनका पालन किया गया था। इस प्रकार ये लोकाचारों की अपेक्षा लोकरीतियों के अधिक निकट हैं, लेकिन ये दानों के परम्परागत, स्वचालित तथा सामूहिक चरित्र को स्पष्ट करती हैं।"

मैकाइबर एवं पेज के अनुसार, "सामाजिक मान्यता प्राप्त व्यवहार ही समाज की प्रथाएं हैं।"

सापिर के अनुसार, "प्रथा का उपयोग व्यवहार के तरीकों की उस सम्पूर्णता के लिए किया जाता है जो परम्पराओं द्वारा अस्तित्व में आकार समूह में स्थायी रूप ग्रहण कर लेते हैं।

बोगार्डस लिखते हैं, "प्रथाएं समूह के द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की ऐसी विधियां हैं जो इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना विचारे ही मान्यता दे दी जाती है और इस प्रकार ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।"

लुण्डबर्ग एवं अन्य इसे परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "प्रथाएं वे जनरीतियां हैं जो कई पीढ़ियों तक निरन्तर प्रचलन में रहते हुए औपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेती हैं। इन परिभाषाओं के आधार पर प्रथा की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित होती हैं :–

13.5.1 प्रथा की विशेषताएं

1. प्रथाएं समाज में व्यवहार करने की एक विधि है।
2. प्रथाएं वे जनरीतियां हैं जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती हैं।
3. प्रथाओं को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती हैं, इसलिए इनमें स्थायित्व पाया जाता है।
4. प्रथाएं व्यक्ति के व्यवहार पर नियन्त्रण रखती हैं। ये सामाजिक नियन्त्रण का अनौनचारिक साधन हैं। इनकी प्रकृति बाध्यतामूलक होती हैं।
5. प्रथाएं अलिखित एवं अनियोजित होती हैं।
6. प्रथाओं का निर्माण नहीं होता वरन् ये समय के साथ धीरे–धीरे विकसित होती हैं। इस प्रकार ये इतिहास की देन हैं।

7. प्रथाओं का उल्लंघन करने पर समाज द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती और ऐसा करने वालों की निंदा की जाती तथा हंसी उड़ायी जाती हैं।

8. प्रथाओं का पालन कराने वाली कोई औपचारिक संस्था या संगठन नहीं होती और न ही इनकी व्याख्या व देख–रेख करने वाला कोई अधिकारी ही। समाज ही प्रथा का न्यायालय है।

9. प्रथाएं कठोर एवं अपरिवर्तनशील होते हुए भी समय के साथ–साथ उनमें कुछ परिवर्तन अवश्य आ जाते हैं।

पिता की आज्ञा का पालन करना, अपनी ही जाति में विवाह करना, मृत्यु भोज, छुआछूत, बाल–विवाह, दहेज, आदि अनेक प्रथाएं हमारे समाज में प्रचलित हैं। प्रश्न उठता है कि लोग प्रथाओं का पालन क्यों करते हैं? उनकी क्या उपयोगिता या महत्व है? समाज में उनके स्थायित्व के क्या कारण हैं? उनके पीछे कौन सी शक्तियां हैं? इन प्रष्नों का उत्तर अग्रसारित प्रस्तरों में किया जा रहा है।

1. प्रथाओं का पालन करना लोग अपना कर्तव्य समझते हैं। उनसे वे अपना मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध मानते हैं। लोगों का विष्वास है कि प्रथाओं का पालन करने का अर्थ है– पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रकट करना क्योंकि उनका निर्माण उनके पूर्वजों द्वारा ही तो किया गया है।

2. प्रथाओं का पालन करने पर व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित महसूस करता है।

3. समाज के सभी व्यक्तियों में पहल करने की क्षमता नहीं होती। अतः किसी नये व्यवहार को प्रारम्भ करने के बजाय वे परम्परा से चले आ रहे व्यवहार को ही स्वीकार कर लेते हैं।

4. प्रथाओं का पालन नहीं करने पर समाज द्वारा व्यक्ति की आलोचना व निन्दा की जाती है और उसे समाज से बहिष्कृत भी किया जा सकता है। इन स्थितियों से बचने के लिए भी व्यक्ति प्रथाओं का पालन करता है।

5. एक लम्बे समय से समाज में प्रथाओं का प्रचलन होने से वे हमारे व्यवहार का अंग बन जाती हैं। अतः स्वाभाविक रूप से ही उनका पालन किया जाता है।

6. प्रथाएं व्यक्ति को सामाजिक अनुकूलन में सहायता देती हैं।

7. प्रथाएं समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने में सहयोग प्रदान करती हैं। ये सीखने की प्रक्रिया को सरल बना देती हैं।

8. प्रथाएं समूह अथवा समाज के व्यवहार में एक एकरूपता लाती हैं।

13.5.2 प्रथा तथा जनरीति में अन्तर

प्रथा और जनरीति में यह समानता है कि दोनों ही समाज के अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान हैं, दोनों ही समाज में नियन्त्रण रखने का कार्य करती हैं। फिर भी इन दोनों में निम्नांकित अन्तर है :–

1. जनरीति सामूहिक व्यवहार का पहला चरण है जबकि जनरीतियां ही विकसित होकर प्रथा का रूप ग्रहण करती हैं।

2. प्रथाएं जनरीतियों की तुलना में अधिक स्थायी एवं शक्तिशाली होती हैं।

3. जनरीतियों का महत्व प्रथाओं की अपेक्षा कम हैं। अतः उनका उल्लंघन करने पर उतना दण्ड नहीं दिया जाता जितना प्रथा का उल्लंघन करने पर दिया जाता है।

4. जनरीतियों का सम्बन्ध वर्तमान समय से होता है। वर्तमान समय में प्रचलित समूह की आदतें ही जनरीतियां कहलाती हैं जबकि प्रथाओं का प्रचलन लम्बे समय से होता है। प्रथाएं पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं और इनमें पूर्वजों का अनुभव जुड़ा होता है।

5. एक प्रथा के पालन में अनेक जनरीतियों का सहारा लिया जाता है जबकि किसी एक जनरीति के पालन में कई प्रथाएं नहीं होती हैं।

6. जनरीतियों का सम्बन्ध समूह की आदतों से है जबकि प्रथा का समूह के विश्वासों से। प्रथाओं के पालन से सामूहिक हित की रक्षा होती है जबकि जनरीति के पालन से ऐसा हो ही, यह आवश्यक नहीं है।

13.6 परम्परा (Tradition)

मानव को अपने जीवन काल में दो प्रकार की विरासत मिलती है– एक प्राणीशास्त्रीय जो कि उसे शारीरिक रचना व लक्षण प्रदान करती है और यह माता–पिता के वाहकाणुओं के द्वारा मिलती है। इसे हम वंशानुसंक्रमण कहते हैं। दूसरी, समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक विरासत है। व्यक्ति को जीवन–यापन करने के लिए अनेक भौतिक और अभौतिक वस्तुओं की जरूरत होती है जो समाज ही उसे प्रदान करता है। घड़ी, पेन, रेडियो, टेलीविजन, पंखा, वस्त्र, आदि हजारों प्रकार की वस्तुएं भौतिक विरासत हैं। धर्म, विचार, दर्शन, प्रथाएं, नियम, रीति–रिवाज, आदि

अभौतिक सामाजिक विरासत हैं। सामाजिक विरासत का अभौतिक पक्ष ही 'परम्परा' कहलाता है।

परम्परा को परिभाषित करते हुए जिन्सबर्ग लिखते हैं, "परम्परा का अर्थ उन सम्पूर्ण विचारों, आदतों और प्रथाओं के योग से हैं, जो एक समूह की विशेषता है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।"

रॉस के अनुसार, "परम्परा का अर्थ है, चिन्तन और विश्वास करने की विधि का हस्तान्तरण।"

जेम्स ड्रीवर के अनुसार; "परम्परा कानून, प्रथा, कहानी और पौराणिक कथाओं का वह संग्रह है जो मौलिक रूप से एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परम्पराएं किसी भी समाज में प्रचलित प्रथाओं व जनरीतियों का सम्पूर्ण योग है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं। परम्पराओं का पालन लोगों द्वारा बिना किसी तर्क–वितर्क के स्वतः ही किया जाता है।

13.6.1 परम्परा की विशेषताएं

परम्परा की विशेषताएं निम्नलिखित प्रकार की हैं :–

1. परम्पराएं लम्बे समय की देन होती हैं, उनमें निरन्तरता होती है।
2. परम्पराएं पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती हैं।
3. परम्पराओं का पालन अचेतन रूप से एवं बिना दायेर विचारे किया जाता है।
4. परम्पराओं में परिवर्तन धीमी गति से होता है।
5. परम्पराओं का हस्तान्तरण लिखित व मौखिक किसी भी प्रकार से हो सकता है।
6. परम्पराओं में कठोरता पायी जाती है।

13.6.2 परम्पराओं का महत्व

परम्पराएं दृढ़ता की प्रबल शक्ति है। सिसरों ने कहा था, "यदि पूर्व की घटनाओं की स्मृतियां वर्तमान को अतीत के साथ सम्बद्ध न करें तो फिर मानव जीवन है ही क्या? परम्परा के बिना मानव जीवन विश्रंखलित हो जायेगा।" मैक्डूगल ने लिखा है, "हम जीवित की अपेक्षा मृतकों से अधिक सम्बन्धित होते हैं। समस्याओं को सुलझाने एवं

परिस्थितियों का सामना करने के पुराने ढंगों के आधार पर नये ढंगों की खोज की जा सकती है। परम्पराएं हमें धैर्य, साहस एवं आत्मविश्वास प्रदान करती हैं।"

1. परम्पराएं सामाजिक जीबन को सरल बनाती हैं, हमारे व्यवहार का मार्गदर्शन करती हैं तथा समाजीकरण में योग देती हैं।
2. परम्पराएं सामाजिक जीवन में एकरूपता लाती हैं।
3. परम्पराएं व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं।
4. ये व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती हैं।
5. परम्पराओं में भूतकाल का अनुभव निहित होता है। अतः हम उनके सहारे नवीन संकटों एवं परिस्थितियों का मुकाबला आसानी से कर सकते हैं।
6. परम्पराएं राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक होती हैं। जिन्सबर्ग लिखते हैं, "परम्पराएं राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। परम्परा सामाजिक तनाव को कम करके सामाजिक विकास की एक दिशा निर्धारित करती है। परम्पराओं से सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं का अस्तित्व बना रहता है।"

13.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त सामाजिक प्रतिमान एवं रुढ़ियाँ के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। इसके पष्चात जनरीतियां अथवा लोकरीतियां अध्ययन किया। रूढ़िवादिता की अवधारणा के विषय में जानकारी मिली तत्पश्चात् रूढ़िवादिता की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त किया तथा रूढ़िवादिता के प्रकार के विषय में अध्ययन कियां। इकाई के अन्त में प्रथा एंव परम्परा का अध्ययन किया।

13.8 प्रश्न

1. सामाजिक प्रतिमान से क्या तात्पर्य है? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. जनरीतियों से आप क्या समझते हें? इसकी विशेषताओं एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. रूढ़ियों को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओं और प्रकारों का वर्णन कीजिए।

4. जनरीतियों एवं लोकचार के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिए।

5. प्रथा से क्या तात्पर्य है? प्रथा तथा जनरीति में अंतर बताइए।

6. परम्परा को परिभाषित करते हुए इसकी विशेषताओं एवं महत्व का वर्णन कीजिए

13.9 संदर्भ ग्रंथ

1. गुप्ता, एम. एल., एवं शर्मा, डॉ. डी. डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।

2. गोस्वामी, वसुधाकर, एवं सिंघी डॉ. नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, बीसवां संस्करण, 2006।

3. सिंह, अरुण कुमार, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009

4. अग्रवाल, डॉ. जी. के. एवं पाण्डेय, डॉ. एस. एस. ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सत्तम् संस्करण, 2006।

5. सिंह, डॉ. डी. के., मिश्र, डॉ रोहित एवं पालीवाल, सौरभ, मानव समाज : संगठन एवं विघटन के मूल तत्व, न्यू रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2010

6. सिंह, प्रो. आर. के., समाज कार्यकर्ताओं के लिए समाजशास्त्र, समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 2007

7. पाण्डेय, संगीता एवं पाण्डेय तेजस्कर, भारत में सामाजिक समस्याएं समाधान के प्रयास, प्रानंद बुक, लखनऊ, 2010।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MSW-112

व्यक्तित्व एवं
असामान्य व्यवहार

खण्ड

3

मानव व्यवहार (Human Behaviour)

इकाई-14 5
मानव व्यवहार की अवधारणा एवं विशेषताएँ

इकाई-15 19
व्यक्तित्व विकास के चरण एवं मानव व्यवहार की समस्याएँ

इकाई-16 30
समायोजन की अवधारणा, विशेषताएँ एवं परिणाम

इकाई-17 46
नेतृत्व की अवधारणा एवं प्रकार्य

इकाई-18 63
नेतृत्व के प्रकार

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो० एम० पी० दुबे	**कुलपति - अध्यक्ष**

विशेषज्ञ समिति

प्रो० एस० त्रिपाठी	अवकाश प्राप्त, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० ए०एन०सिंह	विभागाध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो० अरविन्द जोशी	समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ० अल्का वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

परिमापक

प्रो० बालेश्वर पाण्डेय	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो० जय कान्त तिवारी	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लेखक

डॉ० कीर्ति विक्रम सिंह	सहायक क्षेत्रीय निदेशक, इग्नू, वाराणसी

समन्वयक

डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

प्रो०(डॉ०) जी०एस०शुक्ल	कुलसचिव,उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई हैं। विश्वविद्यालय इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

तृतीय खण्डः मानव व्यवहार (Human Behaviour)

खण्ड परिचय :

तृतीय खण्ड मानव व्यवहार की विषयवस्तु से सम्बद्ध है जिसके अन्तर्गत कुल पॉच इकाइयॉ हैं। इकाई 14 में मानव व्यवहार की अवधारणा, विशेषता की विवेचना करते हुए इसके आधारों–जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधारों का विश्लेषण किया गया है। इकाई 15 के अन्तर्गत व्यक्तित्व विकास के विविध चरणों की विवेचना करते हुए मानव व्यवहार की समस्याओं की चर्चा की गई है। इकाई 16 में समायोजन की अवधारणा एवं विशेषता, समायोजन प्रतिक्रियाएं, इसके प्रकार, समायोजन की आवश्यकता एवं परिणाम, समायोजन के मूल सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। इकाई 17 में नेतृत्व की परिभाषा एवं विशेषता, नेतृत्व के गुण, महत्त्व एवं दायित्व, नेतृत्व के सिद्धान्तों एवं इसकी विशिष्ट प्रकृति की विवेचना की गई है। इकाई 18 में नेतृत्व के विविध प्रकारों–सत्तावादी, लोकतांत्रिक करिश्माई एवं निरंकुश नेतृत्व, विविध समाजवैज्ञानिकों द्वारा नेतृत्व के वर्गीकरण एवं नेतृत्व के स्वरूपों में अन्तर बताया गया है।

इकाई 14 मानव व्यवहार की अवधारणा एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखाः

14.0 उद्देश्य।

14.1 प्रस्तावना।

14.2 मानव व्यवहार की अवधारणा एवं विशेषताएँ।

14.3 मानव व्यवहार के आधार।

14.3.1 मानव व्यवहार के जैविक आधार।

14.3.2 मानव व्यवहार के मनोवैज्ञानिक आधार।

14.3.3 मानव व्यवहार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधार।

14.4 सारांश।

14.5 शब्दावली।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें।

14.7 बोधगम्य प्रश्न।

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।

14.0 उद्देश्य (Aim)

इस इकाई में हमने नेतृत्व की अवधारणा एवं विशेषताओं के विषय में चर्चा की है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपके लिए सम्भव होगाः

- मानव व्यवहार के जटिलता भरे प्रक्रिया व उसके उत्तरदायी कारकों का अभिज्ञान करना।
- मानव व्यवहार के आधार–जैविक, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक की संकल्पना का विवेचन करना।
- विश्लेषण कर सकेगे कि मानव व्यवहार किसी एक कारक की उत्पाद नहीं अपितु अनेक कारकों का गुणनफल होती है।
- मानव व्यवहार की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करना, तथा

➢ मानव व्यवहार किस प्रकार से मानव समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, व इसकी महत्ता क्या है, को प्रस्तुत करना।

14.1 प्रस्तावना

यह इकाई समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक पक्ष के परिप्रेक्ष्य में देखने समझने एवं विवेचन करने में महत्वपूर्ण साबित होगी। इस इकाई में हमने मानव व्यवहार की अवधारणा को विस्तृत रूप से विश्लेषण करने हेतु उसके एक प्रमुख आधार के रूप में मनोवैज्ञानिक उपागम (Psychological Approach) को आधार बनाया गया है। विज्ञान है कि मनोवैज्ञानिक उपागम इस मान्यता पर आधात होता है कि मानव के सभी व्यवहार किसी न किसी रूप में कुछ मानसिक प्रभावित होते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में यह स्पष्ट है कि मानसिक प्रेरणाओं को समझे बिना किसी भी मानवीय व्यवहार अथवा सामाजिक घटनाओं की उत्पत्ति को नहीं जाना–समझा जा सकता है। यदि इतिहास के गर्भ में झांका जाय तो मिलता है कि प्लेटो, अरस्तु तथा अनेक दूसरे दार्शनिकों ने भी अपने कुछ इक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को ही आधार बनाकर मानव–व्यवहारों को वर्णित एवं विश्लेषित करने का महती प्रयत्न किया है।

यह इकाई संक्षेप में किन्तु सारगर्भित एक ऐसी पृष्ठ भूमि प्रदान करेगी, जिस आधार पर आपको इस खण्ड की अग्रिम इकाईयों में इस इकाई पर अग्रसोची चर्चा कर सकेंगे। अग्रिम इकाईयों में हमने मानव व्यक्तित्व विकास के चरण तथा मानव व्यवहार की समस्याएँ, समायोजन की अवधारणा, विशेषताएँ एवं परिणाम व नेतृत्व की अवधारणा प्रकार तथा प्रकार्य की महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्यों पर विषद् रूप में चर्चा की है।

इस इकाई के आरम्भ में हमने मानव व्यवहार की अवधारणा एवं विशेषताओं को समझने हेतु इसके प्रमुख आधारों, जैविक–मनोवैज्ञानिक व सामाजिक आधारों पर अवलम्बित कर देखने का एक सूक्ष्म प्रयास किया है। भाग–3 की इकाई–14 में व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास, चरण, समस्याएं आदि पर विविध पहलुओं पर चर्चा की है। जैसा कि उपर्युक्त पैरा में वर्णित की है। इसी अभिक्रम में इकाई 15 जो समायोजन की अवधारणा, विशेषताएँ व परिणाम से संबंधित है, में व्यक्ति को एक सामाजिक व्यवहार रूपी दर्पण के सामने रखकर प्रतिछाया–रूपी परिणाम देखने प्रयास किया है। मानव व्यवहार संबंधी प्रमुख आयामों में एक नेतृत्व की अवधारणा, प्रकार्य एवं प्रकार के बारे में इकाई–16 में विस्तृत चर्चा की है। अन्त में हमने पूर्व वर्णित व विश्लेषित तथ्यों पर विहंगम दृष्टि डालते हुए एक संक्षिप्त किन्तु प्रासंगिक सारांश देने का प्रयास किया है। इसके

अतिरिक्त शब्दावली, उपयोगी पाठ्य पुस्तकें, संदर्भ पुस्तके, पत्रिकाएँ आदि को देने का कार्य किया गया है तत्पश्चात् विषयवस्तु से संबंधित बोधगम्य प्रश्नों की एक श्रृंखला भी बनाने का प्रयास किया गया है।

अन्ततः हम यही कहेंगे कि यह खण्ड "मानव व्यवहार" को मानव समाज में समग्र रूप से समझने में, अभिज्ञान प्राप्त करने में एवं इन आधारों पर यह जानकारी हासिल होगी कि हममें में से प्रत्येक का आचरण और व्यवहार एक दूसरे से भिन्न है आखिर क्यों? क्यों मानव व्यवहार एक जटिलता करी प्रक्रिया है? क्यों मानव व्यवहार किसी एक सामाजिक कारक की उत्पाद नहीं अपितु अनेक कारको का गुणनफ़ल है। मानव व्यवहार के आधार कारक पृथक् नहीं अपितु एक दूसरे से अन्योन्याश्रितता के सम्बन्ध में गुथे हुए है, आखिर कैसे? ऐसे अनगिनत प्रश्नों की गुत्थी इस खण्ड एवं इसकी संबद्ध इकाईयों में सुलझाने का प्रयास किया गया है।

14.2 मानव व्यवहार की अवधारणा एवं विशेषताएँ

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, व्यक्ति के जीवन के दो पक्ष है एक व्यक्तिगत जीवन और दूसरा सामूहिक जीवन सामान्यतः पहले पक्ष से संबंधित व्यवहार को "वैयक्तिक व्यवहार" (Individual Behaviour) तथा दूसरे पक्ष से संबंधित व्यवहार को "सामूहिक व्यवहार" (Collective Behaviour) नाम से संज्ञापित किया जाता है। यद्यपि वैयक्तिक व्यवहार और सामूहिक व्यवहार का संग्रहित व सम्मिलित स्वरूप ही "मानव व्यवहार" के रूप में अपनी प्रसंगिकता समाज सम्मुख निर्वहन करता है और उसी के प्रतिफल में उसकी प्रतिष्ठा समाज निरूपित करता, चाहे वह प्रतिष्ठा सकारात्मक पहचान रखती हो या नाकारात्मक पहचान, मूल में उसका पूर्व निर्मित–कार्यान्वित व्यवहार ही दिखता है, अर्थात् व्यक्ति की परिस्थिति निर्धारण पश्चात् प्रतिष्ठा में ह्रास व वृद्धि व्यक्ति के व्यवहार पर ही अवलम्बित दृष्टिगोचर है। यह भी विज्ञान है कि वैयक्तिक के व्यवहारिक पक्ष एक दूसरे से भिन्न जरूर है किन्तु दोनों की प्रतिरूप एक दूसरे में समाहित होती है।

जहां तक वैयक्तिक व्यवहार का प्रश्न है तो वैयक्तिक व्यवहार हम उसे कहेंगे जो व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन से संबंधित व्यवहार निष्पन्न करता है। जब वही व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन से परे हटकर सामूहिक जीवन से संबंधित व्यवहारों को निष्पन्न करता है तो उसे सामूहिक व्यवहार कहा जा सकता है।

वस्तुत मानव व्यवहार सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक है तथापि वैयक्तिक गुणों पर आधृत हैं। सम्भवतः यही कारण है क समाज में मानव की प्रतिष्ठा के अनेक सोपान निर्मित है। ऐसे में यह कहना कि "मानव व्यवहार एक जटिल प्रक्रिया है और इसी कारण इसकी व्याख्या किसी एक कारक के आधर पर सम्भव नहीं है", अतिश्योक्ति न होगी।

पूर्व में हमने कहा है कि मानव व्यवहार को कुछ मानसिक प्रेरणाओं के आलोक में समझना होगा और उसका आधार मनोवैज्ञानिक उपागम होगा, उस परिप्रेक्ष्य में जब हम संबद्ध साहित्यों–शोधों व अन्य प्रयासों का जखीरा उलटते–पुलटते हैं तो यह तथ्य उभरता है कि मानव के सभी व्यवहार सामाजीकरण प्रक्रिया के उत्पाद नहीं है अपितु कुछ जन्मजात गुणों और प्रेरणाओं के उत्पाद भी है। इन्हीं के सम्मिलित स्वरूप से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है। सम्भवतः समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखा 'सामाजिक मनोविज्ञान' (Social Psychology) के उद्‌भव के पीछे मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं का योगदान है।

मानव व्यवहार की आधारशिला "मूलप्रवृत्तियाँ" (Instincts) की मूल प्रवृत्तियात्मक व्याख्या (Instinctive Interpretation) मानव व्यवहार के आधारों के अन्तर्गत समाहित है जो आगे वर्णित की गयी है।

14.3 मानव व्यवहार के आधार (Foundation of Human Behaviour)

मानव व्यवहार को जिन आधारों पर व्याख्यायित किया गया है उनमें प्रमुख है– जैविक, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक–सांस्कृतिक आधार। ये आधार या कारक एक दूसरे से पृथक् नहीं है और न ही इनके योग मात्र से मानव–व्यवहार का निर्धारण होता है। इन आधारों के आधार पर गहरी दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट है कि इनके बीच अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध है और एक दूसरे को प्रभावित करते हैः और इसी के फलस्वरूप मानव–व्यवहार घटित होते हैं। अतः इन आधारों पर घटित मानव –व्यवहार इनका योगफल नहीं, अपितु गुणनफल कहा जायेगा। इसलिए मानव – व्यवहार को यदि सही अर्थों में समझना है तो इसके आधारों या कारकों को प्रथमतः समझना होगा। यहाँ पर हमने मुख्य रूप से इन तीन आधारों या कारकों की चर्चा अलग–अलग की है। इसके अतिरिक्त हमने यह भी देखने का प्रयास किया है कि समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों को एक नवीन आयाम देने में मानव–व्यवहार की संकल्पना किस प्रकार महत्वपूर्ण बन गयी है।

14.3.1 मानव व्यवहार के जैविक आधार (Biological Foundation of Human Behaviour) :

मानव सामाजिक प्राणी बाद में पहले एक जैविक प्राणी है यही कारण है कि जन्म के समय मानव और पशु के बच्चों में बहुत कुछ समान प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सर्वविदित है कि सामाजिक प्राणी से पूर्व की अवस्था में मानव 'मानवोचित गुणों' से विरक्त रहता है। इस प्रकार वह अपनी स्वयं की संम्भवतः अस्पष्ट – सी आन्तरिक जिन्दगी को स्वतन्त्र अस्तित्व वाले वस्तु जगत् के यथार्थ से भिन्न नहीं कर पाता उसे यह भी विचार नहीं होता कि ऐसा अन्तर सम्भव है ऐसा मानना एच.एम. जानसन का तर्कपूर्ण लगता है। यद्यपि मानव व्यवहार जिसे हम सामान्यतः सामाजिक स्वीकृति प्रदान करते हैं या समाज से पाते है वह समाजीकृत व्यक्तियों के संप्रेषण से तथा सामाजिक ससंपर्क से व सीखने से आते हैं। जैविक आधार को समझने हेतु मानव शरीर की व्यवस्थाओं का अभिज्ञान आवश्यक है। जैविक व्यवस्था का सृजन व्यक्ति के अंगों में अन्तःनिर्भरता तथा अन्तःसंबंध का प्रतिफल है। जैविक व्यवस्था का समग्र अभिज्ञान कुछ इसकी उप व्यवस्थाओं यथा अस्थि–पंजरीय व्यवस्था, मांसपेशीय–व्यवस्था, स्नायु–मण्डल, पाचन–क्रिया, वास–क्रिया, रक्त–परिचालन क्रिया, अन्तःस्रावी–व्यवस्था, प्रजनन–व्यवस्था आदि को समझने के पश्चात् होती है। संक्षेप में कह सकते है कि जो भी क्रिया मनुष्य करता है, उसमें ज्ञानेन्द्रिय स्नायु मण्डल तथा कर्मेन्द्रिय, तीनों का अहम भूमिका होती है, क्योंकि व्यक्ति को बाह्य जगत् का अभिज्ञानकर्ता ज्ञानेन्द्रियों को कहा जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियाँ जिन उत्तेजनाओं को ग्रहण करती है उनकी प्रतिक्रियाएँ स्नायुमण्डल तथा कर्मेन्द्रियों पर होती है, जिसके फलस्वरूप कर्म घटित होता है। स्नायु मण्डल का कार्य है कि यह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं, और ज्ञानेन्द्रियों से उत्तेजना प्राप्त करके यह उसे सम्पूर्ण शरीर में प्रसारित कर देते हैं, तत्पश्चात् कर्मेन्द्रियाँ सक्रिय होती है और एक संगठित व्यवहार या कार्य को मूर्त रूप प्रदान करती है।

अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यवहार पर जैविक कारकों यथा ज्ञानेन्द्रियों, स्नायुमण्डल व कर्मेन्द्रियों का प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं जैविक आधारों के समर्थक यह भी कहते हैं कि माता–पिता से प्राप्त वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया के तहत नवीन पीढ़ी में शारीरिक व मानसिक गुण आते हैं जिसका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व व व्यवहार में देखा जा सकता है। इस तर्क की पुष्टि प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक **ग्रेगर जान मेण्डल** के शोध निष्कर्षों में देखी जा सकती है। **कार्ल पियर्सन** ने तो अपने शोध में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि माता–पिता की शारीरिक विशेषताओं

का प्रभाव बच्चों पर अवश्य पड़ता है, और इस विषय में वंशानुसंक्रमण का महत्व पर्यावरण से सात गुना ज्यादा होता है।

कार्ल पियर्सन के दावे को खोखला बताते हैं– **स्किन केल्ड** के शोध निष्कर्ष। इन दोनों वैज्ञानिकों के शोध कार्य हमें एक नवीन दिशा प्रदान करते हैं और यह ज्ञात कराते है कि बच्चे पर वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। ये दोनों पृथक् नहीं अपितु घनिष्ठ रूप से संबंधित और एक दूसरे पर आधारित है। यहाँ **मैकाइबर व पेज** का यह कहना सत्य लगता है कि "वंशानुसंक्रमण द्वारा जीवन की सम्भावनाएँ प्राप्त होती है, उसकी सारी आवश्यकताओं का आधार पर्यावरण ही है" कुछ इसी तरह का समृद्धशाली तर्क **श्रीमती लैण्डिस** रखती है–"वंशानुसंक्रमण हमें विकसित होने का सामर्थ्य देता है, पर इस सामर्थ्य के विकसित होने का सुयोग हमें पर्यावरण से ही मिल सकता है। वंशानुसंक्रमण हमें हमारी कार्यशील पूंजी देता है और पर्यावरण हमें इसके विनियोजन के अवसर प्रदान करता है"।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानव व्यवहार को अच्छादित करने वाला प्रमुख एक कारक जैविक आधार है, व्यक्ति की वैचारिकी पर वंशानुसंक्रमण गुणों व जिस वातावरण में वह पुष्पित व पल्लवित होता है उस पर्यावरणीय प्रभाव से अच्छादित जीवन जीता है। अतः ये दोनों मिलकर व्यक्ति के व्यवहार पर अमिट छाप छोड़ते हैं। अतः स्पष्ट है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में पर्यावरण और वंशानुक्रमण, दोनों का प्रभाव पडता है और इस महत्वपूर्ण तथ्य को विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

14.3.2 मानव व्यवहार के मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological foundation of Human Behaviour) :

मानव व्यवहार के सभी पक्षों को प्रभावित करने वाली मूल प्रवृत्तियां होती है। मूल प्रवृत्तियों के आधार पर ही अनेक मनोवैज्ञानिकों ने मानव व्यवहार व सामाजिक घटनाओं की व्याख्या की है। सामान्यतः मनोवैज्ञानिकों का यह मानना रहा है कि ' मनुष्य के सभी व्यवहार सामाजिक सीख का ही परिणाम नहीं होते, बल्कि प्रत्येक प्राणी में कुछ ऐसे जन्मजात गुण होते हैं जो एक प्रजाति के सभी प्राणियों में समान रूप से पाये जाते हैं। इन गुणों का प्राणी के अनुभव से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। अतः इन्हीं गुणों को मनोवैज्ञानिकों ने ' मूलप्रवृत्तियां" कहा है। मूल प्रवृत्ति का सर्व प्रथम प्रयोग "देकात्त (Decartes) ने किया था तत्पश्चात् थाउलस, मैक्डूगल, फ्रायड, एडलर, आल्पोर्ट, तथा ट्रॉटर आदि मनोवैज्ञानकों ने मूल प्रवृत्तियों की प्रकृति को विस्तार से स्पष्ट करते हुए अपने

शोध प्रतिवेदनों में बताया है कि सभी तरह के मानव व्यवहारों को मूल प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में प्रभावित करती हैं।

डॉ0 मैक्डूगल (Dr. McDougal) की पुस्तक (An Introduction to Social Psychology)" गिन्सवर्ग (Ginsberg) "The Psychology of Society"1951, p.1 आदि का अध्ययनोपरान्त निष्कर्षतः कह सकते हैं कि "मूल प्रवृत्ति क्रिया की एक प्रणाली है यह जन्मजात होती है, अस्तित्व के लिए संघर्ष में उपयोगी होती है, किसी भी जाति (Species) के सदस्यों का एक सा होना, वैयक्तिक अनुभव से स्वतन्त्र मनः शारीरिक क्षमता आदि समाहित विशेषताओं से पूर्ण होती है।

अब प्रश्न उठता है कि मूल प्रवृत्तियाँ कितने प्रकार की होती है? प्रतिउत्तर की खोज में साहित्य सर्वेक्षण पश्चात् यही तथ्य उभरता है कि मूल प्रवृत्ति के प्रकार संबंधी विद्वानों में एकमतता का आभाव है। जैसे–

कर्क पैट्रिक के अनुसार, मूल प्रवृत्तियाँ 5 (पाँच) हैं–

- आत्म रक्षा की मूल प्रवृत्ति
- सन्तानोत्पत्ति की मूल प्रवृत्ति
- सामूहिक जीवन की मूल प्रवृत्ति
- अनुकूलन की मूल प्रवृत्ति
- आदर्श पालन की मूल प्रवृत्ति

वुडवर्थ के अनुसार के अनुसार, मूल प्रवृत्तियाँ 3 (तीन) हैं–

- शरीर रक्षार्थ मूल प्रवृत्तियाँ
- सामूहिक जीवन, काम, तृप्ति आदि
- खेल से संबंधित प्रतिक्रियाएँ

ड्रीवर के अनुसार सूच्यात्मक व प्रतिकारात्मक तथा **तोलमैन** के अनुसार रूचियां व घृणाएं और **थाउलस** के मतो में आत्मरक्षा, सन्तानोत्पत्ति व सामूहिक जीवन की मूल प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं। मूल प्रवृत्तियों की चर्चा करते समय प्रसिद्ध विद्वान् मैक्डूगल ने भी प्रकारों से संबंधित चर्चा करते हुए लिखा है कि 14 प्रकार की होती है। मैक्डूगल का वर्गीकरण सबसे अधिक व्यापक माना गया है। इसलिए यहाँ हम उनके द्वारा प्रस्तुत मूल प्रवृत्तियों और उनके सहवर्ती उद्गों या संवेगों की सूची देना चाहेगें, जो इस प्रकार है–

	मूल प्रवृत्ति	सहवर्ती उद्वेग
1.	पलायन (Flight)	भय (Fear)
2.	निवृत्ति (Repulsion)	घृणा (Disgust)
3.	जिज्ञासा (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
4.	युयुत्सा (Pugnacity)	क्रोध (Anger)
5.	पुत्र–कामना (Parental)	वात्सल्य (Tender)
6.	आत्म गौरव (Self-assertion)	आत्माभिमान (Elation)
7.	आत्मावज्ञा (Self-Abasement)	आत्महीनता (Subjection)
8.	काम (Sexual)	कामुकता (Lust)
9.	सामूहिकता (Gregariousness)	एकाकीपन (Loneliness)
10.	संचय (Acquisition)	अधिकार भावना (Quenership)
11.	विधायकता (Constructivity)	कृतिभाव (Creativeness)
12.	शरणागति (Appeal)	करूणा (Mercy)
13.	भोजनान्वेषण (Food-seeking)	भूख (Hunger)
14.	हास (Laughter)	आमोद (Recreation)

उपर्युक्त 14 मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त डॉ0 मैक्डूगल ने सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। वे हैं–सहानुभूति (Sympathy) सुझाव (Suggestion) अनुकरण (Limitation) तथा खेल (Play)

डॉ0 मैक्डूगल द्वारा उपर्युक्त वर्णित प्रवृत्तियों के संदर्भ में सारांशतः हम कह सकते हैं कि मैकडूगल का यह सोचना कि मानव व्यवहार की समस्त क्रियाओं की संचालिका मूल प्रवृत्तियाँ ही है, पूर्णतया सत्य प्रतीत नहीं होती अपितु अनेक सहज क्रियाओं की श्रृंखला मात्र हो सकती है मूल अभिवृत्तियां जन्मजात आन्तरिक प्रवृत्ति होती है जो अनुभव से स्वतंत्र जन्म से पूर्ण व स्वभाविक ढ़ग से क्रियाशील रहती है। तथापित मूल प्रवृत्तियों को मानव व्यवहार का प्रमुख आधार या कारक मानना ठीक नहीं लगता क्योंकि मानव व्यवहार एक जटिल प्रक्रिया है जिनमें अनेक कारकों का योगदान है।

वस्तुतः मैक्डूगल फ्रायड के साथ ऐसे मनोवैज्ञानिकों की एक श्रृंखला बनती नजर आती है जिनका मानना रहा है कि मानव के सभी व्यवहारों पर लगभग मूल प्रवृत्तियों का प्रभाव होता है, इतना ही नहीं आरम्भिक समाजशास्त्रियों ने भी यह स्वीकार किया

था कि मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्ति की जीव रचना में कुछ ऐसे प्राकृतिक प्रेरक होते हैं जो व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। लेकिन वर्तमान युग में समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक उपर्युक्त वर्णित मनोवैज्ञानिक निश्चयवाद से संबंधित मूल प्रवृत्तियों की अवधारणा को मानने हेतु सहमत नहीं है। आज के मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्री मूल–प्रवृत्ति संबंधी अवधारणा भ्रमपूर्ण एवं काल्पनिक मानते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि व्यवहारिक आधार पर भी मूल–प्रवृत्ति से संबंधित अवधारणाओं में कोई सत्यता नहीं दिखती है तथा यह भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि मनुष्य के सभी व्यवहार केवल मूल प्रवृत्तियों से ही प्रभावित होते हैं।

14.3.3 मानव व्यवहार के सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधारः

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी समस्त आवश्यकताएँ समाज में ही पूर्ण होती है। व्यक्ति का व्यवहार का अधिकांश पक्ष सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों से अच्छादित होता है। व्यक्ति समाज में अपनी प्रस्थिति चाहे वह प्रदत्त हो या अर्जित, की चेतना के आधार पर ही आचरण करने का प्रयास करता है। यूं कहे कि व्यक्ति को समाज द्वारा प्रत्याशित व्यवहार का अभ्यास करना पड़ता है, सीखना पड़ता है और कार्यान्वित भी करना पड़ता है। यह भी सत्य है कि व्यक्ति के जीवन में मनोवृत्तियों का पर्याप्त महत्व है। मनोवृत्ति व्यक्ति के चारों ओर की वस्तुओं, व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा परिस्थितियों के सम्बन्ध में एक निश्चित मूल्य और मानदण्डों के परिवलय में सोचने, अनुभव करने तथा व्यवहार करने को प्रेरित करती है। अर्थात् स्पष्ट है कि मनोवृत्ति के आभाव में व्यक्ति के व्यक्तिव का यर्थाथ विकास सम्भव ही नही है। तथापित्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति का प्रत्येक व्यवहार सामाजिक वातावरण से प्रभावित होता है। सामाजिक वातावरण में व्यक्ति की अनुक्रियाएँ दो प्रकार के उद्दीपकों यथा–आन्तरिक एवं वाह्य के प्रति उत्पन्न व सम्पन्न होती है। इन्हीं उद्दीपको से प्रेरित होकर हम उसके प्रति कोई न कोई व्यवहार करते हैं। व्यवहार की प्रकृति समाज निरपेक्ष, समाज सापेक्ष तथा सामाजिक अर्न्तक्रिया के स्तर पर हो सकती है।

वस्तुतः जब हम मानव व्यवहार का मूल्यांकन सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधार पर करते हैं तो मूल्यांकन पूर्णता हेतु पूर्व वर्णित सिद्धान्तो का सिंहावलोकन करना पड़ेगा। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड' का मानना है कि मानव के समस्त व्यवहार का आधार काम–प्रेरणा (लिविडो Libido) को माना है उन्होंने अर्जित एवं सामाजिक प्रेरणाआं का कोई स्वतल अस्तित्व नहीं माना है जो सर्वथा उचित नहीं कहा जायेगा क्योंकि अनेक व्यक्तिगत सामाजिक प्रेरणाओं का आधार वास्तव में

सामाजिक शिक्षा व अनुभव है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि फ्रायड का प्रकृति तथा जैविक नियमों का सर्वोपरि मान लेना समाज और संस्कृति के प्रभाव की उपेक्षा करना ही कहा जायेगा। विज्ञ है कि प्रत्येक समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियां विविधतायुक्त होती है फलस्वरूप सामाजिक प्ररेणाएं भिन्न–भिन्न होती है। ऐसी वस्तुस्थिति में मानव व्यवहारों में भिन्नता का पाया जाना स्वाभाविक घटना है।

फ्रायड के मतों से असहमत जर्मनी निवासी एरिक फ्राम (Erich From) का मानना है कि व्यक्ति के व्यवहार एवं व्यक्तिव–विकास की आधारशिला संस्कृति है, और व्यवहार में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे समाज और संस्कृति की देन है। प्रसिद्ध मनोचिकित्सक **हैरी स्टैक सुलीवान** (Harry Stack Sullivan) पर मनोविश्लेषणात्मक आन्दोलन तथा एकता की विचारधारा का गहरा प्रभाव है। इनका मानना रहा कि व्यक्ति के समस्त कार्यों का मूलभूत उद्देश्य संतुष्टि और सुरक्षा होती है। ये संतुष्टि व सुरक्षा के तत्व सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के साथ स्पष्ट होते हैं। इसी में व्यक्ति का विकास भी होता है।

अन्ततः हम कह सकते है कि सामाजिक–सांस्कृतिक आधार या कारक के समर्थक विद्वानों का यह मानना है कि मानव व्यवहार के निर्धारण में प्रेरकों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता लेकिन इन्हें ही सब कुछ मान बैठना एक बड़ी भूल होगी, क्योंकि व्यक्ति के व्यवहार उससे संबद्ध समाज के सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों, मानदण्डों से आबद्ध रहता है और इन्ही वातावरण के घेरे में व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित व कार्यान्वित होता रहता है।

अभ्यास 1: निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए।

क. मानव व्यवहार एक जटिलता भरी प्रक्रिया है।

.....

.....

ख. मूल अभिवृत्तियाँ मानव व्यवहार की क्रियाओं की मूल संचालिका।

.....

.....

14.4 सारांश (Conclusion)

यह सच है कि मानव व्यवहारों को प्रभावित करने के लिए विभिन्न प्रकार के

मनोवैज्ञानिक चालकों, उत्प्रेरकों, मनोवृत्तियों और प्रेरणाओं के प्रभाव को नजर–अन्दाज नहीं किया जा सकता है तथापि इन्हें ही आधार मानकर मानव व्यवहार की व्याख्या करना तर्क–संगत नहीं दिखता है। यदि हम वर्तमान में प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद, प्रघटनाशास्त्र तथा लोक विधि विज्ञान जैसे उपागम जिनमें मानव व्यवहारों को मानसिक और भौतिक दशाओं के संयोग के आधार पर स्पष्ट किया जाता है और वर्तमान समाज वैज्ञानिकों का मानना है कि व्यक्ति की अन्तःक्रियाओं पर मानसिक प्रेरणाओं का प्रभाव अवश्य पड़ता है लेकिन स्वयं यह प्रेरणाएँ सामाजिक दशाओं के अनुसार परिवर्तित होती हैं, आदि परिप्रेक्ष्य में मानव व्यवहार का विश्लेषण यह इंगित करता है कि वास्तव में मानव व्यवहार के निर्धारण में जैविक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों का आपस में इस प्रकार अन्तः क्रियात्मक संबंध व अन्तःनिर्भरता के तत्व नीहित होते हैं कि इनमें से किसी एक की अवहेलना करके हम व्यक्ति के व्यवहार की स्पष्ट व सारगर्भित तथा सर्वमान्य व्याख्या सम्भव नहीं कर सकते हैं क्योंकि मानव व्यवहार के उद्देश्य, उद्देश्यों की प्रेरक शक्तियाँ सहज व सरल नहीं होती है। इनकी अनन्त विविधताओं व असंख्य जटिलताओं को हमें स्वीकारना ही होगा तथा यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मानव व्यवहार व क्रियाओं के सभी पक्षों को किसी एक उपागम के आधार पर विवेचित भी नहीं किया जा सकता है। ऐसा करना एक पक्षीय या अधूरी व्याख्या मानी जायेंगी।

14.5 शब्दावली

व्यक्ति/विशेष अध्ययनः किसी मामले या विषय की गहराई से जाँच करना। यह एक अनुसंधान उपागम होती है, जिसमें एकल मामले का गहराई से विश्लेषण किया जाता है।

पलायन प्रवृत्तिः प्राण रक्षा के दृष्टिकोण या प्रयोजन से किसी भयावह स्थिति से बचकर भाग जाना।

युयुत्साः इच्छापूर्ति में अवरोध उत्पन्न होने पर संघर्ष करना।

निवृत्तिः किसी पदार्थ को स्वेच्छा से छोड़ देना।

सन्तान कामनाः सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट कृतियों का मूल तत्व । यदि सन्तान कामना प्रवृत्ति न होती तो प्रेम बंधन न बनते परिवार और समाज न बनता।

काम मूल प्रवृत्तिः काम मूल प्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अंग विरूद्ध लिंगी व्यक्ति की उपस्थिति। काम भावना की संतुष्टि क्रियात्मक अंग।

निर्देशः दूसरों के व्यवहारों से विचारों से निर्देशित होकर अनुगमन करना।

अभिवृत्तिः विविध अनुभवों द्वारा उत्पन्न एक विशिष्ट मनोदशा।

अभिप्रेरणाएँः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति जिन बातों से प्रेरित होकर कोई व्यवहार दर्शाता है वे अभिप्रेरणाएँ हैं।

पूर्वाग्रहः वास्तविकता के अभिज्ञान से पूर्व ही एक धारणा बना लेना।

विवेकः उचित व अनुचित के निर्णय की शक्ति।

संवेगः उत्तेजित करना, उद्धहरण–भय, घृणा, क्रोध, करूणा, वात्सल्य, प्रेम आदि।

मूल प्रवृत्तिः ये जन्म जात आन्तरिक प्रवृत्ति होती है।

आदतेंः अर्जित व्यवहार की विधि।

अनुकरणः एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के व्यवहार, आदतें, विचारां आदि की पुनरावृत्ति करना।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. "सामाजिक मनोविज्ञान की रूप रेखा", रविन्द्र नाथ मुखर्जी, किताब म ह ल , इलाहाबाद, 1977
2. "आधुनिक मनोविज्ञान के मूल तत्व" सरयू प्रसाद चौबे, कॉन्सेप्ट पब्लिसिंग कम्पनी, नई दिल्ली–2002
3. "आसामान्य मनोविज्ञान" डॉ0 आर0 के0 ओझा, हर प्रसाद भार्गव, आगरा, 1991
4. "An Introduction to Social Psychology," W. McDougall, Methuen, London, 1931.
5. Matevation of Behaviour- The Fundamental of Determinants of Human and Animal Activity, P.T. Young, John wilg 1936.
6. "Society: An Introductory Analysis" Maciver and Page, Macmillan and Co., London, 1953.
7. "Man and His Environment," Landiss and Landis, New York, 1952.
8. "The Psychology of Society", M. Ginsberg Methuen and Co. Ltd., London, 1951.
9. "Hand Book of Social Psychology" Kimball Young, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1955.

10. "Psychology" F.C. Dockevay, Prentice Hall, New York, 1946.

14.7 बोधगम्य प्रश्न

1. मानव व्यवहार के मूलभूत कारक या आधार क्या है? विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. मानव व्यवहार से आप क्या समझते हैं?
3. मानव के किस व्यवहार को वैयक्तिक व्यवहार कहेंगे? संक्षिप्त व्याख्या करें।
4. वैयक्ति व्यवहार एवं सामूहिक व्यवहार में प्रमुख अन्तरों को स्पष्ट कीजिए?
5. मानव व्यवहार के जैविक आधार से आप क्या समझते हैं? विस्तृत वर्णन कीजिए।
6. मानव व्यवहार के जैविक आधार, सामाजिक व सांस्कृतिक आधार से किस प्रकार भिन्न है? स्पष्ट कीजिए।
7. मूल प्रवृत्तियों से आप क्या समझते हैं? मूल प्रवृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए?
8. मानव व्यवहार के मनोवैज्ञानिक आधार क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।
9. मूल प्रवृत्तियों की प्रमुख विषेषताओं की व्याख्या कीजिए?
10. मूल प्रवत्तियाँ मानव व्यवहार को किस प्रकार प्रभावित करती हैं? स्पष्ट करें।

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Johnson, H.M., "A Systematic Introduction" 1970, p. 110, qunted by Prof. Shyamdhar Singh & Dr. Ashok Kumar Singh, " Sociology: A introductory Analysis," Sapana Ashok Prakashan, Varanasi, Edition 5, 2007, p. 193.
2. Pearson, Karl, " Nature and Nature, " London, 1920 quoted by Ravindra Nath Mukherjee, " An Outline of Social Psychology, Kitab Mahal, Allahabad, 1977. p. 87.

3. Scheinfold A., "You and Heredity", New York, 1933, pp. 81-82.

4. Maciver R.H., and C.H. Page, "Society: An Introductory Analysis, Macmillan and Co; London, 1953, p.95.

5. Landis and Landis, "Man and His Environment, " New York, 1952, p.192.

6. McDougall, W., "An Introduction to Social Psychology," Methuen and Co; Ltd, London, 1960, p.25.

7. Ginsberg M., "The Psychology of Society," Methuen and Co; Ltd. London, 1957, p.1.

8.9.10. उद्घृत, डॉ0 रविन्द्र नाथ मुखर्जी, 'सामाजिक मनोविज्ञान की रूपरेखा', किताब महल, इलाहाबाद, 1977, पृष्ठ संख्या 98.

11. McDougall, W., "An Introduction to Social Psychology" Methuen and Co; Ltd., London, 1960, pp.39-76.

12. Ibid, pp. 77-79.

इकाई 15 व्यक्तित्व विकास के चरण एवं मानव व्यवहार की समस्याएं

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र

15.3 व्यक्तित्व विकास के चरण

15.3.1 जन्म पूर्व की अवस्था में व्यक्तित्व विकास

15.3.2 शैशवावस्था मे व्यक्तित्व विकास

15.3.3 प्रारम्भिक बाल्यावस्था में व्यक्तित्व विकास

15.3.4 उत्तर बाल्यावस्था में व्यक्तित्व विकास

15.3.5 किशोरावस्था में व्यक्तित्व विकास

15.4 मानव व्यवहार की समस्याएँ

15.4.1 वंशानुक्रम सम्बन्धी कारक व समस्याएँ

15.4.2 जैवकीय कारक व समस्याएँ

15.4.3 वातावरणीय कारक व समस्याएँ

15.5 सारांश

15.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.7 कुछ सहायक व उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोधगम्य प्रश्न

15.0 उद्देश्य (Aim)

इस इकाई में व्यक्तित्व विकास के चरण एवं मानव व्यवहार की समस्याएँ के विभिन्न सामाजिक पहलुओं का वर्णन किया जायेगा। इस इकाई के अध्ययनोपश्चात् आपके लिए संभव होगाः

- व्यक्तित्व विकास के चरणों की व्याख्या करना,
- व्यक्ति के शारीरिक विकास व व्यक्तित्व विकास में सहसंबंध का अभिज्ञान करना,

- व्यक्तित्व विकास के साथ–साथ चलने वाली मानव व्यवहार संबंधी समस्याओं का अध्ययन करना, तथा
- व्यक्तित्व के समायोजन की समस्या को समझ सकेंगे, और
- सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रक्रियाएँ जो कि व्यक्तित्व का स्वरूप प्रभावित करती है, उनकी विवेचना करना।

15.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत हम व्यक्तित्व विकास के प्रमुख चरणों के साथ मानव व्यवहार की समस्याओं संबंधी विविध तत्वों की विवेचना करेंगे। व्यक्तित्व विकास के चरण की विवेचना से पूर्व हमने पूर्व इकाईयों में अर्थ, विशेषताओं, प्रकार, निर्धारण के कारक, सिद्धान्त, गुण–दोष आदि की विषद विवेचना की जा चुकी है। साथ ही मानव–व्यवहार की अवधारणा–परिभाषा विशेषताएँ प्रभावित करने वाले कारक, सिद्धान्त व तद्सम्बन्धी अन्य प्रमुख तत्वों की विवेचना की गयी है। यहाँ सिर्फ मानव विकास के चरणों में प्रमुख जन्म पूर्व की अवस्था, शैशवावस्था प्रांरम्भिक बाल्यावस्था, उत्तर बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में व्यक्तित्व विकास को जाँचने एवं परखने का प्रयास किया गया है। इन चरणों में व्यक्तिव विकास की प्रक्रिया मध्य व्यक्ति को विविध सामाजिक सोपानक्रमों के अन्तर्गत व्यवहार व तद्संबंधी आने वाली समस्याओं पर भी स्पष्टतः व प्रमुख रूप से ध्यान दिया गया है। हमें आशा है कि यह चर्चा आपकों व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के चरण व तद्संबंधी मानव व्यवहार की समस्याओं के संदर्भ में आपको व वास्तविकता के मध्य सक्रिय परस्पर संबंध को समझने में भी मदद मिलेगी।

15.2 दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र

मानव का व्यवहार देखने में एक सरस प्रक्रिया है किन्तु वास्तविकता यह है कि यह उतना सरस नहीं है जिनता की दिखता है। मानव व्यवहार समाज रूपी दर्पण का वह महत्वपूर्ण तथ्य है जिस पर उसका अस्तित्व विराजमान है। व्यक्ति समाज में जैसा व्यवहार करता है प्रतिउत्तर में उसे समाज के अन्तर्गत वैसा ही व्यवहार का सामना करना पड़ता है। यहाँ सी0एव0कूले "आत्मदर्पण सिद्धान्त" को आधार बनाकर आप आसानी से समझ सकते हैं।

विदित है कि व्यक्ति का अस्तित्व, उसके व्यक्तित्व से सम्बन्धित व्यवहार के कुछ विशिष्ट गुणों से निर्मित होता है। यही कारण है कि दो व्यक्तियों का व्यवहार व व्यक्तित्व एक दूसरे से किसी न किसी रूप में या अर्थ में भिन्न अवश्य होते हैं। यह भी

सत्य है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व पर वंशानुक्रमण और वातावरण का गहरा प्रभाव रहता है। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वंशानुक्रमण और वातावरण में सबसे अधिक किसका प्रभाव पड़ता है? प्रतिउत्तर में हम शली के शोध निष्कर्ष उल्लेख करना चाहेंगे, उनका मत रहा कि "व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील है" तथापि परितर्वन का स्वरूप वातावरण सम्बन्धी अनुभवों पर ही निर्भर करता है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व वंशानुक्रमण और वातावरण दोनों के प्रभाव का मिश्रण उत्पाद है। ऐसा मेरा मानना है।

वस्तुतः व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास जन्म पश्चात् प्रारम्भ होता है लेकिन व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण बीज बच्चे के अन्तर्गत पहले से ही विद्यमान रहते हैं। यही व्यक्तित्व बीज अग्रिम जीवन में वातावरण के अनुसार अंकुरित होकर परिस्थितियों के परिवलय में पल्वित –पुष्पित होते रहते हैं। सम्भवतः यहीं कारण है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व वयक्ति के शारीरिक विकास के चरण से गहीत प्रतीत होता है। ज्यों–ज्यों बच्चे का विकास होता है त्यों–त्यों वंशानुक्रमण और वातावरण के कारण उसके व्यक्तित्व की विभिन्नताएँ बढ़ती जाती है। इस तथ्य की पुष्टि रैण्ड व अन्य और व्यूहलर के शोध निष्कर्षों से होती है।

अतएव व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के चरण व मानव–व्यवहार की समस्याओं का विवेचन करना प्रमुख दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र जान पड़ता है।

15.3 व्यक्तित्व विकास के चरण

व्यक्ति का व्यक्तित्व चाहे व संगठित या एकीकृत हो या विघटित व्यक्तित्व हो की पहचान व्यक्ति के व्यवहार के दर्पण में की ज़ा सकती है। एक स्वस्थ्य व्यक्तित्व का 'कारण–बीज' वंशानुक्रमण और वातावरण के प्रभाव गर्भ में निहित व पल्लवित–पुष्पित है, ऐसी वस्तुस्थिति में व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों का विकास भिन्न–भिन्न अवस्थाओं तथा आयु–स्तरों पर होता दृष्टिगोचर है अतः व्यक्तित्व विकास के चरण की विवेचना इन्ही स्तरों को ध्यान में रखकर प्रस्तावित है।

15.3.1 जन्म से पूर्व की अवस्था में व्यक्तित्व विकास (Personality Development During Pre natal Period)

व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास माँ के गर्भ में ही देखने को मिलता है। विविध शोध निष्कर्ष है कि गर्भ में पल रहे शिशु के जीवन पर माँ के खान–पान, रहन–सहन एवं वातावरण का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि बच्चे का स्वस्थ्य व्यक्तित्व का

आधार–स्तम्भ स्वस्थ्य माँ, स्वस्थ्य आहार–विहार व स्वस्थ्य वातावरण का धरातल है और इसी धरातल पर 'स्वस्थ्य व्यक्तित्व' का वृक्ष अपने स्वस्थ्य व्यक्तित्व विकास चरण को प्राप्त करता रहता है। व्यक्तित्व में केन्द्रीय स्थिरता स्थापित होती है।

15.3.2 शैशवावस्था में व्यक्तित्व विकास (Personality Development During Infancy)

एक ही परिवार में एक ही माता–पिता के बच्चों के व्यक्तित्व में भिन्नता रहती है। यथा–शरीर का रंग, रूप, आकार, वजन, क्रियाशीलता, हँसना–मुस्कराना, रोना–विलखना, शान्त–चिल्लाना, ग्रन्थिसंचालन, लिंग आदि में भिन्नता का पाया जाना। इन सभी गुणों पर तद्सम्बन्धी वातावरण एवं खान–पान, व रहन–सहन का प्रभाव का प्रतिफल उसका क्रियान्वित व्यवहार है। ऐसा प्रतीत होता है।

जैप्री का मानना है कि "जन्मते ही बच्चे का संवेगात्मक और सामाजिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। जन्म के समय बच्चे का व्यक्तित्व विकसित नहीं रहता, परन्तु उसमें उसके व्यक्तित्व के गुण पूर्व से ही नीहित रहते है, उसका व्यक्तित्व अग्रिम समय में कैसा होगा, यह उसकी विवृद्धि तथा वातावरण के प्रभावों पर निर्भर करेगा।" ऐसा ही निष्कर्ष शली महोदय के 2 वर्ष के 25 बच्चों पर किये गये अध्ययन से भी आया है कि व्यक्तित्व के कुछ गुण इस प्रकार स्थिर जान पड़ते है कि विश्वास किया जा सकता है कि जन्म के समय व्यक्तित्व के बीज उपस्थित रहते हैं। बाद में ये बीज वातावरण में उसके अनुसार अंकुरित होते रहते हैं।"

उपर्युक्त शोध–निष्कर्षों के आधार पर यह कहना समचीन है कि शिशुओं में व्यक्तित्व के गुणों का विकास समाज में विद्धमान विविध वातावरण में उपस्थित जनों के प्रति बच्चे की प्रतिक्रियाएँ तथा उसकी सांस्कृतिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होता है। वांछित सामाजिक गुणों की विकास–यात्रा का बीज प्रायः इसी अवस्था में डाला जाना उत्तम प्रतीत होता है।

15.3.3 प्रारम्भिक बाल्यावस्था में व्यक्तित्व विकास (Development of Personality During Early Childhood)

ऐसा माना जाता है कि प्रारम्भिक बाल्यावस्था में बालक के व्यक्तित्व का विकास स्पष्ट होने लगता है। बालक में समाजीकरण के बीच उत्पन्न होने लगते है, वह अपने चारों ओर उपस्थित तथ्यों का आकलन कर तद्नुरूप शारीरिक गति करता है और अपने प्रति अत्यधिक जागरूक दिखता हे। ऐसी वस्तुस्थिति में व्यक्ति को बच्चे के मानवांचित गुणों को प्रतिस्थापित करने हेतु उनके सम्मुख ऐसी वास्तविक परिस्थितियाँ रखने का

प्रयास करना चाहिए जिनमें जिन्हें अपनी प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक और संतोषप्रद दिखती प्रतीत लगे। यह भी ध्यानार्गत तथ्य रहना चाहिए कि बालक का "कौतुम्बिक जीवन", पड़ोस–जीवन, सखा–जीवन समूह सन्तोषप्रद रहें। इन्हीं तथ्यों पर बालक का स्नेहपूर्ण व सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार सृजन का आधार टीका रहता है अतः स्पष्ट है कि इस अवस्था में व्यक्तित्व विकास अधिकाधिक पारिवारिक वातावरण पर अधिक अवलम्बित दृष्टिगोचर प्रतीत है।

बालक के स्वस्थ्य व्यक्तित्व व सामाजिक समायोजन हेतु उसकी योग्यताओं, आवश्यकताओं, रूचियों आदि के अनुरूप मार्गोपदेश सुनिश्चित करें ताकि वह स्वस्थ्य सामाजिक समायोजन व प्रभावी व्यक्तित्व विकास का वर्ग प्रशस्त कर सके। अर्थात् वांछित व्यक्तित्व प्राप्त करने हेतु इन प्रयत्नों का होना आज की महती आवश्यकता प्रतीत है।

अभ्यास प्रश्नः

क. व्यक्तित्व विकास के प्रमुख चरणों पर टिप्पणी लिखिए?

.....

.....

ख. "किशोरावस्था, व्यस्कावस्था के सुदृढ़ व्यक्तित्व का जन्मस्थली है" टिप्पणी कीजिए?

.....

.....

15.4 मानव व्यवहार की समस्याएँ (Problems of Human Behaviour)

मानव एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज के बीच ही अपनी सभी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और इन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति में विविध प्रकार के समबन्धों का सृजन होता है तथा सम्बन्धों की धरातल पर एक विविधता भरे कर्तव्यों का कार्यान्वयन भी करना पड़ता है। यद्यपि मानव व्यवहार इन्ही कर्तव्यों के साचें में, सामाजिक मूल्यों के परिवलय में परखा जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव व्यवहार को प्रभावित कर अनेक समस्याएँ उद्‌भूत करने वाले कारकों की श्रृंखला लम्बी है, तथापि उनमें प्रमुख कारक उसकी आत्मक भावना,

शारीरिक संरचना, स्वास्थ्य, रूचियाँ, संस्कृति जाति, आर्थिक एवं सामाजिक प्रस्थिति, तथा कौटुम्बिक सम्बन्ध आदि है।

वस्तुतः मानव व्यवहार की समस्याओं का विश्लेषण करने में अनेक पन्ने स्याह किये जा सकते हैं, क्योंकि मानव जीवन संघर्ष का दूसरा नाम है। व्यक्ति को अपने दैनिक जीवन की यात्रा में प्रतिदिन किसी न किसी प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता, समंजन कर आगे बढ़ना होता है लेकिन जब ये समस्याएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करने लगते हैं तो समस्याओं का स्वरूप पिक्ट प्रकृति का बन जाता है। मानव व्यक्तित्व को प्रभावित कर जो समस्याएँ उद्भृत दृष्टिगोचर है, उनमें से कुछ प्रमुख समस्याओं का वर्णन आगे किया जा रहा है।

15.4.1 वंशानुक्रम सम्बन्धी कारक व समस्याएं (Factors and Problems Related to Heredity):

वंशानुक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएँ समविष्ट हैं। वंशानुक्रम से तात्पर्य उस प्रक्रिया से हैं जिसमें पीढ़ी–दर–पीढ़ी विशेषताएँ हस्तान्तरित होती चली आ रही है। प्रसिद्ध जैव–वैज्ञानिक ग्रेगर जान मेण्ड्ल ने भी अपने शोध निष्कर्ष पश्चात् बतलाया है कि "जीन्स (Genes) व गुणसूत्र (Chromosomes) का शारीरिक एवं मानसिक गुणों का वाहक एवं निर्धारक है" या यूं कहें कि बच्चे का कद शारीरिक सौन्दर्यता रंग आदि पूर्वजों से प्राप्त है, यही कारण है कि वंशानुक्रम संबन्धी भिन्नता व कुछ रोग विरासत में प्राप्त होते हैं। ये भिन्नताएँ कहीं न कहीं व्यक्ति की वैचारिकी को प्रभावित करते हैं, तत्पश्चात् व्यक्ति का व्यवहार भी प्रभावित होता है। इन भिन्नताओं की तुलनात्मक कमियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक भी बनती है, परिणामस्वरूप व्यवहारिक समस्याएँ जो अनचाही होती है स्वतः उद्भूत होती है। दृष्टान्त देखे कि 'क' गोरा वर्ण का एक लम्बा व्यक्ति है तथा 'ख' लम्बा कद का होते हुए भी काला है और 'ग' शारीरिक गठन से सुदृढ़ किन्तु वर्णान्धता व पैतृक रोगों से ग्रस्त है। इनकी वे शारीरिक कमियाँ वंशानुक्रम का प्रतिफल है जिसमें इनका कोई योगदान नहीं है फिर भी ये कमियां व्यक्ति की व्यक्तित्व को प्रभावित करती है उसका व्यवहार प्रभावित रहता है, वह हीन भावना का शिकार रहता है। फलस्वरूप व्यक्ति की मानसिक योग्याताएँ सामाजिक वातावरण में कुण्ठित दृष्टिगोचर होती है। पीयरसन, जेन्सन, हॉलजिंगर, न्यूमैन, फ्रीमैन तथा कॉलमैन आदि के मनोस्नायुविकृति सम्बन्धी शोध निष्कर्ष उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। बुश महोदय ने जब मोटे बच्चों पर अध ययन किया तो देखा कि मोटे बच्चे कुव्यवस्थित व दुःखी है। अपने को हीन समझते हैं और दूसरों पर अत्यधिक निर्भर हैं। अध्ययन पश्चात् इन्होंने निष्कर्ष दिया कि "मोटे बच्चों

की सम्पूर्ण व्यक्तियों की प्रौढ़ता अवरोधित हो जाती है"। आज ऐसी स्थिति के प्रतिरूप तथ्यगतरूप सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि वंशानुक्रम द्वारा प्रदत्त गुण या प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति के व्यक्तित्व को निश्चय ही प्रभावित करती है, व्यवहार को प्रभावित करती है तथा प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष व्यवहारिक समस्याएँ खड़ा करती रहती है। कारण कि ये व्यक्ति की शारीरिक सौन्दर्यता के साथ–साथ उनके स्वास्थ्य कुटुम्बिकीय वातावरण, वेश–भूषा, वैचारिकी, आत्म–चिन्तन आदि क्षेत्रों को समेटती नजर आती है। फलस्वरूप व्यक्ति का समाज के बीच व्यक्तित्व विकास का सही क्रम व समंजन की प्रक्रिया बाधित होती जिससे अनेक व्यवहारिक समस्याएँ उदभूत होती है।

15.4.2 जैविकीय कारक व समस्याएँ (Biological Factors and Problems):

व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हुए व्यावहारिक समस्याएँ उद्भूत करने वाले अनेक जैवकीय कारक है, यद्यपि जैवकीय कारक वंशानुक्रम से अच्छादित हैं, तथापि अलग से इस तथ्यगत कारक की विवेचना समीचन है, क्योंकि इस कारक के अन्तर्गत प्रमुखतया ग्रन्थियों व इन ग्रन्थियों से उत्पन्न स्राव व रसायनिक तत्वों की चर्चा की जाती है। यथा–अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ–गल ग्रन्थि, उपगल ग्रन्थि, अभिवृक्क ग्रन्थि, पिटयूटरी ग्रन्थि, जनन ग्रन्थि, पैनक्रियाज ग्रन्थि आदि के साथ शरीर रचना एवं शरीर रसायन हैं।

ये उपर्युक्त तथ्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रभावित करते रहते हैं। इनके प्रभावकालीन दौर में मानव व्यवहार भी परिवर्तित दृष्टिगोचर है। समंजन का प्रश्न खड़ा होता है। फलस्वरूप मानव–व्यवहार में अनेक समस्याएँ उदभूत होती जो व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष –अप्रत्यक्ष प्रभावित करती है।

15.4.3 वातावरणीय कारक व समस्याएँ (Environmental Factors and Problems):

मानव जीवन के व्यक्तित्व विकास में वंशानुक्रम का प्रभाव अति महत्वपूर्ण तथ्य है, किन्तु वातावरणीय प्रभाव भी उससे कमतर प्रतीत नहीं होता है। वंशानुक्रम में सभी तथ्यों का प्रभाव जन्म पूर्व ही निश्चित हो जाता लेकिन उस प्रदत्त बीज का वृक्ष रूप में विकास परिवेशीय कारकों के घेरे में ही होता है। अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त अनेक शीलगुणों का विकास वातावरण में ही होता है। अब प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व विकास से सम्बन्धित वातावरणीय कारक कौन से हैं जो व्यक्तित्व को सुदृढ़ता भी देते हैं तो कमजोरी भी बनते हैं। इस सारगर्भित प्रश्न का उत्तर वातावरणीय कारकों के

अन्दर नीहित है। यद्यपि वातावरणीय कारकों में प्रमुख रूप से पारिवारिक वातावरण, शैक्षणिक संस्थानों का वातावरण, पड़ोस, सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरणीय कारक एवं आर्थिक कारक आदि।

वस्तुतः पारिवारिक वातावरण में व्यक्ति के जीवन का प्रथम साक्षात्कार नीहित है। भविष्य किस दिशा की ओर उन्मुख होगा, इसकी नींव परिवार में ही पड़ जाती हैं। परिवार में बच्चे का लालन–पालन, माता–पिता का व्यक्तित्व, अभिवृत्ति, व्यवहार, संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ, पारिवारिक पृष्ठभूमि, सहोदरों का प्रभाव आदि का बच्चे के व्यक्तित्व पर गहरा व दूरगामी प्रभाव पड़ता है। ऐसे अनेक शोध–निष्कर्ष है कि भग्नेष परिवार, पारिवारिक सदस्यों का दूषित चरित्र असुरक्षित पारिवारिक संरचना आदि अनेक ऐसी विकृतियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को धराशाई करती है। जबकि शैक्षिणिक संस्थाओं से सम्बन्धित कारकों के फलस्वरूप सृजित वातावरण का प्रभाव व्यक्तित्व पर ऐसा पड़ता है कि उसका जीवन निखर जाता है किन्तु शैक्षणिक वातावरण पवित्र मूल्यों से सिंचित होना आवश्यक तत्व है। जब हम सांस्कृतिक एवं सामाजिक तथा आर्थिक कारकों के प्रभाव का मूल्यांकन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने में इन कारकों का महती योगदान प्रसंगिक तथ्य है।

अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति का सुदृढ़ व्यक्तित्व विकास, सामाजिक समंजन व व्यवहार की न्यूनतम् समस्याओं की उर्धरा शक्ति स्वस्थ्य वातावरण में नीहित है भले ही वंशानुक्रम का प्रभाव गहरा है। यद्यपि वंशानुक्रम और परिवेशीय कारक जो प्रदत्त है, उन पर जन सामान्य की प्रतिक्रिया मानवीय मूल्यों से गहीत होनी प्राथमिक शर्त है, तो मानव व्यवहार की समस्याएँ सरलता से सुलझ सकती है। असमान्य व्यक्तित्व व असमान्य व्यवहार को अधिकाधिक कम किया जा सकता है ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

अभ्यास प्रश्नः

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

क. वंशानुक्रम और व्यक्तित्व

.....

.....

ख. परिवेशीय कारक और व्यक्तित्व

.....

.....

ग. मानव व्यवहार की समस्याएँ

.....

.....

15.5 सारांश (Conclusion)

व्यक्तित्व व्यक्ति का कोई सामान्य या विशिष्ट गुण नहीं है, अपितु यह पूर्ण व्यवहार संगठन है जो उसके नीजी जीवन–विधि व व्यवहार विधि को व्यक्ति करता है। अर्थात व्यक्तित्व सामान्य या विशिष्ट गुणों का योग नहीं, वरन् व्यक्ति के सर्वांगीण गुण– व्यवहारों का सुसंगठित रूप है जिससे नीजी अस्तित्व का सृजन होता है सुदृढ़ता मिलती है।

यद्यपि व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों के कारकों का प्रभाव पड़ता है शिशु के लिए दोनों प्रदत्त कारक है जिनमें वह अर्जित कारकों के बल पर व्यक्तित्व में निखार लाता है। वंशानुक्रम यदि व्यक्तित्व को सीमित करता है तो वातावरण व्यक्तित्व विकास को सुगम और प्रगतिशील मार्ग सुनिश्चित करना है मानव व्यवहार पर व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है यही कारण है कि मानव व्यवहार की समस्याएँ उद्‌भूत होती रहती हैं।

अतः स्पष्ट है कि व्यक्तित्व वंशानुक्रम और वातावरण पर अवलम्बित है। व्यक्तित्व से रूचियों का अर्जन होता है और रूचियों से व्यवहार अनुशासित होता है। ये सभी व्यक्तित्व के प्रमुख चरणों जन्मसे पूर्व की, शैशवावस्था, प्रारम्भिक बाल्यावस्था, उत्तर बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था को प्रभावित करते हैं। इन सभी अवस्थाओं में वंशानुक्रम और वातावरण तथ्यो में यदि अस्वस्थ्य तथ्यों का समावेश है या हो जाय तो एकीकृत व्यक्तित्व बना पाना बहुत ही दुरूह कार्य है। मानव व्यवहार की असंख्य समस्याएँ जो अनचाही होती है स्वतः उद्‌भूत प्रतीत होती है। ऐसा व्यक्तित्व की मौलिकता की ओर संकेत करती है।

15.6 संदर्भ गन्थ–सूची

1. Shirley, M.M., "The First Two Years," Vol.III, Personality Manifestaions Mimeapalis, Univ. Mimesota Press-1993.

2. Rand, W., Sweeny, M.E., and Vincent, E.L., "Growth and Development of Young Child," Sanders, Philadelphia 1942.

3. Buhler,C., "From Birth to Maturity", Kegan paul, London, 1935

4. Zachry C.B.," Emotion and conduct of adolesence," Appletion Century Crofts, New York 1940.

5. Shirly, M.M., "The First Two Years," personality manifestations, Minneapalis, Voll. III, Minnesota University, Press, 1933.

6. Bruch H., "Obesity in Childhood and Personality Development," American Journal of Orthopsy Chiatry," pp. 467-475-1941.

15.7 कुछ सहायक व उपयोगी पुस्तकें

1. "मानव विकास का मनोविज्ञान", लेखक डा0 महेष भार्गव एवं डॉ0 अरूणा अग्रवाल, हर भार्गव प्रेस–आगरा, प्रथम संस्करण 1990–1991.

2. "बाल विकास मनोविज्ञान के मूलतत्व" लेखक–डॉव सरयू प्रसाद चौबे, कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005.

3. "Child Psychology" F.D. Brooks, Hoghton Mifflin, Boston p.73/937.

4. "Infancy and Human Growth", A. Gesell, Macmillan Co., New York, 1928.

5. "Genetics Studies of Genius" L.M. Terman, Vol.2 Stanford University Press, Stanford, 1926.

6. "Studies in the Development of Young Children", N. Bayley, University California Press, Berkeley, 1940.

7. "Social Behaviour and Child Personality" L.B. Murphy, Calumbia University Press New York 1937.

15.8 बोधगम्य प्रश्न

1. व्यक्तित्व विकास के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिए?
2. व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए?
3. वंशानुक्रम और वातावरण का व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट कीजिए?

4. व्यक्तित्व का व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों विवेचना कीजिए कीजिए?
5. एकीकृत व्यक्तित्व और असमान्य व्यक्तित्व में अन्तर स्पष्ट करें?
6. मानव व्यवहार की समस्याएँ क्या है, टिप्पणी करें?

इकाई 16 समायोजन की अवधारणा, विशेषताएँ एवं परिणाम

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 समायोजन की अवधारणा

16.3 समायोजन प्रतिक्रियाएँ

16.3.1 प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ

16.3.2 अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ

16.3.3 समायोजित प्रतिक्रियाएँ

16.3.4 असमायोजित प्रतिक्रियाएँ

16.4 समायोजन की विशेषताएँ

16.5 समायोजन की आवश्यकता

16.6 समायोजन के मूल सिद्धान्त

16.7 समायोजन के प्रकार

16.8 जीवन के विभिन्न स्तरों में समायोजन

16.9 समायोजन के परिणाम

16.10 सारांश

16.11 शब्दावली

16.12 उपयोगी पुस्तकें

16.13 बोधगम्य प्रश्न

16.0 उद्देश्य (Aim)

इस इकाई के अध्ययन पश्चात् आपके लिए सम्भव होगा:

1. समायोजन क्या है और यह मानव जीवन में कितना महत्वपूर्ण है, से परिचित हो सकेंगे,

2. व्यक्ति के जीवन में प्राप्त सफलता एवं असफलता समायोजन का ही परिणाम है, जान सकेंगे,
3. मानव समाज में समायोजन प्रतिक्रियाएँ क्या है और कितने प्रकार की होती है तथा यह व्यक्ति के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती रहती है,
4. व्यक्ति के जीवन में समायोजन प्रक्रिया की विशेषताओं की महत्ता का अभिज्ञान कराना तथा,
5. मानव जीवन में समायोजन की आवश्यकता क्यों पड़ती है। अभिज्ञान होना
6. समायोजन के मूल सिद्धान्त क्या हैं, जान सकेंगे,
7. समायोजन कितने प्रकार का होता है, का अभिज्ञान कराना
8. जीवन के विभिन्न स्तरों में समायोजन कैसे कार्य करता है तथा
9. समायोजन के परिणाम की परिस्थिति को प्रस्तुत करना।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम 'समायोजन' को मानव जीवन के एक अभिन्न अंग के रूप में विवेचना करेंगे। इस इकाई में हमने समायोजन के अर्थ, अवधारणा, प्रतिक्रियाएँ यथा–प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, समायोजित एवं असमायोजित प्रतिक्रियाएँ के साथ–साथ समायोजन के परिणाम आदि के विविध पहलुओं की जाँच मानव जीवन के सन्दर्भ में करने का प्रयत्न किया है। यह इकाई संक्षेप में आपको यह पृष्ठभूमि प्रदान करेंगी, जिसके आधार पर आप इस खण्ड की अग्रिम इकाईयों में इस विषय पर आगे चर्चा कर सकेंगे। आगे की इकाईयों में हमने नेतृत्व सम्बन्धी विस्तृत चर्चा की है।

मानव समाज में सर्वथा यह देखने को मिलता है कि व्यक्ति अपने जीवन के चारों तरफ विद्यमान वातावरण चाहे वह आन्तरिक स्वरूप का हो या फिर वाह्य स्वरूप का, के साथ व्यक्ति को समायोजन स्थापित करना ही पड़ता है। समायोजन की यही प्रकृति व्यक्ति को सफलता एवं असफलता का मार्ग भी दिखाती है अर्थात् हम कह सकते हैं कि "समायोजन ही जीवन है तथा सफलता एवं असफलता केवल समायोजन के परिणाम है"। इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखकर ही इस इकाई में समायोजन की व्याख्या की गयी हैं। हमें आशा है कि यह चर्चा आपको मानव जीवन के वास्तविक एवं बनावटी पहलू के मध्य सक्रिय समायोजन की वास्तविकता एवं परस्पर सम्बन्ध को समझने में भी मदद करेंगी।

16.2 समायोजन की अवधारणा

सामान्यतः समायाजन से तात्पर्य हमारा उस व्यावहारिक प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति अपने नित्य–प्रति के जीवन में उत्पन्न अन्तर्द्वन्दों या समस्याओं के बीच व्यावहारिक तत्वों में नियमन बना लिया जाता है अर्थात व्यक्ति जब अपने जीवन–पथ पर आगे बढ़ते हुए आने वाली कठिनाईयों के बीच उनसे निजात पाने हेतु तत्कालिक परिस्थितियों के अनुकूल जो समझौता करता है और जीवन–पथ पर आगे बढ़ता हैं, समायोजन कहा जा सकता है।

समायोजन को और अधिक स्पष्ट करने हेतु कुछ विद्वानों के कथनों को उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

लैण्डिल तथा बाल्स के अनुसार "नित्य–प्रति के जीवन के मतभेदों अन्तर्द्वन्दों और निर्णयों को व्यवस्थित क्रमबद्ध और एकरस बना लेना अथवा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए व्यावहारिक तत्वों में नियमन या व्यवस्थापन बना लेना ही समयोजन है।"

मैस्लो तथा मिटिलमैन (Maslow and Mittleman) ने समायोजन की व्याख्या करते हुए कहा है कि "समायोजन व्यक्ति की एक ऐसी विशेषता है जिसके द्वारा वह अपने जीवन की मुख्य समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक एवं उपयुक्त प्रतिक्रिया करता है अर्थात् अपनी समस्याओं के साथ इस प्रकार तालमेल बैठाता है कि उनका सामान्य रूप से समाधान करा सके।"

उपर्युक्त विद्वानों के अभिमतों के विश्लेषण पश्चात् सारांशतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का जीवन तमाम तरह के पर्यावरणीय शक्तियों से अच्छादित रहता है। इन पर्यावरणीय शक्तियों से तालमेल बैठाकर जीवन यापन करना ही समायोजन है, अर्थात् व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में जब विषम परिस्थितियों में पड़ता है तो तत्कालिक उचित व उपयुक्त तत्वों के साथ सामंजस्य बैठाता है और प्रतिकूल पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करता है। यही प्रयास की प्रक्रिया समायोजन कही जा सकती है।

अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करता है साथ ही जीवन की समृद्धि हेतु भी प्रयास करता है। इस पूरी प्रक्रिया में समायोजन ही एक ऐसी प्रक्रिया है जो आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ समस्याओं का समाधान भी करती है।

16.3 समायोजन प्रतिक्रियाएँ

समायोजन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सक्रियता, गत्यात्मकता और ऊर्जा संचालन निहित होता है। व्यक्ति अपने जीवन में उत्पन्न वाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों में तालमेल बिठाने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रक्रिया में समायोजन प्रक्रिया सभी प्रकार के अभिप्रेरकों को नियन्त्रित और संचालित करती है। वस्तुतः व्यक्ति का जीवन आवश्यकताओं एवं समस्याओं का एक रूप होता है। ऐसी वस्तुस्थिति में सामान्य व्यक्तित्व पर बाह्य एवं आन्तरिक पर्यावरण के प्रहार होते ही रहत हैं और यह मानव जीवन की एक सामान्य प्रक्रिया मानी जाती है। तथापि व्यक्ति के व्यक्तित्व को अन्तर्द्वन्द्व, कुण्ठाएँ दबाव आदि प्रतिबल असंतुलन भरे जीवन की ओर उन्मुख करते हैं यदि इनमें सामंजस्य न बिठाया जाय तो संतुलन का व्यवस्थित क्रम कर जीवन–पथ पर बढ़ने में जो प्रतिक्रियाएँ की जाती है; उन्हें ही हम समायोजन प्रतिक्रियाएँ कह सकते हैं। समायोजन प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के चेतन अचेतन एवं अग्रचेतन स्तर पर क्रियाशील रहती है। यही क्रियाशील प्रतिक्रियाएँ संकटकालीन घड़ी में एकता का रूप ग्रहण कर व्यक्ति के जीवन में सहायक सिद्ध होती रहती है। अतः स्पष्ट है कि "समायोजन निरन्तर चलने वाली एक प्रक्रिया है और समायोजन प्रतिक्रियाएँ सर्वथा गतिशील रूप लिए रहती है"।

यद्यपि समायोजन प्रतिक्रियाएँ मुख्यतः दो रूपों – प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं में देखी जाती है। इन दोनों रूपों को वैज्ञानिक समायोजित एवं असमायोजित प्रतिक्रियाओं के रूप में वर्णित व विश्लेषित भी करते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन अग्रिम पृष्ठों पर प्रस्तावित है–

16.3.1 प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ (Direct Reactions) :

प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाओं से तात्पर्य उस प्रतिक्रिया से है जो मानव जीवन को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करती है जैसे आवश्यकता की पूर्ति या लक्ष्य की प्राप्ति हेतु व्यक्ति का बारम्बार प्रयासरत रहना या लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न होने पर दूसरे मार्ग की तलाश करना या फिर लक्ष्य में ही परिवर्तन संभाव्य बनाना और प्रतिद्वन्द्वी लक्ष्यों में से ही उपयुक्त लक्ष्य का चयन कर लेना आदि। प्रतिक्रियाओं के रूप में देखी–समझी जा सकती है।

16.3.2 अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ (Indirect Reactions)

अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ वे प्रतिक्रियाएँ है जो मानव को प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं करती। प्रायः अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ अग्रचेतन स्तर पर कार्य करती हैं किन्तु अधिकांश

प्रतिक्रियाएँ अचेतन स्तर पर ही क्रियाशील रहती है। व्यक्ति अचेतन स्तर पर जो सुरक्षात्मक प्रयास करता है उन्हें मानसिक मनोरचनाएँ कहा जाता है। ये मनोरचनाएं व्यक्ति के अहं की सुरक्षा–कवच का कार्य करती हैं। एक प्रकार से ये एक अस्थाई समाधान का मार्ग प्रशस्त करती दृष्टिगोचर हैं। इन मनोरचनाओं में हम अवदमन, उन्नयन, मुक्तिकरण, आरोपण, प्रतिगमन, क्षतिपूर्ति, प्रतिकरण, रूपान्तरण कल्पना–तरंग आदि को देख सकते हैं।

16.3.3 समायोजित प्रतिक्रियाएँ (Adusted Reactions)

व्यक्ति अपने दैनिक जीवनचर्या को पूर्णतः संतुलितावंस्था प्रदान करने के क्रम में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में जो भी प्रयास करता है वह उसकी चेष्ठा है। इन चेष्ठाओं की पूर्ति में कार्यरत वे प्रतिक्रियाएँ है जो व्यक्ति की आवश्यकताओं एवं इच्छित लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होती है, समायोजित प्रतिक्रियाएँ कहीं जाती है। समायाजित प्रतिक्रियाओं का सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को दीर्घकाल तक संतुलनावस्था प्रदान करती है।

16.3.4 असमायोजित प्रतिक्रियाएँ (Maladjusted Reactions)

असमायोजित प्रतिक्रियाओं से हमारा तात्पर्य उन प्रतिक्रियाओं से है जो मानव व्यक्तित्व विकास के क्रम में क्रियाशील तो रहती है किन्तु इनके कारण व्यक्ति के जीवन में उत्पन्न कुण्ठाओं, अन्तर्द्वन्द्वों, दबावों में सुरक्षा नहीं मिलती और न ही व्यक्ति के इच्छित लक्ष्य व आवश्यकताओं में किसी प्रकार की सहायता प्राप्त होती है। ऐसी वस्तुस्थिति में व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास में अवरोध उत्पन्न होता, उसके व्यवहार की समग्रता प्रभावित होती, परिणामस्वरूप व्यक्ति का जीवन असंतुलित हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि "असमायोजित प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के असमायोजित जीवन का द्योतक है"।

16.4 समायोजन की विशेषताएँ

प्रत्येक सामान्य व्यक्ति समाज में प्रेम, सहानुभूति, आत्म–सम्मान, सुखी जीवन और सम्मानपूर्ण जीवन यापन करने की प्रबल इच्छा रखता है। और इसी सुखमय जीवन के पथ को संतुलित स्वरूप देने का हर क्षण प्रयास भी करता रहता है किन्तु किंचित कारणों या परिस्थितियों से जब उसे इसमें बाधा उत्पन्न नजर आती है तो वह तत्काल ही तत्कालीन परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास भी करता है। अर्थात

MAW-112/250

"समायोजन मानव–जीवन की एक प्रमुख और आवश्यक तथ्य है"। संक्षेप में समायोजन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् इस प्रकार लिखी जा सकती हैं-

1. समायोजन ही जीवन है।
2. समायोजन आवश्यकताओं एवं लक्ष्य की सरलता से प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वाली प्रक्रिया है।
3. समायोजन की प्रक्रिया व्यक्ति को कुण्ठा, अन्तर्द्वन्द्व तथा दबाव की स्थिति में उपयुक्त तथ्य का चयन करने में सहायता प्रदान करती है, अर्थात "व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा कवच है"।
4. समायोजन संतुलित जीवन का आधार है।
5. समायोजन उपयोग करने वाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाता है और दूसरे व्यक्तियों को किसी प्रकार की हाँनि नहीं होती हैं।

16.5 समायोजन की आवश्यकता

व्यक्ति की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता समायोजन प्राप्त करने की आवश्यकता है क्योंकि यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन रक्षा के अवसर प्राप्त करता है। इस मूल उद्देश्य के अतिरिक्त निम्न कारणों से समायोजन की आवश्यकता होती है।

1. स्वयं को भलीभाँति समझना।
2. दूसरों को भलीभाँति समझना।
3. आस–पास की दुनिया को भलीभाँति समझना।

दूसरे शब्दों में समायोजन को हम आवश्यक समझते है जिससे दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापन सीख सखें, विद्यालय में लाभ उठा सके, कार्यात्मक समस्याओं को हल कर सकें तथा सामान्य एवं संवेगात्मक समस्याओं का निराकरण कर सकें। व्यक्ति जब तक इस सांसारिक दुनिया में रहता है तब तक अनेकानेक समस्याएँ उसको घेरती रहती है और समायोजन स्थापित करने के लिए बाध्य करती है। समस्याओं की यह तार–तम्यता व्यक्ति को निरन्तर किसी न किसी क्षेत्र में समायोजन स्थापित करने के लिए बाध्य करती है। हम समस्याओं का दूर नहीं कर सकते है केवल उनको समाधान करने की कला सीख सकते है। यह कला तभी आ सकती है जब हम दूसरों के विषय में अधिकाधिक जानते है। परन्तु दूसरों को समझने के लिए पर्यावरण का समझना भी आवश्यक होता है।

समायोजन की प्रक्रिया : मानव समायोजन प्रक्रिया सम्बन्धी दो दृष्टिकोण है। दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपनी मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों के लिए जो जीवन के विभिन्न सम्बन्धों में प्रदर्शित करता है, व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। व्यक्ति को अपना पथ निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। वह स्वंय अपने भाग्य का विधाता होता है। परन्तु दूसरे सम्प्रदाय के तरीकों उसके पूर्व अनुभव तथा वर्तमान पर्यावरणीय प्रभावों पर निर्भर होता है।

परन्तु जब हम समायोजन सम्बन्धी प्रक्रिया का वास्तविक जीवन में विश्लेषण करते है तो यह सर्वथा निश्चित होता है कि व्यक्ति में समायोजन की क्षमता पूर्व अनुभवों बाह्य पर्यावरणीय दशाओं तथा व्यक्तिगत शक्तियों पर निर्भर होती है।

समायोजन की प्रक्रिया कार्य कारण सम्बन्ध पर स्थित होती है। यह कुछ सिद्धांतों का भी उपयोग अपनी कार्यप्रणालियों में करती है। इसके लिए अन्तःक्रिया का होना आवश्यक होता है। अतः इन तत्वों को हम यहाँ पर समझने का प्रयास करेंगें।

16.6 समायोजन के मूल सिद्धान्तः

व्यक्ति सदैव अपनी स्थितियों, दशाओं, अन्तव्यक्तिगत सम्बन्धों आदि से समायोजन करने की प्रक्रिया में लगा रहता है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि जिस प्रकार से समायोजित स्थापित करता है उससे व्यक्तिगत सफलता तथा सामाजिक कल्याण सम्भव ही हो। व्यक्ति का समायोजन उस सीमा तक उपयुक्त, पूर्ण तथा स्वस्थ होता है जिस सीमा तक वह अपने तथा अपनी दशाओं, परिस्थितियों तथा व्यक्तियों जो उसके भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण में निहित होते है के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। जो व्यक्ति अपनी बाधाओं को दूर करने में असमर्थ होता अथवा जो सभी सदस्यों द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाता है वह अपने को समायोजित नही कर पाता है। परन्तु यदि पूर्ण बहिष्कार तथा बारम्बार असफलता का सामना करता है तो वह कुसमायोजित हो जाता है और असामान्यता के लक्षण प्रदर्षित करता है।

व्यक्ति के व्यवहार के तरीके तथा मनोवृत्तियाँ प्रायः समायोजन प्रस्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु प्रत्येक व्यवहार का तरीका तथा मनोवृत्ति समायोजन प्रक्रिया में समान महत्व रखती है। समायोजित व्यवहार के निम्नलिखित तत्व होते है :

(1) जीवन के प्रति सम्पूर्ण दृष्टिकोण

(2) जीवन का वास्तविक प्रत्यक्षीकरण

(3) आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों में जो मानव व्यवहार को प्रभावित करत है, अच्छा संतुलन।

कार्य कारण सम्बन्ध– वैयक्तिक रूप से जब हम समायोजन को विश्लेषित करते हैं तो इसका सम्बन्ध कार्य कारण से पाते है। समयोजन की सीमा तथा स्वरूप विभिन्न कारकों पर निर्भर होता है। व्यक्ति की कहानी अधिक समस्याएँ होती है जिनकी संतुष्टि के लिए उसे अनेक प्रयत्न करने पड़ते है। जीवन के विभिन्न कारकें उसके व्यवहार के तरीकों को प्रभावित करते है। वही पर्यावरण सम्बन्धी कारक एक व्यक्ति की कठिनाईयों, दुःखों, तनावों तथा दबावों का कारण होता है और वही दूसरे को कम प्रभावित अथवा बिल्कुल प्रभावित नहीं करता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति एक दूसरे से शारीरिक संरचना, स्वास्थ्य स्तर, मानसिक तथा सांवेगिक स्थितियों में भिन्न होता है। स्वभाव में अन्तर होने से उनकी रूचियों–अभिरूचियों, पसन्दों–नापसन्दों तथा सम्प्रेरणाओं में अन्तर होता है। लेकिन सभी व्यक्तियों में समायोजन की इच्छा अवश्य पायी जाती है।

अन्तःक्रिया– कोई भी व्यक्ति अकेले न रहता है और न ही रहना पसन्द करता है। प्रतिदिन की क्रियाओं में वह अनेक व्यक्तियों के साथ अन्तः क्रिया करता है। परिवार के सदस्य, विद्यालय साथी, कार्य साथी, मित्र तथा सम्बन्धियों से वह अपने विचारों का आदान–प्रदान करता रहता है। साथ ही साथ पर्यावरणीय प्रभावों जैसे जलवायु सम्बन्धी दशाएँ, तथा अन्य प्रर्यावरण की भौतिक दशाएँ, के प्रति भी प्रत्युत्तर करता है। परन्तु अन्तः क्रिया के तरीकों में भिन्नता होती है। एक बच्चे होते है, भिन्न होता है। जिस बालक की बुद्धिलब्धि अधिक होती है। उसका विद्यालय कार्य में समायोजन कम बुद्धि वाले बालक से भिन्न होता है। मालिक अपनी शक्ति की स्थिति को दूसरे प्रकार से समायोजित करता है और कर्मचारी दूसरे प्रकार से। आयु अन्तर भी समायोजन की दशा को प्रभावित करता है परन्तु उचित समायोजन सौहार्दपूर्ण वातावरण में उत्पन्न होता है। वैयक्तिक कार्यकर्ता इन अन्तरों तथा सम्बन्ध स्थितियों को अपने व्यावहारिक कार्य में लाता है।

जब व्यक्ति पर्यावरणीय तत्वों से अन्तः क्रिया में समायोजन करने का प्रयास करता है उस समय या तो वह उनके अपने व्यवहार का अंग बना लेता है या अपनी रूचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित कर देता है। अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों को इस प्रकार से समयोजित करने का प्रयत्न करता है जिससे समूह अथवा समूहों में आदरणीय स्थान प्राप्त हो सके। अन्तः क्रिया की प्रक्रिया में बिना ज्ञात हुए कि हम क्या करने जा रहे है, उन तरीकों का प्रयोग करते है, जिनकों दूसरों ने

अवलोकन किया है इससे व्यवहार तरीके का विकास करते है जो कि समायोजन के वैयक्तिक तरीके की संरचना करता है।

16.7 समायोजन के प्रकार

समायोजन दो प्रकार का होता है:

(1) व्यक्तित्व समायोजन

(2) अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्ध समायोजन

व्यक्तित्व समायोजन का तात्पर्य व्यक्ति के मूल्यों एवं मनोवृत्तियों में एकीकरण एवं सन्तुलन बनाये रखना है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति की अहं शक्ति से होता है और मनोवृत्ति सम्बन्ध संतुलन के लिए अहं का शक्तिशाली होना आवश्यक है। वैयक्तिक कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ कार्य करते हुए न बातों का ध्यान रखता है।

अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्ध समायोजित का तात्पर्य एक व्यक्ति का अन्य व्यक्ति के मध्य सम्बन्ध से है। अर्थात् व्यक्ति की सामाजिक भूमिका सम्बन्धि सम्पादन और उनकी स्थितियों से सम्बन्धित भूमिका सम्बन्धि आकांक्षाओं से है। वैयक्तिक कार्यकार्ता व्यक्ति की भूमिका सम्बन्धि सम्पादन तथा आकांक्षाओं का समाधान की इस समस्या का वैज्ञानिक विश्लेषणं करता है और व्यक्ति को इस सम्बन्ध में सचेत करता है। अनेक अनतर्व्यक्तिगत सम्बन्धों मं कुसमायोजन इसलिए अत्पन्न हो जाता है क्योंकि व्यक्ति अपनी समाजिक भूमिकाओं को समाज या अपने समूह के सदस्यों की आकांक्षाओं के अनुसार पूरा नहीं कर पाता। उसमें इन प्रेरणाओं का अभाव रहता है जो उन भूमिकाओं के लिए अनिवार्य होता है।

समायोजन के सम्बन्ध में एक मुख्य बात यह है कि यह द्विमुखी घटना है। अतः केवल व्यक्ति में ही पविर्तन की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि पर्यावरण में भी परिवर्तन आवश्यक होता है।

कुछ विचारकों का मत है कि समाज कार्य में समायोजन के प्रत्यय से तात्पर्य है कि सेवार्थी को इस बात के लिए तैयार करना कि वह समाज की परम्पराओं को स्वीकार करे अथवा सामाजिक मान्यताओं के आगे अपना सिर झुकाये अर्थात् स्वयं में परिवर्तन लाये। परन्तु इस विचार को अब मान्यता नहीं दी जाती है। यह बहुत पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि हमें सेवार्थी की सहायता इस प्रकार करनी चाहिए कि वह बाह्म संसार की वास्तविकता को समझे किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें स्वीकार भी करे। वैयक्तिक सेवा कार्य के हम एक ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करते है जो समस्या से ग्रस्त होता है। इस समस्या के समाधान के लिए व्यक्तित्व एवं पर्यावरण में परिवर्तन

करने का प्रयास किया जाता है। वैयक्तिक सेवा कार्य का इस संदर्भ में निम्नलिखित उद्देश्य होता है:

(1) वैयक्तिक सम्बन्धों में सुधार करना।

(2) मनोवृत्तियों तथा मूल्यों में समायोजन स्थापित करना।

(3) वास्तविकता का ज्ञान कराना।

(4) शक्तियों का विकास करना।

(5) सामाजिक कार्यात्मकता को पुनर्स्थापित करना।

(6) अनुभवों को संतोषप्रद बनाना।

(7) आत्म निर्देशन तथा सामाजिक योगदान की योग्यता में वृद्धि करना।

(8) सेवार्थी के अनुकूल पर्यावरण में परिवर्धन करना।

प्रायः समायोजन दो साधनों द्वारा किया जाता है–बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन जैसे भौतिक सहायता, रोजगार या सेवा प्रदान करना आदि तथा व्यक्तित्व में परिवर्तन। पहले प्रकार के साधन का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष रूप से वैयक्तिक कार्यकर्ता का होता है। दूसरे साधन का उपयोग अप्रत्यक्ष रूप से सेवार्थी के द्वारा ही करता है। वह सेवार्थी को मंत्रणा, निर्देशन, सलाह, व्याख्या, मनोचिकित्सा तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्म निर्भर एवं आत्म चेतन बनाता है जिससे वह स्वयं समस्या का समाधान कर समायोजन स्थापित कर लेता है।

16.8 जीवन के विभिन्न स्तरों में समायोजन

यहाँ पर प्रत्येक स्तर के समायोजित आत्म की कुछ विशेषताओं का वर्णन किया जा रहा है।

विशुद्ध तथा सामाजिक समायोजन– यदि शिशु को रूचि का भोजन मिलता है सुखदायी वस्त्र मिलते है, उसकी क्रियाओं पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता है तथा उसकी माँग के प्रति व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता है तो वह सन्तोष का अनुभव करता है। शारीरिक आवश्यकताओं तथा व्यक्तिगत ध्यान में कमी अथवा कोई परिवर्तन (जैसे एकाएक आवाज) उसके असन्तोष का कारण बन जाता है और वह भय अथवा क्रोध का व्यवहार प्रदर्शित करता है। किसी सन्तोषपूर्ण अथवा असन्तोषपूर्ण स्थिति में वह किस प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करता है यह उसके दिये गये प्रशिक्षण पर निर्भर होता है।

(1) पूर्व विद्यालय बालक तथा सामाजिक समायोजन– दो या तीन वर्ष की आयु में बालक अपनी रूचि का खेल खेलना पसन्द करता है। यद्यपि वह अन्य बालकों की उपस्थिति में ही ऐसा करता है परन्तु वह अपने साथ ही खेलना अधिक रूचिकर समझता है। परन्तु धीरे–धीरे यह मनोवृति समाप्त होती जाती है और वह दूसरों के खेलों में रूचि लेना प्रारम्भ करता है। इस अवस्था में धैर्य की सीमा कुछ–कुछ बढ़ने लगती है। वह दिन–प्रतिदिन कार्यों की निपुणताओं का विकास करता है। वह अपने आप स्नान करना दाँत साफ करना तथा अन्य साधारण कार्य करने लगता है। उसको कार्य करने में सुख प्राप्त होता है। जब वह चौथे वर्ष में प्रवेश करता है तो प्रशंसा तथा आलोचना करना सीखता है। उसको अपने अनुरूप कहानियाँ अच्छी लगती है तथा स्वप्न दुनिया तथा वास्तविक दुनिया में विशेष अन्तर नहीं करता है।

बालक का सामाजिक विकास धीरे–धीरे बढ़ता रहता है। यदि किसी भी प्रकार की खराब सामाजिक दशाएँ इस अवस्था में आ जाती है तो सामाजिक विकास में बाधा पड़ती है। पूर्व स्कूल अवधि समाप्त होने तक बालक तर्कीक आज्ञापालन की समझ उत्पन्न कर लेता है। तथा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कार्यों की तारम्तम्यता स्थापित कर सकता है। वह अपनी आयु के अनुकूल क्रियाएँ कर लेता है। वह स्वभाव से प्रजातांत्रिक होता है तथा दूसरों पर विश्वास रखता है। यदि कोई भी असामान्य लक्षण इस व्यवस्था में उत्पन्न होता है वे अयोग्य, असन्तोषपूर्ण तथा हानिकारक प्रशिक्षण विधि के कारण होते है।

(2) विद्यालयगत बालक तथा सामाजिक समायोजन– युवा बालक मूल रूप से अहंवादी (Egoistic) होता है। विद्यालय में आकर दूसरे व्यक्तियों के प्रति अपनी मनोवृत्तियों का विकास करता है तथा स्थायी सामाजिक सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान करता है। विद्यालय के कर्मचारियों का कर्तव्य होता है कि वे बालक में सहिष्णुता सहयोग, प्रेम, दया, आदर आदि गुणों का विकास करें। सामाजिक समूह में सामाजिक सुरक्षा की अनुभूति कराना भी एक महत्वपूर्ण कार्य होता है। विद्यालय जाने के प्रारम्भिक दिनों में प्रत्येक बालक अपने परिवार के सदस्यों के विषय में बात करता है और यदि ऐसा नहीं करता है तो कोई न कोई परिवार में अवष्य समस्या होती है। शिक्षक यदि इस अवस्था में इन कारणों को दूर कर देता है तो बालक का सामान्य विकास नहीं रूकता अन्यथा कुसमायोजन के लक्षण उसके व्यवहार में प्रदर्शित हो जाते है। विद्यालय का वातावरण बालक के व्यवहार को प्रभावित करता है। अतः विद्यालय के कार्य, शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षकों का व्यवहार बालक के विकास में सहयोगात्मक होने चाहिए।

(3) किशोर तथा सामाजिक समायोजन– इस अवस्था में व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों द्वारा लगाये गये बन्धकों से मुक्त होने का प्रयास करता है। परन्तु वे इस संघर्ष के प्रति अनभिज्ञ होने के कारण निर्दशों तथा आदर्शों को उसके समक्ष रखते है। इस प्रकार के व्यवहार के परिणामस्वरूप वह युवा या तो नियन्त्रण का विरोध करता है और सामाजिक अवांछनीय व्यवहार का प्रदर्शन करता है अथव संघर्ष को त्यागकर बचपन की अवस्था से प्रतिगत (Regression) करता है। जिससे व्यवहार विकास अवरूद्ध हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में असामान्य सामाजिक व्यवहार प्रदर्षित होता है। पहली प्रकार की समस्या (अवज्ञा) से सम्बन्धित व्यक्ति संदेही, क्रोधी, असहयोग होता है। वह समायोजन करने में बाधा उत्पन्न कर देता है। अपने साथियों से लड़ता–झगड़ता है तथा अपने कष्टों को उन पर प्रक्षेपण करता है। दूसरी समस्या से सम्बन्धित व्यक्ति दूसरों पर निर्भर हो जाता है। उसकी निर्णय शक्ति का विकास नहीं होता तथा साधारण समस्या के समाधान के लिए सहायता की आषा करता है।

(4) युवक तथा सामाजिक समायोजन– युवावस्था के सामाजिक तथा अन्तर्वेव्यक्तिक सम्बन्धों का आधार उसके बचपन के अनुभव होते है। सामाजिक समूहों की संख्या तथा स्वरूप बढ़ने के साथ–साथा बढ़ता जाता है। यदि वह इस अवस्था तक विभिन्न समूहों के साथ समायोजन करना इस प्रकार से सोख जाता है तो अर्थपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता है। पहले की मित्रता इस अवस्था में घनिष्ठ हो जाती है। वह आत्म स्वार्थपन को समायोजन में बाधक नहीं होने देता है। उसकी रूचियाँ सामाजिक बन जाती है। उसकी सम्प्रेरणाएँ सकरात्मक रूप से नियन्त्रित होती है तथा उसका व्यवहार एकीकृत होता है। वह दूसरों को प्रभावित करता है।

16.9 समायोजन के परिणाम

समायोजन व्यक्ति के नित्य–प्रति के जीवन में चलने वाली एक निरन्तर प्रक्रिया है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में सहायक होती है। समायोजन न हो पाने के कारण व्यक्ति का दैनिक जीवन "कागज की कस्ती" के समान होता है। समायोजन का व्यक्ति के जीवन पर पड़ने वाले परिणाम को बिन्दुवार इस प्रकार रखा जा सकता है:–

1. समायोजन का प्रमुख परिणाम है कि व्यक्ति की वांछित इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति होती है अर्थात् यह व्यक्ति के दैनिक जीवन को संतुलनावस्था प्रदान करती है।

2. व्यक्ति जब उत्पन्न कुण्ठा, अन्तर्द्वन्द्व और दबाव की स्थिति में होता है और तत्कालिक परिस्थितियों से सामंजस्य नहीं बैठा पाता है तो वह इच्छित आवश्यकताओं एवं लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर पाता है।

3. व्यक्ति को सामंजस्य न बिठा पाने वाली असफलता की अनुभूति उसके चेतन एवं अचेतन स्तर पर अर्न्तद्वन्द्व उत्पन्न करती है फलस्वरूप उत्पन्न चिन्ता मानसिक तन्तुओं को इस प्रकार झकझोर डालती है कि जीवन असंतुलनावस्था की भेंट चढ़ जाता है।

4. समायोजन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व के विघटन के आधार नष्ट हो जाते है और उसमें उत्साह, आत्मविश्वास, साहस तथा ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, जिससे वह अपनी समस्याओं को असानी से सुलझा लेता है।

5. समायोजन के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति समाज व समाज में अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा में निरन्तर बृद्धि करता रहता है सही समायोजन प्रतिक्रियाएँ दीर्घकाल तक व्यक्ति के व्यक्तित्व को संतुलित बनाय रखती है।

उपर्युक्त बिन्दुओं के विश्लेषण पश्चात् सार रूप में कह सकते हैं कि समायोजन का प्रमुख परिणाम 'व्यक्ति के व्यक्तित्व का संतुलितावस्था स्वरूप है। " यही स्वरूप स्वयं की समाज की व राष्ट्र की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है।

अभ्यास : निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

क. समायोजन प्रतिक्रियाएँ

.....

.....

ख. असमायोजन के परिणाम।

.....

.....

ग. समायोजन की महत्ता।

.....

.....

16.10 सारांश

इस इकाई का प्रारम्भ समायोजन को व्यक्ति के संतुलित जीवन विधा का आधार

के रूप में मानकर संक्षिप्त चर्चा से किया गया है। इसके पश्चात् हमने चर्चा की है कि समायोजन की प्रतिक्रियाएँ क्या होती है? और ये किस प्रकार जीवन के विविध पहलुओं को प्रभावित करती रहती हैं इन समायोजन प्रतिक्रियाओं की भी संक्षिप्त चर्चा की गयी है। तथा यह भी विश्लेषित किया गया है कि असमायोजित प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के जीवन को असंतुलित स्वरूप प्रदान कर देती है।

वस्तुतः "समायोजन ही जीवन है", समायोजन के बिना मानव जीवन तास के पत्ते की भाँति बिखर जाता है। सही दिशा में यदि समायोजन नहीं हुआ तो परिणाम में हम समाज के अन्दर विचलनकारी व्यवहार देखते हैं। समायोजन की प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ हो या अप्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ हमेशा लक्ष्योन्मुँख होनी जरूरी है तभी व्यक्ति प्रतिबल से निजात पाते हुए अपने संतुलित व्यक्ति में विघटन रो एक सुखद सफल व समृद्धि-युक्त जीवन–पथ पर आगे बढ़ता है।

अतः स्पष्ट है कि समायोजन प्रक्रिया और तद्सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के जीवन–विधा में उत्पन्न प्रतिबल की निरन्तरता पर अवरोध लगाने का कार्य करती हैं। परिणाम स्वरूप एक संतुलित व्यक्तित्व और संतुलित सामाजिक व्यवस्था का सृजन सम्भव हो पाता है। ऐसी वस्तुस्थिति में हम यह कह सकते हैं कि आज की जीवन समस्याओं का समाधान समायोजन में निहित है और जो व्यक्ति अपने बाह्य तथा आन्तरिक वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करने में समर्थ है या होते हैं; वे ही सफल होते हैं।

16.11 शब्दावली

समायोजनः दो या दो से अधिक परिस्थितियों या तथ्यों या कारकों के चयन में उत्पन्न द्वन्द्वग्रस्तता की स्थिति में समयानुकूल समाज विधि सम्मत विकल्प के साथ ताल–मेल बैठाने की प्रक्रिया ।

मनोरचनाएँः तनाव से मुक्ति हेतु चतन या अचेतन स्तर पर विविध प्रकार की सुरक्षात्मक प्रक्रियाओं को अपनाना मनोरचनाएँ हैं।

अवदमन (Repression) : व्यक्ति से चिन्ता उत्पन्न करने वाले विचारों को चेतन मन द्वारा बाहर करने की प्रक्रिया ही अवमदन है।

युक्तिकरण (Rationalization) : दोषपूर्ण तर्क के द्वारा अनुचित या असंगत व्यवहार को उचित ठहराना।

उन्नयन (Sublimation) : सामाजीकृत विकल्पों या क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति द्वारा अपनी कुण्ठात्मक कामेच्छाओं की तृप्ति करना।

प्रतिगमन (Regression) : पीछे लौटना। अर्थात् वास्तविकता से पलायन।

प्रतिकरण (Reaction Formation) : अचेतन इच्छा के विपरीत कर्यान्वित कार्य।

रूपान्तरण (Conversion) : अवदमित इच्छाओं या तत्वों का परिवर्तित रूप या लक्षण में प्रकट होना।

विस्थापनः एक स्थान से दूसरे स्थान को जाकर पूर्णरूपेण वास कर जाना अथवा एक विषय या पदार्थ से संवेग को हटाकर दूसरे पदार्थ या विषय की ओर मोड़ देने की प्रक्रिया।

प्रक्षेपण (Projection) : अपने अवगुणों या दोशों को अपने में न ढूढ़कर दूसरे में ढूढ़ना या आरोपित करने की प्रक्रिया।

क्षतिपूर्ति : कमी की भरपाई करना।

कल्पना तरंग (Fantasy) : यथार्थ से परे विचारों का महल बनाना

16.12 उपयोगी पुस्तकें

1. Landis and Bolles, " Abnormal Psychology, 1958.
2. Maslow and Methleman, " Principals of Abnormal Psychology"1951.
3. Fisher, V.E., " An Introduction to Abnormal Psychology"", New York, New York 1937..
4. डॉ0 रमेश चन्द्र तिवारी, मानव विकास की क्रिया, सेवाश्रम प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी, 1994
5. आर.के. ओझा, "असामान्य मनोविज्ञान, भार्गव बुक हाउस, आगरा, 1991.

16.13 बोधगम्य प्रश्न

1. समायोजन से आप क्या समझते हैं। मानव जीवन पर इसके प्रभाव की विवेचना कीजिए?
2. समायोजन प्रतिक्रियाएँ क्या है, स्पष्ट कीजिए?
3. समायोजन प्रतिक्रियाएँ कितने प्रकार की होती है; विस्तृत वर्णन कीजिए?
4. 'समायोजन ही जीवन हैं। टिप्पणी करें?

5. समायोजन न हो पाने की स्थिति में मानव जीवन असंतुलित है, क्यों? स्पष्ट कीजिए?

6. समायोजन के मूल सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए?

7. समायोजन कितने प्रकार का होता है, विषद वर्णन कीजिए?

8. जीवन के विभिन्न स्तरों में समायोजन की भूमिका की महत्ता का वर्णन कीजिए?

इकाई 17 नेतृत्व की अवधारणा एवं प्रकार्य

इकाई की रूपरेखा:

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र

17.3 नेतृत्व का अर्थ एवं परिभाषा

17.4 नेंतृत्व की प्रधान विशेषताएँ

17.5 प्रभुत्व एवं नेतृत्व में अन्तर

17.6 सामाजिक संरचना एवं नेतृत्व

17.7 नेतृत्व के सामान्य गुण

17.8 नेतृत्व का महत्व एवं उत्तरदायित्व

17.9 नेतृत्व में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारक

17.10 नेतृत्व के सिद्धान्त

17.10.1 गुण सिद्धान्त

17.10.2 परिस्थितिजन्य सिद्धान्त

17.11 नेतृत्व की विशिष्ट प्रकृति

17.12 सारांश

17.13 शब्दावली

17.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.15 बोधगम्य प्रश्न

17.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

17.0 उद्देश्य (Aim)

इस इकाई में हमने नेतृत्व की अवधारणा एवं प्रकार्य के विभिन्न पहलुओं का वर्णन किया है। इस इकाई के पठन–पाठन पश्चात् आपके लिए सम्भव होगा:

➢ नेतृत्व का अर्थ एवं तद्संबंधी विधि–विद्वानों के विचार की जानकारी प्राप्त करना।

- नेतृत्व की विशेषताओं के ज्ञान करने के साथ–साथ प्रभुत्व एवं नेतृत्व में अन्तर का अभिज्ञान करना।
- नेतृत्व एवं नेतृत्वकर्ता के प्रकार, सामाजिक संरचना में नेतृत्व की भूमिका की व्याख्या।
- नेतृत्व संबंधी गुण, महत्व एवं उत्तरदायित्व का विश्लेषण करना।
- नेतृत्व एवं नेता और नेतृत्व में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारक की व्याख्या के साथ–साथ नेतृत्व की सिद्धान्त एवं प्रकृति को विश्लेषित करना।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम नेतृत्व संबंधी विविध पक्षों का एक महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में विवेचना कर रहे हैं। नेतृत्व –शक्ति का विशाल रूप हमें बृहत् समूह या समाज में दिखता है, किन्तु दो व्यक्तियों के बीच भी नेतृत्व के गुण या शक्ति का आभास किया जा सकता है। नेतृत्व समाज या समूह की गतिविधियों और व्यवस्था के संचालन के लिए अति आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन में नेतृत्व एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका पग–पग पर उसे साक्षात्कार करना होता है। ऐसी वस्तुस्थिति में नेतृत्व की व्याख्या करना एक सारगर्भित विषय बन जाता है। अतः इस इकाई के अन्तर्गत प्रथमतः नेतृत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, तत्पश्चात् तद्संबंधी विविध विद्वानों के मतों का विश्लेषित कर एक सारगर्भित परिभाषा खोजने का कार्य किया गया है। यहाँ पर आपको नेतृत्व किस प्रकार प्रभुत्व से अलग है एवं सामाजिक संरचना में नेतृत्व किस प्रकार महत्वपूर्ण है, से परिचित करवाया जायेगा और यह विवेचना की जायेगी कि एक सफल नेतृत्व के सामान्य गुण क्या है। सामान्य गुण को दो आधार स्तम्भो–शारीरिक संरचनात्मक गुण और मनोवैज्ञानिक संरचनात्मक गुणों के आलोक में ही परखा गया है।

मानव एक सामाजिक प्रणी है, समाज में रहता है, आवश्यकताओं की पूर्ति समाज से समाज में ही करता है ऐसे में जहाँ समाज है, वहाँ नेतृत्व का दर्शन भी स्वाभाविक है। यही कारण है कि सामाजिक नियंत्रण के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में नेतृत्व का अत्यधिक महत्व है। वास्तव में देखा जाय तो एक समूह समाज, व्यक्ति, संस्था आदि की नैतिकता को बनाये रखने और उसे एक सुदृढ़ ऊँचाई प्रदान करने में तथा उसे सुदृढ़ावस्था में गतिशील बनाये रखने में नेतृत्व की आवश्यकता होती है। इस महत्वपूर्ण तथ्य को इस इकाई में स्थान देते हुए नेतृत्व के महत्व एवं उपयोगिता उत्तरदायित्व पर प्रकाश डाला गया है। यह बताने का या विश्लेषित करने का प्रयास

किया गया है कि नेता का पद सदैव उत्तरदायी और महान क्यों होता है? क्यों नेतृत्वकर्ता स्वयं की वैयक्तिकता का परित्याग कर समूह वैयक्तिकता के मूल्यों को सर्वोपरि स्थान देता है? कैसे नेता के प्रति आम–जन में श्रद्धा का भाव प्रतिस्थापित हो जाता है? तथा कौन सी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति या नेतृत्वकर्ता की संतुष्टि का आधार बन जाती है, आदि जैसे अनेक प्रश्नों के उत्तर की खोज नेतृत्व व्याख्या में की गयी है जो इस इकाई में देखने को मिलेगी, तथा यह भी आप जान सकेंगे कि सफल व सुयोग्य नेतृत्व व नेतृत्वकर्ता का विकास किस प्रकार होता है।

इस इकाई के अन्त में नेतृत्व में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारक, सिद्धान्त व प्रकृति की चर्चा की गयी है।

समाज मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने नेतृत्व के सम्बन्ध में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है कि "क्या नेता पैदा होते हैं?" इस प्रश्न का संतोषजनक प्रतिउत्तर की खोज में कमशील विद्वानों के बीच विचार–विमर्श, वाद–विवाद का दौर चला। परिणाम स्वरूप मत–मान्तरों को विभाजित किया गया और एक सिद्धान्त की श्रृंखला बनती चल पड़ी। उन्हीं सिद्धान्त श्रृंखलाओं में से महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या व विवेचनात्मक अध्ययन की सुगमता हेतु हम इस इकाई में दो सिद्धान्तों–गुण सिद्धान्त व परिस्थितिजन्य सिद्धान्त के विचारों को अवलोकित करने का प्रयास करेगें।

अन्ततः नेतृत्व की विशिष्ट प्रकृति का विश्लेषण समुचित और संयत ढ़ग से करने का प्रयास किया गया है।

अतः स्पष्ट है कि इस इकाई के अन्तर्गत हमने नेतृत्व का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ, महत्व, प्रसंगिकता, आधारगुण, प्रकृति, कारक व सिद्धान्त को विवेचनात्म्क अध्ययन की सुगमता को ध्यान में रखकर प्रकाश डालेंगे व सारगाभितता का विशेष ध्यान देंगे। हमें आशा है कि यह चर्चा आपको आदर्श व वास्तविक नेतृत्व व नेतृत्वकर्ता के मध्य सक्रिय परस्पर सम्बन्ध को समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

17.2 दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र

सामान्यतः नेतृत्व उस व्यवहार को कहा जाता है जो दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को एक विशेष दिशा में प्रभावित करता है। नेतृत्व का कार्यक्षेत्र व कार्य देखे तो यह दो पक्षीय प्रक्रिया दिखती है एक जो नेतृत्व करता है और दूसरा वो जो उसे स्वीकार कर व्यवहार करता है अर्थात् नेतृत्वकर्ता और अनुयायी।

वस्तुतः नेतृत्व की प्रक्रिया आदि काल से गतिमान है, ऐसा समाज का ऐतिहासिक विकासक्रम कहता है। वास्तव में देखा जाय तो नेतृत्व एक विश्वव्यापी प्रक्रिया दृष्टिगोचर

है। नेतृत्व की मौजूदगी से मानव समाज ही क्या; पशु समाज भी विरक्त नहीं है।

यद्यपि जहाँ मानव है वहाँ समाज है और जहाँ समाज है, वहा नेतृत्व है। ऐसा मेरा मानना है, यदि मानव एक सामाजिक प्राणी है तो उससे पूर्व वह एक जैविक प्राणी है। जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में लाने की प्रक्रिया "समाजीकरण" है तो निश्चय ही मानव आवश्यकताओं व संतुष्टि के पर्यावरण की उत्पादन 'मानव व्यवहार' का उत्कृष्ट सृजन, सुदृढ़ कार्यान्वयन, सहज संचालन व गम्भीर प्रभाव नेतृत्व प्रक्रिया का प्रतिफल है।

वर्तमान परिस्थिति में समाज के हर क्षेत्र में नेतृत्व की आवश्यकता महसूस होती है। इसकी आवश्यकता बराबर लोगों को पड़ती है किन्तु जब कोई प्राचीन या नवीन साहसिक कार्य व्यक्ति, समूह, संस्था, समाज या राष्ट्र के सम्मुख उपस्थिति होता है या ऐसी समस्या आती है जिसमें जोखिम भरा निर्णय समाहित हो तो ऐसी स्थिति में प्रत्येक से नहीं अपितु विशिष्ट व्यक्ति, समूह–संस्था, समुदाय या समाज या राष्ट्र ही आगे आकर उस साहसिक कार्य का श्रीगणेश करता है और जिसे हम नेता या नेतृत्वकर्ता की संज्ञा से संज्ञायित करते हैं। ऐसे में स्पष्ट है कि नेतृत्व एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जिसका सफल संचालन व कार्यान्वयन सुयोग्य नेतृत्वकर्ता के कंधो पर टिकी होती है। सुयोग्य नेता या नेतृत्वकर्ता के अन्दर शारीरिक एवं बौधिक कुशलता, रचनात्मक प्रवृत्ति, आत्म–विश्वास, धैर्य, साहस व सामाजिक गुणों की आवश्यकता होती है; और ये सभी जिसके अन्दर समाहित है वह सफल नेता या नेतृत्वकर्ता का भार उठा सकता है या यूं कहें कि ऐसे ही गुणों से सम्पन्न व्यक्ति सही अर्थों में एक सफल नेतृत्व प्रदान कर सकता है।

नेतृत्व संबंधी विद्वानों के व्यक्त विचारों–शोध निष्कर्षों से उद्भूत नवीन तथ्यों तथा वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में नेतृत्व की विवेचना करना इस इकाई के अन्तर्गत प्रस्तावित है। अग्रिम इकाई में इसके प्रकार संबंधी विश्लेषण किया जायेगा। नेतृत्व संबंधी सभी विवेचना वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकतानुसार ही किया जायेगा।

17.3 नेतृत्व का अर्थ एवं परिभाषा

समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा नेतृत्व संबंधी जिन विद्वान मनीषियों ने अपना मत व्यक्त किया है, उनमें सभी का यहाँ उल्लेख करना अत्यन्त दुरूह है तथापि उनमें से कुछ एक का नेतृत्व संबंधी कथन जो नेतृत्व को स्पष्ट समझने में मददगार साबित होगें वो अधोलिखित इस प्रकार है:–

लापीयर एवं फार्न्सवर्थ (Lapiere & Fransworth, 1949) " नेतृत्व वह व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को उससे कहीं अधिक प्रभावित करता है जितना कि उन सभी व्यक्तियों का व्यवहार नेता को प्रभावित करता है।"

लिण्डग्रेन (Lindgren, 1973) " समूह के ऐसे सदस्य को नेता कहा जाता है जो अपनी पसन्द के अनुसार अन्य सदस्यों को व्यवहार करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव डालता है।"

मैकाइवर एवं पेज (R.M. Maciver and C.H. Page) " नेतृत्व से हमारा तात्पर्य अनुसरण कराना या व्यक्ति को निर्देशित करना है जो कि चेहरे से नहीं व्यक्तिगत गुणों से आता है।"

डब्ल्यू.जी. स्प्रोट (W.G.H. Sprott) "कोई भी जो दूसरों के लिए आदर्श है, प्रायः एक नेता कहलाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषणोपरान्त स्पष्ट होता है कि ये उपर्युक्त विद्वान ये समझाने का प्रयास किया है कि नेतृत्व एक ऐसी शक्ति या प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति अपने व्यवहारों से अपने प्रभुत्व को अन्य दूसरे व्यक्तियों पर जमाता है या प्रभावित करता है या करने का प्रयास करता है लेकिन इस पूरी प्रक्रिया के अन्तर्गत वह सिर्फ प्रभावित ही करता है न कि प्रभावित होता है।

इस उपर्युक्त विश्लेषण से यह तथ्य उभरता है कि नेतृत्व के दो पक्ष है। एक वह जो नेतृत्व करता है अर्थात् नेता एवं अनुयायियों के मध्य परस्पर अन्तक्रिया का होना आवश्यक है और इस स्थिति में दोनों पक्ष एक दूसरे से प्रभावित होगे ही ऐसे में यह कहना तर्क संगत नहीं है कि नेतृत्व देने वाला दूसरे पक्ष से प्रभावित नहीं होता है।

यद्यपि मेरा मानना है कि अधिकांश परिभाषाएं नेतृत्वकर्ता अर्थात् नेता के सन्दर्भ में दृष्टिगोचर है न कि नेतृत्व के सन्दर्भ में, मेरे विचार से "नेतृत्व वह व्यवहार है जो किसी समूह या समाज या राष्ट्र आदि के सदस्यों में से ही किसी एक का ऐसा व्यवहार या कार्य जो दूसरों को मानने के लिए स्वतः ही बाध्य कर देता तथा दूसरा पक्ष उसे स्वेच्छा से मानता है। ऐसे प्रभुत्व सम्पन्न व्यवहार नेतृत्व कहा जा सकता है तथा ऐसा करने वाला सदस्य (राष्ट्र, समाज, समूह, समुदाय, व्यक्ति आदि हो सकता है) नेता के नाम से जाना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि नेता से हमारा तात्पर्य राजनैतिक नेता से नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि नेतृत्व एक ऐसी प्रक्रिया है जिनमें अन्तर्वैयक्तिक अन्तःक्रिया होती है। नेतृत्वशील व्यवहार अन्य व्यवहारों में उच्च माना जा सकता है, क्योंकि उस

व्यवहार या प्रभाव को तद्संबंधी सदस्य स्वेच्छा से मानते हैं, अनुकरण करते हैं। इतना ही नहीं नेतृत्व व्यवहार दूसरे व्यक्तियों की अभिवृत्तियों व क्रियाओं को निर्देशित व नियंत्रित करता है।

17.4 नेतृत्व की प्रधान विशेषताएँ

नेतृत्व में मुख्यतः निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती है–

1. नेतृत्व एक अन्तर्वैयक्ति प्रक्रिया है, क्योंकि नेता अपने अनुयायियों पर प्रभाव डालता है तथा अनुयायी अपने नेता पर प्रभाव डालते हैं।

2. नेतृत्व में प्रभुत्व का गुण समाहित होता है और सम्मान व प्रतिष्ठा नीहित होती है।

3. नेतृत्व में यह तथ्य भी अन्तर्निहित होता है कि दूसरे उसे स्वीकार करें।

4. नेतृत्व करने वाला व्यक्ति (नेता) दूसरे व्यक्तियों की अभिवृत्तियों व क्रियाओं को निर्देशित व नियन्त्रित करता है।

5. एक अच्छा नेतृत्व वह है जो समय, परिस्थिति व स्थान के अनुसार किया गया हो तथा ऐसा नेतृत्व देने वाला सदस्य ही एक सफल नेता होता है।

17.5 नेतृत्व एवं प्रभुत्व में अन्तर

नेतृत्व एवं प्रभुत्व दोनों में अन्तर है भले ही देखने में ये एक सा लगते हैं। नेतृत्व तथा प्रभुत्व के बीच आधारभूत अन्तर को स्पष्ट करने हेतु हमें पहले किम्बाल यंग के कथन को देख लेना उचित लगता है। **किम्बाल यंग** का कहना है कि –"प्रभुत्व एक ऐसी अनुक्रिया है जो दूसरों की मनोवृत्ति एवं क्रियाओं को प्रभावित करती है। अतः यह एक शक्ति साधन है जिसका उपयोग एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों एवं क्रियाओं को नियन्त्रित करने अथवा परिवर्तित करने के लिए किया जाता है"

अतः किम्बाल यंग के कथन से यह तथ्य उभरता है कि नेतृत्व की तरह प्रभुत्व में भी दो पक्ष होता है लेकिन नेतृत्व में अनुनय समाहित है जबकि प्रभुत्व में सत्ता या शक्ति का तत्व अन्तर्निहित होता है। अर्थात् "अनुयायी के बिना नेता की तो अधीनता के बिना प्रभुत्तव की कल्पना करना कल्पनातीत ही है"।

नेतृत्व एवं प्रभुत्व के मध्य अन्तर को और अधिक स्पष्ट हम इस प्रकार कर सकते हैं–

1. नेतृत्व में अनुनय के द्वारा दूसरों को प्रभावित किया जाता है, जबकि प्रभुत्व में सत्ता या अधिकार के तत्व समाहित होने के कारण अधिपत्य स्वरूप प्रभावित किया जाता है प्रभुत्व को स्वीकार करना बाध्यता होती है।

2. नेतृत्व में अनुयायियों के स्वेच्छापूर्वक समर्पण का भाव निहित है, जबकि प्रभुत्व में अनिवार्यता और डर की भावना निहित होती है।

3. नेतृत्व पारस्परिक उत्तेजना की प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत अनुयायियों का पारस्परिक प्रभाव तथा प्रतिक्रियाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है जबकि प्रभुत्व नियन्त्रण की एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत आने वाला अधिनत्व व्यक्ति का प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

4. नेतृत्व में सहकारिता की भावना अन्तर्विष्ट होती है जबकि प्रभत्तव में अधीनता की भावना समाविष्ट होती है।

5. नेतृत्व में प्रजातांत्रिक भावना समाविष्ट होती है जबकि प्रभुत्व में सामाजिक दूरी की भावना विद्यमान होती है।

17.6 सामाजिक संरचना एवं नेतृत्व

सामाजिक संरचना का आधार व्यक्तियों का आपसी सम्बन्ध है सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में स्पेन्सर, दुर्खीम, ब्राउन, इवांज, प्रिचर्ड, क्लॉड लिवी–स्ट्रास आदि मनीषियों का योगदान सराहनीय रहा है। विद्वत् है कि सामाजिक संरचना का प्रकार्य सामाजिक जीवन की प्रक्रियाएँ एवं गतिविधियाँ है। यदि सामाजिक संरचना की दृष्टि से देखें तो समाज प्रायः दो प्रकार का पहला–स्थिर समाज तथा दूसरा गतिमान समाज दिखता है। स्थिर समाज का आधार रीति–रिवाज और रूढ़ियाँ हैं तथा वर्गगत–जातिगत भेदभाव का वर्चस्व समाविष्ट है। इतना नहीं स्थिर समाज में सामाजिक बंधन की गांठ दृढ़ और संस्थाएं नियन्त्रित होती है जबकि गतिमान समाज परिवर्तनशील है, इसमें वर्ग–जाति का भेद नहीं है और न ही प्राचीन रूढ़ियों में विश्वास और न ही स्थिर समाज की तरह सामाजिक संबंध के बंधन ही दृढ़ होते हैं। किन्तु दोनों प्रकार के समाजों में नेतृत्व की प्रक्रिया एक ऐसी तत्व है जिसकी कुलशलता एवं योग्यता पर आवश्यकतानुसार सामाजिक परिवर्तन संभाव्य बन जाता है। तथापि यह देखा गया कि नेतृत्व करने की डोर प्रायः स्थिर समाजों में वर्ग, वंश, परम्परा विशेष से सम्बन्धित होने पर सौपी जाती है और गतिशील समाज में नेता का सम्बन्ध वंश, वर्ग, परम्परा विशेष से न होकर जन सामान्य से होता है। यही कारण है कि अस्थिर समाज में नेतृत्व की वागडोर अधिकांशतः कुशल एवं योग्य व्यक्ति के ही पास होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव जीवन दो प्रकार की सामाजिक संरचनाओं मं पल्लवित एवं पुष्पित होता है या होता रहा है। किन्तु इन दोनों सामाजिक संरचनाओं की विपरीत व भिन्न जीवन तरीके रहे हैं। इसी भिन्नता को सामाजिक संरचना की भिन्नता कहते हैं ऐसे नेतृत्व व नेता दोनों का इन दो संरचनाओं की परिधि में ही व्यवहार निर्धारण व उनका कार्यान्वयन होता रहता है किन्तु आज के वर्तमान युग में वैश्वीकरण के परिणाम स्वरूप नेतृत्व व सामाजिक संरचना संबंधी बड़े पैमाने पर आध ाारभूत परिवर्तन संभाव्य हुआ, नवीन प्रतिमान उद्भूत हुए हैं। विशेषकर परिवर्तन का रूप इन दोनों प्रक्रियाओं पर हमारी वर्तमान सभ्यता में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

17.7 नेतृत्व के सामान्य गुण

नेतृत्व के सामान्य गुण क्या है? एक सारगर्भित और कठिन प्रश्न है। इस प्रश्नगत् बिन्दु पर अनेक मनोवैज्ञानिक, समाजवैज्ञानिकों ने अपना – अपना मत व्यक्त किया है। **आल्पोर्ट** ने अपना मत रखते हुए कहा है कि नेता के सामान्य गुणों की संख्या 18 है जबकि **बोनार्ड** ने 28 तथा **बोगार्ड्स** ने 8 व **रीड** ने 10 गुणों का उल्लेख किया है।

इन उपर्युक्त विद्वानों के विचारों का अवलोकनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नेतृत्व के कुछ सामान्य गुण होते हैं। इस सामान्य गुणों में प्रमुखतया शारीरिक संरचनात्मक गुण और मनोवैज्ञानिक संरचनात्मक गुण या व्यक्तिवशील गुण के अन्दर रखकर देखना आसान प्रतीत होता है।

शारीरिक–संरचनात्मक गुण के पोषक मनोवैज्ञानिकों यथा टरमैन (1904), काल्डवेल (1953), स्टागडिल (1956), पैट्रिज (1961) आदि के शोध निष्कर्ष यह कहते हैं कि नेता ऊँचाई, वजन, स्फूर्ति, स्वास्थ्य, शारीरिक रंग आदि में अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है।'' जबकि यह सत्य नहीं है क्योंकि शारीरिक–संरचनात्मक गुण जो इन विद्वानों ने बतलाया है किसी तरह आज के परिवेश में तर्क संगत नहीं दिखता और न ही अपरिहार्य गुण ही दृष्टिगोचर हैं। यद्यपि नेतृत्व के सामान्य गुण में मनोवैज्ञानिक संरचनात्मक गुण जिसे व्यक्तित्वशील गुण भी कहा जा सकता है; में बुद्धि, आत्मविश्वास, प्रभुत्व कल्पनाशक्ति एवं दूरदर्शिता, संकल्पशक्ति, श्रमप्रियता, सामाजिकता, अन्तर्दृष्टि, परिवर्तनशीलता, समायोजन, उद्दीपकता आदि अन्तर्निहित गुण है।

प्रायः यह मनोवैज्ञानिक–संरचनात्मक गुण नेतृत्वकर्ता हेतु आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है और अधिकांश नेताओं में होते भी हैं। ऐसी मान्यता पूर्व के समाज मनोवैज्ञानिकों की रही है।

उपर्युक्त गुणों के आधार पर यह कहना कि नेताओं में सामान्य गुणों का एक 'सेट' होता है तर्काश्रित नहीं है। मेरा मानना है कि नेतृत्व का कोई सामान्य गुण नहीं है हॉ ये कुछ विशेषताओं को परिलच्छित कर सकते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति में समाज संबंधी आदर्शों, मूल्यों–मानदण्डों की परिधि में सामंजस्य बैठाने की कला का विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थित के सन्दर्भ में ही नेतृत्व व नेता को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

17.8 नेतृत्व का महत्व एवं उत्तरदायित्व

सामान्यतः किसी भी समाज में नेतृत्व की महत्वपूर्ण प्रसांगिकता रही है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति से नेतृत्व करने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है और न ही प्रत्येक व्यक्ति नेतृत्व के उत्तरदायित्व को सही ढंग से निभा पाता है। सही दिशा में नेतृत्व देना शारीरिक एवं बौधिक कुशलता, रचनात्मक प्रवृत्ति आत्म–विश्वास, धैर्य–साहस और अन्य सामाजिक गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति का कार्य है और ऐसे ही गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति सही व सुदृढ़ नेतृत्व प्रदान कर सकता है। कहा जाता है कि सही नेतृत्वकर्ता के कंधे पर ही तद्संबंधी समाज की विकास यात्रा सफल होती है। **एल.एल.वर्नाल्ड** ने तो नेतृत्व व्यक्ति को एक "महान् प्राकृतिक देन" तक माना है। जहाँ तक उत्तरदायित्व का प्रश्न है तो प्रतिउत्तर में हम यही कहेंगे कि जिस प्रकार नेतृत्व का गुण सभी में सामान्य नहीं होता उसी प्रकार नेतृत्व का दायित्व निर्वहन करना भी हर एक व्यक्ति से उम्मीद नहीं की जा सकती है। नेता जो नेतृत्व प्रदान कर रहा है का कुछ भी व्यक्तिगत नहीं रह जाता । एक प्रकार से देखे तो उसका जीवन समाज को समर्पित होता है। यही कारण है कि नेता का कंधा हमेशा सामाजिक उत्तरदायित्वों के भार तले दबा हाता है। इन तमाम उत्तरदायित्व भरे योग्यताओं का निर्वहन करते हुए सदैव आदर्शों का भी ख्याल रखना पड़ता है क्योंकि जन सामान्य का विश्वास एवं श्रद्धा का जो पात्र है। इ0एस0 बोगार्ड्स महोदय का कहना रहा कि नेता का पद इतना महत्वपूर्ण व उत्तरदायित्वपूर्ण है कि नेता की वैयक्तिकता का इसमें इतना मूल्य नहीं रह पाता जितना समाज के समाज सदस्य की व्यक्तिकता का रहा है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना में, सामाजिक जीवन में नेतृत्व का महत्व एवं उत्तरदायित्व महान है। नेता का जीवन सामुदायिक जीवन हेतु

समर्पित है वास्तव में उसका जीवन त्यागमय है। लेकिन ये सभी विश्लेषण के तथ्य आज के वर्तमान नेतृत्वकर्ताओं में अधिकांश नेतृत्वकर्ता उत्तरदायित्व भरे नेतृत्व का परित्याग करते दृष्टिगोचर हैं। मानवीय मूल्यों पर स्वार्थ एवं धन संग्रह के साथ वैयक्तिकता प्रधन भावनाओं की मोटी चादर बलवती रूप में चढ़ी प्रतीत होती है।

17.9 नेतृत्व में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारक

एक सफल नेता बनने के गुण की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है तथा यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि नेतृत्व एक अन्तर्वैयक्तिक प्रक्रिया है अर्थात् विशेषताएँ गुण, महत्व आदि की प्रसंगिकता संबंधी विवेचन पश्चात् नेतृत्व में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारकों की संक्षिप्त व्याख्या की आवश्यकता इसलिए महसूस की गयी कि सरलता से आम पाठक भी नेतृत्व को जान सके।

वस्तुतः नेतृत्व में अन्तर्निहित ऐसे मनोवैज्ञानिक कारकों में जो अति महत्वपूर्ण दिखते हैं वे अधोलिखित इस प्रकार है–

1. बुद्धि (Intelligence) : निर्देशन तथा नियन्त्रण का प्रबल माध्यम व रास्ता सुदृढ़ व स्वस्थ्य बुद्धि पर अवलम्बित है। बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो उत्पन्न समस्याओं का सरलता से हल करता है, समय, स्थान व परिस्थिति को ध्यान में रखकर सामाजिक मूल्यों–मानदण्डों व आदर्शो के अनुकूल एक नवीन मार्ग का विकासात्मक पथ तैयार करता है। इतना ही नहीं जीवन के प्रत्येक पक्ष का समन्वय शुद्धि–बुद्धि पर आधारित रहती है।

2. आत्म विश्वास (Self-conidence) : नेतृत्वकर्ता सर्वथा सामुदायिक जीवन को सर्वोपरि रखता है ऐसे में उसको दूरूह से दूरूह परिस्थिति में भी जनता का दिशा–निर्देशन करना होता है। विकट परिस्थिति में सही निर्णय व नेतृत्व प्रदान करने हेतु आत्म–विश्वास का होना अति आवश्यक है। आत्मक विश्वास से पूर्ण नेता ही सामान्यजन पर या अपने अनुयायियों पर शीघ्रता से प्रभाव छोड़ने में सफल होता है।

3. संकल्प शक्ति (Will-Power): नेता के अन्दर बुद्धि आत्म विश्वास के साथ संकल्प–शक्ति जैसे मनोवैज्ञानिक कारक का होना जरूरी है। क्योंकि यही गुण उसे अनुयायियों के बीच आदर्श का पात्र बना देती है। संकल्प शक्ति ही आभास कराती रहती है कि कठिन राह कैसे सरल व सहज बन जाती है।

4. कल्पना शक्ति (Imagination-Power): कल्पना शक्ति के आधार पर ही भविष्य के गर्भ में नीहित या छिपी सम्भावित परिस्थितियों के सन्दर्भ में एक सही

अनुमान लगाते हुए उत्पन्न परिस्थिति से सामना करने हेतु पूर्व तैयारी की जा सकती है।

5. अन्तर्दृष्टि (Foresight) : नेतृत्व का आवश्यक गुण अन्तर्दृष्टि की सहायता से नेता अपने अनुयायियों की मनोदशा एवं प्रतिक्रियाओं को सरलता से जान–पहचान पाता है। अन्तदृष्टि एक ऐसा गुण है जिसके आधार पर भविष्यगत समस्याओं की पहले ही अनुमान लगाया जा सकता है। सुरक्षात्मक कवच तैयार किया जा सकता है।

6. प्रत्यक्षीकरण: ज्ञान पर ही नेतृत्व की सफलता आश्रित है। ऐसे में नेता को उत्पन्न परिस्थिति का बहुमुखी ज्ञान होना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब वह प्रत्येक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापत करता हो।

7. प्ररेणा (Motivation): प्रेरणा से प्रयासों का आविर्भाव होता है तथा क्रियाओं को एक निश्चित लक्ष्य की ओर निर्देशन प्राप्त होता रहता हैं।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारकों की संख्या अधिक हो सकती है। हम वहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि नेतृत्व में मनोवैज्ञानिक कारकों का अति महत्वपूर्ण स्थान है। मनोवैज्ञानिक कारक अनुयायियों में भी होता है लेकिन नेता के मनोवैज्ञानिक कारक अन्य की तुलना में प्रबलतम् होते हैं।

17.10 नेतृत्व के सिद्धान्त (Theory of Leadership):

समाज मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों के सम्मुख प्रश्न आया कि क्या नेता जन्मजात होते हैं? एक व्यक्ति समूह का नेता कैसे बन जाता है? कैसे एक नेता एक परिस्थिति में प्रभावकारी तो दूसरे में प्रभावहीन हो जाता है? आदि प्रश्नों की बनती–विगड़ती श्रृंखला ने सोचने पर विवश किया। फलस्वरूप नेतृत्व के सम्बन्ध में सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। समयानुसार सिद्धान्त की प्रासंगिकता घटी, नवीन सिद्धान्त उद्‌भूत हुए और यह शिलशिला अनवरत जारी है। कारण की नेतृत्व की अवधारणा हीं बदलती रही है। नेतृत्व संबंधी प्रमुख सिद्धान्तों की श्रृंखला के कुछ सिद्धान्तों में अध्ययन की सुगमता हेतु दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखकर उनके विचारों को अवलोकित करने का प्रयास किया गया है।

17.10.1 गुण सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को महान–मानव सिद्धांत (Great man theory) के नाम से भी जाना जाता है। नेतृत्व की व्याख्या करने के प्रारम्भिक प्रयासों के परिणामस्वरूप इस

सिद्धान्त का सृजन हुआ। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि 'नेता जन्मजात होते हैं, बनाये नहीं जाते'' (Leaders are born and not made) इस सिद्धान्तकारों की मान्यता है कि महान–मानव या नेता जन्म से ही कुछ ऐसे विशिष्ट गुण लेकर आते हैं जिनके कारण वह अपने अनुयायियों से अधिक प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। ऐसे गुण सम्पन्न महान मानव–गाँधी, हिटलर, नेपोलियन, मार्टिन लूथर किंग आदि थे जो उनके अनुयायियों में नहीं थे। इन्ही गुणों के कारण ये लोग प्रभावकारी नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए।

गुण सिद्धांत की दो प्रमुख मान्यताएं हैं–

1. नेता जन्मजात नेता होता है और वह प्रत्येक परिस्थिति में नेता होगा।
2. नेता में कुछ असाधारण जन्मजात गुण होते हैं जो उन्हें अपने अनुयायियों से भिन्न कर देता है।

इस सिद्धांत पर वंशानुगत नेतृत्व को रखा जाता है। वंशानुगत नेतृत्व के उदाहरण आज की विश्व के कई राष्ट्रों में देखा जा सकता है। तथापि यह मानना है कि नेता जन्म से ही नेता होता है और नेता के गुण वंशानुगत होते हैं तर्कसंगत नहीं है। अनेक अध्ययनों यथा–कार्टर (1949) मेरी (1949), आदि से यह सिद्ध हुआ कि नेतृत्व जन्मजात समान्यगुण नहीं है और एक समूह व परिस्थिति में नेता होना इस बात की कोई गारंटी नहीं देता है कि वह अन्य समूह व परिस्थितियों में भी नेता होगा।

वस्तुस्थिति जो भी हो किन्तु आज भी इस सिद्धान्त की आंशिक प्रासंगिकता दृष्टिगोचर हैं। यदि राजनैतिक नेतृत्व की ही बात करें तो सभी दलों में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं, तथापि यह मान बठना की यह सिद्धान्त तर्कसंगत है, उपयुक्त नहीं है; क्योंकि अनेक ऐसी परिस्थितियाँ है जो नेता सृजन में सहायक रही है। परिस्थितियों संबंधी विवेचन आगे प्रस्तावित है। यहाँ मेरा सिर्फ यही प्रयास है कि गुण सिद्धान्त आज के परिवेश में प्रासंगिक है या नहीं, विवेचित करना।

अतः स्पष्ट है कि नेतृत्व संबंधी गुण सिद्धान्त महत्वपूर्ण अवश्य है किन्तु नेता बनने के सन्दर्भ में यह सब कुछ नहीं है। नेता बनने में परिस्थिति एवं सामाजिक अन्तर्क्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थात् नेतृत्व के उद्भव में व्यक्ति के गुणों के साथ समूह की वर्तमान परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यही कारण रहा कि आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिकों ने गुण सिद्धान्त को महत्वपूर्ण नहीं माना। फलस्वरूप परिस्थितिजन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ।

17.10.2 परिस्थितिजन्य सिद्धान्त

समाज मनोवैज्ञानिकों को जब यह लगने लगा कि शीलगुण सिद्धान्त के आधार पर नेतृत्व की समग्र व्याख्या करना समुचित नहीं है तो ये विकल्प की तलाश में निकले, फलस्वरूप पुनःविचार–विमर्श का दौर प्रारम्भ हुआ और इस विचार–विमर्श के अम्बु से परिस्थितिजन्य सिद्धान्त का रत्न उत्पन्न हुआ। इस सिद्धान्तवेत्ताओं का मानना है कि नेतृत्व उद्‌भव या अविर्भाव में व्यक्ति के शीलगुण का नहीं अपितु परिस्थिति की विशेषताओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। यह सिद्धान्त हमें यह बताता है कि "**नेता परिस्थिति की उत्पाद है न कि जन्मजात**।"

कार्टराइट एवं जेन्डर, 1953 का मानना रहा कि समूह का काई भी सदस्य नेता बन सकता है जिसके पक्ष में परिस्थितियाँ हो, वशर्ते समूह का वह सदस्य उस प्रकार्य को समाज या समूह के हित में सम्पादित कर सकें। प्रसिद्ध विचारक फेल्डमैन (1985, पेज 358) का मत है कि " कोई भी व्यक्ति एक परिस्थिति विशेष में ही नेता हो सकता है और दूसरे में नहीं, क्योंकि परिस्थिति की विशेषताओं में न कि व्यक्ति की विशेषताओं द्वारा नेतृत्व की प्राप्ति होती है।

अतः स्पष्ट है कि परिस्थिति सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार स्पष्ट कहा जा सकता है कि नेता पैदा नहीं होते, बल्कि परिस्थिति नेता बना देती है तथा समूह का कोई व्यक्ति नेता बन सकता है जो परिस्थिति से उत्पन्न प्रकार्य को समूह–हित में सम्पादित कर सकता हो साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ कि यह जरूरी नहीं है कि एक समूह का नेता दूसर समूह में भी नेता हो या उसका नेतृत्व कर सके।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त के विश्लेषणोंपश्चात् हम पाते हैं कि नेतृत्व के उद्‌भव या अविर्भाव की व्याख्या करने में सिर्फ व सिर्फ कोई एक सिद्धान्त अधुरापन का आभास कराता है क्योंकि एक सफल व सुदृढ़ नेता व नेतृत्व निर्माण में व्यक्ति के शीलगुण के साथ उचित परिस्थिति, आवश्यकता व वातावरण का महती भूमिका होती है। ऐसी वस्तुस्थिति में नेतृत्व की संतोषजनक व्याख्या दोनों सिद्धान्त के मिश्रण पश्चात् प्राप्त प्रासंगिक तथ्यों के आधार पर ही सम्भव है; उपयुक्त है, प्रसंगिक है।

उपर्युक्त नेतृत्व संबंधी विश्लेषणोपश्चात् हम कह सकते हैं कि "**व्यक्तित्वशील गुण और परिस्थितिजन्य कारकों का उत्पाद नेता व नेतृत्व है न कि जन्मजात**"।

17.11 नेतृत्व की विशिष्ट प्रकृति (Specific Nature of Leadership):

नेतृत्व की विशिष्ट प्रकृति ने निम्नलिखित तत्व या विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है।

1. नेता और अनुयायी दोनों एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं व प्रभावित होते रहते हैं। अतः "नेतृत्व, नेता तथा अनुयायियों के मध्य व्याप्त पारस्परिक व्यवहार प्रतिमान का द्योतक है।

2. नेतृत्व अनुयायियों के अधीन एक व्यक्तित्व की सार कथा है। नेतृत्व द्विमुखी विषय हैं।

3. नेता और अनुयायियों में से किसी एक के बिना नेतृत्व की कल्पना हास्यास्पद है।

4. नेतृत्व में अनुयायियों के स्वेच्छापूर्वक समर्पण का भाव नीहित होता है, नेतृत्व का जीवन ही अनुयायियों का सहयोग तथा सद्भावना पर निर्भर है।

5. प्रत्येक प्रकार के नेतष्त्व का सम्बन्ध एक विशिष्ट परिस्थिति से सम्बन्धित है।

अभ्यास 1: टिप्पणी लिखिए।

क. नेतृत्व के सिद्धान्त व महत्व।

.....

.....

ख. नेतृत्व और प्रभुत्व में अन्तर।

.....

.....

ग. नेतृत्व में अन्तर्निहित प्रमुख कारक।

.....

.....

17.12 सारांश

नेतृत्व एक अंतर्वैयक्तिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया है जिसमें समूह का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे को प्रभावित करता रहता है और इस प्रक्रिया में समूह का कोई

सदस्य ऐसा होता है जिसका प्रभाव अन्यत्र की तरह न होकर विशिष्ट हो जाता है कारण कि वह परिस्थिति जन्य स्थिति का समाना एक अलग कौशल से करता है। यही उसका गुण उसे दूसरों से अलग दिखाता है, इसमें उस व्यक्ति का गुणशील तत्व उत्कृष्ट होता है; जिसके बल पर वह उचित मार्गदर्शक का कार्य निष्पादित करने में सफल होता है। यही व्यक्ति उस समूह का नेता बन जाता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति जो नेता है दूसरी परिस्थित में दूसरे समूह का नेता बना रहे काई जरूरी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि नेता का उद्‌भव मूलतः समूह से सम्बन्धित कारकों द्वारा प्रभावित होता है। नेतृत्व की सामाजिक संरचना में महती भूमिका होती है। कारण कि यह सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन भी है। वस्तुतः जिस समूह में उपयुक्त नेतृत्व का आभाव है वह समाज या समूह या राष्ट्र आज की प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचने में असफल है।

जहाँ तक नेतृत्व के पक्ष का प्रश्न है ता इसके दो पक्ष नेता एवं अनुयायी हैं। नेतृत्व में हमेशा स्वेच्छा से स्वीकारने का गुण समाहित है और यहीं गुण उसे प्रभुत्व से भिन्न भी करता है। नेतृत्व में समय, स्थान, परिस्थिति व आवश्यकता जैसी स्थिति गुण की महती भूमिका होती है यही कारण है कि नेतृत्व संबंधी शारीरिक संरचनात्मक गुण और व्यक्तित्वशील या मनोवैज्ञानिक संरचनात्मक गुण मिलकर की एक सामान्य गुण–सेट नहीं बना पाते हैं, सहकारिता, प्रजातांत्रिक व स्वेच्छापूर्वक समर्पण की भावना से गृहीत नेतृत्व का महत्व एवं उत्तरदायित्व सामाजिक संरचना में अपना अलग स्थान रखता है अपनी उपयोगिता का आभास कराता है।

नेतृत्व संबंधी अब–तक के उपलब्ध सिद्धान्तों यथा–गुण सिद्धान्त, परिस्थिति सिद्धान्त में किसी एक के तथ्यों के आधार पर नेता व नेतृत्व की व्याख्या संतोषजनक नहीं है, इसके लए दोनों सिद्धान्तों के मिश्रित किन्तु विशिष्ट गुण–तथ्यों के आलोक में संतोशजनक व उपयुक्त होगी। क्योंकि 'व्यक्तित्वशील गुण और परिस्थितिजन्य–कारकों का उत्पाद नेता व नेतृत्व है न कि जन्मजात।

17.13 शब्दावली

नेतृत्वः नेतृत्व एक अन्तर्वैक्तिक प्रक्रिया है। नेतृत्व में प्रभुत्व का गुण समाहित है किन्तु यह प्रभुत्व का गुण निरपेक्ष एवं कठोर किस्म का नहीं होता और नेतृत्व को स्वीकारना दूसरे पक्ष की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः स्पष्ट है कि "नेतृत्व वह प्रभुत्व है जो दूसरे व्यक्तियों की अभिवृत्तियों और क्रियाओं को निर्देशित व नियन्त्रित करता है।"

प्रभुत्वः प्रभुत्व विशिष्ट अधिकार से युक्त ऐसा प्रभाव होता है जिसको मानने की बाध्यता की शर्ते युक्त प्रक्रिया से गुजरना ही पड़ता है और प्रभुत्तव प्रक्रिया के आलोक में आये नियमों के अनुरूप व्यवहार करना पड़ता है। यही कारण है कि नेतृत्व सरीखा प्रभुत्व तो दिखता है किन्तु सहकारिता की भावना की जगह प्रभुत्व में अधीनता की भावना समाविष्ट होती है।

परिस्थितिजन्यः एक ऐसा वातावरण जो किसी समस्या के तत्कालिक रूप से सम्बद्ध दृश्य का बोध करती है, प्रभावित करती है और एक नवीन संरचना निर्मित करती दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रशिक्षणः पद के अनुरूप भूमिका निर्वाह संबंधी आवश्यक तत्वों का गहराई के साथ अभिज्ञान करना व कराना।

17.14 उपयोगी ग्रन्थ

1. D. Kretch and R.S. Crutchfield " Theory and Problems of Social Psychology", Mcgraw- Hill Book Co. Inc. New York-1947.
2. R.T. La-Piere and P.R. Farnsworth, " Social Psychology", Mcgraw- Hill Book Co. Inc. New York, 1947
3. G. Lindzey (ed), " The Hand Book of Social Psychology- Addison WEsley, Cambridge, 1954.
4. S.S. Sargent, " Social Psychology," The Ronald Press Co. New York, 1950.
5. Kimball Yang," Handbook of Social Psychology," Routledge and Kegan Paul Ltd., London 1957.
6. T.M. New Coamb, Social Psychology, " Holt Dryden Book, Henry Holt and Co. Inc. New York 1950
7. S.G. Hulyakar, Jiandani and Kale, " Outlines of Social Psychology, " Kitab Mahal, Allahabad, 1956.

17.15 बोधगम्य प्रश्न

1. नेतृत्व से आप क्या समझते है? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. नेतृत्व की अवधारणा को परिभाषित कीजिए? नेतृत्व तथा प्रभुत्तव में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

3. नेतृत्व किस प्रकार सामाजिक नियंत्रण में प्रासंगिक है, स्पष्ट कीजिए?
4. नेतृत्व सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए?
5. नेतृत्व के शीलगुण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?
6. नेतृत्व के परिस्थितिजन्य सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए?
7. नेतृत्व के प्रमुख सामान्य गुणों का वर्णन करें?

17.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Lapiere & Fransworth, "Social Psychology", McGraw-Hill Book Co., New York, 1949, p.257.
2. Lindgren, "An Introduction to Social Psychology", 1973, p. 405.
3. Maclver R.H. and C.H. Page, "Society" Macmillan and com, London 1952, p.48.
4. Sprott, W.G.H.-"Social Psychology," Macmillan and Com., London, 1952, p.71
5. Young, Kimball, "Handbook of Social Psychology Routledge and Kegan Paul Ltd. London, 1957, p.25.
6. प्रो0 श्यामधर सिंह तथा अशोक कुमार सिंह, 'सामाजिक नियन्त्रण एवं सामाजिक परिवर्तन'', मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2004, पेज 26.
7. Bernard L.L., Introduction to Social Psychology, " CH. 34, Henry Holt, New York, 1926.
8. Boyardus E.S., "Leaders and Leadership," D. Appleton-Century, 1934.
9. प्रो0 श्यामधर सिंह एवं अशोक कुमार सिंह, ''सामाजिक नियन्त्रण एवं सामाजिक परिवर्तन'', मिश्रा ट्रेड़िग कारपोरेशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2004 पेज 271–272.
10. Feldman, "Social Psychology," 1985, p. 358.

इकाई 18 नेतृत्व के प्रकार (Types of Leadership)

18.0 उद्देश्य

18.1 नेतृत्व के प्रकार

18.1.1 सत्तावादी नेतृत्व

18.1.2 लोकतान्त्रिक नेतृत्व

18.1.3 करिश्माई नेतृत्व

18.1.4 निरंकुश नेतृत्व

18.2 समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा नेतृत्व का वर्गीकरण

18.2.1 क्रच तथा क्रचफिल्ड का वर्गीकरण

18.2.2 बोगार्ड्स का वर्गीकरण

18.2.3 किम्बल यंग का वर्गीकरण

18.3 निरंकुश और प्रजातान्त्रिक नेतृत्व में अन्तर

18.4 सारांश

18.5 शब्दावली

18.6 उपयोगी पुस्तकें

18.7 बोधगम्य प्रश्न

18.8 सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

18.0 उद्देश्य (Aim)

इस इकाई में हमने मानव समाज में सम्पन्न मानव व्यवहार के आलोक में नेतृत्व के प्रकार के विषय में विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत प्रकार पर ध्यान केन्द्रित किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपके लिए सम्भव होगा:

- समाजशास्त्रियों तथा समाज मनोवैज्ञानिकों ने किस प्रकार के नेतृत्व का वर्गीकरण किया है।
- नेता व अनुयायियों के सम्बन्धों के आधार पर नेतृत्व का कितना प्रकार वर्णित किया गया है,
- नेता की मान्यता के आधार पर नेतृत्व के प्रकार कौन–कौन हो सकते हैं

- समूह की नीतियों के आधार पर नेतृत्व वर्णन क्या इंगित करता है,
- अनुयायियों को प्रभावित करने की विधि के आधार पर नेतृत्व के मुख्य भाग क्या–क्या हो सकते हैं,
- नेतृत्व के प्रकारों में मुख्य निरंकुश और प्रजातान्त्रिक नेतृत्व के मध्य कौन तथ्य है जो इनकी भिन्नता का बोध कराते हैं,
- नेतृत्व की प्रविधियों में मुख्य दमन, प्रचार व कार्य प्रविधि किस प्रकार कार्य करती है, तथा

अतः उपर्युक्त तथ्यों से पाठक को परिचित कराना इस इकाई का मूल उद्देश्य है।

18.1 नेतृत्व के प्रकार (Types of Leadership) :

नेतृत्व के प्रकार सम्बन्धी विद्वानों के विचार एवं तद्सम्बन्धी शोध–ग्रन्थ के अवलोकन पश्चात् स्पष्ट होता है कि नेतृत्व के कोई ऐसे सर्वमान्य प्रकार का वर्णन या उस पर एकमतता नहीं दिखती जिस पर एक निश्चित आधार रेखा खींची जा सके या अमुख नाम से संज्ञापित किया गया हो। ऐसी वस्तुस्थिति में नेतृत्व के प्रकार सम्बन्धी विश्लेषण हेतु नेता, नेतृत्व, अनुयायी, व इन सभी के बीच सम्बन्ध आधार स्वरूप मान्यता, रूचि व प्रभावी विधि आदि को ध्यान में रखना एवं विद्वानों के वर्गीकरण आधार का वर्णन अति आवश्यक जान पड़ता है। अतएव समाजशास्त्रियों व समाज मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार से नेतृत्व का वर्गीकरण किया है; के मूल में जो प्रधान कारण परिलच्छित होता है वह यह है कि मानव समाज में व्यक्ति के कार्य व भूमिका आवश्यकता सापेक्ष बनती और बिगड़ती रही है ऐसे में कार्य व भूमिका के आधार को ही लिया जाय तो यह स्पष्ट कह सकते हैं कि सभी नेता एक जैसा नहीं होते और न ही नेतृत्व एक जैसा ही होगा। वैसे नेता व अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर नेतृत्व मुख्यतः चार प्रकार के – 1. हृदयग्राही नेतृत्व 2. प्रभुत्वशाली नेतृत्व 3. संस्थागत नेतृत्व और 4. विशेषज्ञों का नेतृत्व बतलाये गये हैं। उसी प्रकार नेता की मान्यता के आधार पर कहा गया है कि नेतृत्व को तीन प्रकारों – स्वतः नियुक्त, समूह नियुक्त तथा कार्यकारिणी द्वारा नियुक्त का उल्लेख किया जा सकता है। ठीक उसी क्रम में जब हम समूह की रूचि को आधार बनाते हैं तो हमें नेतृत्व के तीन प्रकार मिलते हैं 1. बौद्धिक नेतृत्व 2. कलात्मक नेतृत्व तथा 3. प्रबन्धकारी नेतृत्व। अनुयायियों को प्रभावित करने की विधि के आधार पर भी नेतृत्व के दो मुख्य प्रकार बतलाये गये हैं– 1. प्रजातन्त्रात्मक, तथा 2. निरंकुश नेतृत्व।

यद्यपि समाज वैज्ञानिकों ने नेतृत्व सम्बन्धी प्रकार के उल्लेख में अपना–अपना दृष्टिकोण का प्रयोग किया हैं। ऐसे समाज वैज्ञानिकों की श्रृंखलात्मक कड़ी लम्बी होने के कारण यहाँ सभी का वर्णन सम्भव नहीं है। अतः उनमें से कुछ का ही दृष्टिकोण, आधार व वर्गीकरण प्रकार वर्णित किया जा रहा है। साथ ही नेतृत्व के विभिन्न प्रकारों से हटकर हमने नेतृत्व को एक ऐसे प्रकारों में बाधने का प्रयास किया है जो पाठकों को सरलता प्रदान कर सके।

18.1.1 सत्तावादी नेतृत्व

सत्तावादी नेतृत्व को परिभाषित करते हुए क्रच तथा क्रचफिल्ड [1] ने कहा कि –" यह वह नेतृत्व है जिसके अन्तर्गत सत्तावादी नेता लोकतन्त्रवादी नेता की अपेक्षा अत्यअधिक निरंकुश शक्ति रखता है। वह अकेले ही नीतियों का निर्धारण, योजनाओं का निर्माण, पुरस्कार एवं दण्ड आदि को बनाता, बिगाड़ता एवं कार्यान्वयन करता है। इसीलिए सामूहिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य का निर्णय करता है।" सत्तावादी नेतृत्व के उदाहरणों में हम वंशानुगत राजतन्त्र प्रणाली को रख सकते हैं।

18.1.2 लोकतान्त्रिक नेतृत्व :

इसे प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व भी कहा जाता है। नेतष्त्व का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप भी कह सकते हैं। प्रजातन्त्रात्मक या लोकतान्त्रिक नेतृत्व वह है जिसमें नेता समूह के सभी सदस्यों के साथ मिल बैठकर गहन विचार–विमर्श पश्चात् किसी नीति व योजना का निर्माण व कार्यान्वयन करता है। अर्थात् इस नेतृत्व में उत्तरदायित्व केन्द्रित न होकर सदस्यों में प्रसारित रहता है। यही कारण है कि इनमें अन्तःसम्बन्धों को प्रोत्साहन मिलता है। इस नेतृत्व के सम्बन्ध में क्रच तथा क्रचफिल्ड का कहना रहा कि लोकतांन्त्रिक नेतृत्व में संस्तरणात्मक सामूहिक संरचना का परिहार होता है जिसमें विशेष सुविधाएं तथा परिस्थिति विभेदीकरण का प्रभुत्व होता है।" लोकतान्त्रिक नेतृत्व के उदाहरणों में जनमत द्वारा सृजित नेतृत्व को रखा जा सकता है।

18.1.3 करिश्माई नेतृत्वः

करिश्माई नेतृत्व न तो कसी विधि–विधान पर और न ही किसी परम्परा पर अवलम्बित होता है बल्कि यह किसी चमत्कार या करिश्मे पर आधारित होता है। करिश्माई या चमत्कारिक कार्यों से आशय ऐसे कार्यों से है जो अद्वितीय एवं असाधारण गुण से युक्त होते हैं। जिन व्यक्तियों में ऐसे गुण होते हैं वे इन गुणों के बल पर विलक्षण करामात दिखाते हैं। करिश्माई व्यक्ति कहे जाते हैं। ऐसे गुण सम्पन्न व्यक्ति का नेतृत्व आमजन द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे चमत्कारिक

व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्तियों में जादूगर, धार्मिक नेता, पीर, पैगम्बर, साई तथा असाधारण योद्धा आदि आते हैं।

विज्ञ है कि इस प्रकार का नेतृत्व मूलतः अस्थायी या क्षणिक समय का होता है, क्योंकि इस प्रकार का नेतृत्व लोग तभी तक स्वीकार करते हैं जब तक करिश्माई नेता अपनी विलक्षण शक्ति का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन करता रहता है और जब ऐसा नही कर पाता या असफल होता है त्योही ऐसे नेतृत्व व नेतृत्वकर्ता का पतन आरम्भ हो जाता है।

18.1.4 निरंकुश नेतृत्वः

निरंकुश नेतृत्व स्वेच्छाचारिता का द्योतक है। ऐसे नेतृत्व में सामान्यजन की भावनाओं, सुख सुविधाओं या समस्याओं के मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता बल्कि निरंकुश नेता अपनी इच्छानुसार सत्ता व प्रभुत्व को पास रखते हुए लोगो को आदेश देना अपना आधीन समझना अर्थात् उन्हें "**आदेश का दास**" समझता है। निरंकुश नेतृत्व में अधिकाधिक बड़े संकट और विघटनात्मक परिस्थितियाँ ही जन्म लेती है। ऐसे नेतृत्व का उदाहरण राजतन्त्र में अधिक और लोकतन्त्र में कभी कभार देखने को मिल सकता है।

18.2 समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा नेतृत्व का वर्गीकरण

समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा नेतृत्व सम्बन्धी वर्गीकरण की सूची लम्बी है जिन सभी का यहाँ वर्णन न कर उनमें से तीन वैज्ञानिकों क्रच तथा क्रचफिल्ड, बोगार्ड्स और किम्बल यंग का नेतृत्व वर्गीकरण दिया जा रहा है, जो अधोलिखित इस प्रकार हैः–

18.2.1 डी. क्रच तथा क्रचफिल्ड (David Krech and R.S. Crutchfield):

इन्होंने दो प्रकार के नेतृत्व की चर्चा की है पहला सत्तावादी नेतृत्व तथा दूसरा लोकतन्त्रवादी नेतृत्व।

सत्तावादी नेतृत्व के सन्दर्भ में इनका कहना है कि इस प्रकार के नेतृत्व के अन्तर्गत सत्तावादी नेता लोकतन्त्रवादी नेता की अपेक्षा अत्यधिक निरंकुश शक्ति रखता है। वह अकेले ही समूह की नीतियों का निर्धारण करता है वह अकेले ही सामूहिक क्रियाओं के अगले पदों एवं उत्तराधिकार के विषय में पूर्णतया सचेत रहता है। अर्थात् सामूहिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य का निर्णयकर्ता सत्तावादी नेता अपना कार्य मानता है। जबकि लोकतंत्रवादी नेतृत्व के अन्तर्गत लोकतन्त्रवादी नेता की शक्ति सत्तावादी से भिन्न नहीं होती किन्तु सामूहिक संरचना में उसकी भूमिका की प्रकृति भिन्न होती है। लोकतन्त्रवादी नेतृत्व में उत्तरदायित्व केन्द्रित नहीं होता बल्कि उसका समूह के सदस्यों के बीच प्रसारित होता हैं।

18.2.2 बोगार्ड्स का वर्गीकरण (Classification of Bogards):

बोगार्ड्स ने नेतृत्व के चार प्रकारों की चर्चा की है जो निम्नवत् इस प्रकार हैं–

1. **प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष नेतृत्वः** प्रत्यक्ष नेतृत्व से तात्पर्य ऐसे नेतृत्व से है जिसमें नेता अपने समूह के सदस्यों से प्रत्यक्ष सम्पर्क रखता है, उनकी हर इक समस्याओं का निदान चाहता है एवं करने का प्रयास करता है एवं उस पर नियन्त्रण रखता है। जबकि अप्रत्यक्ष नेतृत्व में नेता का सम्बन्ध अपने अनुयायियों के साथ अप्रत्यक्षता का होता है और अप्रत्यक्षता स्वरूप में ही वह समूह के सदस्यों को प्रभावित करता है एवं उन पर नियन्त्रण करता है।

2. **सपक्षीय एवं वैज्ञानिक नेतृत्वः** इस प्रकार के नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों या समूह या समाज के पक्ष में कार्य करता है और अपने ही अनुयायियों के समस्त अवगुणों को नजरअन्दाज करते हुए सिर्फ व सिर्फ प्रशंसाजनक पहलुओं की चर्चा करता है। अर्थात् दूसरे के सम्मुख अपने अनुयायियों को अच्छा सिद्ध करने का प्रयास करता है।

जबकि वैज्ञानिक नेतृत्व सपक्षीय नेतृत्व के बिल्कुल विपरीत नजर आता है क्योंकि वैज्ञानिक नेतृत्व में एक नेतृत्वकर्ता सत्य एवं न्यायप्रियता पर अवलम्बित बिन्दुओं पर अधिक बल देता है तथा अपने समूह या अनुयायियों के गुण–अवगुण दोनों पक्षों पर चर्चा करता रहता है। अर्थात् वैज्ञानिक नेतृत्व में नेतृत्वकर्ता अपने–पराये, अच्छे–बुरे का भेद किये बिना सिर्फ "सत्य की खोज" में लगा रहता है और इसी प्रकार के तथ्यों को प्रकाश में लाता हैं।

3. **सामाजिक, मानसिक एवं अधिशासी नेतृत्वः** सामाजिक नेतृत्व का तात्पर्य सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्यों से है। इसमें प्रायः प्रत्यक्ष सम्पर्क की बहुतायता होती है। जन सेवा ही इस प्रकार के नेतृत्वकर्ता का मूल विषय रहता है। सामाजिक समस्याओं का निदान वह खुले मंच पर ही करता है।

जबकि मानसिक नेतृत्व में नेतृत्वकर्ता अपने कार्यों के कुशल सम्पादन हेतु एकाकी व शान्तिपूर्ण वातावरण की चाह रखता है। इस प्रकार का नेतृत्वकर्ता अपने मानसिक विचारों से अपने सम्पर्क में आने वाले के मस्तिष्क पर अधिकार करता है तत्पश्चात् उनकी विचारों एवं क्रियाओं कों उन्हीं के द्वारा प्रभावित करता हैं। परिणामस्वरूप लोग कथनानुसार व्यवहार करने के लिए उत्प्रेरित हो जाते हैं।

लेकिन अधिशासी नेतृत्व में सामाजिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के नेतृत्व का गुण समाहित होता है। अतः इस प्रकार के नेतृत्व में नेतृत्वकर्ता अच्छे–बुरे गुणों को

छिपाना व उजागर करना समय व स्थान को ध्यान में रखकर करता है। अर्थात् शासन प्रबन्ध की योग्यता का गुण इस प्रकार के नेतृत्व का आवश्यक गुण दिखता है। ऐसा गुण जिस नेता में हो वह कुशल नेतृत्व प्रदान करता है।

4. निरंकुश, करिश्माई, पैतृक एवं प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्वः

निरंकुश नेतृत्व में नेतृत्वकर्ता सर्वेसर्वा की भूमिका में होता है। निरपेक्ष अधिकार से युक्त, दूसरों के सम्मुख उत्तरदायित्व से विरक्त होकर निरंकुश तरीके से बन्धनमुक्त व्यवहार करता है। अर्थात् अपनी इच्छा का पालन ही वह समस्त अधिकार व उल्लंघन पर दण्ड देना ऐसे नेता का मुख्य गुण बन जाता है। ऐसे में सम्बन्धित सदस्य समूह की हाँनि–लाभ की कोई विशेष चिन्ता उसे नहीं रहती है। वहीं करिश्माई या चमत्कारिक नेतृत्व जो असाधारण एवं अद्‌भूत कार्यों पर टिका होता है; में नेतृत्वकर्ता अपने प्रति या अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा के नाम पर अज्ञापालन का दावा करता है। विलक्षण अद्वितीय एवं असाधारण गुण के कारण लोग इस प्रकार के नेतृत्व को उत्तम मान स्वीकार करते हैं इस प्रकार के नेतृत्व के अन्तर्गत जादूगर, पीर, सन्त–महात्मा, मसीह, अवतरीय पुरुष आदि का नेतृत्व रखा जाता है। जबकि पैतृक नेतृत्व के अन्तर्गत नेता अपने अनुयायियों के लिए पिता तुल्य होता है। अनुयायियों क दिलों में इस प्रकार के नेता के प्रति अगांध प्रेम एवं आदर का भाव होता है। नेता सर्वथा जन–कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में सहकारिता की भागीदारी सुनिश्चित रहती है। प्रत्येक पक्ष के विचारों पर सामूहिक रूप से चर्चा होती है और किसी पर जबरजस्ती निर्णय नहीं थोपा जाता है। अर्थात् प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व "**सबका सबके द्वारा और सबके लिए**" होता है।

18.2.3 किम्बल यंग का नेतृत्व का वर्गीकरण (Kimball Young's Classification of Leadership):

किम्बल यंग ने अपनी पुस्तक "Handbook of Social Psychology (1957, p273) में जो नेतृत्व वर्गीकरण किया है उसमें नेता की मनोवृत्ति रूचि एवं विश्वास को प्रमुख माना गया है। यंग का मानना है कि नेता का कार्य उसके स्वयं के व्यक्तित्व से प्रभावित होता है। यंग इसी आधार पर वर्गीकरण किया है लेकिन नेता के प्रकारों का उल्लेख किया है न कि नेतृत्व का। अतः यंग के अनुसार सात प्रकार के नेता होते हैं जो इस प्रकार उल्लेखित हैं– राजनैतिक नेता, प्रजातन्त्रात्मक नेता, नौकरशाही नेता, कूटनीतिज्ञ, सुधारक, आन्दोलक एवं सिद्धान्तवादी नेता।

उपुर्यक्त समाज मनोवैज्ञानिकों के नेतृत्व सम्बन्धी वर्गीकरण के विश्लेषण पश्चात् यह कहा जा सकता है कि नेतृत्व की कोई निश्चित दिशा, श्रेणी, कार्य व पैमाना तथा गुण का सेट नहीं है और न ही नेतृत्व के प्रकार का एक निश्चित पैमाना व सेट है कि जिसके आधार पर नेतृत्व की एक आधारभूत व निश्चित संरचना–रेखा खींची जा सकें। तथापि नेतृत्व व तद्सम्बन्धी धारणाएँ व कार्य विश्लेषण हेतु आधारभूत तथ्य हैं। इस तथ्य से मुँख मोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि "नेतृत्व स्वयं में नेतृत्व होता है"।

18.3 निरंकुश नेतृत्व तथा प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में अन्तर

निरंकुश नेतृत्व एवं प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व के नेताओं के अधिकार, कार्य में अधिकाधिक समानता देखने को मिलती है किन्तु कार्य कर्यान्वित करने की विधियों में बड़ा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। अतएव दोनों तरह के नेतृत्व में मूल अन्तर समझने हेतु निम्नलिखित बिन्दुओं को आवश्यक हो जाता है।'

1. निरंकुश नेता स्वयं अकेले ही बड़ी से बड़ी नीतियों का निर्धारण एवं वृहद् योजनाओं का निर्माण करता है जबकि प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व का नेता छोटी से छोटी नीति व लखु योजनाओं में भी समूह के सदस्यों की राय लेता है, उन्हें महत्व देता है तथा उसी सामूहिक निर्णय को अपना निर्णय मानता है।

2. निरंकुश नेतृत्व में नेता अपने को समूह का सर्वसत्ताधारी संचालक मानता है वह समूह का केन्द्र बिन्दु होता है और उसके बिना समूह की सम्पूर्ण संरचना विनिष्ट हो सकती है जबकि प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में नेता अपने समूह का प्रतिनिध होता है और उसके बिना समूह की संरचना विघटित या विनिष्ट नहीं हो सकती है।

3. निरंकुश नेतृत्व में नेता एवं अनुयायियों के मध्य सामाजिक दूरी अधिकाधिक पायी जाती है जबकि प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में नेता एवं अनुयायियों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण सामाजिक दूरी अति न्यून होती है।

4. सत्तावादी नेतृत्व या निरंकुश नेतृत्व में नेता दमनकारी एवं आक्रमणकारी मनोवृत्ति का होता है जबकि प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में नेता अपने समूह के प्रति सहकारिता व सहानुभूति भावना से ओत–प्रोत रहता है और अनुयायियों का व्यवहार मित्रतापूर्ण दिखता है।

5. निरंकुश नेतृत्व का नेता 'फूट डालो और राज करो" की नीति पर अमल करना बेहतर जानता है और अपनी स्वेच्छा से किसी को दण्ड निर्धारण या पुरस्कार प्रदान करना अपनी शान समझता है। जबकि प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व का नेता अपने समूह के

सदस्यों को भागीदार बनाते हुए प्रशासनिक कार्यों को कार्यान्वित करता है और अपने समूह क किसी सदस्य को पुरस्कार या दण्ड देने की एक चरणबद्ध न्यायिक प्रक्रिया का पालन करता है क्योंकि वह जनमत के प्रति जवाबदेह होता है।

अभ्यास 1: टिप्पणी लिखिए।

क. नेतृत्व के प्रकार

.....

.....

ख. लोकतान्त्रिक नेतृत्वः

.....

.....

18.4 सारांश

नेतृत्व एक अंतर्वैयक्तिक अन्तःक्रिया की क्रिया है इसमें प्रत्येक सदस्य एक दूसर को प्रभावित करता है लेकिन समूह के सदस्यों में से कोई एक व्यक्तियों का प्रभाव सर्वश्रेष्ठ होता है। ऐसा सर्वश्रष्ठ प्रभावशाली व्यक्ति ही उस समूह का नेता बन जाता है और लोग उसके नेतृत्व को सहज ही स्वीकारोक्ति प्रदान कर देते हैं। नेतृत्व के कई प्रकार व स्वरूप दर्शित है। इस इकाई में हमने नेतृत्व प्रकार सम्बन्धी सामान्य वर्गीकरण के साथ मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्त विचारों के आलोक में कुछ प्रमुख के वर्गीकरण का विश्लेषण किया है। नेतृत्व के प्रमुख प्रकार सत्तावादी (निरंकुश) व प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व के बीच विभेदक तथ्यगत बिन्दुओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि नेतृत्व का सर्वोत्कृष्ट रूप या प्रकार लोकतन्त्रात्मक नेतृत्व है तथापि विश्व के कई राष्ट्रों में प्रजातन्त्रात्मक व निरंकुश नेतृत्व के उद्धरण आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाये हुए हैं, उनमें से कुछ एक हाल ही के वर्षों में नेस्तानबुद हुए या तद्सम्बन्धी जन समूह द्वारा नकार दिये गये तो कुछ में विरोध का स्वर बृहद रूप में गतिमान है। इस तथ्य को भी ध्यान में रखा जाना वर्तमान परिवेश में प्रासंगिक हो जाता है।

18.5 शब्दावली

नेतृत्वः किसी समूह, संस्था या क्षेत्र में ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति किसके निर्णय या विचारों का तद्सम्बन्धी समाज में समान्यजन द्वारा स्वीकारना और उस पर चलना या कार्य का कार्यान्वयन करना।

नेता–किसी भी क्षेत्र में अग्रणी वह व्यक्ति जिसके दिशा–निर्देश में उससे सम्बन्धित समूह के सदस्य रहने को स्वीकारोक्ति करते हैं।

निरंकुश– मनमाने, अतार्किक और समाजहित के विरूद्ध किया जाने वाला कार्य व तद्सम्बन्धी गतिविधियॉ।

लोकतान्त्रिक–"सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय" के सिद्धान्त पर क्रियान्वित सामुदायिक नेतृत्व

अभिवृत्ति–एक विशिष्ट क्षेत्र में झुकाव या सूक्ष्मदर्शिता का होना।

विचारधारा–विश्वासों, मनोवृत्तियों और विचारों की एक प्रणाली जो कि राजनीतिक पार्टी, समूह, परिवार अथवा व्यक्तिगत का मार्गदर्शन और दिशा–निर्देश करती है।

करिश्मा–असाधरण एवं अद्वितीय कार्य।

सपक्षीय–अपने समूह के अवगुणों का नजरअन्दाज करते हुए अन्य समूह से श्रेष्ठ समझने व रखने का प्रयास।

18.6 उपयोगी पुस्तकें

1. David Krech and Richard S. Crutchfield, " Theory and Problems of Social Psychology, McGraw Hill Book Co, New York, 1948..
2. Kimball Young, " Handbook of Social Psychology" Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1957.
3. R.T. La-Piere and P.R. Farnsworth, "Social Psychology" McGraw Hill Book Co, New York 1949.
4. R. Lippitt, "An Experimental Study of the Effect of Democratic and Authoritarian Group Atmosphere", 1940.
5. D. Klinberg, "Social Psychology" Henry Halt and Co; New York, 1960..
6. प्रो0 श्यामधर सिंह एवं डॉ0 अशोक कुमार सिंह, "सामाजिक नियन्त्रण एवं सामाजिक परिवर्तन" मिश्र–ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, 2004
7. रवीन्द्र नाथ मुखर्जी, ' सामाजिक मनोविज्ञान की रूप रेखा, " किताब महल इलाहाबाद 1977.
8. अरूण कुमार सिंह, "समाज मनोविज्ञान की रूप रेखा" मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1991.
9. सरयु प्रसाद चौबे, ' आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के मूल तत्व" कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, 2002.

10. डॉ0 रमेश चन्द्र तिवारी, "मानव विकास की प्रक्रिया, "संजय प्रकाशन, लक्ष्मीकुण्ड, वाराणसी, 1997.

18.7 बोधगम्य प्रश्न

1. नेतृत्व के विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए?
2. सत्तावादी नेतृत्व किसे कहते हैं सोदाहरण स्पष्ट करें?
3. निरंकुश नेतृत्व एवं लोकतान्त्रिक नेतृत्व में मूल अन्तर स्पष्ट करें?
4. करिश्माई नेतृत्व अन्य नेतृत्वों से किस प्रकार भिन्न है। स्पष्ट करें?
5. नेतृत्व वर्गीकरण पर बोगार्ड्स के विचार स्पष्ट कीजिए?

18.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Krech, Devid and Rechard S. Crutchfield, " Theory and Problems of Social Psychology, McGraw Hill Book Co, New York, 1948, p 423.
2. Ibid.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MSW-112

व्यक्तित्व एवं
असामान्य व्यवहार

खण्ड

4

सामान्य एवं असामान्य व्यवहार

इकाई-19 5
सामान्य तथा असामान्य व्यवहार की अवधारणा एवं अन्तर

इकाई-20 21
असामान्य व्यवहार के लक्षण

इकाई-21 36
असामान्य व्यवहार के कारण

इकाई-22 54
असामान्य व्यवहार के प्रकार

इकाई-23 71
मानसिक असंतुलन का प्रबन्धन

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो० एम० पी० दुबे	कुलपति - अध्यक्ष

विशेषज्ञ समिति

प्रो० एस० त्रिपाठी	अवकाश प्राप्त, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० ए०एन०सिंह	विभागाध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो० अरविन्द जोशी	समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ० अल्का वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

परिमापक

प्रो० बालेश्वर पाण्डेय	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो० जय कान्त तिवारी	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लेखक

डॉ० नेहा काला	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० डी० के० सिंह	प्रोफेसर,समाजकार्य विभाग, लखनऊ विशवविद्यालय, लखनऊ।
डॉ० संदीप गिरि	असि० प्रोफेसर, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

समन्वयक

डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रकाशक

प्रो०(डॉ०) जी०एस०शुक्ल	कुलसचिव,उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई हैं। विश्वविद्यालय इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

चतुर्थ खण्डः सामान्य एवं असामान्य व्यवहार

खण्ड परिचय :

चतुर्थ खण्ड मानव व्यवहार के प्रारूप–सामान्य एवं असामान्य व्यवहार से सम्बन्ध है जिसके अन्तर्गत कुल 5 इकाईयां हैं। इकाई 19 के अन्तर्गत सामान्य एवं असामान्य की परिभाषा एवं लक्षणों को स्पष्ट करते हुए सामान्य एवं असामान्य व्यवहार में अन्तर बताया गया है। इकाई 20 में विशिष्ट रूप से असामान्य व्यवहार के लक्षणों का उल्लेख करते हुए संवेगात्मक, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, व्यवहार एवं चिन्तन सम्बन्धी विकृतियों की विवेचना की गई है। इकाई 21 में असमान्य व्यवहार के कारकों पर प्रकाश डालते हुए कारणों की खोज में कठिनाईयां, सामान्य कारक वंशानुक्रम एवं सामाजिक विकास से सम्बन्धित कारकों की विवेचना की गई है। इकाई 22 के अन्तर्गत असामान्य व्यवहार की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए असामान्यता के विविध प्रकारों एवं मनोविदलता की विवेचना की गई है। इकाई 23 के अन्तर्गत मानसिक असन्तुलन के प्रबन्धन एवं उपचार पद्धतियों के विविध स्वरूप–मनोसामाजिक, जैविक, मनोचिकित्सात्मक, सामाजिक, सहायक पद्धतियों की विवेचना की गई है।

इकाई 19: सामान्य तथा असामान्य व्यवहार की अवधारणा एवं अन्तर Normal and Abnormal Behaviour: Concept and Difference

इकाई की रूपरेखा:

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 सामान्य का तात्पर्य

19.3 व्यवहार का अर्थ

19.4 सामान्य का अर्थ एवं परिभाषा

19.5 असामान्य को दर्शाने वाले विभिन्न शब्द

19.6 सामान्यता एवं असामान्यता सम्बन्धी दृष्टिकोण

19.7 असामान्य सम्बन्धी विभिन्न प्रारूप

19.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको सामान्य एवं असामान्य व्यवहार का अर्थ, परिभाषा एवं दृष्टिकोणों तथा प्रारूपों की जानकारी प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त आप मानव व्यवहार एवं उससे जुडी विभिन्न समस्याओं के विषय में जानकरी प्राप्त कर सकेगें।

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

1. सामान्यता एवं असामान्यता की प्रकृति को समझ सकेगें।
2. सामान्यता एवं असामान्यता से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टि कोणों को जान सकेगें।
3. असामान्यता सम्बन्धी विभिन्न प्रारूपों को समझ सकेगें।

19.1 प्रस्तावना

सामान्यता एवं असामान्यता दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सफलता ने जहॉ एक ओर समस्याओं का समाधान किया है वहीं दूसरी ओर गम्भीर समस्याऐं सामने खड़ी की हैं। चिकित्सा विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप जनसंख्या विस्फोट हो रहा है। दम्पत्तियों द्वारा आर्थिक गतिविधियों के सम्पादित किये जाने के कारण बच्चों की

देखभाल एक समस्या बन गयी है।

मूल्यों की दृष्टि, उसकी अस्थिरता, आवश्यक वस्तुओं की कमी तथा अभाव, जीवन की सामान्य क्रियाओं में भी आवश्यक गतिरोध, कार्य करने के सीमित अवसरों के कारण भविष्य की चिन्ता आदि ऐसी परिस्थितियों से जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है जिसके फलस्वरूप मानसिक तनावों का निर्माण होता है और मानसिक उत्पीड़न बढ़ता है।

साधारणतया असामान्य व्यक्ति का व्यवहार अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है ऐसे व्यक्ति को सामाजिक पर्यावरण में अपने को समायोजित करने में कठिनाई होती है वह प्रायः दुखी एवं अप्रसन्न रहता है। उसका दृष्टिकोण एकांकी होता है जिसके कारण समस्या समाधान करने में विशेष कठिनाई अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व अस्थिर, संवेग अस्पष्ट तथा बुद्वि सीमित होती है उसका प्रत्यक्षीकरण उचित नही होता है। सामान्य से कम अथवा ज्यादा को असामान्यता ही कहा जायेगा अतः प्रत्येक परिस्थितियों में असामान्यता का नकारात्मक अर्थ ग्रहण नही किया जाना चाहिये।

19.2 सामान्य तथा असामान्य व्यवहार (NORMAL AND ABNORMAL BEHAVIOUR)

विज्ञान एवं तकनीकि प्रौधोगिकी की सफलता ने जहाँ एक ओर समस्याओं का समाधान करके जीवन को सरल तथा सुखी बना दिया है, वहीं दुसरी ओर गम्भीर समस्यायें कथानक रुप धारण कर सामने आ खड़ी हुई हैं। आर्थिक विभेद, बेरोजगारी, गरीबी तथा स्वार्थपरता में बढोत्तरी प्रौद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप हुई है। चिकित्सा विज्ञान की उन्नति के कारण जनसंख्या में विस्फोट हो रहा है। उसके परिणाम स्वरुप सामाजिक समस्यायें निरन्तर जटिल होती जा रही हैं। प्रजातीय पूर्वाग्रह, श्रेष्ठता की भावना, विभेदीकरण, अव्यवहारिकता, स्वार्थपरता आदि दुर्गुणों ने जीवन को कष्टमय बना दिया है। तीव्र स्पर्धा, लालफीताशाही, जातीयता जैसे सामाजिक विकारों के फलस्वरूप मनुष्य में चिन्ताओं का संचयीकरण हो रहा है। गाँवों में भूमिहीन कृषि मजदूरों के रूप में कार्य करने वाले लाखों लोग शहरों के कारखानों में कार्य करने लगे हैं। जिसके कारण परिवार की भूमिका में फर्क आया है तथा पारिवारिक बन्धन कमजोर होते जा रहे हैं। परम्परागत मूल्यों तथा विश्वासों में विभेद आता जा रहा है। आज का व्यक्ति परम्परागत मूल्यों एवं विश्वासों को संदेह दृष्टि से देखता है। वह प्राचीनतम स्वीकृत मान्यताओं के विषय में पश्नवाचक हो गया है। दुर्भाग्य इस बात का है कि वह व्यक्ति से सम्बन्धित ज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ गया है। हम अणु तथा जीन्स के विषय में तो जान गये हैं परन्तु प्रेम तथा नैतिक मूल्यों की कितनी आवश्यकता है, नहीं पता लगा सके हैं। वास्तव में मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत कम है। यही कारण है कि

हम चारों ओर व्यक्तियों को चिन्तित, अप्रसन्न, तथा भयातुर पाते हैं। वर्तमान समाज में यद्यपि प्रति व्यक्ति आय में बढोत्तरी हुई है परन्तु क्रय क्षमता में कमी आयी है। आर्थिक कठिनाइयाँ दिनोंदिन व्यक्ति को कसती जा रही है। इस कारण पति तथा पत्नी दोनों ही आर्थिक गतिविधियों में उतर आये हैं। परन्तु कार्य–व्यस्तता के कारण बच्चों की देखभाल एक समस्या बन गयी है। बच्चों को माँ की ममता तथा पिता का स्नेह यथोचित नहीं मिल पाता है। मूल्यों में वृद्धि, उनकी अस्थिरता, आवश्यक वस्तुओं की कमी तथा अभाव, जीवन की सामान्य क्रियाओं में भी आवश्यक गतिरोध, कार्य करने के सीमित अवसरों के कारण भविष्य की चिन्ता, आदि ऐसी परिस्थितियों से जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है जिससे कठोर मानसिक तनावों का सृजन होता है और व्यक्ति के मानसिक उत्पीड़न में वृद्धि होती है।

1 समस्या की जटिलता (Conplexity of problem)

आज विश्व के सभी देश मानसिक स्वास्थ्य के लिए चिन्तित हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उन्नति के साथ–साथ मानसिक रोगियों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है, यही कारण है कि अमरीका जैसे आर्थिक एवं भौतिक रूप से समृद्ध देश में मानसिक रोगियों की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। वहाँ प्रति 20 व्यक्तियों में 1 व्यक्ति मानसिक रोग के कारण चिकित्सालय में भर्ती न होकर अपने मानसिक रोग की चिकित्सा प्राइवेट चिकित्सालयों में कराते देखा जाता है। वहाँ के चिकित्सालयों में भर्ती हुये सभी रोगियों में से आधे रोगी 'साइकोसिस' से पीड़ित होते हैं। प्रति वर्ष लगभग एक लाख व्यक्ति चिकित्सालय की शरण लेते हैं। 1 हमारे देश में भी यह समस्या उग्र होती जा ही है। यह ठीक–ठीक बताना मुश्किल है कि कितने व्यक्ति इस समस्या से ग्रसित हैं, कठिन है क्योंकि मानसिक चिकित्सालयों की कमी, अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास और परम्परागत मूल्यों के कारण रोगी चिकित्सालय में भर्ती नहीं हो पाते हैं, परन्तु ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारत में 80–90 लाख मानसिक रोगी हैं, जिन्हें मनोचिकित्सीय सेवाओं की आवश्यकता है। इस प्रकार चिकित्सक तथा मनोरोगियों में 1 और 14000 का अनुपात है। इस समय मानसिक रोगियों की चिकित्सा के लिए 45 मानसिक चिकित्सालय हैं तथा 25000 रोग शय्यायें हैं। वाह्य रोगी सेवायें 43 चिकित्सालयों में उपलब्ध है लेकिन भर्ती की सुविधा 45 चिकित्सालयों में हैं। 20 बाल निर्देशन क्लीनिक हैं। 8 पुनर्वास केन्द्र, 6 मदिरा तथा नषा के रोगियों को ठीक करने के केन्द्र, 10 फालोअप जीरियासाइक्याट्रिक क्लीनिक हैं। वर्तमान समय में 316 मानसिक रोग चिकित्सक, 111 मनोवैज्ञानिक, 52 व्यवसायिक चिकित्सक, 99 समाजकार्यकर्ता तथा 911 नर्सें हैं।

2. सामान्य का तात्पर्य (Meaning of Normal)

'सामान्य' शब्द अंग्रेजी भाषा के नारमल (Normal) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। नारमल शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के नारमा (Norma) शब्द से हुई है जिसका तात्पर्य होता है–बढ़ई का वर्ग (Carpenter's Square) अतः इस शब्द का अर्थ नियम, कार्य का स्तर, प्रतिमान आदि लगाया जाने लगा है।

19.3 व्यवहार का अर्थ (Meaning of Behaviour)

शरीर में विभिन्न अंग एवं भाग हेते हैं जो स्नायु संस्थान द्वारा एकीकृत होकर कार्य करते हैं। अर्थात उनका पृथक–पृथक केवल अस्तित्व होता है परन्तु कार्यात्मक विशेषता संगठित होती है। इस प्रकार की शरीर की पूर्णता को अवयव (Organism) कहते हैं। इस अवयव की प्रतिक्रियाओं तथा अभिव्यक्तियों को मानसिक कहते है। दूसरे शब्दों में व्यवहार अवयव के शारीरिक एवं मानसिक पक्षों की अभिव्यक्त का परिणाम है। अतः सामान्य व्यक्ति वह है जो सामाजिक नियमों का पालन करते हुये अपने कार्यों को सफलतापूर्वक कर लेता है तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार अपने व्यवहार को परिवर्तित करने की योग्यता एवं क्षमता रखता है। सामान्य व्यक्तित्व की निम्न विशेषतायें होती हैं:

1. यथेष्ट सुरक्षा की भावना (Adequate feeling of security)

जो व्यक्ति समाज से अपना पूर्ण समायोजन करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन कर सकता है वह सामान्य व्यक्ति होता है। उसमे असुरक्षा की भावना नहीं होती है। उसके मन में किसी भी प्रकार की शंका अथवा सुरक्षा की चिंता नहीं होती है। वह परिस्थिति का सामना करता है तथा समस्या का उचित प्रत्यक्षीकरण करता है। परन्तु वर्तमान युग में जहाँ सामाजिक, सांस्कृतिक, भौतिक, नैतिक, आदि परिवर्तन इतनी तीव्र गति से हो रहे हैं कि व्यक्ति को समझना सरल नहीं है कि वह किस प्रकार अपने व्यवहार में परिवर्तन लायें जिससे उसके अस्तित्व की सुरक्षा बनी रहे।

यह प्रश्न उसके लिए अत्यन्त गम्भीर हो गया है। जैसे–जैसे गांवो से शहर की ओर, धार्मिकता से भौतिकता की ओर तथा परम्परागत मूल्यो के पश्चात मूल्यों की ओर बढ़ रहा है वैसे–वैसे उसमें असुरक्षा की भावना स्थायी होती जा रही है। परन्तु ऐसा व्यक्ति असामान्य नही होता है क्योंकि उसमे चिंतित होने का उपर्युक्त कारण होता है लेकिन जब व्यक्ति चितिंत रहता है असुरक्षा अनुभव करता है और उसका कोई कारण नही खोज पाता है या आवश्यकता से अधिक चिंता करता है तो असामान्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

2.वास्तविक जीवन लक्ष्य (Realistic Life goal)

प्रत्येक व्यक्ति एक जीवन का लक्ष्य बनाता है इस लक्ष्य का जीवन निर्धारण परिवार के सदस्यों तथा समाज के साथ संबध स्थापित करने पर ही सम्भव होता है यही कारण है कि एक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य दूसरे से भिन्न होता है जीवन लक्ष्य के निर्धारण होने पर व्यक्ति अपने व्यवहार का प्रदर्शन तदनुसार करता है और उन लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार के व्यक्ति के जीवन में लक्ष्य उसकी प्रेरणा के स्त्रोत बन जाते है और क्रियाओं हेतु चालक का कार्य करते है, परन्तु जीवन लक्ष्यों का निर्धारण स्वयं एक समस्या है, क्योंकि व्यक्तिगत विशेतायें निर्णय की क्षमता, प्रत्यक्षीकरण की योग्यता, साधनों की खोज की शक्ति, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति आदि जीवन लक्ष्यों को प्राप्त करने में अतुलनीय भूमिका निभाती है सामान्य व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारण अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार करता है। उसके उद्देश्य सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शो के अनुरूप होते है। वह दिवा स्वप्न नही देखता तथा हवाई किले नहीं बनाता। असामान्य व्यक्ति वह होता है जो अपनी योग्यताओं, क्षमताओं, शक्तियों, सामर्थ्य एवं साधनों का मूल्यांकन किये विना लक्ष्य स्थापित कर लेता है जो उसकी पहुँच से परे होते हैं।

3. वास्तविकता से प्रभावपूर्ण सम्पर्क (Efficint Contact with Reality)

व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता वास्तविकता को समझने की क्षमता होती है वह वस्तुस्थिति का उचित प्रत्यक्षीकरण करता है और तदनुसार व्यवहारिक परिवर्तन लाता है। जिस समय बालक का जन्म होता है उस समय अन्तर करने की क्षमता नही होती है। परन्तु जैसे–जैसे बड़ा होता जाता है वह मानवीय तथा अमानवीय वस्तुओं में भेद करने लगता है। उसमें अन्तर करने की क्षमता का विकास संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण द्वारा संम्भव होता है। प्रत्यक्षीकरण में कभी–कभी त्रुटियां होती हैं। इन त्रुटियों के कारण व्यक्ति की उस समय की मानसिक स्थिति, वस्तु के विषय में अपर्याप्त ज्ञान तथा वस्तु के विशेष गुण होते हैं। सामान्य व्यक्ति का उचित प्रत्यक्षीकरण होता है। वह समय की वास्तविकता को समझता है। प्रत्यक्षीकरण की अज्ञानता के कारण ही व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है तथा उसको असामान्य कहा जाता है।

4.यथेष्ठ स्वतः स्फूर्ति (Adequatr Spontaneity)

सामान्य व्यक्ति अपनी समस्याओं को सुलझाने की पर्याप्त क्षमता रखता है वह कठिनाइयों को जीवन का अंग समझकर उनको दूर करने के उपाय खोजता है तथा अनावश्यक तनाव एवं दबाव नहीं अनुभव करता है। साधारण एवं सामान्य परिस्थितियों में वह दूसरों की सहायता नही लेता है। इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति समस्याओं को

समझने का पूरा प्रयास ही नही करता है साधारण सी बात के लिए वह दूसरो की सहायता चाहता है। उसमें निर्णय की कमी होती है। उसमें इतना आत्मिक बल नहीं होता है कि वह समस्या को दृढता से सामना करे सकें।

5.समुचित संवेगात्मकता (Approprate Emotionality)

संवेगात्मकता के द्वारा व्यक्ति अपने मानसिक संघर्ष एंव तनाव को कम करता है। संवेग शब्द किसी भी प्रकार से आवेश मे आने, उत्तेजित होने अथवा भड़क उठने की दशा को सूचित करता है संवेग के अन्तर्गत भाव आवेग तथा शारीरिक एवं दैहिक सभी प्रतिक्रियायें आती है। किसी भी व्यक्ति के संवेग वाहय उत्तेजना द्वारा किसी वाहय विषयवस्तु अथवा घटना द्वारा जाग्रत किये जाते है सामान्य व्यक्ति अपने संवेगो (क्रोध, प्रेम, प्रसन्नता, भय, प्रतिशोधात्मकता, दुख, सुख आदि) की अभिव्यक्ति सामान्य ढंग से करता है। संवेग अभिव्यक्ति की सीमा उतनी ही होती है जितनी आवश्यकता होती है। सामान्य व्यक्ति में संवेगों की अभिव्यक्ति समयानुसार नही होती है।

6.आत्म मुल्याँकन की उचित मात्रा (Reasonable degree of self evaluation)

मूल्यांकन एक निर्णय करने शक्ति है जो निश्चित करती है कि व्यक्ति का क्या उत्तरदायित्व है, उनको पूरा करने की कितनी क्षमता है, क्या–क्या शक्तियॉ है, क्या–क्या कमजोरियां है कौन से कार्य रचनात्मक सहयोग प्रदान करते है तथा कौन से कार्य समस्या को जटिल बनाते हैं इस प्रकार मूल्यांकन दार्षनिक एवं नैतिक ज्ञान है सामान्य व्यक्ति में इतनी क्षमता होती है कि वह अपनी शक्तियों एवं कमजोरियों को उचित मूल्यांकन कर लेता है। सामान्य व्यक्ति में इस योग्यता का अभाव होता है।

7. पूर्व अनुभवों को सीखने की योग्यता (Ability to learn from past experiences)

व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भ से ही सीखना प्रारम्भ कर देता और जीवन पर्यन्त सीखता ही रहता है प्रारम्भ में वह असहाय होने के कारण दूसरों पर निर्भर रहता है परन्तु धीरे–धीरे अपने व्यवहार को पर्यावरण के अनुकूल डालने का प्रयास करता है। उसके सीखने की प्रक्रियाओं में दो मुख्य तत्व निहित होते हैं (1) परिपक्ता (2) अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता व्यक्ति निरीक्ष्ण सूझ, अनुकरण आदि के द्वारा अपने पूर्व अनुभव से लाभ प्राप्त करता है सामान्य व्यक्ति में पूर्व अनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता एवं योग्यता होती है। वह पूर्व अनुभव को ध्यान में रखकर समान परिस्थिति से निपटने का प्रयत्न करता है। असामान्य व्यक्ति में यह गुण नहीं पाया जाता है वह बार–बार अपने ही ढंग से परिस्थिति से निपटने का प्रयत्न करता है जिससे उसे निराशा हाथ लगती है।

8,अपनी वैयक्तिता को बनाये रखने के साथ ही साथ समूह की आवष्यकता को पूरा करने की योग्यता (Maintaning one's individuality and ability tosatisfy the needs of the group)

सामाजिक व्यक्ति की तीन मुख्य विशेषतायें होती हैं–जागरूकता, अपने प्रति ज्ञान तथा समूह के प्रति ज्ञान। सामान्य व्यक्ति वह है जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करे, अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान रखकर व्यवहार करे तथा समूह के साथ अपना अर्थपूर्ण संबध बनाये रखे। असामान्य व्यक्ति का दृष्टिकोंण एंकाकी होता है। वह समूह को अपनी इच्छा पूर्ति में बाधा समझता है।

9.व्यक्तित्व का एकीकरण एवं स्थायित्व (Integration of consistency of personality)

जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व संगठित होता है उसमें सहकारिता की भावना होती है, समाज सेवा की प्रवृत्ति होती है अपने साथियों के साथ अच्छा व्यवहार करता है, विपरीत लिंग वाले व्यक्तियों के साथ अच्छा एवं स्वस्थ्य संबध रखता है उसमे बौद्विक एवं शारीरिक रूप से कार्य करने की क्षमता होती है वह न तो विशेष रूढिवादी होता है और न ही अग्रगामी जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व संगठित होता है वह अपने प्रति काफी ज्ञान रखता है। वह जानता है कि वह क्या है, उसका समाज के प्रति उत्तरदयित्व है तथा वह अन्य व्यक्तियों से किस प्रकार भिन्न है उसका एक निश्चित उददेश्य होता है और उसी के आधार वह कार्य करता है वह प्रत्येक हर नयी परिस्थिति के साथ अपने को समायोजित कर लेता है। उसमें दृढ संकल्प की शक्ति पायी जाती है जिसके द्वारा वह वाहय समस्याओं से संघर्श करता है। असामान्य व्यक्ति अस्थिर होता है उसमें उपर्लिखित गुणों का अभाव होता है।

बोध प्रश्न 01

(1) सामान्य का क्या अर्थ है ?

.....

.....

(2) व्यवहार का अर्थ बताइये–

.....

.....

(IV) असामान्य का अर्थ (Meaning of Abnormal)

असामान्य शब्द अंग्रेजी भाषा के अबनार्मल (Abnormal) हिन्दी का रूपान्तर है। अबनार्मल दो शब्दों से मिलकर बना है एब+नार्बल। एब का अर्थ होता है नही (Not) तथा नार्मल का अर्थ नियमित (Regluar) इस दृष्टि से असामान्य वह है जिसमें नियमितता नही पाई जाती है। असामान्य व्यक्ति वह होता है जो प्रतिमानों का पालन नही कर पाता है शारीरिक रोगों के संबध में प्रतिमान शरीर संरचात्मकता एवं कार्यात्मकता से सबंध होते हैं इसलिए सामान्य एवं विकृति में अन्तर को अधिक सुस्पष्टता से वर्णित किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर ऐसा कोई प्रारूप नही है जो आर्दश एवं पूर्ण सामान्यता का प्रत्यय प्रस्तुत करता हो जिससे कि तुलना संभव हो सके। अतः अब भी भ्रम एवं विरोधाभास बना हुआ है कि क्या सामान्य है और क्या असामान्य है। क्या सामान्य नही है इस संबध में अनेको दृष्टिकोण एवं प्रारूपों का विकास हुआ है जो भिन्न–भिन्न रूप से असामान्यता को विश्लेशित करते है।

साधारणतया असामान्य व्यक्ति का व्यवहार अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है ऐसे व्यक्ति को सामाजिक पर्यावरण में अपने समायोजित करने में कठिनाई होती हैं वह प्रायः दुखी एवं अप्रसन्न रहता है उसका दृष्टिकोण एकांकी होता है जिसके कारण समस्या समाधान करने में विशेष कठिनाई अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व अस्थिर, संवेग अस्पष्ट तथा बुद्धि सीमित होती है उसका प्रत्यक्षीकरण उचित नहीं होता है।

(V) असामायन्ता की परिभाषा (Definition of Abnormality)

यहां पर असामान्यता की कुछ परिभाषायें प्रस्तुत है

रूथ बेनेडिक्ट

असामान्यता केवल सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति है जो व्यक्ति एक संस्कृति में असामान्य घोषित कर दिये जाते हैं, वे दूसरी संस्कृति में जाकर सामान्य व्यवहार करते हैं।

थामस

नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों के प्रथक्करण मानसिक रोग समझा जाता है।

डोलार्ड तथा मिलर

सामान्य व्यक्ति वह होता है जो ज्ञानात्मक रूप से द्वन्द्वात्मक आवश्यकताओं की प्रकृति को जान सकता है। इसके विपरीत असामान्य व्यक्ति होता है।

किस्कर, जी डब्लू0

मानव का व्यवहार व अनुभूति जो अजीब, अनुपयोगी या सामान्य के अनुरूप न हो उसे असामन्य कहा जा सकता है।

डलमान ऐण्ड क्रेसनर

असामान्य व्यवहार उन व्यवहारिक तरीकों की सुविधा के लिए नामांकन है जो असमाजिक अभिलाशाओं को पूरा करने में सफल रहते हैं।

सामान्यता–असामान्यता को जानने के लिए 5 प्रमुख आधारों का वर्णन किया जा रहा है।

		सामान्य	असामान्य
1.	मनोवैज्ञानिक क्रियाओं की प्रवीणता (Proficiency of) (Psychological functioning)	उच्च प्रभावत्मक विघटित एकीकृत	अपर्याप्त (Impsired) अनियमित
2.	सामाजिक कार्यों के गुण (Quality of socialfunctioning)	उच्च सामाजिकता से संबधित, संतोषप्रद	अपर्याप्त स्वार्थी असंतोशप्रद
3.	ऐच्छिक नियंत्रण की श्रेणी (Degree of voluntary) control)	नियन्त्रण चेतन लचीला स्वतः स्फूर्ति	अनियंत्रण अचेतन कठोर अवरोधक
4	समाज का मूल्याकंन (Socity's evaluation) (Liabity)	प्रशंसनीय आवश्यक स्तोषप्रद लाभप्रद	अस्वीकरात्मक बोझ व्यवधानिक धकमीयुक्त
5.	व्यक्ति का मूल्यांकन (Individual evaluation)	संतोषात्मक आवश्यक लाभप्रद आरामदायक	अस्वीकारात्मक भार कष्टकारी धमकीयुक्त

बोध प्रश्न 02

(1) असामान्यता का अर्थ बताइये–

.....

.....

(2) असामान्यता को परिभाषित कीजिये–

.....

.....

19.5 असमान्यता को दर्शाने वाले विभिन्न शब्द (Different words for abnormality)

असामान्यता को स्पष्ट करने के लिए साधारणतया विभिन्न शब्दों का उपयोग किया जाता है अतः उनको स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

1. **असामान्य व्यवहार (Anmormal Behaviour)**

असामान्य व्यवहार व्यक्ति की आंतरिक व्यक्तित्व व्यवस्था अथवा वाहय पर्यावरण अथवा दोनो के संदर्भ में विशेष प्रकार के व्यवहार जैसे अकारणभय (Phobia) या अधिक व्यापक तरीको जैसे मनोविदलता आदि संदर्भ में प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त स्थायी या अधिक समय वाली समस्याये आती हैं विस्तृत रूप से इसका प्रयोग असमायोजित व्यवहार के समान किया जाता है।

2. **प्रतिकूल व्यवहार (Maladaptive behaviour)**

इसके अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति की प्रतिक्रियायें आती हैं जो स्वयं उसको एवं समाज को हानि पहुँती है इस प्रकार की क्रियायें करने वाले व्यक्तियों की अलोचना की जाती है तथा धीरे–धीरे इनका व्यवहार सामान्य से पृथक हो जाता है। ये व्यक्ति न तो अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर पाते हैं और न ही समाज को लाभ होता है। इस प्रतिकूलित व्यवहार के अन्तर्गत मनोस्नाय विकृतियों तथा मनोविकृतियों को ही नही सम्मिलित करते हैं बल्कि उन व्यक्ति एवं सामूहिक तरीकों जैसे अनैतिक व्यवहार पूर्वग्रह (Prejudiced)] तथा उदासीनता को भी सम्मिलित करते है।

3. **मानसिक विकृति** (Mental Disorder) मानसिक विकृति शब्द का उपयोग असामान्य व्यवहार तरीकों के संदर्भित करने के लिए किया जाता है इसके अन्तर्गत साधारण असामान्ताओ को लेकर विषम असामान्ताओं को सम्मिलित किया जाता है मनोस्नायु विकृति एवं मनोविकृति इसके दो विशेष प्रकार है।

4. **मनोव्याधिकी** (Psychopathology) मनोव्याधिकी एक विषय है असामान्य व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

5. **संवेगिक व्यवधान** (Emotional disturbance) सवेगिंक व्यवधान अपर्याप्त यक्ति एकीकरण (Inadequate personality integration) तथा व्यक्तिगत दबावों की (Stresses) को दर्शाता है यह प्रायः बालकों को प्रतिकूलित व्यवहार के संदर्भ में प्रयोग होता है।

6. **मानसिक** (Mental illnes) कुछ समय पहले इसको मानसिक विकृति के समान ही समझा जाता था परन्तु अब उन्ही रोगों के लिए उपयोग किया जाता है ज़िनमें मस्तिष्क विकार कारण होता है अथवा गम्भीर व्यक्तित्व विघटन हो जाता है।

7. **व्यवहार विकृति** (Behaviour-Disorder) व्यवहार का प्रयोग उन विकृतियों को दर्शाने के लिए किया जाता है जो दोषपूर्ण सीखने की प्रक्रिया द्वारा विकसित होते हैं। दोषपूर्ण सीखने के द्वारा या तो आवश्यक क्षमताओं का विकास नही कर पाता है अथवा प्रतिकूल तरीकों को सीखता है।

8. **मानसिक व्याधि** (Mental Diseade) मानसिक व्याधि मनोवैज्ञानिक स्थिति होती है, जिसमें व्यक्ति का कार्य साधारण अथवा विषम रूप से विकृत हो जाते है।

9. **पागलपन** (Insanity) यह वैधानिक शब्द है जो प्रदर्शित करता है कि व्यक्ति की मानसिक रूप से अपने कार्यों को करनें के आयोग्य हैं तथा कार्यों के परिणाम को सोच नही सकता है पागलपन विषम प्रकार के मानसिक विकृतियो के लिए प्रयोग किया जाता है।

(VII) सामान्य असामान्य सम्बन्धी दृष्टिकोण (Approches of Normalcy and Abnormalcy)

असामान्य व्यवहार के सम्बन्ध में प्रचीन काल से ही विद्वानों मे काफी मतभेद रहा है। वर्तमान समय में भी मतभेद पूर्णतया स्थिर है साधारण व्यक्ति उस व्यक्ति को मानसिक रोगी समझता है जब उसका व्यवहार अत्यन्त अव्यस्थित तथा विचलित हो जाता है परन्तु प्रशिक्षित मनोविकार चिकित्सक उन सभी व्यक्तियों को असामान्य मानते हैं जो जीवन की कठिनाई महसूस करते हैं तथा परिवेश से समायोजन स्थापित करने के असफल रहते हैं।

1. सामान्यता : आदर्श दृष्टिकोण (Normalcy-Ideal Apporch)

ग्रीक दार्शिनिक प्लेटो (427 से 317 बी0सी0) ने आर्दश प्रारूप का विकास किया था। उन्होंने मनोआत्मा को दो भागो में बांटा : तार्किक एवं अतार्किक तार्किक आत्मा स्वस्थ्य नेतृत्व करती है तथा मस्तिष्क में इसका निवास होता है जबकि

आतार्किक आत्मा का संबंध संवेगो से होता है तथा यह मनुष्य को पथभ्रष्टकर देती है प्लेटो के अनुसार जब अतार्किक आत्मा ने नेतृत्व के कार्य को अपने हाथ मे ले लेती है तो मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है प्लेटो ने 3 प्रकार के मानसिक रोगों की चर्चा है: अवसाद (Melancholia) मनोंहास (Dementia) तथा उत्साह (Mania) प्लेटो के विचार से जिस प्रकार की चिन्ता तथा मानसिक द्वन्दता से अवसाद उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार अत्यन्त प्रसन्नता से उत्साह (Mania) का रोग हो जाता है अर्थात सीमा का अतिक्रमण व्यवहार को असामान्य बना देता है। मानसिक रोगो के सम्बन्धन में यह मान्यता आज भी उसी प्रकार से अपना महत्व रखती है फ्रायड ने भी प्लेटो के समान ही इगो तथा इड को माना गया है इगो तार्किक होता है इड अतार्किक। जब इगो को कार्य करने से रोकता अथवा बाधा उत्पन्न करता है तथा नियन्त्रण का कार्य स्वंय करने लगता है तो व्यक्ति में असामान्यता के लक्ष्य उत्पन्न हो जाते है।

2. सामान्यता : सांख्कीय दृष्टिकोण (Normalcy-Statistical Apporach)

सांख्यकीय प्रारूप वालों ने हन्स जे0 आइसेन्क (Eysenck) मुख्य है संख्यात्मक माध्यमान को सामान्यता का आधार इस प्रारूप के आधार पर माना जाता है असामान्य व्यक्ति वह होता है जिसमें व्यक्तियों के व्यवहार से भिन्नता होती है औसत से कम या अधिक दोनो ही अवस्थाओं में असामान्य व्यवहार का प्रर्दशन होता है। यह बात बुद्विभेद, सौन्दर्य, लम्बाई, आदि कें गुणों की परख में तो उचित हो सकती है, परन्तु मानसिक रोगों के मूल्यांकन में ऐसा सम्भव नही हो सकता है।

3. सामान्यता: सापेक्ष प्रारूप (Normalcy- Relative Apporach)

मानव शास्त्री, सामाजशास्त्री तथा मनौवैज्ञानिक समान्यता को सापेक्ष शब्द समझते है संस्कृति की भिन्नता सामान्यता के प्रत्यय को परिर्वर्तित कर देती है इस प्रारूप के मानने वाले अमरीका के रूथवेनेडिक्ट का नाम विशेष से उल्लेखनीय है उन्होने संस्कृतियो का अध्ययन करके सापेक्ष सामान्यता के प्रत्यय का विकास किया है उनके विचार से एक संस्कृति ते तो व्यवहार सामान्य वह दूसरी संस्कृति मे असामान्य तथा इसके पिवरीत भी होता है यद्यपि सापेक्ष (Relative) प्रारूप तथा सांख्यकीय की भांति कोई विशेष मूल्यांकन अथवा निदान का मानदण्ड नही प्रस्तुत करता है परन्तु इससे हमे ज्ञात होता है कि व्यवहार का प्रत्यय परिस्थिति विशेष से सम्बन्धित होता है और उसी के सन्दर्भ मे इसको समझा जा सकता है।

4. मनोविकार: नैतिक प्रारूप (Abnornalcy- Moral Approch)

यद्यपि पाप–पुण्य तथा नैतिकता का मानसिक रोगों से सम्बन्ध हो, आज के युग ने अस्वीकार कर दिया है, परन्तु इस विश्वास का पन्द्रहवीं शताब्दी में विशेष प्रभाव था इस युग को इसीलिए अंधकार युग कहा जाता है मानसिक रोगी की चिकित्सा जादूगरी

जादू टोने तथा टुटकों से ही जाती है। मनोविकृतियों से ग्रस्त व्यक्तियों की हत्या इसीलिए कर दी जाती है कि वे शैतान व भूतप्रेत के प्रभाव में जान स्प्रेन्जर तथा हेनरिच क्रेसर ने इस आधार को लेकर मानसिक रोगों तथा पाप में सम्बन्ध स्थापित किया ।

यद्यपि आज के समाज में इस प्रकार का उपचार मानसिक रोगियों के साथ नही किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार से उनको चिकित्सालायों में रखकर चिकित्सा की जाती है वह जीवित मष्त्यु के समान है, इसलिए दो महान मनोवैज्ञानिकों ने समाज की मनोवषत्ति को मानसिक रोगों के प्रति दोषपूर्ण बताया है समाज मानसिक रोगों को अपराद्यपूर्ण (पापी) कार्य समझता है, इन महान विचारकों ने थामस साज (Thomas szasz) का विचार विशेष महात्वपूर्ण है, उनके विचार से मानसिक रोगो को व्यक्ति की तकलीफ से परे कुछ मानना उतना ही सत्य है, जितना कि भूतप्रेत तथा जादू टोना। उनके विचार से मानसिक रोग काल्पनिक प्रत्यय है, मानसिक विकृतियां केवल समाज में रहने से सम्बन्धित समस्यायें हैं (Problems of living पद society) ओ0 एच0 मोरर ने मानसिक रोगों को नैतिक दृष्टिकोण से समझने का सुझाव दिया है।

5. मनोविकार : चिकित्सकीय प्रारूप (Abnormalcy - Medical Approach)

कुछ ऐसे मनोविकार अवश्य है जिनकी उत्पत्ति शारीरिक व्याधियों अथवा जैवकीय कारणों से होती है परन्तु अधिकांश ऐसे भी मनोविकार हैं जो इससे प्रभावित नही होते हैं, इस प्रारूप के मानने वालो का विचार है कि मानसिक रोग :–

1. अंगिक कारणों से उत्पन्न होते हैं।
2. निदानात्मक तरीकों का प्रयोग शारीरिक व्याधियों के समान होता है।
3. इनके उपचार की प्रक्रिया शारीरिक रोगों के समान होती है।

इस प्रारूप में यद्यपि काफी सत्यता है, परन्तु आज के विचारकों तथा मनोवैज्ञानिको ने नही माना है।

6. मनोविकारः सामाजिक परिणाम प्रारूप (Abnormalalcy- social Consequenses Approach)

थामस साज चिकित्सकीय प्रारूप के कट्टर विरोधी हैं, उनका कहना है कि असामान्यता उस समय प्रकट होती है जब व्यक्ति समाज से समायोजन स्थापित करने में कठिनाई अनुभव करता है, इस प्रारूप के आलोचको का कहना है कि मस्तिष्क विकारों की उत्पत्ति रहने की समस्या से होती है साज का कहना है कि लोग मानसिक लक्षणों का मस्तिष्क रोग समझते हैं वे मानसिक रोगो का वास्तविक अर्थ नही जानते हैं।

7. मनोविकार : व्यवहारवादी प्रारूप (Abnormalcy-Behaviourstic Approch)

इस प्रारूप के अनुसार मानसिक रोग के लक्षण सीखे जाते हैं इनकी उत्पत्ति न होकर दोषपूर्ण व्यवहार के सीखने से होती है, व्यवहारवादी प्रारूप के अनुसार असामान्य व्यवहार 3 कारणों से होता है (1) आवश्यक क्षमताओ को सीखने में असफलता (2) अप्रभावकारी तथा दोषपूर्ण व्यवहारिक गुणों को सीखना (3) मानसिक संघर्षमयी स्थितियां जिनमें व्यक्ति निर्णय नही कर पाता है, इस प्रारूप का विकास पावलो तथा वाटसन के द्वारा किया है।

8. मनोविकार : गत्यात्मक प्रारूप (Abnormalcy-Dyamic Approch)

गत्यात्मक प्रारूप जिसको मनोविश्लेषण कहते हैं, का विकास सिगमन्ड फ्रायड किया गया। मनो विश्लेषण प्रारूप के अनुसार मनुष्य जैवकीय चालकों तथा अचेतन इच्छाओं व सम्प्रेरणाओं से नियन्त्रित होता है। यद्यति रचनात्मक पक्ष अधिक शक्तिशाली होता है, परन्तु अन्धमयी शक्तियां भी अवाध्य रूप से कार्य करती रहती है जिसके कारण अहं पर अत्याधिक दबाब पडता है, फलस्वरूप असमायोजित व्यवहार की उत्पत्ति होती है।

9. मनोविकार : मानवतावादी : मानवतावादी प्रारूप (Abnormalcy -Dynamic Approch)

मानवतावादी विचारकों में जेम्स, मास्लो पल्सेर्स तथा रोजर्स मुख्य हैं, इन विचारकों का मत है, कि मानसिक विकारों का कारण सीखने की त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया तथा अत्याधिक आत्म सुरक्षात्मक साधनों का प्रयोग है। इन दोनो कारकों के कारण व्यक्ति का समुचित विकास नही हो पाता है

10. मनोविकार : अस्तित्ववादी प्रारूप (abnormalcy-Extntial Approch)

इस प्रारूप के मानने वालो में सोरेन, किर्केगार्ड, पाल सारट्रे, रोलो में तथा आर0 डी0 लाइंग मुख्य है। इस प्रारूप के अनुसार वर्तमान समाज में व्यक्ति का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। व्यक्ति अकेलापन महसूस करता है, वह एक निरीह प्राणी बनकर रह गया है वह ईश्वर सामाजिक प्राणियों यहां तक कि स्वयं से भी अनविज्ञ होता जा रहा है, इन परिस्थितियों के कारण मानसिक विकारों का उत्पन्न हो जाना स्वाभविक हो जाता है।

11. मनोविकार : अन्तवैयक्तिकप्रारूप ; A bnormalcy- Inter-perdonal Approch)

इस प्रारूप के मानने वालों में हेरी स्टेव सुलीवान तथा इरिक हर्न मुख्य हैं यह

प्रारूप इस बात में विश्वास करता है कि दोषपूर्ण संचार प्रक्रिया तथा असंतोष एवं त्रुटिपूर्ण अन्तर्वैयक्तिक सम्बंध मानसिक विकारों तथा दोषपूर्ण व्यवहारों के लिए उत्तरदायी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानसिक विकारों के विकास में न तो शारीरिक व्यवधान मुख्य कारण है और न ही देवी देवताओं का प्रकोप है बल्कि सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारक इसके लिए विशेष रूप से जिम्मेदार हैं सामाजिक परिस्थितियों का वैयक्तिक व्यवधानों से घनिष्ट संबध है, जितनी ही अधिक संस्कृति विघटित होगी उतनी ही अधिक व्यक्ति में मानसिक अस्तव्यस्तता होगी यह स्थिति उस समय तक बढ़ती जायेगी तब तक कि वे सांस्कृतिक प्रतिमान नहीं बन जायेंगे अतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति मनोचिकित्सा संबधी सेवायें अवश्य ही प्राप्त हो जिससे वह समय की मांग के अनुसार अपनी प्रवृत्तियों एवं व्यवहारों को परिवर्तित कर सके।

बोध प्रश्न 03

(1) सामान्य असामान्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिय –

.....

.....

संदर्भ

1. Laing , R.D. - Sanity ,Madness and Family , Tovistock, Londan, 1964
2. James,W - The Priciples of Phychology, Henry Holt, New York 1890
3. Dollard , J and - Personality ad psychotherapy, Miller N.I Mc Graw Hill Co , New york, 1905
4. Kisker , G.W. - Op cit p-2
5. Rogers C.R. - On Being a persion , Hougthton Miffin, Boston 1969
6. Ruth Benedict - Pattern of culture, Hongthon and Mifflin, Boston1934

7. Szasz, Thmod — The myth ofMental illness, Horper,New york, 1961,p-205

8. Maslow,A — Toward A Psychology of Bening van N aster edd Boston 1969

9. Dollman, L.P and Kreshner — Psychological Approch to abnormal. Behaviour, English cliffs prentice Hall , New Yark 1960,p-6

10. Ruth Benedict — Anthopology and the abnormaljournal of abnormal psychology,1934,pp 59-60

इकाई 20 : असामान्य व्यवहार के लक्षण

विषय वस्तु :

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 लक्षण से तात्पर्य

20.4 दृश्य रूप बनाम आनुवांशिक रूप

20.5 असामान्य व्यवहार के लक्षण

- 20.5.1 संवेगात्मक विकृतियां
- 20.5.2 प्रत्यक्षीकरण की विकृतियां
- 20.5.3 स्मृति सम्बन्धी विकृतियां
- 20.5.4 व्यवहार सम्बन्धी विकृतियां
- 20.5.5 चिन्तन सम्बन्धी विकृतियां
- 20.5.6 व्यवहार के गत्यात्मक पक्ष से सम्बन्धित विकृतियां

20.6 सारांश

20.7 सन्दर्भ पुस्तकें

20.8 आदर्श प्रश्न अभ्यास

20.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय में असामान्य व्यवहार के उन लक्षणों की चर्चा की जा रही है। जो मानसिक विकृति के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों की चर्चा करने के पीछे इस इकाइ के निम्न उद्देश्य हैं –

1. असामान्य व्यवहार के अध्ययन में लक्षणों के महत्व को समझना।
2. लक्षण ज्ञान के मूलभूत तथ्यों से परिचय कराना।
3. मानसिक रोग में उत्पन्न लक्षणों के प्रकारों को जानना।

20.2 प्रस्तावना

समय के साथ हमारे रोग और उपचार सम्बन्धित ज्ञान में आमूल–चूल परिवर्तन हुआ है। इसका प्रभाव मानसिक और मनोदैहिक विकारों के अध्ययन पर भी

पड़ा है। मनोवैज्ञानिक हमेशा से यह मानते रहे हैं कि मानसिक विकारों का प्रभाव शरीर पर और शारीरिक विकारों का प्रभाव व्यक्ति के मन पर पड़ता हैं और इसका प्रमुख आधार हमारा व्यवहार है, क्योंकि व्यवहार मानसिक और दैहिक अन्तःक्रियाओं का परिणाम है। इस दृष्टिकोण से देखें तो रोग सिर्फ दैहिक या मानसिक नहीं हो सकते हैं। दोनों ही स्थितियों में रोग का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। ऐसी स्थितियों में एक समस्या यह भी आती है कि रोग के उत्पन्न होने के कारण क्या हैं? क्या यह दैहिक है या यह मानसिक है। इसको ज्ञात करना सबसे जटिल काम होता है। ऐसी स्थितियों में हम रोग के लक्षणों का अध्ययन करते हैं। इन्हीं लक्षणों को सुसंगत ढंग से क्रमबद्ध करके हम रोग और उसके कारणों को परिभाषित कर पाते हैं। मनोविज्ञान में हम मानसिक रोग की अवस्था में व्यक्ति में आये मानसिक, व्यवहारिक एवं शारीरिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न लक्षण का अध्ययन कर मानसिक विकारों का अध्ययन करते हैं।

20.3 लक्षण के तात्पर्य

सरल शब्दों में लक्षण शब्द से हमारा अर्थ 'चिन्ह' से होता है। मानसिक विकारों की स्थिति में यह चिन्ह व्यक्ति के व्यवहार और दैहिक अवस्था में प्रकट होते हैं। लक्षण शब्द को परिभाषित करते हैं। **जे0एफ0 ब्राउन** ने कहा है कि "लक्षण रोग का आधार है। यह स्वयं असमायोजित व्यवहार है।" (A Symptom is a Surface Sickness. It is Maladjusted behavior itself)। शरीर के किसी विशेष हिस्से में दर्द होना, सूजन आना, किसी प्रकार की क्षति है जैसे – दृश्य, श्रवण आदि में क्षति, शारीरिक तापक्रम, रक्तदान, श्वसनदर आदि में अत्यधिक परिवर्तन आ जाना आदि लक्षण (Symptom) कहलाते हैं। इसी प्रकार मानसिक स्थिति में अकारण भय, संवेगात्मक असन्तुलन, विस्मृति, मिथ्या विश्वास आदि को भी लक्षण कहा जाता है।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति लक्षणों के हिसाब से रोग का उपचार करती है, क्योंकि कई बार वे लक्षणों को ही रोग मानकर उसका उपचार करते हैं जैसे – रक्तदाब (Blood Pressure) में आये परिवर्तन को रोग की संज्ञा देकर उसके लिये दवा दे देना, बुखार की अवस्था में तापमान नियन्त्रित करने की दवा दे देना आदि। कई बार इस प्रकार के उपचार से लक्षणों को नियन्त्रित किया जा सकता है, परन्तु इन लक्षणों के पैदा होने के कारण को दूर कर पावे, यह अपर्याप्त रहता है और यही लक्षण कुछ समय बाद पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपरोक्त दृष्टि से सहमत नही हैं। क्योंकि मनोविकार की अवस्था में केवल लक्षणों को दूर करके रोगी को रोग मुक्त कर देना कभी भी सफल परिणाम नहीं देता है। मनोविज्ञान में मनोविकारों के गतिक चिकित्सा (Dynamic &

Casual Cure) करने का प्रयास किया जाता है। इसी कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से लक्षणों का अध्ययन करने का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को लक्षणों से अवगत कराना होता है जैसे कि ब्राउन का मानना है कि लक्षणों से रोगी को परिचय कराने से न केवल अनेक शारीरिक व्याधियों को दूर किया जा सकता है वरन् मानसिक विकारों में भी बिना मनोगतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित किये अतार्किक भयो, मिथ्या विश्वासों तथा अनुपयुक्त संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को गहन सुझाव एवं सम्मोहन (Hypnosis) के द्वारा दूर किया जा सकता है।

(Even in the sphere of the mental disorders may unreasoned fears & false beliefs & inappropriate emotional reaction may be helped by deep suggetion and hypnosis without really in fluencing the underlying psychodynamic processes.)

दैहिक और मानसिक विकारों की अवस्था में सिर्फ कोई एक लक्षण नहीं प्रकट होते है बल्कि लक्षणों का एक समूह प्रकट होता है जिसमें एक प्रकार का संगठन होता है। किसी एक लक्षण को रोग मानकर उसका उपचार करना गलत है। रोग की स्थिति में लक्षणों का समूह उत्पन्न होता है जिनको जोड़कर अध्ययन कर रोग को परिभाषित किया जाता है। लक्षणों के इस संगठित एवं मिश्रित समूह या समिष्ट को **'संलक्षण'** (Syndrome) कहते हैं। संलक्षण की अवधारणा इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि हो सकता है कि दो व्यक्तियों में कुछ लक्षण एक जैसे हो पर यह जरूरी नहीं कि उनके विकार भी एक हों। ऐसी स्थिति में लक्षणों के मिश्रित संगठित समूह या संलक्षण का अध्ययन करना रोगों के उपचार के लिये जरूरी होता है।

20.4 दृश्य रूप बनाम आनुवांशिक रूप (Pheno type Vs Geno type)

वैज्ञानिक अध्ययन में प्रघटनाओं को दो स्तर पर समझा जाता है। पहले स्तर में प्रघटनाओं का वर्णनात्मक वर्गीकरण (Descriptive Classification) किया जाता है। इसमें घटनाओं को उसी रूप में वर्णित किया जाता है जिस रूप में वे घटित होती हैं। इस स्तर में प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा घटनाओं के वाह्य रूप के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। इस प्रकार से प्राप्त लथ्यों को हम दृश्य रूप प्रदत्त (Pheno type) कहते हैं। जैसे व्यक्ति के व्यवहार में आये परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न लक्षणों का अध्ययन करना।

दूसरे स्तर पर प्रघटनाओं का गतिक व्यवस्थापन (Dynomic Systematization) अध्ययन किया जाता है, जिसमें सैद्धान्तिक रचनाओं का प्रयोग करते हुये प्रघटनाओं

में अर्न्तनिहित कारणात्मक श्रंखलाओं की खोज की जाती है। व्याख्या के इस प्रकार को आनुवांशिक रूप या जीन रूप (Genotype) कहा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान में मनोविकृति का अध्ययन करने के लिये इसी प्रकार की व्याख्या का सहारा लिया जाता है। इसीलिये ब्राउन ने भी कहा है कि लक्षण अर्न्तनिहित आनुवांशिक या समाजातीय प्रक्रियाओं के व्यक्त दृश्य रूपीय लक्षण चिन्ह है। (The Symptom is the Phenotypical sign of an underlying genotypical process)।

असामान्य मनोविज्ञान में जब हम रोगों का अध्ययन लक्षणों के वर्णात्मक प्रकट रूप में करते है तो वह दृश्यरूप अध्ययन होता है और जब हम मनोगतिकीय (Psychodynamic) आधार का अध्ययन करते हुये लक्षणों के पीछे छुपे हुये कारणों का सहारा लेते हुये रोगों का अध्ययन करते हैं तो वह जीन प्रारूप अध्ययन है।

20.5 असामान्य व्यवहार के लक्षण (Symptoms of Abnormal Behaviour)

असामान्य मनोविज्ञान में लक्षणों का अध्ययन कर रोगों का वर्गीकरण किया जाता है। मनोविकार का अध्ययन करने के लिये इन्हीं लक्षणों को पहचानने और उनको सुसंगत ढंग से रेखांकित करना रोगों से उपचार के लिये आवश्यक होता है। इस अध्याय में कुछ महत्वपूर्ण असामान्य व्यवहार के लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है। जो निम्न प्रकार से है –

20.5.1 संवेगात्मक विकृतिया (Disorder of Emotion)

संवेगात्मक विकृतियां मुख्य रूप से अन्तर्द्वन्द्व, नैराश्य और असफल समायोजन के कारण उत्पन्न होती है। संवेगात्मक मनोविकृति से सम्बन्धित निम्न लक्षण प्रकट होते हैं।

क. दुश्चिन्ता (Anxiety) – इसमें व्यक्ति अकारण चिन्तित रहता है। इस स्थिति में व्यक्ति में तनाव, व्यग्रता, तीव्र नाड़ी, पसीना आना, और हृदय गति तेजी से लक्षण प्रकट हो जाते हैं। (मिश्रा, 1982)

ख. भय (Fear) – जब व्यक्ति भविष्य में होने वाली घटनाओं के कारण उसके नकारात्मक प्रभावों से चिन्तित रहता है और उससे दूर भागना चाहता है तो ऐसी स्थिति को भय कहते हैं। उसमें परिस्थिति का सामना करने का सामर्थ्य नहीं होता है। जब किसी व्यक्ति में किसी जीव, वस्तु, स्थान, घटनाओं इत्यादि से अकारण भय उत्पन्न होने लगता है तो उसे असंगत भय (Phobia) कहते हैं। जैसे अंधेरे से भय, मृत्यु से भय आदि।

ग. विशाद या अवसाद (Depression) – विषाद की अवस्था में रोगी दुखी रहता है। उसमें निराशा, हताशा और दुख भावना तीव्र होती है। ऐसे व्यक्तियों में निद्रा

का कम आना, मन न लगना, शारीरिक अंगों में शिथिलता इत्यादि लक्षण दिखायी देते हैं।

घ. उल्लासोन्माद – (Euphoria) – कभी–कभी व्यक्ति में अति प्रसन्नता, झूमना, अकारण प्रफुल्लित और अत्यधिक सक्रिय होता है तो ऐसी स्थिति को उल्लासोन्माद की अवस्था कहते हैं। (मिश्रा, 1982)

ङ उदासीनता (Apathy) – उदासीनता या विरक्ति की अवस्था में रोगी में सुख–दुख की भावना का अभाव होता है। ऐसे व्यक्तियों का मन सामान्य गतिविधियों मे नहीं लगता है। उनमें प्रेरणात्मक शक्तियों का अभाव होता है तथा ऐसे लोग आम जीवन से अलग रहने की कोशिश करते हैं।

20.5.2 प्रत्यक्षीकरण की विकृतियां (Disorder of Perception) –

सफल प्रत्यक्षण सामान्य व्यवहार को उत्पन्न करने के लिये जरूरी होता है प्रत्यक्षण के माध्यम से संवेदन अंगों (Sense Organs), जैसे दृष्टि, श्रवण, त्वक (cutaneous), स्वाद, घ्राण (Smell), आंगिक (Organic) आदि को प्राप्त सूचनाओं को पूर्व अनुभवों या ज्ञान के द्वारा मस्तिश्क उसको परिभाषित करता है जिसके बाद व्यक्ति उद्दीपक के प्रति स्वाभाविक व्यवहार करते है जैसे किसी वस्तु को देखकर छूकर या सूंघकर यह ज्ञात करना कि वह क्या है? पर जब व्यक्ति में प्रत्यक्षण सम्बन्धी विकृति उत्पन्न हो जाती है तो वह वास्तविक परिस्थिति या उद्दीपक के प्रति अनुक्रिया नही कर पाता है।

20.5.2 प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित दो मुख्य विकृतियां हैं –

क. भ्रम (Illusion) – प्रत्यक्षीकरण की अशुद्धि को भ्रम कहते हैं भ्रम की अवस्था में व्यक्ति वास्तविक उद्दीपक का गलत प्रत्यक्षण करता है, जैसे रात में किसी रस्सी या पेड़ की लता को सांप समझना। इस प्रकार की प्रत्यक्षण त्रुटि अधिक समय तक प्रभावित नहीं करती है और व्यक्ति को वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।

ख. विभ्रम (Hallucination) – विभ्रम और भ्रम में अन्तर होता है। भ्रम की स्थिति में किसी वाह्य उद्दीपन का होना अनिवार्य होता है जैसे उपरोक्त उदाहरण में सांप, परन्तु विभ्रम की स्थिति बिना किसी वाह्य उद्दीपक के उपस्थिति की अवस्था में उस वस्तु का प्रत्यक्षण करना जैसे सामने कुछ न होने पर भी किसी वस्तु का प्रत्यक्षण करना, शान्त कमरे में अनजानी आवाजें सुनायी देना इत्यादि। विभ्रम को काल्पनिक प्रत्यक्षण के रूप में भी परिभाषित किया जाता है (नोयेस, 1936)। विभ्रम दमित, इच्छाओं के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं जैसे अपराध्य भावना होने के कारण उसे निन्दनीय आवाजें सुनायी पड़ती हैं। विभ्रम मनोविकृति (Psychosis) में होता है।

जब विचारों और संवेगों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है तो समाधान सम्बन्धित प्रक्रिया अति सक्रिय हो जाती है और दमन (Repression) मनोरचना शिथिल पड़ जाती है तो ऐसी स्थिति में विभ्रम उत्पन्न हो जाता है।

विभ्रम के प्रकार – विभ्रम किसी भी ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हो सकता है जितने भी प्रकार की ज्ञानेन्द्रिया होती हैं उतने ही प्रकार के विभ्रम होते हैं।

➢ श्रवण सम्बन्धी विभ्रम (Audiotory Hallucination) – श्रवण सम्बन्धी विभ्रम में व्यक्ति, अजीब, अनजानी, या परिचित आवाजें सुनायी पड़ती, जैसे कोई आदेश दे रहा हो। रोगी इन आवाजों के प्रति अति संवेदनशील होता है, कई बार रोगी को लगता है कि कोई उसे बुला रहा है या कुछ करने को कह रहा है।

➢ **दृष्टि सम्बन्धी विभ्रम** (Visual Hallucination)– दृष्टि सम्बन्धी विभ्रम में रोगी को कुछ अवास्तविक आकृतियाँ दिखायी पड़ने लगती हैं जैसे उसे अपने सामने किसी के होने का भ्रम या शीशे या दीवार पर किसी की शक्ल या छवि को देखना।

➢ **गन्ध विभ्रम** (Olfactory Hallucination)– जब किसी व्यक्ति को गंध की संवेदना नहीं होती है तो उसे गन्ध अग्राहिता (Anosmia), जब गंध की संवेदना अधिक होती है तो अति गन्ध ग्राहिता (Hyperosmia) और जब बिना किसी गन्ध के गन्ध की संवेदना हो तो उसे भ्रम गन्ध ग्राहिता कहते हैं।

➢ **स्वाद सम्बन्धी विभ्रम** (Guestatory Hallucination) – जब रोगी को स्वाद की अनुभूति करने मे दिक्कत, या स्वाद के प्रति संवेदनशून्यता पैदा हो जाये और या फिर उसे वस्तु के स्वाद को पहचानने में भ्रम हो तो उसे स्वाद विकृति कहते हैं।

➢ **त्वचीय या त्वक विभ्रम** (Tactual Halluciation) – त्वचीय विभ्रम में व्यक्ति को लगता है कि कोई कीड़ा उनके शरीर पर चल रहा है या कोई नुकीली चीज चुभ रही है। रोगी को स्पर्श सम्बन्धी विभ्रम होने लगते हैं।

20.5.3 स्मृति सम्बन्धी विकृतियाँ

मानसिक रोगियों में स्मृति विकृति सम्बन्धित लक्षण भी देखने को मिलते हैं। असामान्य मनोविज्ञान में तीन प्रकार की स्मृति सम्बन्धी विकृति की चर्चा होती है।

i **स्मृति ह्रास** (Amnesia) – मानसिक रोगियों में स्मृति ह्रास से जुड़ी समस्यायें देखने को मिलती हैं। स्मृति ह्रास के दो प्रकार हैं।

➢ **मनोजन्य स्मृति ह्रास (Psychogenic Amnesia)**– मनोजन्य स्मृति ह्रास तीव्र मानसिक आघातों या संवेगात्मक अनुभव के कारण होता है। यह स्मृति ह्रास अक्सर कटु अनुभवों, लज्जा, शर्म, अपराध, अपमान, निन्दा निराशा या असफलता

आदि को चेतना से हटाने के कारण होता है। रोगी कष्टदायक बातों को तो भूल जाता है पर अन्य बातों को याद रखता है।

- **आंगिक स्मृति लोप (Organic Amnesia)** – जब स्मृति मस्तिष्क में चोट लगने, या विश या रासायनिक कारणों से मस्तिष्क में क्षति हो जाये या वृद्धावस्था के दौरान स्मृति लोप हो जाये या फिर किसी बिमारी से स्मृति लोप, तो इस प्रकार के स्मृति लोप को आंगिक स्मृति लोप कहते हैं।

स्मृति लोप अवस्था के दो और प्रकार भी हो सकते है।

- **अग्रगामी स्मृति ह्रास (Anterograde Amensia)** – इस प्रकार की स्मृति ह्रास में व्यक्ति को मस्तिष्क आघात या संवेगात्मक आघात की घटना के बाद की बातें को पुनः स्मरण करने के दिक्कत होती है।
- **अधोगामी स्मृति ह्रास (Retrograde Amnesia)** – इस स्थिति के रोगी के मस्तिष्क आघात या संवेगात्मक तनाव की घटना के पहले की बातों को स्मरण करने तथा बताने में असमर्थता महसूस करता है।

ii. **मिथ्या स्मृति (Paramnesia)** – इस प्रकार की स्मृति के रोगी अस्तित्वहीन, आधारहीन, काल्पनिक घटनाओं को याद में बनाये रखता है। रोगी इन बातों को बड़े विश्वास पूर्वक दूसरों को बताता है। मिथ्या स्मृति में दो प्रकार की स्थितियां आती हैं –

- मिथ्या रचना (Confabulation) – रोगी काल्पनिक और अघटित बातों को स्मृति में स्थान प्रदान करने की कोशिश करता है।
- **अनुनिरीक्षणात्मक मिथ्यीकरण (Restrospective Falsification)** – इसमें रोगी पूर्व में घटित बातों को अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

iii. **अति स्मृति** (Hyper Amnesia)– इस स्थिति में रोगी असाधारण रूप से बचपन की बातों को याद करता है और उनको पहचानने की क्रियायें तीव्र हो जाती हैं।

20.5.4 व्यवहारिक विकृतियाँ (Behavioural Disorders)

मानसिक रोगियों में व्यवहार सम्बन्धी कई प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं जो निम्न हैं –

1. **प्रतिगमन (Regression)**– एक स्वस्थ व्यक्ति अपने जीवन के दौरान संजोई गयी यादों को स्मरण करके खुश होता है और उसे अच्छा लगता है। आम आदमी तनाव भरी जीवनचर्या में अच्छे पलों को याद करके आनन्द पाते हैं और इससे उन्हें अगले कार्यों के लिये ऊर्जा भी मिलती है, पर जब व्यक्ति वर्तमान में न जीकर पुरानी यादों को बार–बार दोहराता है, मौजूदा चुनौतियों

और जिम्मेदारियों से दूर भागता है तो उसके द्वारा किये व्यवहार को प्रतिगमन कहते हैं। जिसमें व्यक्ति वास्तविकता से भागने की कोशिश करता है और पूर्व दिनों की यादों में जीने की कोशिश करता है। यह स्थिति तब पैदा होती है जब व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियाँ को निभाने में असफल रहता है, वह तनाव का सामना नहीं कर पाता है अपनी असफलता के डर से भूमिकाओं को नहीं निभा पाता है। प्रतिगमन को मनोविज्ञान में बचपन की ओर पलायन (Flight into Childhood) कहा जाता है।

2. **आत्मकेन्द्रित (Egocentric)** – आत्मकेन्द्रित की अवस्था में रोगी का व्यवहार सिर्फ अपने हितों के लिये होता है। वह स्वार्थी और अर्न्तमुखी हो जाता है। उसे दूसरों के हित से कोई मतलब नहीं होता है। उसे नैतिक और सामाजिक मूल्यों की कोई परवाह नहीं होती है वह सिर्फ अपने सुख के लिये जीता हैं।

3. **अस्थिरता (Flucluation) –** असामान्य व्यवहार वाले व्यक्ति काफी अस्थिर होते हैं। उनके व्यवहारों, सोच, संवेगों में सुसंगत और निरन्तरता का अभाव रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने संवेगों को नियन्त्रित नहीं कर पाते हैं। उनके व्यवहारों में एक समरूपता नहीं दिखायी पड़ती है।

4. **बहुव्यक्तित्व (Multiple Personality)** – मनोरोगी व्यक्ति में कभी–कभी विविध प्रकार के व्यक्तित्व दिखायी देते हैं। व्यक्तित्व के इन रूपों में काफी विरोधाभास होता है। साथ ही साथ इन व्यक्तियों का व्यवहार काफी अनिश्चित होता है। ऐसे व्यक्ति कभी एकान्त वासी हो जाते हैं तो कभी मिलनसार, कभी बहुत नैतिक हो जाते हैं तो कभी भौतिकवादी हो जाते हैं।

5. **अर्न्तदृष्टि का अभाव (Lack of Insight)** – एक बहुत आम लक्षण मनोरोगियों में पाया जाता है वह है अर्न्तदृष्टि का अभाव अर्थात् वे अपनी स्थिति के लिये दोषी वास्तविक कारणों को जानने में असमर्थ होते हैं। इसलिये वे अपने पर्यावरण से ठीक प्रकार से समायोजन नही कर पाते हैं, समस्याओं का सही समाधान नहीं कर पाते, सही निर्णय लेने में उन्हें परेशानी होती है।

6. निद्रा भ्रमण (Somnabulism) – निद्रा भ्रमण की स्थिति में रोगी अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है जिसे वह वास्तविक जीवन में अपनी कमियों को सामाजिक या नैतिक मूल्यों के कारण करने में असमर्थ होता है। वह स्वप्नों में अपनी इन दमित इच्छाओं की पूर्ति करता है, उसमें जीने की कोषिष करता है। इस प्रकार के रोगी निद्रा में चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। ऐसे कार्यों को करने की कोषिष करते है जो कि वे चेतन अवस्था में नहीं कर पाते हैं।

7. **व्यक्तित्व लोप (Depersonalization)** – व्यक्तित्व लोप की स्थिति में रोगी को स्वयं के बारे में या अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न हो जाता है तथा उसे अवास्तविक और परायेपन की अनुभूति होने लगती है। उसमें विरक्ति, स्मृतिलोप, तथा व्यक्तित्व लोप सम्बन्धी लक्षण प्रकट होते हैं। व्यक्तित्व लोप आंशिक अथवा पूर्ण हो सकता है। यह लक्षण हिस्टीरिया तथा मनोविदलता के रोगियों में बहुधा देखने को मिलता है।

8. **आक्रामकता (Aggression)** – मनोरोगियों में कई बार आक्रामकता के लक्षण भी प्रकट होते हैं आक्रामकता का कारण उसकी कुण्ठा और हताशा होती है, जो उसके विचारों, इच्छाओं और प्रयासों के अपूर्ण रह जाने से पैदा होती है। सामान्य व्यक्ति में भी आक्राकमता होती है, पर वह उसे तर्कपूर्ण ढंग से व्यक्त करता है परन्तु मनोरोगियों में आक्रामक व्यवहार पैदा होने के कोई तर्कसंगत वास्तविक कारण नही होते है और न ही वह अपने आक्रामक व्यवहार के बारे कोई सही कारण बता पाते हैं।

9. **चिड़चिड़ापन (Irritability)** – चिन्ता और तनाव की स्थिति में रोगी में चिड़चिड़ापन जैसे लक्षण दिखलायी पड़ते हैं और यह तब पैदा होता है जब व्यक्ति का क्रोध सम्बन्धी संवेगों पर नियन्त्रण कम होने लगता है। उसे जल्दी–जल्दी गुस्सा आता है, छोटी–छोटी बात पर लड़ने–झगड़ने के लिये आमादा हो जाता हैं।

10. **उद्वेलित मनोदशा (Mood Swing)** – उद्वेलित मनोदशा वह स्थिति है जब व्यक्ति की मनोदशा में जल्दी–जल्दी परिवर्तन होने लगते हैं तथा यह परिवर्तन बिना किसी ठोस वजह से होते है। इसमें व्यक्ति उत्साह, विशाद एवं दुश्चिन्ता के बीच डोलता रहता है। रोगी कभी–कभी बहुत हताशा सा दिखता है तो कभी बहुत उत्साही और उमंग में तो कभी बहुत दुखी हो जाता है। इस प्रकार के लक्षण हर्ष–विशाद (Manic Depressive) के रोगी में विशेष रूप से देखने को मिलते हैं।

11. **अशान्ति (Agitation)** – असामान्य व्यवहार वाले रोगी में अशान्ति के लक्षण भी परिलक्षित होते हैं। ऐसे व्यक्ति चिन्ता, तनाव, संवेगों में संघर्ष के कारण अपने व्यवहार में बेचैन रहते हैं। ऐसे रोगियों में जल्दबाजी और आक्रामकता भी देखने को मिलती है। अशान्ति का कारण रोगी की मनोरचनाओं द्वारा उसके तनाव को सही ढंग से समाधन नहीं कर पाने का नतीजा होता है।

20.5.5 चिन्तन सम्बन्धी विकृति (Disorder of Thinking)

चिन्तन की प्रक्रिया में प्रत्यक्षीकरण तथा स्मृति बहुत अहम होती है। व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्राप्त सूचनाओं को स्मृति में संचित करता है इन्हीं सूचनाओं के माध्यम से मस्तिष्क में चिन्तन की प्रक्रिया होती है जिसमें कल्पनाओं और विचारों को तार्किक और क्रमबद्ध करके वास्तविकता का अनुमान लगाया जाता है, नये विचार दिये जाते हे और वाह्य उद्दीपक की प्रति सही अनुक्रिया के लिये संदेष भेजे जाते हैं। व्यक्ति चुनौतियों, समस्याओं और उलझनों को चिन्तन द्वारा सुलझाता है। जब व्यक्ति की चिन्तन प्रक्रिया बाधित होती है अर्थात् विचारों के आकार, निमार्ण और प्रगति में रुकावट आना, तो ऐसे में व्यक्ति का व्यवहार असन्तुलित और असामान्य हो जाता है। असामान्य व्यवहार में अधोलिखित चिन्तन सम्बन्धी विकृति प्रमुख है –

1. **अतार्किक चिन्तन (Illogical Thinking)** – जब व्यक्ति वास्तविकता के परे अपने तर्कों, निष्कर्षों और निणर्यों को सामने रखता है जिसमें काफी विरोधाभास और असंगत होता है तो इस प्रकार के चिन्तन को अतार्किक चिन्तन कहते हैं। इसमें रोगी के मन में ऐसे विचार उमड़ने लगते है जिनका आधार अतार्किक एवं वास्तविकता से दूर होता है कई मनोवैज्ञानिक इसे विकृत दिवास्वप्न चिन्तन (Autistic Thinking) कहते हैं।

2. **अतारतम्यता (Incoherence)** – इसमें रोगी के चिन्तन में विचारों के बीच तारतम्यता नहीं पायी जाती है। उसके विचारों में तार्किक क्रमबद्धता का अभाव होता है जिससे उसकी सोच में अर्थहीन तथा अस्पष्टता दिखायी देती है। ऐसे में मनोरोगी जो विचार अभिव्यक्त करते हैं वे अस्पष्ट एवं निरर्थक होते हैं। इनमें कोई तारतम्यता नही होती है।

3. **अवरोध (Blocking)** – चिन्तन के अवरोध में रोगी के विचारों के प्रवाह में अनायास अवरोध उत्पन्न हो जाता है। जिसके कारण वह बोलते हुये रुक जाता है। उसे इसका कारण पता नहीं चल पाता है क्योंकि इस अवरोध के पीछे अचेतन मन की षक्तियों का प्रभाव होता है। उदाहरण के लिये जब मानसिक रोगी से अपने बारे में बताने के लिये कहा जाता है तो वह बोलते–बोलते रुक जाता है, उसे बात कहने में दिक्कत आती है, वह अपने विचार नहीं रख पाता है। कभी–कभी ऐसी स्थिति में चिन्तन अवरोध पूर्ण मूकता (Total Mutism) में परिवर्तित हो जाता है जिसे कथन का अभाव (Poverty of Speech) भी कहते हैं।

4. विचारो की उड़ान (Flight of Ideas)– इस प्रकार की विकृति में रोगी के विचारों में तेजी से परिवर्तन होने लगते हैं। वह एक विषय पर बात करते–करते दूसरे विषय पर पहुंच जाता है। इसी प्रकार उसके विचारों के बढ़ने के क्रम में अर्थपूर्ण

उद्देश्य नहीं होता है जिससे उसे अपनी बात समझाने में दिक्कत होती है जैसे रोगी से किसी विषय पर बोलने को कहा जाता है तो वह विषय पर बोलते–बोलते विषयान्तर विचारों को रखने लगता है।

5. **व्यामोह (Delusion)** – व्यामोह विचारों के विषय वस्तु में आयी विकृति के लक्षण को दर्शाती हैं नोयेस ने व्यामोह को मिथ्या विश्वास के रूप में परिभाषित किया है। व्यामोह एक असत्य, अतार्किक, औचित्यहीन और अवास्तविक विश्वास है जो किसी वाह्य उत्तेजना या घटना के बिना उत्पन्न होती है तथा इसे किसी प्रकार के तर्क एवं प्रमाणों के द्वारा काटना सम्भव नहीं होता है। व्यामोह के रोगी अपने इन्हीं विचारों को इतना तार्किक व अर्थपूर्ण ढंग से दूसरों के सामने रखने की कोशिश करते है कि यह सत्य लगे।

डब्ल्यू0ए0 व्वाइट ने व्यामोह की तीन मुख्य विशेषतायें बतायी हैं –

क. व्यामोह ऐसे विचित्र विश्वास है जो असत्य और अवास्तविक है।

ख. इनका प्रारम्भ वास्तविक अनुमानों से नहीं होता है तथा तर्क, औचित्य, विवेक तथा तथ्य इत्यादि के आधार पर इन्हें ठीक या बदला नहीं जा सकता है।

ग. इनका व्यक्ति की शिक्षा व वातावरण के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नही होता हैं।

व्यामोह की उत्पत्ति किसी वास्तविक अनुमानों के कारण नही होती है। यह व्यक्ति के दमित इच्छाओं, भावनाओं एवं आवेगों के कारण व्यक्ति के मन में उत्पन्न होती है। इसीलिये यह विकृति विषयगत (Subjective) होती है। व्यामोह का रोगी अपनी मानसिक उलझनों, द्वन्दों और दोषभावना को सुलझाने के लिये अचेतन मन से जुड़ी इच्छाओं का उपयोग करता है। व्यामोह को समझने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने इनके प्रकारों की चर्चा की है।

1. शून्यवादी (Nihilistic Delusion) में रोगी को लगता है कि उसका कोई अस्तित्व नहीं है। उसे अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि का अनुभव नही होता है तथा कभी–कभी उसे शरीर के किसी एक भाग या अंग का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार का अनुभव तीव्र उदासीन तथा शिथिल रोगियों मे होता हैं।

2. आत्म–निन्दात्मक व्यामोह (Delusion of Self-Condemination) के रोगी को लगता है कि उन्होनें कोई अक्षम्य पाप कर दिया है जिसका उन्हें दण्ड मिलना चाहियें उन्हें अपने आप से घृणा होने लगती है। वे अपने को दोषी मानते हैं

और लोगों से कहते है कि उन्हें सजा दें। कई बार व इस आवेश में आत्महत्या करने का प्रयास करते हैं।

3. दण्डनात्मक व्यामोह (Delusion of Persecution) की अवस्था में रोगी को लगता है कि उसके शत्रु उसके लिये षडयन्त्र रच रहे हैं और उसे मारना चाहते है। रोगी को लगता है कि उसके खाने–पीने के सामान में जहर है दण्ड के व्यामोह सन्दर्भ स्थिति के कारण पैदा होते हैं। जैसे, ऐसे रोगियों के सामने यदि लोग चुपचाप बाते करें तो रोगी को लगता है कि उसके बारे में ही बात हो रही है, जिसमें कोई रहस्य छुपा है। ऐसे रोगी बहुत भाक्की और आक्रामक हो सकते हैं।

4. वैभव या महानता का व्यामोह (Delusion of Grandeur) में व्यक्ति अपनी हीनता, अपर्याप्तता एवं असुरक्षा की भावना की अतिपूर्ति के लिये अपने आपको अमीर, करोड़पति, साधु–सन्त या महान दिखाने की चेष्टा करता है तथा वैसा अनुभव भी करता है। इस प्रकार का व्यामोह अनुपयुक्त इच्छाओं, अक्षमताओं, हीनताओं और असुरक्षा की भावनाओं के कारण उत्पन्न होता है।

5. रोगभ्रम व्यामोह (Hypochondrial Delusion) में रोगी को अपने शरीर में किसी जटिल रोग होने का विश्वास हो जाता है। उसे लगता है कि उसको न ठीक होने वाली बिमारी हो गयी है। उसे बिमारी का प्रभाव भी अनुभव होने लगता है। उसे कभी–कभी शरीर के किसी अंग के न होने अथवा उसके काम न करने का मिथ्या विश्वास हो जाता है। रोगी लगातार इस दुष्चिन्ता से परेशान रहता है। वैज्ञानिक जांचों में रोग न निकलने की पुष्टि के बाद भी उसे रोग होने का भ्रम रहता है।

6. नियन्त्रण का व्यामोह (Delusion of Control) में रोगी को लगता है कि उसके व्यवहार, विचार, कर्म और संवेगों पर किसी और का नियन्त्रण है। रोगी ऐसे काल्पनिक पात्रों का नाम बताता है जो उसको नियन्त्रित कर रहे होते है, जिनका वास्तविक अस्तित्व नहीं होता है या फिर उनका रोगी से कोई सीधा सम्पर्क नही होता है।

20.5.6 व्यवहार के गत्यात्मक पक्ष से सम्बन्धित विकृतियाँ (Disorder in behavior Motors)

मन में उपजे विचार दैहिक गतिवाही प्रक्रियाओं के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार के रूप में सामने आते हैं। व्यवहार को उत्पन्न करने के लिये दैहिक मांसपेशियों, अंगों अन्तःस्रावी ग्रन्थियों तथा तन्त्रिका तन्त्र आदि का सही तरीके से काम करना जरूरी होता है। विशेष रूप से शारीरिक मांसपेशियों का जो व्यक्ति की भावभंगिमाओं, शारीरिक गतिकी और संस्थिति (Posture) के रूप में व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक पक्ष के बारे में काफी कुछ

बताती हैं। मनोरोगियों में व्यवहार के गत्यात्मक पक्ष में आयी विकृतियां भी रोगों के निदान और उपचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं।

ब्राउन ने आदत विकृति (Habit Disorder) में मांसपेशीय क्रिया (Muscular Activitpes), सहज क्रिया (Reflexes) से सम्बन्धित विकृतियां व्यवहार के गत्यात्मक पक्ष की विकृतयों में की है। व्यवहार के गत्यात्मक पक्ष से जुड़ी मुख्य विकृतियां निम्न हैं –

1. मनोगत्यात्मक सक्रियता (Psycho-motor Activities) में रोगी मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से अशान्त होता है। रोगी की गतिविधियों में काफी सक्रियता दिखायी पड़ती है। रोगी कुछ न कुछ करने की कोशिश करता रहता है, उसमें एकाग्रता की कमी दिखती है। ऐसे रोगी एक जगह रुकते नही हैं, कम आराम करते हैं। उनके द्वारा किये गये कार्यों के पीछे ऊर्जा लगाने के उद्देश्यों में काफी भटकाव दिखता है। रोगी कई बार यह भी नही बता पाते है कि वह कोई काम क्यों कर रहे हैं। ऐसे रोगी कई बार तोड़–फोड़ करने में वस्तुओं को नुकसान पहुंचाने की क्रिया भी करते हैं।
2. मनोगत्यात्मक निष्क्रियता (Psycho-Motor Inactivity) में उपरोक्त अवस्था के विपरीत आचरण करता है। अर्थात् मनोगत्यात्मक निष्क्रियता में रोगी की क्रिया शिथिल हो जाती है, उसमें उत्साह, जोश और ऊर्जा का अभाव दिखता है। उसे थकान, आलस्य और कमजोरी महसूस होती है। उसका मन किसी भी कार्य को करने में नहीं लगता है।
3. मौखिक व्यवहार सम्बन्धित विकृति (Disorder related to verbal behaviour) में अर्न्तवस्तु व रीति की विकृतियां आती हैं। कई मनोरोगी बोलते समय या किसी प्रश्न का उत्तर देते समय हकलाते हैं, तुतलाते हैं और शब्दों के उच्चारण और शब्दों की ध्वनि निकालने में कठिनाई होती है ऐसा मनोविदलता के रोगियों में अक्सर देखा जाता है।
4. पेशीय संकुचन (Tic) से जुड़ी विकृतियों में शरीर के किसी अंग से जुड़ी मांसपेशियों में अनैच्छिक खिंचाव व सक्रियता उत्पन्न हो जाती हैं जैसे गर्दन को उचकाना या झटके देना, पलकों को झपकने की गति में तीव्रता आना आदि।
5. रूढ़ीबद्धता (Stereotype) में रोगी लक्षण रहित किसी कार्य को अनिश्चित समय तक बार–बार दोहराता रहता है। जैसे किसी वाक्य को लगातार दोहराना, बार–बार अपने हाथों का हिलाना या किसी एक काम को लगातार करते रहना आदि। रूढ़ीबद्धता से ही व्यवहार वैचित्र्य (Mannerism) जुड़ा हुआ है। व्यवहार वैचित्र्य में रोगी किसी उद्देश्यपूर्ण क्रिया के सम्पादन में

असामान्य रूप से पुनरावृत्ति और असामान्य शारीरिक मुद्रा का प्रयोग करता है। जैसे किसी व्यक्ति का पैर छूते समय रोगी का पैर छूने के ढंग में असंगत तथा पुनरावृत्ति करने का व्यवहार।

6. नकारात्मकता (Negativism) की अवस्था में रोगी दिये गये या बताये गये कार्यों के प्रति उदासीन रहता है। उससे जो काम करने को कहा जाता है वह उस काम को या तो नहीं करता है या उसके विपरीत आचरण करता है। जैसे रोगी से कहा जाय कि वस्तुओं को आलमारी में रख दो तो रोगी वस्तुओं को और फैला देता है या इधर–उधर फेंक देता है।

उपरोक्त प्रकार की विकृतियां मनोगत्यात्मकता में आयी विसंगतियों से जुड़ी हैं। इसके अलावा भी मनोविज्ञान में कम्पन, जड़ता, पेशी प्रतिष्टम्भ (Catalepsy) तथा स्वचलता आदि.विकृतियों की चर्चा एवं अध्ययन मनोगत्यात्मक व्यवहार के लक्षणों के रूप में की जाती हैं।

20.6 सारांश

मनोविकृति का अध्ययन करने के लिये लक्षणों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। लक्षणों के द्वारा ही मनोरोग का अध्ययन और उसका निदान कर पाना सम्भव हो पाता है। लक्षण के द्वारा मनोरोग की स्थिति में मनोदैहिक प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है। इन्हीं मनोदैहिक प्रक्रियाओं को ठीक करके अर्थात् उपचार करके मनोविकृति को दूर किया जाता है। इसलिये असामान्य व्यवहार को समझने के लिये मनोवैज्ञानिक में लक्षण ज्ञान से सम्बन्धित चेतना आवश्यक होती है। इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी को असामान्य व्यवहारों के लक्षणों के अध्ययन की महत्ता से परिचय कराना है।

20.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ब्राउन, जे0एफ0 (1940), साइकोडायनिमक्स आफ अबनारमल बिहेवियर, मैक ग्राहिल बुक, न्यूयार्क।
- वोपेस, ए0पी0 (1936), ए टेक्स्ड बुक ऑफ साइक्याट्री, द मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क।
- हवाइट, डब्ल्यू0 ए0 (1926), दि लैग्वेज ऑफ सिज्याफ्रीनिया, आरकाई ऑफ न्यूरोलॉजी, शिकागो।

➢ मिश्रा, पी0डी0 एवं मिश्रा, बी0 (1982), असामान्य व्यवहार, उत्तर प्रदेष हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

20.8 आदर्श प्रश्न अभ्यास

1. मानसिक लक्षणों के स्वरूपों की चर्चा कीजिये?
2. विभ्रम और भ्रम के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिये?
3. प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धी विकृतियों के लक्षणों पर प्रकाश डालिये?
4. प्रतिगमन क्या है? इसके उत्पन्न होने के पीछे किन कारकों का योगदान होता है?

बोध प्रश्नों के उत्तरः

उत्तर :1 दृश्य रूप अध्ययन में हम प्रघटनाओं का वर्णनात्मक वर्गीकरण किया जाता है। प्रघटना जिस रूप में घटित होती है उसको उसी तरह से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें प्राघटना से सम्बन्धित 'क्या' है का उत्तर देने का प्रयास किया जाता है। यह प्राघटना के वाहय रूप के अध्ययन को दर्शाती है।

उत्तरः2 उदासीनता ऐसी मनादैहिक स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति में विरक्ति की भावना प्रबल होती है। उसमें सुख–दुख के संवेग से जुड़े भाव निर्बल होते हैं। इस स्थिति में प्रेरणात्मक शक्तियों का अभाव पाया जाता है। मनोरोगी को किसी भी कार्य को करने की इच्छा नहीं होती है।

उत्तर 3:

1. व्यामोह का सम्बन्ध ऐसे मिथ्या विश्वासों से है जो अवास्तविक और अतार्किक होते हैं।

2. व्यामोह की उत्पत्ति वास्तविक अनुभव से ना होकर अचेतन मन में दमित इच्छाएं भावनाएं एवं संवेग से होती है। अतः इनकी प्रकृति विषयगत होती है।

इकाई–21 : असामान्य व्यवहार के कारण

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 असामान्य व्यवहार के कारण

21.2.1 असामान्य व्यवहार के कारणों की खोज में कठिनाइयाँ

21.3 असामान्य व्यवहार के कारणों का विभाजन

21.4 असामान्य व्यवहार के सामान्य कारण

21.4.1 वंशानुक्रम के सम्बन्ध में कुछ मनोवैज्ञानिकों की राय

21.5 सामाजिक विकास से संबंधित कारक

21.5.1 तीव्र दबावपूर्ण कारक

21.6 सारांश

21.7 प्रश्न

21.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत असामान्य व्यवहार के कारणों के विषय में अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात् कारणों के विभाजन के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे तथा अन्त में असामान्य व्यवहार के सामान्य कारकों का अध्ययन कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में असामान्य व्यवहार के कारणों के विषय में विचार किया गया है। असामान्य व्यवहार के कारणों में मुख्यतः जैविक विकास से सम्बन्धित कारक सामाजिक विकार से सम्बन्धित कारक तथा मनोवैज्ञानिक विकास से सम्बन्धित कारक हैं, जिनमें शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक व्यवहारों को सम्मिलित किया गया है।

21.2 असामान्य व्यवहार के कारण

वैज्ञानिक व आधुनिक असामान्यता सम्बन्धी दृष्टिकोण से यह बात पूर्णतः सिद्ध हो गई है कि समान्य व असामान्य में प्रकार क अन्तर नही है, बल्कि गुण या तीव्रता के कारण ही इसमें अन्तर है। असामान्य व्यवहार जटिल प्रकृति होने के कारण हम पूर्ण रूप से यह नहीं कह सकते है कि एक विशिष्ट परिस्थिति ही एक

विशिष्ट असामान्य व्यवहार का कारण है कि असामान्य व्यवहार के कारणों की व्याख्या करना कठिन है। लेकिन हम इतना अवश्य कह सकते है कि वे परिस्थितियाँ जो व्यक्तित्व–विकास में असहायक या अवरोध उत्पन्न करती है तथा व्यक्ति के सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ असामान्य व्यवहार का कारण बनायी है। आसामान्य व्यवहारों के कारणों की विवेचना करने से पूर्व हम उन कठिनाइयों पर प्रकाश डालेंगे जो कि प्रायः असामान्य व्यवहार के विभिन्न कारणात्मक तत्वों को अलग–अलग करने तथा मूल्यांकन करने में असहायक होती है।

21.2.1 असामान्य व्यवहार के कारणों की खोज में कठिनाइयाँ

(1) अनेक प्रकार की विकृतियाँ

अनेक विकृति (disorder) के एक समान कारण नहीं होते; जैसे–मानसिक दुर्बलता, मनोस्नायुविकृति आदि। इसी प्रकार समाज विरोधी व्यक्तियों के अनेक प्रकार होने के कारण उनके कारणों के अध्ययन में असुविधा होती है।

(2) दो या दो से अधिक कारणों में संघर्ष

विकृतियों के उत्पन्न होने का मुख्य कारण दो या दो से अधिक तत्वों में संघर्ष का होना होता है तथा इन दोनों तत्वों में विभिन्न संयोजक तत्वों में विभिन्न संयोजक तत्वों का अध्ययन करना वास्तव में एक कठिन कार्य है; उदाहरणस्वरूप–प्रत्येक वंशनुगत रोग में वातावरण का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होता है। अतः असामान्य व्यवहार के कारणों को जानने में यह तत्व भी एक प्रकार का अवरोध उत्पन्न करता है कि वास्तविक रूप में विकृति के तत्वों के विभिन्न संयोजक कारकों का तुलनात्मक महत्व क्या है।

(3) विभिन्न कारणों से एक समान लक्षण की उत्पत्ति

एक प्रकार का लक्षण (symptom) अनेक प्रकार के कारणों में माध्यम से उत्पन्न किया जा सकता है; उदाहरण के लिए– अगर यह जान ले कि इस विशेष मानसिक व्यतिक्रम के लिए यह विशेष तत्व उत्तदायी है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी रोगियों, जिनमें ये लक्षण है, केवल सामान्य मात्रा में ही उपस्थित होंगे।

(4) विकृतियों के निश्चित लक्षणों का अभाव

कुछ ऐसे भी कारण होते है जिनसे उत्पन्न लक्षण एक विशेष प्रकार के रोग के लिए प्रामाणिक रूप प्रकट करते है। अतः उनका या तो निश्चित निदान (diagnosis) करना ही कठिन होता है या उनके निदान में स्वाभाविक रूप से

कुछ त्रुटियाँ आ जाती है। इस प्रकार ये विभिन्न कारक रोगों के कारणों के मूल्यांकन में एक जटिल परिस्थिति उत्पन्न कर देते है।

21.3 असामान्य व्यवहार के कारणों का विभाजन

प्रथम वर्गीकरण

उपर्युक्त कठिनाइयों के बावजूद भी मनोवैज्ञानिकों ने असामान्य व्यवहार के कारणों को जानने का प्रयास किया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर व्यक्तित्व के दोषपूर्ण विकास तथा अत्यधिक दबाव डालने वाले कारकों को प्रमुखतः दो भागों में विभाजित किया हैः

(अ) आंगिक कारण

(ख) कार्यात्मक कारण

द्वितीय वर्गीकरण

कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों ने असामान्यता को उत्पन्न करने वाली विभिन्न परिस्थितियों को एक अन्य ढंग से भी वर्गीकरण करने का प्रयास किया है जो कि सोपक्षित रूप से अधिक वैज्ञानिक है। इस दृष्टिकोण के अनुसार–

(अ) पूर्व निहित कारण

(ख) तात्कालिक कारण

पूर्वानिहित असामान्यता सम्बन्धी कारण वे है जिसके माध्यम से व्यक्तित्व विकास दोषपूर्ण हो जाता है तथा भविष्य में भी ऐसी व्यक्ति की असामन्यता बनने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती हे। पूर्वनिहित कारणों से व्यक्ति की समायोजनशीलता कम हो जाती है तथा भविष्य में जटिल संघर्ष विफलताओं के साथ वह समायोजन नही कर पाता।

तात्कालिक कारणों का सम्बन्ध उन विशिष्ट दशाओं से होता है जो कमजोर व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों के लिए ऐसी दबावपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देती है जिससे कि व्यक्ति समायोजन नहीं कर पाता हें वह लड़खड़ा जाता है, उसमें सहन–शक्ति कम हो जाती है तथा धीरे–धीरे वह असामान्यता का शिकार हो जाता है।

तृतीय वर्गीकरण

सुविधा के दृष्टिकोण से हम सामान्य व्यवहार के कारण की दो मुख्य भागों में बाँट सकते है।

(अ) सामान्य कारण

(ब) तीव्र दबावपूर्ण कारक।

इन दोनो कारकों को भी तीन–तीन उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है:–

(1) सामान्य जैविक विकास से सम्बन्धित कारक

(2) सामान्य मनोवैज्ञानिक कारक

(3) सामान्य सामाजिक कारक।

इसी प्रकार–

(1) तीव्र जैविक दशाएँ

(2) तीव्र मनोवैज्ञानिक दशाएँ

(3) तीव्र सामाजिक दशाएँ

सामान्य कारकों का सम्बन्ध उन परिस्थितियों से होता है जो व्यक्तित्व विकास में बाधा उत्पन्न करती है। तथा जिसके फलस्वरूप वयक्तित्व का विकास दोषपूर्ण ढंग से होने लगता है। तीव्र दबावपूर्ण कारणों का सम्बन्ध उन परिस्थितियों से होता है जो दोषयुक्त व्यक्तित्व से सम्बन्धित व्यक्ति को असामान्यता की ओर ले जाती है। सापेक्षित दृष्टिकोण से इन कारकों के फलस्वरूप से इन कारकों के फलस्वरूप भविष्य में असामान्यता उत्पन्न होने की सम्भावना होती है।

21.4 असामान्य व्यवहार के सामान्य कारण

जैविक विकास से सम्बन्धित कारक

व्यक्ति के आंगिक संगठन का प्रभाव उसके व्यवहार पर भी पड़ता है। यदि कुछ परिस्थितियाँ या दशायें उसकी आंगिक वृद्धि एवं जैविक विकास में बाधक उत्पन्न करती हें तो ये परिस्थितियाँ असामान्यता की द्योतक होती है। दूसरे शब्दों में, सामान्य जैविक विकास सामान्य व्यवहार को उत्पन्न करता है, तो असामान्य जैविक विकास आसामान्य व्यवहार का उत्पादन करता है। यहाँ हम सर्वप्रथम ऐसे दोषपूर्ण जैविक कारणों का बतायेंगे जिनसे असामान्य व्यवहार का निर्माण होता है।

(1) वंशानुक्रम सम्बन्धी कारक

मनोविकृत विज्ञान में वंशानुक्रम एक महत्वपूर्ण कारक है, लेकिन इसके महत्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। क्योंकि कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसको बहुत ही कम महत्व दिया है तो कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बहुत अधिक। वंशानुक्रम में वे सब शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएँ आ आती हैं जो पित्र्यैकों के माध्यम से एक व्यक्ति को अपने माँ–बाप से वंश–परम्परा के आधार पर प्राप्त

होते है। मुख्यतः वंशानुक्रम के प्रभाव से शरीर का रंग, बालों का रंग, बनावट–कद, नाक–नक्शा, नासिका सूची और कपाल सूचिका आदि निश्चित होते हैं.। वंशानुक्रम से सम्बन्धित प्राप्त निष्कर्षो के आधार पर हम यह कह सकते है कि लगभग 3/4 मानसिक दुर्बलता एवं मनोविकृति रोगों का कारण मुख्यतः दूषित वंशानुक्रम होता है। इसके अतिरिक्त लगभग 15 प्रतिशत मनोविकृतिया, लगभग अधिकांश स्नायुविकृतियाँ तथा समाज–विरोधी या अपराधी व्यवहारों में वंशानुक्रम एक सहायक रोग होता है।

प्रत्यक्ष रूप से किसी भी व्यकित को वंशानुक्रम के माध्यम से असामान्यता के लक्षण प्राप्त नहीं होते बल्कि अप्रत्यक्ष या अज्ञात रूप से स्नायुमण्डल शरीर की बनावट तथा उसके विकास में निर्धारक होते है। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि जो पिन्यैक वंशानुक्रम के माध्यम से एक व्यक्ति को मिलते हैं तथा मनोवैज्ञानिक असामान्य में सहायक होते हैं, उन पर अन्य पिन्यैकों की अन्तःक्रिया एवं बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता हैः उदाहरणार्थ– यक्ष्मा एक वंशानुक्रम से सम्बन्धित रोग है क्योंकि वंशानुक्रम के माध्यम से ऐसे पिन्यैक रोगी प्राप्त करता है जो अनुकूल शरीर–रासायनिक आधार का निर्माण करते है जिनके फलस्वरूप यक्ष्मा के कीटाणुओं के सम्पर्क में आते हैं, इस रोग में फँस जाते हैं। इस सम्बन्ध में मुख्यतः हमें उत्पत्तिमूलक व मैण्डल के सिद्धान्तों को जानना आवश्यक हैं।

(अ) उत्पत्तिमूलक सिद्धान्त

गर्भाधान के समय ही बच्चे को वंशानुक्रम तत्व प्राप्त हो जाते हैं। सन्तान की रचना माँ–बाप के शरीर–अंगों से होती है, जिन्हें बीच–कोष कहते हैं। माँ के बीचकोष को अण्ड–कोष तथा बाप के बीज कोष को शुक्र–कोष कहते हैं। इन प्रत्येक प्रकार के बीच–कोषों के तरल पदार्थ में 24(या 12 जोड़े) क्रोमोसोम पाये जाते है। इस प्रकार शुक्र व डिम्ब के मिलने से 24 जोड़े क्रोमोसोम के बन जाते है। जो बाद में अनेक कोषों का निर्माण करने रहते हैं। इन्हीं कोषों के माध्यम से वंशानुक्रम के तत्व शरीर के प्रत्येक भाग में सक्रिय हो जाते हैं।

(ब) मैण्डल सिद्धान्त

उत्पत्तिमूलक सिद्धान्त एक मुख्य प्रश्न का सही उत्तर नहीं दे पाता। वह मुख्य प्रश्न है कि अगर एक बालक अपनी माँ से एक भिन्न प्रकार की पिन्यैक तथा पिता से भी एक भिन्न प्रकार का पिन्यैक प्राप्त करता है तो ऐसी अवस्था में बच्चे का रंग, आँख, लम्बाई आदि का निर्धारण किस पर होगा? मैण्डल ने अपने इस सिद्धान्त

के आधार पर इस प्रश्न का हल निकाल दिया है। उसने इस समस्या के समाधान के लिए प्रमुख एवं अपगामी तत्वों का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उसने एक अस्ट्रियन बगीचे में मटर की फलियों पर प्रयोग किया तथा यह देखा कि जब पीली मटर को हरी मटर से गर्भित कराकर बोया गया तो उससे प्रथम पीढ़ी से पीली मटर उत्पन्न हुई। जब प्रथम प्रकार की मटरों को आपस में गर्भित कराकर बोया गया तो दूसरी पीढ़ी में एक हरी व तीन पीली मटर के अनुपात में उत्पादन हुआ। इसी तरह से ही एक बालक को अनेक शारीरिक गुण मिलते हैं।

इसी सिद्धान्त के आधार पर अनेक मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष ज्ञात किया कि किसी भी मानसिक रोग के लक्षण वंशानुक्रम के माध्यम से प्राप्त होते है। अगर व्यक्ति ऐसे वातावरण में रहता जो अभियोजनपूर्ण एवं सुरक्षित हो तो उसमें रोग के प्रत्यक्ष लक्षण विकसित नहीं होते। वंशानुक्रम से प्रभावित रोग की चिकित्सा तब ही सम्भव है जबकि उसके निर्धारकों का पता लग जाय, अन्यथा रोग के लक्षणों को समाप्त करना असम्भव है।

इस सम्बन्ध में अनेक अनुसन्धान हुए हैं जिनका आधार मुख्यतः पारिवाारिक शोध व समान यमज है। यमजों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:–

(1) एक समान यमज।

(2) भ्रातृ–यमज

एक समान यमज की उत्पत्ति एक ही डिम्ब एवं शुक्र के फलस्वरूप होती है। इस प्रकार गर्भित होकर जो एक कोष बनता है उसी का जब दो भागों में विभाजन हो जाता है तो दो भ्रूण का निर्माण हो जाता है तथा इसके ही विकसित ही जाने पर दो शिशुओं का जन्म होता है। इन शिशुओं का एक ही लिंग होता है तथा दोनों में ही शारीरिक व मानसिक गुण एक समान होते हैं।

भ्रातृ–यमजों की उत्पत्ति दो डिम्ब व दो शुक्र के अलग–अलग गर्भित होने के फलस्वरूप होती है। इसके फलस्वरूप ऐसे दो भाई या भाई–बहिन का जन्म होता है। जिनके मानसिक एवं शारीरिक गुणों में पर्याप्त अन्तर होता है।

21.4.1 वंशानुक्रम के सम्बन्ध में कुछ मनोवैज्ञानिकों की राय

कालमैन (1953,1958) ने वंशानुक्रम का मनोविदलता की उत्पत्ति पर पड़ने वाले प्रभावों के सम्बन्ध में एक अध्ययन किया तथा निम्नलिखित निष्कर्ष ज्ञात किए:–

यह परिणाम पूर्ण रूप से इस बात का समर्थन करते हैं कि सामान्य जनसंख्या की अपेक्षा मनोविदलता अन्य रक्त–सम्बन्धों में अधिक अंशों में घटित होता है।

जैक्सन ने 1960 में किए गए एक शोध परिणाम के आधार पर बताया कि वंशानुक्रम के प्रभाव में भी अनेक रोग (शारीरिक) पीढ़ी–पीढ़ी चलते रहते है इस प्रकार के पीढ़ी–पीढ़ी रोग के चलने का मुख्य कारण है कि हम वंशानुक्रम पर प्रारम्भिक वातावरण के प्रभाव को सम्मिलित नहीं करते हैं वैसे इसका मुख्य आधार वंशानुक्रम ही होता है। ज्यूक परिवार पर किए गए अध्ययन के आधार पर हम स्पष्टतः वंशानुक्रम के प्रभाव की महत्ता की स्वीकार कर सकते है। पाँच पीढ़ी के करीब 1,200 लोगो पर अध्ययन के उपरान्त यह पता चला कि 300 की शैशवावस्था मे मृत्यु हो गई, 310 व्यक्तियों ने करीब–करीब 500 वर्ष जेलो में बिताए, 400 की रोगग्रस्त होने के उपरान्त मृत्यु हो गई, 400 लोग अपने गलत कर्मो के शिकार हुए, 70 खूनी व चोर बने तथा केवल 20 ने ही काम करना सीखा। गॉडार्ड ने मार्टिन काकीकाक का उदाहरण दिया है जिसने बुद्धि लड़की से उत्पन्न सन्तान मन्द बुद्धि शराबी, पागल व कुचरित्र बनी तथा पादरी की लड़की से उत्पन्न सन्तान अच्छी नागरिक बनी। इसी के आधार पर गॉडार्ड ने यह निष्कर्ष ज्ञात किया कि वंशानुक्रम असामान्य व्यवहार का मुख्य कारण है।

वंशानुक्रम का जीवशास्त्री अध्ययन मुख्यतः मैण्डल, मार्गन, व रेमण्ड पर्ल ने किया। मनोवैज्ञानिक अध्ययनी की परम्परा में उल्लेखनीय कार्य गाल्टन व गॉडार्ड का है।1869 में गाल्टन ने अपनी पुस्तक "Hereditary Geniuss" में बताया कि योग्य व्यक्ति के संबंधी भी योग्य होते है। इसका मुख्य कारण रक्त या वंश–परम्परा का प्रभाव है। उसने 30 माँ–बाप कलाकार के परिवार के अध्ययन से यह ज्ञात किया कि इन परिवारों में 64 प्रतिशत बालक कलाकार थे जबकि सामान्य जनसंख्या के 150 परिवारों में केवल 21 प्रतिशत ही कलाकार थे। डी कैन्डोल ने सन् 1873 में गाल्टन ने इन निष्कर्षो का विरोध किया। डा0 जीन इटार्ड को एक ऐसा बालक मिला, जिसे पाँच वर्ष लगातार शिक्षित करने के बाद सामान्य व्यवहार को भी नही सिखलाया जा सका।

(2) रचनात्मक कारक–

शारीरिक गठन–प्राचीन समय के शारीरिक बनावट के आधार पर व्यक्तियों का वर्गीकरण किया गया है। मानसोपचारशास्त्र के दृष्टिकोण के रचनात्मक तत्वों से तात्पर्य है– वे जैविक गुण या दोष (जन्मजात हो या अर्जित) जो रोग उत्पन्न

करने में सहायक होते है। रचनात्मक तत्वों के अन्तर्गत हम मुख्यतः निम्न तीन विद्वानों के विचारों की विवेचना करेंगे–

(1) केश्मर का वर्गीकरण

(2) शेल्डर का वर्गीकरण

(3) मनोवैज्ञानिक प्रकार

(1) केश्मर का वर्गीकरण

आधुनिक युग के केश्मर का नाम बहुत उल्लेखनीय है क्योंकि इन्होंने विशेष प्रकार की शारीरिक बनावट के साथ विशेष प्रकार के मानसिक रोग का उल्लेख किया है। केमश्मर के अनुसार शारीरिक बनावट के आधार पर व्यक्तियों को चार प्रकारों में बाँटा जा सकता है:–

(1) पिकनिक प्रकार– इस प्रकार के व्यक्ति ह्रष्ट–पुष्ट, नाते, छाती भरी हुई, कन्धे चौड़े, गर्दन छोटी व मोटी,चिकना व भरा हुआ चेहरा होता है। इस प्रकार के व्यक्ति अगर मनोविकृत होगा तो उत्साह–विशाद मनोविकृत से पीड़ित होगा।

(2) एस्थेनिक प्रकार– इस प्रकार के व्यक्ति शेल्डन के अनुसार दुर्बल, चपटे, लम्बे, नाजुक स्वस्थ के होते है। ये गम्भीर , एकान्तप्रिय तथा रूखे स्वभाव वाले होते है। इस प्रकार व्यक्ति को मनोविदलता का रोग अधिक होता है।

(3) एथलेटिक प्रकार– इस प्रकार के लोगो का शरीर बलिष्ठ व सुगठित होा है इसके स्वभाव में लचीलापन व व्यवहार–कुशलता विद्यमान होती है।

(4) डिस्प्लैस्टिक प्रकारक– इस प्रकार के व्यक्तियों की शरीर की बनावट तीनों प्रकार से भिन्न होती है। मनोचिकित्सा की दृष्टि से इस प्रकार के व्यक्तियों का काफी महत्व है क्योंकि इस प्रकार के लोगो का शारीरिक विकास बड़ा असामान्य होता है।

(2) शेल्डन का वर्गीकरण

केश्मर के विचारो को परिमार्जित रूप देने का श्रेय शेल्डन को है। शेल्डेन के अनुसार शारीरिक बनावट व स्वभाव के आधार पर व्यक्तित्व के निम्न प्रकार हो सकते है:–

(1) गोलाकृतिक – इस प्रकार के व्यक्ति मोटे व लम्बे होते है तथा इनकी खाद्य–पदार्थो में अधिक रूचि होती है। शेल्डन के अनुसार स्वभाव को आन्तरांग–प्रधान कहा है।

(2) आयताकृमि– इस प्रकार के व्यक्तियों की माँस–पेशियों व हड्डियाँ अधिक विकसित हो जाती है। ये दुर्बल नहीं होते तथा इनमें धैर्य व साहस का गुण अधिक रहता है। दूसरे व्यक्तियों पर अधिकार जमाने की प्रवृत्ति इन व्यक्तियों में देखी जा सकती है। इनके मूल स्वभाव को शेल्डन ने कार्य–प्रधान के नाम की संज्ञा दी है।

(3) लम्बाकृतिक– इस वर्ग में आने वाले व्यक्तियों का शरीर कमजोर हुआ करता है। ये व्यक्ति एकांत में अधिक रहना पंसद करते है। इनके मूल स्वभाव को शेल्डन ने प्रमस्तिष्क–प्रधान कहा है।

यदि इनमें से कभी मानसिक रोगो का जन्म होता है तो, गोलाकृतिक व आयताकृतिक प्रकार के व्यक्तियों का उत्साह–विशाद मनोवृतिक तथा लम्बाकृतिक प्रकार की मनोविदलता उत्पन्न होती है।

(3) मनोवैज्ञानिक प्रकार

शारीरिक, प्रकार के समान कुछ मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तियों के व्यवहार की व्याख्या के लिय मनोवैज्ञानिक प्रकारों की व्याख्या करती है।

विलियम जेम्स के अनुसार– विलियम जेम्स ने दो मनोवैज्ञानिक प्रकार बताये है:–

(1) कोमल हृदय– ये व्यक्ति, अमूर्त सिद्धान्तों को बहुत मानते है तथा इसी सिद्धांत के ही आधार पर इनका व्यवहार निर्देशित होता है। ये व्यक्ति बुद्धिजीवी, आदर्शवादी, आस्तिक व पूर्वाग्राही होते है।

(2) कठोर हृदय– ये व्यक्ति सत्यप्रिय होते है तथा तथ्या के आधार पर निर्देशित होते है, इनमे प्रमुख झुकाव भौतिकवाद , निराशावाद, आध्यात्मिकतावाद व संशयवाद की ओर होते है:–

युंग के अनुसार– युंग ने निम्न दो मनोवैज्ञानिक प्रकार बतायें है:–

(1) अन्तर्मुखी – इनमे निम्न विशेषताएँ होती है:–

(क) इनमे एकान्तप्रीय , संकोचता, भावुकता व आत्म–तत्व की प्रधानता होती है।

(ख) इनका व्यवार मन के भावो या आंतरिक बातों से अधिक प्रभावित होता है।

(ग) मन में ही अपने भाव, विचार आदि रखे रहता है।

(घ) विचारो व सिद्धान्तों को अधिक महत्व प्रदान करता है।

(2) बहिर्मुखी – इनमें निम्न विशेषताएं होती है:–

(क) ये व्यक्ति सामाजिक होते है।

(ख) इनमें बाह्य वस्तुओं व बाह्य क्रियाओं के प्रति अधिक रूचि पायी जाती है।

(ग) ये व्यवहारिक तथा परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होते रहते है।

(घ) ये लोगो की उपेक्षा करते है।

युंग ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सभी व्यक्तियो को इन दोनो वर्गो में विभाजित करना कठिन होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्मुखी व महिर्मुखता के गुण पाये जाते है। अतः प्रायः सभी व्यक्ति उभयमुखी होते है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों में मनोविदलता का रोग हो सकता है।

(3) ग्रन्थितत्र– व्यक्ति के सयायोजन या असमायोजन पर ग्रन्थि–तत्रों का काफी प्रभाव पड़ता है। अगर शरीर की विभिन्न अन्तः स्वात्री ग्रन्थियाँ सन्तुलित ढंग से कार्य करती हैं तो व्यवहार नियमित रहता है। अगर इन ग्रन्थियों से निकलने वाले अन्तः स्रव में अतिरंजना (अत्यधिक कमी या वृद्धि) उत्पन्न हो जावे तो असामान्यता के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। मुख्य रूप से नलिका–विहीन ग्रन्थियां अंग्राकित है–

(अ) गल ग्रन्थि– इस ग्रन्थि की अत्यधिक क्रियाशीलता के कारण माँसपेशियों में तनाव आ जाता है। इससे जिस रस का स्राव होता है, उसे थाइरोक्सीन कहते है जिसमें 65 प्रतिशत आयोडीन होती है। अत्यधिक रस स्राव होने के परिणामस्वरूप व्यक्ति में चिंता , चिड़चिड़ापन वघवराहट उत्पन्न होती है तथा कम स्राव होने से व्यक्ति सुस्त व निकम्मा होता है।

(ब) पीयूष ग्रन्थि– इस ग्रन्थि का आकार अंगूर के समान होता है तथा यह ग्रन्थि मस्तिष्क के नीचे की नली से लटकती है। इस ग्रन्थि की अत्यधिक क्रियाशीलता के कारण शरीर की लम्बाई में वृद्धि हो जाती है तथा त्वचा भी अधिक मोटी हो जाती है। लेकिन इस ग्रन्थि के शिथिल हो जाने पर शरीर का विकास बंद हो जाता है, उसकी माँपेशियाँ दुर्बल हो जाती है। वह नाटे कद का

व्यक्ति हो जाता है। इस ग्रन्थि के स्राव में अतिरंजित होने के कारण व्यक्ति का व्यवहार भी प्रभावित होता है। व्यक्ति, आक्रामक, झगड़ालू व कामुक प्रकृति का हो जाता है। व्यक्ति समय से पूर्व ही बूढ़ा दिखाई देने लगता है।

(द) लिंग ग्रन्थियाँ – इस ग्रन्थि के स्राव के फलस्वरू काम–विकास होता है। इसी के प्रभाव के फलस्वरूप पुरूषों में पुरूषत्व व नारियों में नारीत्व उत्पन्न होता है। अगर इन गन्थियों के कार्य में असंतुलन उत्पन्न होती है। अगर ग्रन्थियों के कार्य में असन्तुलन उत्पन्न हो जावे तो व्यक्ति का कार्य करना बड़ा ही मुश्किल हो जाता है तथा वह सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर पाता है।

(य) पीनियल ग्रन्थि– इस ग्रन्थि का संबंध मस्तिष्क से होता है तथा यह ग्रन्थि मस्तिष्क के पीछे स्थित होती है। इस ग्रन्थि का कार्य निश्चित नहीं है। विद्वानो का मत है कि इस ग्रन्थि से शारीरिक गति व काम संबंधी क्रियाएँ संचालित होती है।

स्नायु–मंडल

स्नायु–मंडल के द्वारा व्यक्ति का व्यवहार व अनुभवों का नियंत्रण होता है। अतः स्नयु मंडल का समायोजन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। स्नायु–मंडल ही प्राणी व पर्यावरण के मध्य संबंध स्थापित करता है। स्नायु–मंडल के दो भाग हैः–

(1) केन्द्रिय स्नायु मंडल

(2) परिधीय स्नायु–मंडल

केन्द्रीय स्नायु–मंडल का निर्माण मस्तिष्क व सुशुम्ना के द्वारा होती है। परीधीय स्नायु–मंडल के पुनः दों भेद किये जा सकते हैः–

(अ) दैहिक स्नायु–मंडल (1) स्वायत्त स्नायु–मण्डल।

व्यक्ति क समायोजन का ही केन्द्रीय व परिधीय दोनो स्नायुमंडलों का प्रभाव पड़ता हैं, क्योंकि दोनो का ही क्रियाओं व संघटन से घनिष्ठ संबंध होता है।

नीचे संक्षेप में हम केन्द्रीय स्नायु संस्थान व स्वावयत्त स्नायु–मंडल के बारे में प्रकाश डालेंगे–

केन्दीय स्नायु–मंडल

(क) सुषुम्ना

इसके माध्यंम से हमारी सहज क्रियाओं का संचालन होता है। इसकी दो सांवेदनिक किया वाहन नाड़ियों से एक तरफ माँस–पेशी तक समाचार पहुँचता है

तो दूसरी तरफ संवेदना को संग्राहकों से स्नायु केन्द्र तक पहुँचाने का कार्य किया जाता है। प्रतिवर्त किया में इतना कम समय लगता है, कि हमें का आभास नहीं हो पाता।

(ख) मस्तिष्क

अनेक प्रकार के मानसिक व ज्ञानात्मक क्रियाओं का आधार मस्तिष्क होता है। मस्तिष्क के माध्यम से उद्दीपकों व अन्तर्बाधाओं को नियंत्रित किया जाता है तथा इमें संवेगो का अनुभव होता है। मस्तिष्क की संरचना के आधार पर किशोर अपराधियों व मनोवृत्तियों के मस्तिष्क सामान्य से व्यक्तियों से भिन्न नहीं होता । इसी के साथ ही साथ 25 प्रतिशत मानसिक दोषी व 33 प्रतिशत मनोविकृत रोगियों में मस्तिष्क आघात या मस्तिष्क दोष दिखाई पड़ता है। मस्तिष्क संरचना का मानसिक रोगों में कितना महत्व है इस सन्दर्भ में कोई निश्चित परिणाम प्राप्त नहीं हुए है। मस्तिष्क–तरंग के नवीन यन्त्र के आविष्कार में इस दिशा में नवीन शोध की सम्भावनाएँ उत्पन्न हुई है। लिण्सले का कहना है कि विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगियों के मुख्यतः अपस्मार या मृगीग्रस्त रोगियों के मस्तिष्क तरंगों में कुछ असामान्यताएँ दिखाई पड़ती हैं परन्तुं इन्हे किसी विशेष रोग के सूचक नही मान सकते।

(ग) अग्र–खण्ड

मस्तिष्क के अग्र–खण्डों व हाइपोथैलेमस या असामान्य व्यवहार से विशेष संबंध है। अग्र–खण्ड की क्षति हो जाने पर रचनात्मक नियोजन की शक्ति को क्षति पहुँचती है, बुद्धि पर तो विशेष प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु मानसिक संयोजना की क्षमता में कमी अवश्य आ जाती है। इसी के साथ ही साथ अग्र–खण्डों की अनुपस्थिति में व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों का सामना करने में कठिनाई का अनुभव करता है। उनमें कुशलता, अभिनियंत्रता तथा अपर्याप्तता से लक्षण उत्पन्न हो जाते है। **फ्रीमैन व वाट्स** का कहना है कि अग्रखण्डों को पूर्णतः पृथक् करने से व्यक्ति जीविकोपार्जन भी नहीं कर सकता।,

हाइपोथैलेमस का मानव संवेग अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस भाग को क्षति पहुँचाने से अनुभूतियों व संवेगों की अभिव्यक्ति में व्यतिकम उत्पन्न हो जाता है।अगर इससे ऊपर का समस्त मस्तिष्क पृथक कर दिया जाये तो थोड़ी–सी उत्तेजना उपस्थित होने पर ही संवेगों का अनुभाव होने लगता है।

क्योंकि इसका संबंध स्वतन्त्र स्नायु–मंडल से होता है। अतः हाइपोथैलेमस का संवेगों की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण स्थान होत है।

स्वायत्त स्नायु मंडल

इसको स्वायत्त स्वतंत्र स्नायु संस्थान इसलिए कहा जाता है कि यह केन्द्रीय स्नायु सस्थान से स्वतंत्र रहकर किया करता है। शरीर की संवेगावस्था में शरीर में अनेक बाह्य व आंतरिक परिवर्तन होते हैं जिनका संचालन स्वंत्र स्नायु–संस्थान के द्वारा होता है। ऐसी अवस्था में जब संस्थान कार्यरत होता है तब यह क्रियावाहक स्नायु संस्थान के रूप में कार्य करता है, क्योंकि इस संस्थान के माध्यम से हमारे शरीर क विभिन्न अंग, फेफड़ो, हृदय, यकृत या लिवर, आमाश्य आदि की क्रियाओं का संचालन होता है।

मनोवैज्ञानिक विकास से संबंधित कारक

व्यक्तित्व–विकास शनैः शनैः होता है। जीवन के प्रारम्भिक काल में व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अगर व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक विकास दोषपूर्ण हो तो इसके फलस्वरूप अनेक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाना स्वैभाविक ही है। दोषपूर्ण मनोवैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप व्यक्ति में अपेक्षित परिपक्तता का अभाव होता है, साथ ही साथ उसमें इस प्रकार की मनोवृत्तियों का भी विकास हो जाता है जो उसके समायोजन पर विशेष प्रकाश डालती है। कोलमैन ने उन कारको का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है जिनसे दोषपूर्ण मनोवैज्ञानिक विकास उत्पन्न होता है–

(1) प्रारम्भिक वंचितता

अगर बच्चों को प्रारम्भिक महीनों में (जन्म) जैविक या मनोवैज्ञानिक तृप्ति से वंचित रखा जावे तो इसका प्रभाव उसके व्यक्तिव पर पड़ता है। क्योंकि इससे वचिंत होने के कारण प्राणी के विकास में बाधा उत्पन्न हो जाती है। प्रारम्भिक वचिंता में निम्न प्रमुख बाते आती है।

(अ) मातृत्व प्रेम से वचिंत करना; (ब) सामान्य पर्यावरण से वंचित करना।

(1) विकृत परिवारिक स्थिति

शिशु जैसे–जैसे बाल्यावस्था की ओर अग्रसर होता है वैसे–वैसे ही उसके सम्मुख शारीरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पर्यावरण संबंधी परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं। उसका सम्पर्क क्षेत्र बढ़ता है, तथा उसके व्यक्ति के विकास पर परिवार क अलावा अन्य लोगो का भी प्रभाव पड़ने लगता है। इस समय अगर बालक के

ऊपर माँ–बाप ने ठीक प्रकार ने नियत्रिंत व सन्तुलित देखभाल न रक्खी तो उसका स्वाभाविक विकास अवरूद्ध हो जायेगा। निम्न पारिवारिक स्थितियाँ एसी होती हैं जो दोषपूर्ण होती हैं तथा उनसे बालक के विकास पर काफी मत्वपूर्ण व प्रभावकारी ढ़ग से प्रभाव पड़ता है:–

(अ) माँ–बाप या संरक्षक द्वारा तिरस्कार

(ब) बच्चे का अतिसंरक्षण

(स) दोषपूर्ण अनशासन

(द) अत्यधिक उच्च नैतिक स्तर

(य) माँ–बाप की बच्चे के प्रति पूर्णतावादी चाह

(र) माँ–बाप के मध्य पारस्परिक प्रेम का अभाव

(ल) भग्न परिवार

(व) अनैतिक आदर्श

(स) भाई–बहनों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता

(2) प्रारम्भिक मानसिक आघात

कभी–कभी बाल्यावस्था में व्यक्ति के जीवन में ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती है जिनसे उत्पन्न आघात को व सम्पूर्ण जीवन तक भुला नहीं पाता। इस प्रकार के आघातो से तात्कालिक व्यवहार तो प्रभावित होता है परन्तु साथ ही साथ भावी जीवप पर भी प्रभाव पड़ता है। इन आघातों के फलस्वरूप व्यक्ति का पर्यावरयण या आत्म–मूल्यांकन दोषपूर्ण होता जाता है। वह इनके प्रभावों के अनुरूप ही व्यवहार करता है।

(3) किशोरावस्था के लिए अनुपयुक्त तैयारी

बाल्यावस्था में बालक के सामने किसी भी प्रकार का सामाजिक बंधन नहीं होता है परन्तु किशोरवस्था के आगमन के साथ ही साथ उन पर अनेक बंधन लगा दिये जातें है। एक तरफ तो उनके शरीक विकास द्रुत गति से होता हैं और दूसरी ओर उन पर नियंत्रण लगाया जाता है, विशेष रूप से लड़कियों पर जिसके फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक रूप से उसका झुकाव गलत प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हो जाता है। भारत में यौन–शिक्षा का कोई प्रबंध न होने के कारण विशेष रूप से अनेक मानसिक रोगो का जन्म हो जाता है। अक्सर यह देखा जाता है। कि इस अवस्था में व्यक्तियों का समायोजन असन्तुलित हो जाता है,

(4) अन्य कारक

मनोवैज्ञानिक विकास से संबंधित निम्न कारण और भी हो सकता है:– (अ) प्रौढ़ावस्था के लिये अपेक्षित योग्यताओं का अभाव, तथा (ब) दोषपूर्ण जीवन–दर्शन।

21.5 सामाजिक विकास से संबंधित कारक

व्यक्ति के समायोजन पर वंशानुक्रम के प्रभाव के अतिरिक्त पर्यावरण का भी ज्ञान पड़ता है। पर्यावरण से संबंधित कारकों के एक भाग को हम मनोवैज्ञानिक विकास से संबंधित कारको के अन्तर्गत वर्णन करेंगे। अन्य पर्यावरणगत कारकों का संबंध सामाजिक कारको से होता है।

अनेक अध्ययनो से यह सिद्ध हो गया है कि सांस्कृतिक संरचना का व्यक्गित–विकास पर काफी प्रभाव पड़ता है। यह प्रमुखशास्त्री **अरनेस्ट वर्गीज** (1955) का मत है कि दोषपूर्ण सामाजिक कार्य प्रणाली ही मानसिक रोगो की जननी है। **मीड** के अनुसार, व्यवहार के स्वरूप–निर्धारण में सामाजीकरण की प्रक्रिया प्रमुख रूप से सहायक होती है। अगर यह प्रक्रिया ही दोषपूर्ण है तो व्यवहार विकृत होना स्वभाविक ही है। भिन्न–भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक प्रतिमान भिन्न–भिन्न प्रकार के मानसिक रोगो को जन्म देते है–ऐसा समाजशास्त्रियों का विचार है। **कारोदर्स, डेमरोथ,मीथ** आदि विद्वानों का मत है कि सांस्कृतिक भिन्नताएँ भी मानसिक विकारों से उत्पन्न होने में सहायक होती हैं। मुख्य रूप से सामाजिक कारण निम्न होते है:–

(1) पास–पड़ोस (2) विद्यालय (3) समुदाय (4) संस्कृति (5) सामाजिक तनाव (6) युद्ध (7) प्रजाति (अ) राष्ट्रीयता आदि।

21.5.1 तीव्र दबावपूर्ण कारक

व्यक्तियों के सामने कुछ ऐसी स्थितियाँ सामने आ जाती है। कभी–कभी संगठित व समायोजित पूर्ण व्यक्तित्व वाले व्यक्ति भी इन तीव्र सामाजि दशाओं को झेल नहीं पाता तथा भविष्य के लिए असमान्यता की सम्भावना बना लेता है। इन कारको हम संक्षेप में निम्न तीन उप–वर्गो में रखकर अध्ययन करेंगे:–

(अ) तीव्र दबावपूर्ण जैविक दशाएँ

कुछ ऐसी जैविक दशाएँ होती है जो व्यक्ति को असामान्य बनाने का पूर्ण प्रयास करती है। ये मुख्य दशाएँ– शारीरिक दीर्घकालीन रोग, खाद्य सामग्री या

पोषक तत्वो का अभाव, अत्यधिक मद्यपान, अत्यधिक संवेगात्मक तनाव आदि है। कभी–कभी व्यक्ति के मस्तिष्क के कोषों को क्षति हो जाने पर भी तीव्र प्रभाव उत्पन्न हो जाता है।

व्यक्ति को जीवित रहने एंव विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए आराम व पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है क्योकि प्रत्येक क्रिया में कुछ शक्ति खर्च हो जाती है जिसे इनके माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। अगर व्यक्ति को दीघ्रकाल तक विश्राम व पोषक तत्व प्राप्त न हो तो व्यक्ति में विभिन्न प्रकार की असामान्ताओं का जन्म हो जाता है। निरन्तर यही दशा रहने पर व्यक्ति साधारण कठिनाईयों को भा सामना नहीं कर पाता।

(ब) तीव्र दबावपूर्ण मनोवैज्ञानिक दशाएँ

जीवन का सफर सफलता या सुखद अनुभूतियों के साथ ही व्यतीत नहीं होता, बल्कि उसे जीवन में अनेक नैराष्यों व अन्तर्द्वन्द्वों का भी सामना करना पड़ता है। तीव्र दबावपूर्ण मनोवैज्ञानिक दशाओं में वे स्थितियाँ आती हैं जिनमें दोषपूर्ण व्यक्ति वाले व्यक्ति असामान्यता के शिकार हो जाते हैं या सापेक्षिक रूप से संगठित व्यक्ति भावी जीवन में असमान्यता की आशंका से ग्रस्त हो जाता है।

व्यक्ति की प्रमुख मनोवैनिक आवश्यकता उपयुक्तता व आत्म–सम्मान है। व्यक्ति का अहम् इनकी पूर्ति करने का यथासम्भव प्रयास करता है। परन्तु असफलताएँ, हानियाँ, अपराध–भाव उतन्न करने वाली ऐसी प्रमुख स्थितियाँ हैं, जो व्यक्ति की इन प्रमुख मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को प्रभावित करती हैं तथा उसमें आत्म–अवमूल्यन उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त अर्न्तद्वन्द्व, प्रमुख सामाजिक, राजनैतिक व व्यक्तिगत दबाव आदि से ऐसी तीव्र मनोवैज्ञानिक दषाएँ हैं, जो असामान्यता उत्पन्न होने का कारण बन जाती है।

(3) तीव्र दबावपूर्ण सामाजिक दशाएँ

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी प्रथाएँ सामाजिक या सांस्कृतिक मान्यताएँ विद्यमान या उत्पन्न हो जाती हैं जिनका सामना प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर पाता क्योंकि उनको सहन करने के लिए पर्याप्त रूप से समायोजित व संगठित व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। ये सामाजिक स्थितियाँ मुख्य रूप से युद्ध की आशंका,तीव्र आर्थिक परिवर्तन, बेरोजगारी, पक्षपात, तीव्र आपसी भेदभाव आदि स्थितियाँ हैं। भारत की स्थिति आज अधिक भयावह हो गई है। पाकिस्तान व चीन उसके शत्रु बने है। आर्थिक स्तर निम्न होता जा रहा है, जिसका प्रत्यक्ष

प्रमाण व्याप्त बेकारी व बेरोजगारी है। यद्यपि आज भारत अन्य देशों की अपेक्षा मानसिक विकृतियाँ कम है। परन्तु अगर नागरिकों ने इन प्रमुख समाजिक कुरीतियों व समस्याओं का समाधान नहीं निकाला तो सम्भावना है कि भारत भी मानसिक विकृतियों का एक केन्द्र बन जायेंगा।

वैसे असामान्य व्यवहार कारणो को ढूँढ़ना एक कठिन कार्य हैं, क्योंकि इनको उत्पन्न होने में अनेक परिस्थितियॉ सहायक होती है। परन्तु अध्ययन के दृष्टि कोण से इनके कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है– पूर्वनिहित व तात्कालिक कारक। पूर्वनिहित कारणों से व्यक्तित्व– विकास दूषित होता है तथा ये ही व्यक्ति को भविष्य में असामान्य बनाने के कारणों को उत्पन्न करते हैं। तात्कालिक कारक दोषपूर्ण व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के सम्मुख दबावपूर्ण स्थिति का रूप लेते हैं जिनको वह सहन नहीं कर पाता और वह असामान्य का शिकार हो जाता है। दोनों कारकों के अन्तर्गत विभिन्न जैविक, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक कारक व स्थितियाँ आती हैं।

21.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् असामान्य व्यवहार के कारणों का अध्ययन किया, कारणों के विभाजन के विषय में अध्ययन किया तथा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और जैविक लक्षणों के विषय में इस इकाई के अन्त में ज्ञान प्राप्त किया।

21.7 प्रश्न

1. असामान्य व्यवहार से क्या समझते हैं? असामान्य व्यवहार के कारणा की विवेचना कीजिए।
2. असामान्य व्यवहार के कारणों के विभाजन से क्या तात्पर्य है? समझाइये।
3. असामान्य व्यवहार के अन्तर्गत वंशानुक्रम के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों की राय को स्पष्ट कीजिए।
4. सामाजिक विकास से सम्बन्धित विभिन्न कारकों का वर्णन कीजिए।

21.8 संदर्भ ग्रंथ

1. चौबे, डॉ. सरयू प्रसाद, सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, कानसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2005।
2. सिंह, डॉ. श्याम बिहारी, बाल–व्यवहार व्यतिक्रम, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1995।
3. मिश्र, डॉ. पी. डी., सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
4. जायसवाल, डॉ. सीताराम, शिक्षा में निर्देशन और परामर्श, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2010/2011।
5. आलम, डॉ शाह, एवं गुफरान डॉ. मोहम्मद, निर्देशन एवं परामर्श का मूलभूत आधार, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011।
6. सिंह, अरुण कुमार, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2004।
7. सुलेमान, डॉ. मुहम्मद एवं तौवाब, डॉ. मुहम्मद, असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004।
8. शर्मा, डॉ. सीमा, सामान्य मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011।
9. मिश्र, डॉ. पी. डी., असामान्य व्यवहार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

इकाई–22 : असामान्य व्यवहार के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 असामान्य व्यवहार की अवधारणा

22.3 असामान्य व्यवहार के प्रकार

22.3.1 अमेरिकन मनोविकार चिकित्साशास्त्र के अनुसार

22.3.2 असामान्यता के प्रकार

22.3.3 मनोविदलता के प्रकार

22.4 सारांश

22.5 प्रश्न

22.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के उपरांत असामान्य व्यवहार के विषय में अध्ययन कर सकेंगे। असामान्य व्यवहार के अर्थ तथा परिभाषाओं का वर्णन कर सकेंगे। असामान्य व्यवहार के प्रकारों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। असामान्य व्यवहार को अमेरिकन मनोविकास चिकित्साशास्त्र के अनुसार अध्ययन करेंगे। तत्पश्चात् असामान्यता के प्रकारों तथा मनोविदिलता के प्रकारों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में असामान्य व्यवहार के प्रकरों पर चर्चा की गई है। मानसिक रोगों को दो भागों में विभाजित किया गया है। (1) वे मानसिक विकृतियाँ जिसमें विषय या संरचनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं। (2) वे विकृतियाँ जिनमें लक्षण नहीं होते है और उनकी उत्पत्ति व्यक्तित्व विशेषता के आधार पर होती है। इसमें कोई सामुहिक अथवा शारीरिक व्यवसाय नहीं उत्पन्न होता है। इस प्रकार की विकृतियों

को मनोजन्य विकृतियां कहते हैं। यह एक प्रकार का व्यवहार होता है जो व्यक्तित्व की आंतरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सीखा जाता है।

22.2 असामान्य व्यवहार की अवधारणा

असामान्य शब्द अंग्रेजी भाषा के अवनामल का हिन्दी रूपान्तर है। अवनार्मल दो शब्दों से मिलकर बना है एब+नार्बल। एब का अर्थ होता है नही तथा नार्मल का अर्थ है नियमित इस दृष्टि से असामान्य वह है जिसमें नियमितता नही पाई जाती है। असामान्य व्यक्ति वह है जो प्रतिमानों का पालन नहीं कर पाता है। शारीरिक रोगों के संबंध में प्रतिमान शरीर संरचनात्मकता एवं कार्यात्मकता से संबंधित होते है इसलिए सामान्य तथा विकृति में अन्तर को अधिक सुस्पष्टता से वर्णित किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर ऐसा कोई प्रारूप नही है जो आदर्श एवं पूर्ण सामान्यता का प्रत्यय प्रस्तुत करता हो जिससे कि तुलना संभव हो सकें। अतः अब भी भ्रम एवं विरोधाभास बना हुआ है कि क्या सामान्य है क्या असामान्य है, क्या सामान्य नही है। इस संबंध में अनेकी दृष्टिकोण एवं प्रारूपों का विकास हुआ है जो भिन्न–भिन्न रूप से असामान्यता को विश्लेषित करते है।

साधारणतया असामान्य व्यक्ति का व्यवहार अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। ऐसे व्यक्ति को सामाजिक पर्यावरण में अपने को समायोजित करने में कठिनाई होती है। वह प्रायः दुखी एवं अप्रसन्न रहता है, उसका दृष्टिकोण एकागी होता है। जिसके कारण समस्या समाधान करने में विशेष कठिनाई अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व अस्थिर, संवेग अस्पष्ट तथा बुद्धि सीमित होती है। उसका पत्यक्षीकरण उचित नही होता है।

22.2.1 असामान्यता की परिभाषाएं

यहाँ पर असामान्यता की कुछ परिभाषायें प्रस्तुत है :

रूथ बेनेडिक्ट

असामान्यता केवल सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति है जो व्यक्ति एक संस्कृति में असामान्य घोषित कर दिये जाते है, वे दूसरी संस्कृति में जाकर सामान्य व्यवहार करते है।

थामस साज

नैतिक तथा सामाजिक आदर्शो से प्रथक्करण मानसिक रोग समझा जाता है।

डोलार्ड तथा मिलर

सामान्य व्यक्ति वह होता है जो ज्ञानात्मक रूप से द्वन्द्वात्मक आवश्यकताओं की प्रकृति को जान सकता है। इसके विपरीत असामान्य व्यक्ति होता है।

किस्कर, जी0डब्लू0

मानव व्यवहार व अनुभूति जो अजीब अनुपयोगी या सामान्य के अनुरूप न हो उसे असामान्य कहा जा सकता है।

डलमान ऐण्ड क्रेसनर

असामान्य व्यवहार उन व्यवहारिक तरीकों की सुविधा के लिए नामांकन है जो सामाजिक अभिलाशाओं को पूरा करने में असफल रहते हैं।

22.3 असामान्य व्यवहार के प्रकार

शारीरिक रोगों के वर्गीकरण के सिद्धान्त के समान मानसिक विकृतियों के सम्बन्ध में कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर असामान्यता का वर्गीकरण किया जा सके। शारीरिक रोगों को व्याधिकीय कारणों, शारीरिक विच्देदन रचना व्यवस्थाओं तथा विकृत प्रक्रियाओं के आधार पर वर्गीकृत करते हैं। परन्तु व्यक्ति व्यवधानों को इन आधारों पर वर्गीकृत नहीं कर सकते हैं। व्यक्तित्व विकृतियाँ जो निश्चित रचनात्मक परिवर्तनों के द्वारा उत्पन्न होती हैं, जैसे जरामनोविदलता, इनको मस्तिष्क में विध्नात्मक परिवर्तनों के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं। परन्तु ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि आंगिक कारकों के महत्वपूर्ण होने पर भी ऐसे बहुत से कारक हैं जिनको इस आधार पर वर्णित नहीं किया जा सकता है। इसके लिए व्यक्ति के पूर्ण व्यक्तित्व एवं आंतरिक मानसिक जीवन के विषय में ज्ञान भी होना आवश्यक होता है। यही कारण है कि आज मानसिक विकृतियों के वर्गीकरण की अपेक्षा व्यक्ति की समस्या एवं उसके आंतरिक एवं बाह्य प्रभावों तथा व्यक्ति द्वारा प्रयोग में लाये गये समस्या समाधान के तरीकों पर अधिक महत्व दिया जाने लगा है तथा उन उपायों की खोज की जा रही है जिनसे सामाजिक समायोजन एवं जीवन में संतोष प्राप्त हो सके।

विवरण की दृष्टि से मानसिक विकृतियों का वर्गीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। लेकिन निश्चित वर्गीकरण करना मनमानी होगी, क्योंकि उपचार कार्य रोगी का किया जाता है न कि रोग का। उपचार की दृष्टि से मानसिक रोगों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (1) वे मानसिक विकृतियाँ जिनमें विशज या संरचनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं। (2) वे विकृतियाँ जिनमें ये लक्षण नहीं होते हैं और उनकी उत्पत्ति व्यक्तित्व विशेषता के आधार पर होती है। इसमें कोई

स्नायुविक अथवा शारीरिक व्यवधान नहीं उत्पन्न होता है। इस प्रकार की विकृतियों को मनोजन्य विकृतियाँ कहते हैं। यह एक प्रकार का व्यवहार होता है जो व्यक्तित्व की आंतरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सीखा जाता है। लेकिन ऐसा व्यवहार अवांछनीय, असमायोजित तथा अव्यवहारिक होता है। इस प्रकार आंगिक एवं मनोजन्य दो प्रकार की मनोविकृतियाँ होती हैं परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति एक पूर्ण इकाई है। उसका शरीर व मन पृथक–पृथक न होकर एक इकाई के रूप में कार्य करता है।

22.3.1 अमेरिकन मनोविकार चिकित्साशास्त्र के अनुसार

अमेरिकन मनोविकार चिकित्साशास्त्र के अनुसार असामान्य व्यवहार निम्न प्रकार के होते हैं :–

1. मानसिक मंदता

- सीमावर्ती मानसिक मंदता
- मंद मानसिक मंदता
- सम मानसिक मंदता
- गम्भीर मानसिक मंदता
- अति मानसिक मंदता

2. आंगिक मस्तिष्क संलक्षण

- वृद्धावस्था अथवा
- पूर्ण वृद्धावस्था की मनोविदलता
- मद्यपान सम्बन्धी मनोविकृति
- मस्तिष्क संक्रमण सम्बन्धी मनोविदलता
- अन्य मस्तिष्क दशाओं की मनोविकृति
- अन्य शारीरिक दशाओं सम्बन्धी मनोविकृति

3. पूर्व अंकित शारीरिक दशाओं के अतिरिक्त कारणों से उत्पन्न मनोविकृतियाँ मनोविदलता

1. सामान्य प्रकार
2. मनोकुंठात्मक
3. समन्वय ह्वासात्मक
4. स्थिर भ्रमात्मक

5. अतिमनोविदलनात्मक उपाख्यान

प्रमुख भावात्मक विकृतियाँ (प्रभावात्मक मनोविकृतियाँ)

1. अन्तर्मुखी विषाद
2. उन्मत्त विषादात्मक रोग (उन्मत्त प्रकार)
3. उन्मत्त विषादात्मक रोग (विषादात्मक प्रकार)
4. उन्मत्त विषादात्मक रोग (चक्रीय प्रकार)
5. अन्य प्रमुख भावात्मक विकृतियाँ

स्थिर व्यामोहात्मक स्थिति

- स्थिर व्यामोह
- अन्तर्मुखी स्थिर व्यामोहात्मक स्थिति
- अन्य स्थिर व्यामोहात्मक स्थितियां

अन्य मनोविकृतियाँ

- मनोजन्य विषादात्मक प्रतिक्रिया
- प्रतिक्रियात्मक भ्रम
- तीव्र स्थिर व्यामोहात्मक प्रतिक्रिया
- अविशेषीकृत प्रतिक्रियात्मक मनोविकृति

4. मनोस्नायु विकृतियाँ

- चिंता मनोस्नायु विकृति
- उन्मादात्मक मनोस्नायुविकृति
- रूपान्तरिक प्रकार
- अकारण भय
- वाह्य विचार वाह्य क्रियात्मक स्नायु विकृति
- विशादात्मक मनोस्नायुविकृति
- मनोदौर्बल्यता
- अव्यक्तिकरण मनोस्नायुविकृति
- रोग भय मनोस्नायु विकृति
- अन्य मनोस्नायु विकृतियाँ

5. व्यक्तित्व विकृतियाँ तथा अन्य अमनोविकारात्मक मानसिक विकृतियाँ

- व्यक्तित्व विकृतियाँ
- स्थिर व्यामोहात्मक व्यक्तित्व
- साइक्लोथमिक व्यक्तित्व
- मनोविदलनात्मक व्यक्तित्व
- विस्फोटात्मक व्यक्तित्व
- बाध्य विचार बाध्य क्रियात्मक व्यक्तित्व
- उन्मादात्मक व्यक्तित्व, दुर्बल्यात्मक व्यक्तित्व,
- असामाजिक व्यक्तित्व, निश्क्रियात्मक–उग्रात्मक
- व्यक्तित्व तथा अपूर्ण व्यक्तित्व
- लैंगिक विचलन
- समलैंगिकता
- फैटेशिज्म
- पेडोफीलिया
- प्रतिजातीय वस्त्राधारण आसक्ति
- प्रदर्शन वृत्ति
- वायेरिजम
- परपीड़न रति
- स्वीपड़न रति
- अन्य विचलन
- मद्यपान
- घटना विशेष पर अत्यधिक मद्यपान
- अत्यधिक मद्यपान का आदी
- मद्यपान का आदी
- अन्य (अविशेषीकृत) मद्यपान
- औषधि निर्भरता
- अफीम (अलकालाइड)

- तत्सम्बन्धित विचलन
- सेनथेटेकि एनेजलेसिक्सक विद मारफइन प्रकार का प्रभाव
- बारविटुरेट्स
- अन्य सम्मोहक तथा पीड़ानिवारण औषधि
- कोकीन
- हशीष, मेरीहुना
- मनो–उत्तेजक
- विभ्रमात्मक
- अन्य औशधि निर्भरता

6. मनोदैहिक विकृतियाँ

- मनोदैहिक त्वचा विकृति
- मनोदैहिक पेशी का क्लीय विकृति
- मनोदैहिक स्वशन विकृति
- मनोदैहिक हृदय वाहिका विकृति
- मनोदैहिक रुधिर एवं लसीका विकृति
- मनोदैहिक अन्तःस्रावी विकृति
- विशेष ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित मनोदैहिक विकृति
- अन्य मनोदैहिक विकृतियाँ

7 विशेष लक्षण

- वाणी व्यवधान
- विशेष सीखने में व्यवधान
- स्पंदन
- अन्य मनोगत्यात्मक विकृतियाँ
- निद्रा व्यवधान
- भोजन सम्बन्धी व्यवधान
- बिस्तर पर मूत्र त्याग करना

8. परिस्थिति जन्य अस्थायी व्यवधान

- शैशव कालीन समायोजन सम्बन्धी प्रतिक्रियायें

- बाल्यावस्था समायोजन सम्बन्धी प्रतिक्रियायें
- किशोरावस्था की समायोजन सम्बन्धी प्रतिक्रियायें
- प्रौढ़ावस्था की समायोजन सम्बन्धी प्रतिक्रियायें
- वृद्धावस्था की समायोजन सम्बन्धी प्रतिक्रियायें

9. बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था की व्यवहारिक विकृतियाँ

- अतिसक्रियात्मक प्रतिक्रियायें
- प्रत्याहार प्रतिक्रियायें
- अतिचिंतात्मक प्रतिक्रिया
- भागने की प्रतिक्रिया
- असामाजीकृत उग्रात्मक प्रतिक्रिया
- सामूहिक बाल अपराधी प्रतिक्रिया
- अन्य प्रतिक्रियायें

10. मनोविकृतियाँ असम्बन्धित एवं अविशेषकृत दशायें

- वैवाहिक कुसमायोजन,
- सामाजिक कुसमायोजन,
- व्यवसायिक कुसमायोजन,
- असामाजिक व्यवहार,
- अन्य कुसमायोजन

कैमरन ने मानसिक विकृतियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है :–

(अ) मनोस्नायुविकृतियाँ

1. चिंता प्रतिक्रियायें
2. असंगत भय प्रतिक्रियायें
3. रूपान्तरिक प्रतिक्रियायें
4. मनोविच्छेदित प्रतिक्रियायें
5. वाह्य विचार वाह्य क्रिया प्रतिक्रियायें
6. मनोस्नायुविक विषादात्मक प्रतिक्रियायें

(ब) मनोविकृतियाँ

1. स्थिर व्यामोहात्मक प्रतिक्रियायें

2. मनोविकृत्यात्मक विषाद प्रतिक्रियायें
3. उत्साह विषाद प्रतिक्रियायें
4. मनोविदलनात्मक प्रतिक्रियायें
5. अन्तर्मुखी मनोविकृत्यात्मक प्रतिक्रियायें

(स) अन्य मुख्य विकृतियाँ

1. व्यक्तित्व विकृतियाँ
2. मनोदैहिक विकृतियाँ
3. चारित्रिक विकृतियाँ

22.3.2 असामान्यता के प्रकार

(अ) मनोविकृतियाँ

(क) कार्यात्मक (मानसिक क्रियाओं की गड़बड़ी)

(1) मनोविदलता

- सरल
- मनोकुण्ठात्मक
- समन्वय ह्यासात्मक
- स्थिर व्योमोहात्मक

(2) उत्साह विषाद

(a) उत्साह

- मंद उत्साह
- तीव्र उत्साह
- उन्मत्त उत्साह

(b) विषाद

- सरल
- तीव्र
- विमूढ़ता

(3) अन्तर्मुखी विषाद

(4) स्थिर व्यामाहे

- दण्ड के व्यामोह

- ईर्ष्या का व्यामोह
- रोग का व्यामोह
- मुकदमेंबाजी

(ख) संरचनात्मक (आंगिक परिवर्तन)

(1) आंगिक विषज विकृतियाँ

(2) उपदंशजन्य तथा मद्यपान सम्बन्धी विकृतियाँ

(3) जरामनोभ्रम

(ब) मनोस्नायुविकृतियाँ

(क) चिंतात्मक स्थिति

(ख) क्षोभोन्माद

(1) साधारण

(2) रूपान्तरित

(3) स्थिरीकृत

(ग) मनोदौर्बल्यता

(घ) बाध्यविचार बाध्य क्रिया

(ङ) अकारण भय

(स) मनोदैहिक विकृतियाँ

1. मनोदैहिक त्वचा विकृति
2. मनोदैहिक पेशीकांकलीय विकृति
3. मनोदैहिक हृदयवाहिक विकृति
4. मनादैहिक आमाशयान्त्र विकृति
5. मनोदैहिक श्वसन् विकार
6. मनोदैहिक रुधिर व लसीका विकृति
7. मनोदैहिक जननमूत्र सम्बन्धी विकृति
8. मनोदैहिक अन्तः स्रावी विकृति
9. मनोदैहिक स्नायुमण्डल विकार
10. विशेष ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित विकृतियाँ

(द) लैंगिक विकृतियाँ

1. हस्तमैथुन
2. समलैंगिकता
3. मुखलिंग सेवन
4. गुदालिंग सेवन
5. परपीड़न रति
6. स्वपीड़न रति
7. स्पर्श आशक्ति
8. नग्नता दर्शन अशक्ति
9. प्रदर्शन प्रवृत्ति
10. प्रतिजातीय वस्त्राधारण आशक्ति
11. शिशु कामुकता
12. पशु कामुकता
13. आक्रामकता एवं अतिक्रामुकता

(य) व्यक्तित्व विघटन

(क) आक्रामक

(ख) अपर्याप्त

1. चोरी उन्माद
2. मिथ्या भाषा
3. ठगी
4. झगड़ालू
5. नैतिक अपराधी
6. ज्ञानहीन

(ग) रचनात्मक

(र) मानसिक मंदता

(क) जड़

(ख) मूढ़

(ग) मूर्ख

22.3.3 मनोविदलता के प्रकार

मनोविदलता के विभिन्न प्रकार American Psychiatric Association ने बतलाये हैं इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है :–

1. सरल मनोविदिलता

यह मनोविदिलता बहुत कम संख्या में पायी जाती है। सरल मनोविदिलता के प्रति रुचियाँ धीरे–धीरे संकीर्ण होती है। धीरे–धीरे उसके सामाजिक सम्बन्ध ा टूटने लगते हें। विपरीत सेक्स में रुचि कम होने लगती है। रोगी अपनी कल्पित दुनिया में रहना अधिक पसंद करता है। रोगी मूडी और चिड़चिड़ा हो जाता है। सफलता और असफलता के प्रति रुचि और परवाह धीरे–धीरे कम होने लगती है।

2. हेबीफ्रेनिक मनोविदिलता

इस प्रकार के रोगियों की आयु अपेक्षाकृत कम होती है। इस रोगी का व्यवहार विचित्र होता है। इसमें व्यक्तित्व विघटन कुछ अधिक तीव्र होता है। जैसे–जैसे यह रोग बढ़ता जाता है रोगी में संवेगात्मक उदासीनता आती जाती है और उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं बाल्यावस्था की ओर प्रतिगमन करती जाती हैं। रोग के बढ़ने के साथ–साथ रोगी का व्यवहार बचकाना और बेवकूफीपूर्ण होता जाता है। उसकी हँसी अनुपयुक्त होती है। यदि उससे उसकी हँसी का कारण पूछा जाय तो वह कारण बताने में असमर्थ होता है। उसकी बातचीत भी बच्चों जैसी हो जाती है।

रोगी को अनेक प्रकार से विभ्रम होते हैं। उसे विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई देती हैं। आवाजें उसके कुकुर्मों को कोस कसती हैं और उसको धिक्कार सकती हैं। विभ्रम के साथ–साथ उसे व्यामोह भी होते हैं। यह व्यामोह कई प्रकार के हो सकते हैं–सेक्स सम्बन्धी, धार्मिक, दण्डात्मक तथा हाइपोकानड्रियालकल आदि। वह विश्वास कर सकता है कि दुश्मन उसका पीछा कर रहे हैं लेकिन वह तो कई बार मर चुका है।

जब रोग की तीव्रता बढ़ जाती है तब व्यक्ति अपने पाखाना–पेशाब से खेलते देखा जा सकता है। कुछ रोगियों में रोना और हँसना साथ–साथ हो सकता है। बिना संकोच दूसरों के सामने काम क्रिया कर सकता है। दीवारों या स्वयं पर मल–मूत्र फेंकते भी देखा जा सकता है।

3. कैटाटानिक मनोविदिलता

मनोविदिलता का यह रूप अचानक विकसित होता है। इस रोग की दो अवस्थाएं हैं– (1) मूर्छित अवस्था, (2) उत्तेजित अवस्था। रोगी कभी भी एक

अवस्था से दूसरी अवस्था में और दूसरी से पहली अवस्था में पहुँच सकता है। किसी रोगी में एक अवस्था अधिक समय और दूसरी कम समय रह सकती है।

मनोविदिलता के अन्य प्रकारों की अपेक्षा इस प्रकार के रोगी के ठीक होने की सम्भावना सबसे अधिक होती है। यद्यपि इस रोग के लक्षण एकाएक उत्पन्न होते है फिर भी वास्तविकता से खिंचाव की पृष्ठभूमि पहले से विद्यमान रहती है।

मोरीसन (1973) से 110 रोगियों के अध्ययन में देखा कि मूर्च्छित अवस्था की प्रधानता वाले रोगियों की संख्या सर्वाधिक होती है फिर मिले–जुले प्रकार के रोगियों की ओर सबसे कम उत्तेजित अवस्था की प्रधानता वाले रोगी होते हैं।

मूर्च्छित अवस्था

इस अवस्था में रोगी घण्टों में गतिहीन रह सकता है और एक ही आसन में कई–कई घण्टे बैठा रह सकता है। इस आसान में कई–कई घंटे बैठने के कारण उसके पैरों में सूजन आ सकती है और नील भी पड़ सकते हैं। यदि रोगी के आसन को बदलने का प्रयास किया जाये तो वह विरोध करता है। मल–मूत्र और मुँह से लार बहने का उसे कोई ध्यान नहीं रहता है। वह अनेक प्रकार के विभ्रम से पीड़ित होता है। उसे भोजन की याद नहीं रती है। उसकी प्रवृत्ति निशेधात्मक प्रकार की होती है। उसकी त्वचार नरम और चेहरे पर शून्यता दिखायी देती है। कुछ रोगियों में सुझाव ग्रहणशीलता अधिक पायी जाती है। रोगी के ऊपर धमकियों और वेदनापूर्ण उत्तेजनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

उत्तेलित अवस्था

शान्त रोगी एकाएक उत्तेजित हो सकता है। इस स्थिति में उसकी क्रियाशीलता बहुत बढ़ी हुई होती है। वह अस्पष्ट बेतुकी जोर–जोर से बातें करता है। दूसरों के सामने गन्दा व्यवहार कर सकता है और हस्तमैथुन भी कर सकता है। वह इस अवस्था में हिलता रहता है जैसे घड़ी का पेण्डुलम। वह कमरे के चक्कर काटता है। वह स्वयं की हत्या कर सकता है और दूसरों पर आक्रमण तथा स्वयं पर आक्रमण भी कर सकता है। यह कुछ घंटे या दिनों या कुछ सप्ताह तक अवस्था चल सकती है।

4. पैरानाइड मनोविदिलता

इस प्रकार की मनोविदिलता अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक मात्रा में पायी जाती है। इस मनोविदिलता में रोगी अनेक प्रकार के व्यामोह से पीड़ित होता है। रोगी के व्यामोह अर्थहीन और शीघ्र और शीघ्र परिवर्तित होने वाले व्यामोह होते हैं।

मनोविदिलता के लगभग आधे रोगी पैरानाइड टाइप के होते हें। उनके अन्तःवैयक्तिक सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। इस प्रकार के रोगी को दण्डात्मक व्यामोह सर्वाधिक दिखाई देते हैं। उसे आशंका होती है कि उसके रिश्तेदार और सम्बन्धी उस पर निगरानी रख रहे हैं, उसका पीछा कर रहे हैं, उसके ही बारे में बातें करते रहते हैं। लोग उसे जहर देकर मार डालना चाहते हैं। विद्युतीय किरणें उसके शरीर से पास हो रही है। विद्युत उपकरणों द्वारा उसकी मानसिक क्रियाएं प्रभावित हैं।

रोगी स्व–सन्दर्भ और महानता के व्यामोह भी पाये जाते हैं। व्यक्ति दृष्टि और श्रवण आदि से सम्बन्धित विभ्रमात्मक अनुभव भी करता है। वह देवी–देवताओं और ईश्वर की आवाजें या विचित्र संगीत सुनाता है। यह विभिन्न प्रकार की विचित्र आवाजें सुनकर रोगी तोड़–फोड़ कर सकता है।

जब रोग की तीव्रता बढ़ जाती है तो रोगी की संवेगात्मक और बौद्धिक क्षमताओं का विघटन बहुत अधिक हो जाता है। इसके विभ्रम और व्यामोह अधिक विचित्र और अतार्किक हो जाते हैं।

मनोविक्षिप्तता का एक प्रकार का पैरानोय्या होता है। यह रोग पैरानोय्या मनोविक्षिप्तता से भिन्न होता है। पैरानोय्या रोगी के व्यामोह स्थायी और तार्किक होते हैं जबकि इस रोगी के व्यामोह अस्थायी और अतार्किक होते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि पैरानोय्या रोगी का व्यक्तित्व व्यामोहों को छोड़कर संगठित होता है। जबकि इस रोगी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से और अपेक्षाकृत अधिक विघटित होता है। पैरानोय्या और पैरानाइड मनोविदिलता में यही दो महत्वपूर्ण अन्तर है।

5. तीव्र प्रकार की मनोविदिलता

इस मनोविदिलता को पहले Acute Undifferentiate Type कहा जाता था। चूँकि मनोविदिलता का प्रत्येक प्रकार तीव्र हो सकता है अतः यह तीव्र प्रकार उस सबसे भिन्न एक अलग प्रकार है।

यह एक सापेक्षिक रूप से सामान्य व्यक्ति में अकस्मात उत्पन्न हो सकता है। इसमें व्यापक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है। यह रोगी एक कुछ दिनों या कुछ सप्ताह में अपनी समस्याओं का समाधान करके सामान्य व्यक्ति बन जाता है।

इस रोगी के कुछ प्रमुख लक्षण हैं– त्रुटिपूर्ण प्रत्यक्षीकरण, नियन्त्रण ढीला पड़ते ही आतंक मचा देता है, उसके चारों और क्या हो रहा है इसे

समझने का बार–बार प्रयत्न करता है। भविष्य के प्रति बहुत अधिक आशंका होती है, अनुपयुक्त पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं, आदि।

6. बाल्य कालीन मनोविदिलता

बाल्यकालीन मनोविदिलता जैसा इसके नाम से स्पष्ट है यह बाल्यावस्था में होने वाला रोग है। इस रोग के कुछ प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार से हैं– विचार प्रक्रिया का निरूपण, पारस्परिक सम्बन्धों का अभाव कामुक और आक्रामक आवेगों की अकस्मात उत्पत्ति, चिन्तन का विघटन, असंगत व्यवहार, भाषा सम्बन्धी विकार जैसे धीरे बोलना और शब्दों का विरूपण और मनोग्रस्तता आदि।

वेन्डर (1953, 1955, 1961) ने इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन किये हैं। उससे बाल्यकालीन मनोविदिलता से पीड़ित 600 बच्चों का अध्ययन किया। रोगी बच्चे की आयु का विस्तार 2–3 वर्ष था। उसने अपने अध्ययन में देखा कि बच्चों का विकास अनियमित और मंद था। इस अध्ययन में यह भी देखा गया कि इन रोगियों में आत्म परिचय के विकास में कठिनाई होती है तथा वह बच्चे के माता–पिता से उपयुक्त तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते हैं। इनकी वास्तविकता के प्रति संरचित दृष्टिकोण नहीं होता है तथा इनकी मनोरचनाओं का विकास उपयुक्त नहीं होता है।

7. दीर्घकालिक अविभेदित मनोविदिलता

यह मनोविदिलता का वह रूप है जो अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक दिनों तक बना रहता है। वास्तव में यह मनोविदिलता के पूर्व की अवस्था है। इसमें मिश्रित प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। इस प्रकार के रोगी में लक्षण गुप्त और मनोविदिलता के हल्के प्रकार के लक्षण होते हैं। इन हल्के मनोविदिलता के लक्षणों के होते हुए भी रोगी किसी न किसी सीमा तक अपना समायोजन करने में सफल होता है और अपनी जीविका चलाता रहता है।

8. भाव प्रारूप मनोविदिलता

यह मनोविदिलता का वह प्रकार है जिसमें मनोविदिलता और उत्साह–विषाद मनोविक्षिप्तता के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं। यद्यपि रोगी में प्राथमिक लक्षण मनोविदिलता के ही होते हैं परन्तु समय–समय पर वह उत्साह–विषाद रोग के लक्षणों से भी प्रभावित होता रहता है।

9. अवशिष्ट मनोविदिलता

इस वर्ग के अन्तर्गत वे रोगी आते हैं जो अस्पताल में उपचार के बाद काफी ठीक तो हो जाते हैं परन्तु मनोविदिलता के लक्षणों के कुछ अवशेष विद्यमान रह जाते हैं। यह अवशेष मनोविदिलता के हल्के लक्षण होते हैं।

10. गुप्त प्रकार की मनोविदिलता

इस प्रकार के मनोविदिलता के लक्षण तो होते हैं परन्तु लक्षणों का इतिहास पूर्ण रूप से मनोविदिलता के प्रसंग में नहीं होता है।

22.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से असामान्य व्यवहार के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझा। असामान्य व्यवहार के प्रकारों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। असामान्यता के प्रकारों का अध्ययन किया तथा अंत में मनोविदलता के विषय में जानकारी प्राप्त की।

22.5 प्रश्न

1. असामान्य व्यवहार की अवधारणा को समझाइए तथा परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. असामान्य व्यवहार का क्या तात्पर्य है? असामान्य व्यवहार के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. असामान्य व्यवहार को समझाते हुए, असामान्य व्यवहार के प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
4. असामान्यता तथा मनोविदलता के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए।

22.6 संदर्भ ग्रंथ

1. चौबे, डॉ. सरयू प्रसाद, सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, कानसेप्ट पब्लिसिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2005।
2. सिंह, डॉ. श्याम बिहारी, बाल–व्यवहार व्यतिक्रम, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1995।
3. मिश्र, डॉ. पी. डी., सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
4. जायसवाल, डॉ. सीताराम, शिक्षा में निर्देशन और परामर्श, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2010/2011।
5. आलम, डॉ शाह, एवं गुफरान डॉ. मोहम्मद, निर्देशन एवं परामर्श का मूलभूत आधार, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011।
6. सिंह, अरुण कुमार, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2004।

7. सुलेमान, डॉ. मुहम्मद एवं तौवाब, डॉ. मुहम्मद, असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004।

8. शर्मा, डॉ. सीमा, सामान्य मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011।

9. मिश्र, डॉ. पी. डी., असामान्य व्यवहार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

इकाई–23 : मानसिक असंतुलन का प्रबन्धन

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 मानसिक असंतुलन का प्रबन्धन (उपचार पद्धतियाँ)

23.3 मनोसामाजिक उपचार–पद्धतियाँ

23.3.1 मनोचिकित्सा

23.4 जैविक उपचार पद्धतियाँ

23.4.1 रसायन चिकित्सा

23.4.2 विद्युत उपचार पद्धति

23.4.3 मनोशल्य चिकित्सा

23.5 सामाजिक उपचार पद्धतियाँ

23.6 सहायक उपचार पद्धतियाँ

23.6.1 व्यावसायिक चिकित्सा

23.6.2 मनोरंजनात्मक चिकित्सा

23.6.3 जल चिकित्सा

23.6.4 संगीत चिकित्सा

23.6.5 अन्य सहायक पद्धतियाँ

23.7 सारांश

23.8 प्रश्न

23.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त मानसिक असंतुलन की उपचार पद्धतियों के विषय में अध्ययन कर सकते हैं। मनोसामाजिक उपचार पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे जिसके अन्तर्गत मनोचिकित्सा के लक्ष्य तथा चरणों के विषय में अध्ययन करेगे। इसके पश्चात जैविक उपचार पद्धतियों का वर्णन कर सकेंगे। तत्पश्चात् सामाजिक उपचार पद्धतियों के साथ–साथ अन्त में सहायक उपचार पद्धतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

23.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मानसिक असंतुलन के प्रबन्धन के विषय पर विचार किया गया है। उपचार पद्धति का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति या समूह की सहायता करना होता है जिससे कि वह आदर्श व्यवहार को प्राप्त कर सकेंगे। आधुनिक उपचार पद्धतियों की सहायता से रोगी के लक्षणों या कष्टों को भी नहीं दूर किया जा सकता है। बल्कि रोगी के जीवन को उपयुक्त सरस और रचनात्मक भी बनाया जाता है।

23.2 मानसिक असंतुलन का प्रबन्धन (उपचार पद्धतियाँ)

उपचार–पद्धति के द्वारा रोगी के कुसमायोजित व्यवहार का रूपान्तरण किया जाता है। उपचार–पद्धति का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति या समूह की सहायता करना होता है जिससे कि वह आदर्श व्यवहार को प्राप्त कर सके। उपचार पद्धति का प्रत्यय नया नहीं है बल्कि प्राचीन काल से ही मनुष्य जीवन की समस्याओं के समाधान हेतु एक दूसरे की सहायता करते रहे हैं। आधुनिक उपचार–पद्धतियों की सहायता से रोगी के लक्षणों या कष्टों को ही नहीं दूर किया जा सकता है बल्कि रोगी के जीवन को उपयुक्त, सरस और रचनात्मक भी बनाया जाता है।

आधुनिक युग में आज भी कुछ चिकित्सक रसायन चिकित्सा पर बल देते हैं, कुछ जैविक उपचार–पद्धतियों पर बल देते हैं तो कुछ मन–सामाजिक विधियों की उपयोगिता पर बल देते हैं। परन्तु किसी एक प्रकार ककी चिकित्सा पद्धतियों पर अधिक बल देना किसी परिस्थिति विशेष से ठीक हो सकता है परन्तु सभी रोगों के उपचार में एक ही प्रकार की चिकित्सा पद्धतियाँ अधिक उपयोगी नहीं होती हैं। अतः रोगी के प्रभावपूर्ण उपचार के लिए आवश्यकतानुसार एक से अधिक उपचार–पद्धतियों का ही प्रयोग करना अधिक सुफलदायक होता है।

प्रस्तुत अध्याय में मुख्य चार प्रकार की उपचार पद्धतियों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। ये मुख्य चार वर्ग हैं :–

1. मनोसामाजिक उपचार पद्धतियाँ
2. जैविक उपचार पद्धतियाँ
3. सामाजिक उपचार पद्धतियाँ
4. सहायक उपचार पद्धतियाँ

परम्परागत मनोचिकित्सा पद्धति का वर्णन भी है जो मनोसामाजिक उपचार पद्धतियों के अन्तर्गत किया गया है।

23.3 मनोसामाजिक उपचार–पद्धतियाँ

मनोसामाजिक उपचार पद्धतियों के अन्तर्गत वे पद्धतियाँ आती हैं जिनकी प्रकृति या रूप मनोवैज्ञानिक भी है और सामाजिक थी। इन मनोसामाजिक उपचार पद्धतियों में अनेक उपचार पद्धतियाँ वे हैं, जो मनोचिकित्सा के अन्तर्गत आती हैं, का वर्गीकरण भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ मनोसामाजिक उपचार पद्धतियों के अन्तर्गत अधिकांश वे उपचार पद्धतियाँ है जो पहले मनोचिकित्सा के अन्तर्गत आती थी।

23.3.1 मनोचिकित्सा

अब से मानसिक विकारों का उपचार मनोवैज्ञानिक उपचार पद्धति द्वारा प्रारम्भ हुआ त से मनोचिकित्सा में क्रमबद्धता के प्रयास हो रहे हैं। आज मनोचिकित्सा की अनेक शाखाएं हैं फिर भी दिन–प्रतिदिन हो रहे अध्ययनों के कारण विकास जारी है। आज मनोचिकित्सा का क्षेत्र व्यापक है और दिन–प्रतिदिन अधिक व्यापक होता जा रहा है। इस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने से पूर्व आवश्यक है कि मनोचिकित्सा के अर्थ को समझ लिया जाय।

पेज (1962) के अनुसार, "मनोचिकित्सा का मनोवैज्ञानिक प्रविधियों के द्वारा, मानसिक विकारों का तथा विशेष रूप से विभिन्न मनस्तापों का उपचार है।"

फिशर (1948) के अनुसार "मनोचिकित्सा मनोवैज्ञाकि तथ्यों और सिद्धान्तों का एक सुनियोजित और क्रमबद्ध प्रयोग है जिसके द्वारा मानव बीमारियों को बड़े स्तर पर राहत पहुँचाना है विशेष रूप से उन बीमारियों को जिनकी उत्पत्ति मनोजन्म कारणों से होती है।

लैण्डिस और बाल्स (1950) के अुनसार, "मनोचिकित्सा का अर्थ मानव मन के ऊपर मानसिक साधनों के द्वारा प्रभाव डालने की क्रिया है, जिसका अभिप्राय रोग का निराकरण करना है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, "मनोचिकित्सा का अर्थ मनोवैज्ञानिक प्रविधियों के द्वारा उन मानसिक विकारों का उपचार करना है जो मनोजन्य कारणों से उत्पन्न हुए हैं।"

उपर्याकित परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि मनोचिकित्सा का अर्थ उपचार पद्धति से है। इससे रोगों का न्यूनीकरण भी हो सकता है और निराकरण भी। मानसिक विकारों का उपचार मनोवैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों पर आधारित होता है। इस उपचार पद्धति का उपयोग केवल कुछ ही मानसिक

विकारों के उपचार में ही नहीं आता है बल्कि अधिकांश मानसिक विकारों के उपचार में मनोचिकित्सा पद्धति का प्रयोग किया जाता है। मानसिक विकारों में यह उपचार पद्धतियाँ अधिक लाभप्रद तथा सुफलदायक है जिनकी उत्पत्ति मुख्यतः मनोजन्य कारणों से होती है।

मनोचिकित्सा के लक्ष्य

1.लक्षणों से छुटकारा पाना

मनोचिकित्सा का प्रमुख उद्देश्य रोगी के लक्षणों को कम करना या दूर करना है। मनोचिकित्सक रोगी के लक्षणों के अन्तनिर्हित कारणों को समझता है फिर अन्तर्निहित कारकों और समस्याओं को दूर करके लक्ष्णों को दूर करने का प्रयास करता है।

2. प्रसन्न रहने की क्षमता बढ़ाना

विभिन्न मानसिक विकारों से पीड़ित रोगी कुसमायोजित ही नहीं होते हैं बल्कि उनमें प्रसन्नता की शून्यता या अभाव भी पाया जाता है। मनोचिकित्सा का उद्देश्य रोगी में प्रसन्न रहने की क्षमता को बढ़ाना है अर्थात् रोगी के जीवन को सुखमय बनाना है।

3. समायोजन में सहायता

मानसिक विकारों से ग्रस्त रोगियों का समायोजन दोषपूर्ण होता है या जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में वे कुसमायोजित ही होते हैं। मनोचिकित्सा के द्वारा इनको इस योग्य बनाने का प्रयास किया जाता है कि वे जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में प्रभावपूर्ण समायोजन कर सके।

4. स्वाभाविकता को बढ़ाना

मानसिक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति में स्वाभाविकता का अभाव पाया जाता है। मनोचिकित्सा के द्वारा रोगी में स्वाभाविकता उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है।

5. कार्यक्षमता को बढ़ाना

मानसिक रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों की कार्यक्षमता सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कम होती है। मनोचिकित्सा का लक्ष्य रोगी की कार्यक्षमता को सामान्य बनाना होता है।

6. आत्म–सम्मान और सुरक्षा की भावना बढ़ाना

मानसिक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति का आत्म अवमूल्यन हो जाता है। वह

अपने आपको असहाय और असुरक्षित अनुभव करता है। मनोचिकित्सा का उद्देश्य रोगी का आत्म–सम्मान बढ़ाना तथा उसमें सुरक्षा की भावना उत्पन्न करना है।

7. अन्तर्दृष्टि में वृद्धि करना

मानसिक रोगियों में अन्तर्दृष्टि की कमी पायी जाती है। मनोचिकित्सा के द्वारा उनमें अन्तर्दृष्टि को सामान्य अवस्था की भाँति उत्पन्न करना होता है।

8. धनात्मक लक्ष्यों की ओर प्रेरित करना

मानसिक रोगियों में धनात्मक लक्ष्यों का अभाव पाया जाता है। रोग जितने ही अधिक गम्भीर होते हैं रोगियों में आदर्श लक्ष्यों का उतना ही अधिक अभाव पाया जाता है। मनोचिकित्सा के द्वारा रोगियों को धनात्मक और आदर्श लक्ष्यों की ओर प्रेरित किया जाता है।

9. आत्मस्वीकृति में वृद्धि

मनोचिकित्सा के द्वारा रोगी में साहस और विश्वास की वृद्धि की जाती हैं जिसमें कि वह अपनी वास्तविकता को स्वीकार कर सके।

कोलमैन (1976) ने मनोचिकित्सा के छः लक्षणों को बताया है:–

1. कुसमायोजित व्यवहार प्रतिमानों को परिवर्तित करना।
2. कुसमयोजित उत्पन्न करने वाली या कुसमायोजन को निरन्तर बनाये रखने वाली परिस्थितियों को कम करना या पूर्णतः समाप्त करना।
3. अन्तर्वैयक्तिक क्षमताओं को बढ़ावा देना।
4. अवांछित अन्तर्द्वन्द्वों को कम करना।
5. रोगी के स्वयं उसके प्रति गलत धारणाओं को तथा उसकी उसके वातावरण और संसार के प्रति त्रुटिपूर्ण धारणाओं को संशोधित और रूपान्तरित करना।
6. अर्थपूर्ण तथा रचनात्मक जीवन की प्राप्ति हेतु जीवन मार्ग का निर्माण करना।

मनोचिकित्सा के प्रारूपिक चरण

मनोचिकित्सा की अनेक उपचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इन भिन्न–भिन्न उपचार पद्धतियों में प्रक्रिया की दृष्टि से मित्रता है। प्रक्रिया में भिन्नता होते हुए या निम्न कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जो मनोचिकित्सा की सभी उपचार पद्धतियों में समान रूप से पायी जाती हैं :

1. उपचारात्मक वातावरण तथा सम्बन्धों का सृजन

इस प्रथम चरण में यह भी आवश्यक है कि साक्षात्कार और विचार–विमर्श के लिये एक ऐसे स्थान या कमरे की आवश्यकता होती है जहाँ शान्त वातावरण हो। चिकित्सा के प्रारम्भ में ही रोगी और चिकित्सक के मध्य सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने आवश्यक हैं। चिकित्सक रोगी को विश्वास दिलाता है कि उसके सभी बातों पर विचार–विमर्श को गुप्त रखा जायेगा वह रोगी के प्रति मैत्रीपूर्ण और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है। चिकित्सक के इस प्रकार के व्यवहार और वातावरण के ही कारण रोगी अपनी समस्याओं को खुले दिल से बताता है मनोचिकित्सा की किसी भी उपचार पद्धति द्वारा उपचार करते समय शान्त वातावरण वाला कमरा या स्थान तथा रोगी और मनोचिकित्सक के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध आवश्यक है।

2. संवेगात्मक मोचन

उपयुक्त शान्त वातावरण और सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने के बार रोगी अपनी समस्याओं को चिकित्सक के सामने अभिव्यक्त करता है। वह अपका भय, अपराध भावना और आक्रामकता तथा अन्य संवेगात्मक अनुभवों और घटनाओ को बाहर निकालता या अभिव्यक्त करता है। रोगी जैसे–जैसे अपनी इन संवेगात्मक सामग्री का मोचन करता है उसे शान्ति का अनुभव होता है। मनोचिकित्सा के लिये यह संवेगात्मक मोचन आवश्यक है। रोगी में जैसे–जैसे संवेगात्मक मोचन होता जाता है उसका तनाव और अन्तर्द्वन्द्व कम होता जाता है। संवेगात्मक मोचन लिए मनोचिकित्सक अनेक साधनों का उपयोग कर सकता है, जैसे–सम्मोहन, साहचर्य औषधिजन्य बेहोशी आदि।

3 अन्तर्दृष्टि

रोगी के संवेगात्मक अन्तर्द्वन्द्व और तनाव जैसे–जैसे बाहर निकलते हैं रोता को अपनी प्रेरणाओं और व्यवहार के प्रति ज्ञान बढ़ता जाता है। प्रेरणाओं और व्यवहार के प्रति ज्ञान में वृद्धि के साथ–साथ रोगी को इसका भी ज्ञान बढ़ता जाने है कि उसके जीवन लक्ष्य अपेक्षित है या अधिक ऊँचे है अथवा निम्न स्तर के है मनोचिकित्सक इस सम्बन्ध में जो व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है उससे रेागी व अन्तर्दृष्टि में विकास और वृद्धि होती है। इस वृद्धि के साथ–साथ उसका विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन बढ़ता जाता है। मनोचिकित्सा के कुछ प्रकारों में अन्तर्दृष्टि और आत्मबोध को आवश्यक माना जाता है तथा कुछ में इसे अनावश्यक भी माना जा है।

4. व्यक्तित्व परिवर्तन

जैसे–जैसे रोगी को उसकी स्वयं की समस्याओं के प्रति अन्तर्दृष्टि बढ़ती जाती है उसे इस बात का ज्ञान होता जाता है कि उसके समस्या समाधान के तरीके कितने दोषपूर्ण थे। इस ज्ञान के साथ–साथ वह अपने व्यवहार में परिवर्तन करता है जिससे कि वह उपयुक्त प्रकार से समायोजन कर सके। ये परिवर्तन छोटे भी हो सकते हैं और बड़े भी। बड़े परिवर्तनों में रोगी अपनी आदतों और सामाजिक भूमिकाओं तथा धारणाओं में परिवर्तन करता है। इस परिवर्तन में मनोचिकित्सक रोगी की अनेक परिवर्तित स्थानों पर सहायता करता है वह उसे इस बात का ज्ञान करता है कि कौन–सी दोषपूर्ण आदतों को किन प्रभावपूर्ण आदतों से बदलना है। प्रारम्भ में रोगी छोटे–छोटे परिवर्तन करता है फिर क्रमशः बड़े परिवर्तनों की ओर अग्रसर होता है। इन परिवर्तनों के साथ–साथ रोगी का आत्म–विश्वास बढ़ता जाता है। व्यक्तित्व की परिवर्तन की यह प्रक्रिया नयी धारणाओं के अधिगम की ओर केन्द्रित होती है। इसे संवेगात्मक पुर्नशिक्षा भी कह सकते हैं।

5. मनोचिकित्सा की समाप्ति

रोगी जैसे–जैसे अपनी समस्याओं के समाधान की ओर और व्यक्तित्व परिवर्तन की ओर अग्रसर होता है उसका आत्म–विश्वास बढ़ता जाता है। जब रोगी प्रभावपूर्ण समायोजन करने में सफल होता है तो मनोचिकित्सा की समाप्ति का समय आ जाता है। रोगी को यह विश्वास होने लगता है कि अब वह अपने प्रभावपूर्ण समायोजन कर सकता है। मनोचिकित्सा समाप्ति के बाद भी रोगी को इस बात की छूट होती है कि जिस समय भी वह यह अनुभव करे कि उसे मनोचिकित्सा की आवश्यकता है वह पुनः मनोचिकित्सक के पास जा सकता है। उसके लिए मनोचिकित्सक के दरवाजे हमेशा खुले रहते हैं।

मनोचिकित्सा के प्रमुख प्रकार

1. मनोविश्लेषण उपचार पद्धति
2. रोगी केन्द्रित या अनिर्देशात्मक उपचार पद्धति
3. निदेशात्मक उपचार पद्धति
4. अस्तित्वपरक उपचार पद्धति
5. व्यवहार उपचार पद्धति
6. सामूहिक उपचार पद्धति
7. अन्तःवैयक्तिक उपचार पद्धति

8. सम्मोजन उपचार पद्धति
9. साइक्रोड्रामा
10. क्रीड़ा उपचार पद्धति

(1) मनोविश्लेषण उपचार पद्धति

मनोविश्लेषण उपचार पद्धति फ्रायड की देन है। ये उपचार पद्धति दीर्घकालीन है। यह कई वर्षों तक चल सकती है। इस उपचार पद्धति की आधारभूत टेकनीक मुक्त साहचार्य है। फ्रायड के बाद इस उपचार पद्धति में अनेक विद्वानों द्वारा परिवर्तन भी किये गये हैं परन्तु इसकी मूल संरचना आज भी वही है।

कोलमैन (1976) ने मनोविश्लेषण चिकित्सा–पद्धति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "मनोविश्लेषण उपचार पद्धति गहन और दीर्घकालीन प्रक्रिया है जिसके द्वारा दमित स्मृति, प्रेरणाएँ और अर्न्तद्वन्द्व की खोज की जाती है– जो सम्भवतः प्रारम्भिक मनोलैंगिक समस्याओं से उत्पन्न होते हैं। मनोविश्लेषण द्वारा रोगी की इस प्रकार सहायता की जाती है कि वह वयस्क वास्तविकता के अनुसार अपनी इन स्मृतियों, प्रेरणाओं और अर्न्तद्वन्द्वों का समाधान करें।"

मनोविश्लेषण उपचार पद्धति एक जटिल उपचार पद्धति है फिर भी इसके आधारभूत तथ्यों को सरल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। मनोविश्लेषण में चिकित्सक के लिए आवश्यक है कि वह प्रशिक्षित ही न हो बल्कि उसे मनोविश्लेषण करने का पर्याप्त अनुभव हो। मनोविश्लेषण का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण सजग और उत्साहपूर्ण होना चाहिए। मनोविश्लेंषण के लिए यह भी आवश्यक है कि वह रोगी की समस्याओं के प्रति संवेदनशील हो साथ ही साथ वस्तुनिष्ठ भी होना आवश्यक है।

बहुधा मनोविश्लेषण ऐसे आरामदेह कमरें में किया जाता है जिसमें रोगी के बैठने के लिए गद्देदार आराम कुर्सी होती है कमरे का वातावरण शान्त होता है।

मनोविश्लेषण प्रारम्भ करने से पूर्व मनोविश्लेषक रोगी के साथ सर्वप्रथम सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं होते हैं तब तक मनोविश्लेषक रोगी से उसके रोग और कष्टों के सम्बन्ध में बातचीत करता है तथा उसे उपयुक्त प्रोत्साहन भी देता है। सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होते ही रोगी को यह विश्वास हो जाता है कि चिकित्सक एक सक्षम और सहायता करने वाला व्यक्ति है।

मनोविश्लेषण के पद

मनोविश्लेषण उपचार पद्धति के द्वारा मनोविश्लेषक रोगी के अचेतन मन की विषय–सामग्री (अर्न्तद्वन्द्व, तनाव, प्रेरणाएँ और स्मृतियाँ आदि) को चेतन स्तर पर

लाता है फिर विवेचना के आधार पर वह रोगी के व्यक्तित्व को पुर्नगठित करने को प्रयास करता है जिससे कि रोगी समाज द्वारा मान्य व्यवहार प्रतिमानों के अनुसार समायोजित व्यवहार कर सके। मनोविश्लेषण के कुछ प्रमुख पद निम्न प्रकार से हैं :

1. मुक्त साहचर्य

सर्वप्रथम रोगी को एक शान्त वातावरण वाले कमरे में आराम कुर्सी पर बैठाया या लेटा दिया जाता है। फिर रोगी के साथ मनोविश्लेषक सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है। सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में मनोलिश्लेषक रोगी के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है और इस प्रकार उसका विश्वास प्राप्त करता है। इस प्रकार के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए रोगी का आवश्यकतानुसार कुछ प्रारम्भिक साक्षात्कारों की भी आवश्यकता हो सकती है। सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने के बाद मनोविश्लेषक रोगी के अचेतन की दमित सामग्री की जानकारी मुक्त साहचर्य द्वारा प्राप्त करता है।

मनोचिकित्सक प्रायः रोगी के पीछे बैठता है जिससे कि उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति का रेागी के मुक्त साहचर्य में बाधा न पहुँचे। रोगी के पीछे इस प्रकार बैठकर, मनोविश्लेषक रोगी को समझाते हुए बताता है कि आपके मन में जो कुछ भी आये आपको बिना किसी संकोच के बतलाना है। आपने मन में आने वाले विचार चाहे कितने ही व्यक्तिगत, वेदनापूर्ण या अतार्किक और व्यर्थ क्यों न हो सभी बताते जाना है। आप अपने बारे में जितना ही अधिक बतलायेंगे मैं आपकी उतनी ही अधिक सहायता और उपचार कर सकता है। आप निःसंकोच होकर अपने मन में आने वाले सभी विचारों को बोलते जायेंगें। हो सकता है कि आपके मन में ऐसे विचार आये जिन्हें आप प्रगट न करना चाहें, यह न चाहते हुए भी आप अपने विचारों को अवश्य बोलते जाइये। संक्षेप में मन में आने वाले सभी विचारों को आपको बोलना है। इस प्रकार रोगी आराम कुर्सी पर बैठा–बैठा रोगी द्वारा बोले गये विचारों की रिकार्डिंग करता रहता है।

रोगी का यह मुक्त साहचर्यक्रम सदैव समान ढंग से चलता है बल्कि विभिन्न मनोरचनाओं के कारण रोगी में अप्रिय और अमान्य विचार, प्रेरणाएँ और अन्तर्द्वन्द्व रुकते हैं। इनके निकलने से रोगी के अहं को ठेस लगने की सम्भावना होती है। रोगी के विचारों का इस प्रकार रुकना प्रतिरोग कहलाता है। यह प्रतिरोध निम्न रूपों में व्यक्त हो सकता है–

1. मुक्त साहचर्य का साक्षात्कार देते समय यह कहता है कि अब मन में कोई विचार नहीं आ रहा है जिस पर बोलूँ।

2. रोगी लम्बी घटनाओं को और स्वप्नों को बताना प्रारम्भ कर दे।
3. बोलते–बोलते जब रोगी ऊँघने लगे।
4. रोगी मनोविश्लेषण मीटिंग के लिए देर से आये।
5. जब रोगी मनोचिकित्सक की ही बात में समय अधिक लगाये।
6. मनोविश्लेषण की मीटिंग के लिए पहिले से ही विषय सामग्री तैयार करें।
7. बोलते–बोलते रुक जाये और कहे कि समझ नहीं आता है कि शुरूआत कहाँ से करूँ।

मनोविश्लेषक को उपर्युक्त प्रतिरोधों को दूर करना चाहिए। इनको तोड़ने के लिए मनोविश्लेषक रोगी को उसकी बातों को गोपनीय रखने का विश्वास दिलाता है तथा सहानुभूति प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार रोगी की अवदमित विषय–सामग्री का मोचन होता है। रोगी को राहत की अनुभूति होती है। तकनीकी भाषा में इसको Catharsis कहते हैं। रोगी अपने अचेतन मन की सम्पूर्ण विषय – सामग्री को शीघ्र बता दे और उसे बताने में कोई प्रतिरोध न हो इसके लिए मनोविश्लेषक रोगी को कभी–कभी बेहोशी लाने वाला औषधि का सेवन करवाता है। प्रारम्भ में फ्रायड इसके लिए सम्मोहन का प्रयोग किया करता था परन्तु उपयोगी न होने के कारण उसने बाद में इसका उपयोग बन्द कर दिया।

इस प्रकार मुक्त साहचर्य द्वारा प्राप्त अचेतन मन की विषय–सामग्री का विश्लेषण कर विवेचना करता है फिर रोगी को उन अन्तर्द्वन्दों और प्रेरणाओं के प्रति निर्देशन देता है जिससे वह अपनी इस अज्ञात विषय–सामग्री के प्रति अन्तदृष्टि प्राप्त कर सके।

2. स्वप्न विश्लेषण

अचेतन मन की जानकारी प्राप्त करने के लिय मुक्त साहचर्य के अतिरिक्त द्वितीय विधि स्वप्न विश्लेषण है। अचेतन मन तक पहुँचने के लिए स्वप्न राजमार्ग है। फ्रायड ने अपने पुस्तक में लिखा है कि स्वप्न निरर्थक और अनुपयोगी नहीं होते हैं बल्कि सार्थक, उपयोगी और मितव्ययी होते हैं।

निन्द्रावस्था में जब व्यक्ति की चेतना शिथिल पड़ जाती है तो चेतना का दतिम इच्छाओं के लिये प्रतिरोध कम हो जाता है, अतः अचेतन की दमित इच्दाओं को सवप्नों के रूप में अभिव्यक्ति होने का अवसर मिल जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इच्छाओं की अभिव्यक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। स्वप्न प्रतिबन्धक अचेतन मन की इच्छाओं पर प्रतिबन्ध लगाता है।

फ्रायड के अनुसार स्वप्न में दो विषय होते हैं (1) **व्यक्त विषय :** यह स्वप्न का वह विषय है जो स्वप्नकर्ता को जागने के बाद याद रहता है अथवा जागने के बाद स्वप्न के बारे में वह जो कुछ भी सुना पाता है वही व्यक्त विषय है। (2) **अव्यक्त विषय :** यह स्वप्न का वह विषय है जिससे अचेतन मन की इच्छाएं बदले हुए रूप में चेतन मन में आती हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्ति–विषय का वास्तविक रूप अव्यक्त विषय है। फ्रायड ने Dream Mechanism को पांच पदों के आधार पर समझाया है :–

(1) संक्षेपण : अचेतन मन की दमित इच्छाएं स्वप्नों के रूप में व्यक्त होने से सबसे पहले संक्षेपण या आकुंचन होता है। संक्षेपण में व्यक्त विषय की अनेक बाते व्यक्त होने से पूर्व लुप्त हो जाती हैं और केवल संक्षिप्त रूप में व्यक्त होती हैं।

(2) विस्थापन : इस मैकेनिज्म में दमित इच्छाएँ सम्बन्धित व्यक्ति अथवा घटना के प्रति व्यक्त न होकर किसी अन्य व्यक्ति या घटना के साथ विस्थापित होकर उस व्यक्ति या घटना के साथ व्यक्त होती हैं।

(3) प्रतीकीकरण : इस मैकेनिज्म में अचेतन मन की इच्छाएं प्रतीकों के रूप में व्यक्त होती हैं क्योंकि Dream Censor इन अनैतिक और सामाजिक इच्छाओं को चेतन में आने के लिए प्रतिरोध उत्पन्न करता है। फ्रायड के कुछ प्रतीक निम्न प्रकार हैं– छाता, खम्भा, डण्डा आदि पुरुष लिंग के प्रतीक हैं। चढ़ना, उतरना, तैरना, पेट भर भोजन करना यौन सम्भोग के प्रती हैं। अमरूद, सन्तरा, सेब आदि फल स्तन के प्रतीक हैं।

(4) नाटकीकरण : अमूर्त इच्छाएँ व्यक्त होने से पूर्व इस मैकेनिज्म के द्वारा मूर्त रूप धारण करती हैं। व्यक्ति स्वप्न इस प्रकार देखता है जैसे वह कोई नाटक या सिनेमा देख रहा हो। स्वप्न में नाटक की भांति एक के बाद एक घटनाएं और दृश्य उसके मानसपटल पर आते रहते हैं।

(5) उपविस्तार : स्वप्न में इस मैकेनिज्म के द्वारा अचेतन मन की दमित इच्छायें असंगत, अतार्किक और निरर्थक अंगों को सार्थक बनाकर एक कहानी का रूप दिया जाता है।

मनोविश्लेषणकर्ता रोगी से अपने स्वप्नों का विवरण देने का कहता है। रोगी को स्वप्नों के बारे में जो कुछ याद होता है वह मनोविश्लेषक को बतलाता है। रोगी द्वारा प्रस्तुत विवरण का विश्लेषण उपर्युक्त वर्णित Dream Mechanism के आधार पर किया जाता है। स्वप्नों की व्याख्या और विश्लेषण में मनोचिकित्सक तटस्थ और वस्तुनिष्ठ रहता है। स्वप्न विश्लेषण के आधार पर मनोविश्लेषक

रोगी के प्रतीकात्मक व्यवहार की व्याख्या ही नहीं करता है बल्कि वह रोगी के कामुक आवेगों को पुनः निर्देशित भी करता है।

3. स्थानान्तरण

मनोविश्लेषण पद्धति द्वारा उपचार अवधि में एक समय ऐसा आता है जब रोगी अपने दमित संवेगों को चिकित्सक पर स्थानान्तरित करता है। स्थानान्तरण उस समय होता है जब चिकित्सक से रोगी अपनी समस्याओं के बारे में खुलकर बातचीत करने लग जाता है। इस अवस्था में चिकित्सक रोगी के जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेता है। रोगी चिकित्सक के बारे में अक्सर सोचता रहता है। स्थानान्तरण के कुछ प्रमुख प्रकार हैं :-

(अ) धनात्मक स्थानान्तरण

यह वह स्थानान्तरण है जिसमें रोगी में अनुरोग और प्रेम की भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। ये भावनाएँ वैसे–वैसे तीव्र होती हैं जैसे–जैसे रोगी चिकित्सक को समझदार और सहानुभूतिपूर्ण समझता है। रोगी चिकित्सक में आस्था और विश्वास रखता है। वह इस प्रकार के स्थानान्तरण में चिकित्सक से खुलकर बातचीत करने लग जाता है।

(ब) ऋणात्मक स्थानान्तरण

यह वह स्थानान्तरण है जिसमें रोगी में प्रतिरोध और शत्रुता की भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। ये स्थानान्तरण उस समय होता है जब रोगी यह अनुभव करता है कि मनोविश्लेषक उसकी दुःखद स्मृतियों का और संवेग प्रस्तुत कराना चाहता है। इस प्रकार के स्थानानतरण होने पर रोगी चिकित्सक के पास निर्धारित समय पर जाना नहीं चाहता है, वह देर से जाता है और उपचार पर टीका टिप्पणी करता है।

मनोविश्लेषण मनोचिकित्सा की अवधि में कई प्रकार से अपने प्रतिरोध को व्यक्त करता है। वह अपने विचारों और संवेगों आदि को व्यक्त करने में कठिनाई का अनुभव करता है। चिकित्सा अवधि में वह काफी देर तक चुप रहता है। वह उन तथ्यों पर अधिक प्रकाश डालता है जो कम महत्व के होते हैं। ऋणात्मक स्थानान्तरण में प्रतिरोध अधिक उत्पन्न होता है।

धनात्मक स्थानान्तरण की अवस्था में रोगी में बाल्यावस्था के अनुभवों की स्थिति में पहुँच जाता है। इस अवस्था में चिकित्सक रोगी के सम्बन्ध में अनेक महत्वूर्ण तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेता है।

स्थानान्तरण किसी भी प्रकार का क्यों न हो मनोविश्लेषक को संवेगात्मक नहीं होना चाहिए। उसे केवल इस अवस्था का लाभी यह उठाना चाहिए कि उसे रोगी की महत्वपूर्ण बातों की अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

4. व्याख्या तथा पुनर्शिक्षा

मुक्त साहचर्य और स्वप्न विश्लेषण द्वारा रोगी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाती है। जैसे–जैसे रोगी अपनी अन्तरंग भावनाओं, संवेगों और इच्छाओं की अभिव्यक्ति करता है मनोविश्लेषक इसकी व्याख्या द्वारा रोगी में सूझ विकसित करने के लिए व्याख्या प्रस्तुत करता है। मनोचिकित्सक को किसी भी समय किसी प्रकार की व्याख्या उस समय तक प्रस्तुत नहीं करनी चाहिए। जब तक रोगी व्याख्या को ग्रहण करने योग्य न हो। कभी–कभी अनुपयुक्त व्याख्या के कारण भी रोगी में चिन्ता, हीनभावना, अपराध भावना, अवसाद और हानिकारक अभिवृत्तियाँ उत्पन्न हो सकती है।

व्याख्या द्वारा मनोविश्लेषक रोगी में सूझ विकसित करता है। रोगी में सूझ का जैसे–जैसे विकास होता जाता है वह अपने प्रत्ययों की पुनर्संरचना करता है साथ ही साथ वाह्य वातावरण के साथ अपने सम्बन्धों को पुनर्संरचना भी करता है। अर्न्तदृष्टि के रोगी में विकास मन्द गति से होता है। जैसे–जैसे चिकित्सा में प्रगति होती जाती है चिकित्सा समाप्ति की ओर अग्रसर होती है। अन्तिम अवस्था में रोगी को संवेगों के सम्बन्ध में पुनर्शिक्षा दी जाती है जिससे कि वह अपनी अन्तर्दृष्टि का उपयोग वास्तविक जीवन परिस्थितियों से सम्बन्धित व्यवहार को उन्नत करने में कर सके।

(2) रोगी केन्द्रित या अनिदेशात्मक उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति का विकास रोजर्स (1902, 1951, 1959, 1961, 1966 ने किया। समय–समय पर इस पद्धति में अनेक महत्वपूर्ण संशोधन भी रोजर्स द्वारा किये गये हैं। यह उपचार पद्धति रोगी केन्द्रित इसलिए कहलाती है कि इसमें उपचार की सफलता रोगी की सुधार की दशा में प्रगति का उत्तरदायित्व रोगी स्वयं पर ही होता है।

रोसेन और ग्रेगरी (1965) के अनुसार, " इस उपचार पद्धति के द्वारा भी अन्य उपचार पद्धतियों की भाँति रोगी के अर्न्तद्वन्द्वों को कम किया जाता है, परिपक्व और संगठित व्यक्तित्व का विकास किया जाता है, रोगी में प्रभावपूर्ण जीवनयापन की शक्ति का विकास किया जाता है। यह उपचार पद्धति इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति में रचनात्मक परिवर्तन कर सकने की क्षमता होती है। इस उपचार पद्धति में मनोचिकित्सक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है

कि रोगी स्वयं अपने अवरोधों को दूर कर सके तथा सामान्यता की ओर अग्रसर हो सके।

इस उपचार पद्धति की सामान्य प्रकृति

1. यह मानवतावादी दृष्टिकोण वाली उपचार पद्धति है जिससे रोगी को अच्छा और तर्कपूर्ण प्राणी समझा जाता है। उपचार के निर्देशन का बहुत कुछ उत्तरदायित्व रोगी पर स्वयं होता है।

2. इस उपचार प्रणाली में चिकित्सक का कार्य रोगी को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उत्साहित करना है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन और स्पष्टीकरण भी मनोचिकित्सक के ही कार्य हैं।

3. इस उपचार पद्धति में स्थानान्तरण कम से कम हेाता है। स्थानान्तरण को उत्पन्न ही नहीं होने दिया जाता है जिससे कि उपचार पद्धति की समाप्ति पर स्थानान्तरण के कुप्रभावों को संभालने की आवश्यकता न रह जाय।

4. रोगी चिकित्सा किस गति से होगी इसका निर्धारण वह स्वयं करता है। रोगी में जैसे–जैसे अहं शक्ति विकसित होती है यह अपने अर्न्तद्वन्द्वारा और समस्मायाओं का समाधान करता है तथा समाधान की गति क्या होगी इसक निर्धारण भी वह स्वयं करता है।

रोगी केन्द्रित उपचार पद्धति के लक्ष्य

इस चिकित्सा पद्धति का मुख्य उद्देश्य रोगी की योग्यताओं को उपयुक्त दिशाओं में विकसित करना है। एक रोगी की योग्यताओं का विकास किन–किन दिशाओं में होगा यह रोगी स्वयं पर निर्भर करता है, वहीं इसका निर्धारण करता है। इस चिकित्सा पद्धति के द्वारा रोगी का आत्म–प्रत्यय का विकास होता है तथा सुदृढ़ होता है।

रोगी केन्द्रित उपचार पद्धति में चिकित्सक

इस उपचार पद्धति में आवश्यक है कि चिकित्सक निष्कपट और उपयुक्त होना चाहिए। चिकित्सक में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह रोगी को उसके स्वयं के अनुभवों के प्रति विकृत कर सके। चिकित्सक को चाहिए कि रोगी से अन्तःक्रिया करते समय सुरक्षात्मक प्रवृत्ति नहीं अपनानी चाहिए।

रोगियों के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के व्यवहारों को चिकित्सक को संवेगात्मक रूप से स्वीकार करना चाहिए। चिकित्सक का रोगियों के व्यवहार को

इस प्रकार स्वीकार करते समय न तो कोई शर्त लगानी चाहिए और न किसी प्रकार का मूल्यांकन ही करना चाहिए। चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी के लिए इस प्रकार का वातावरण प्रस्तुत करे कि रोगी अपने आपको सुरक्षित अनुभव कर सके।

इस उपचार पद्धति के चिकित्सक को चाहिए कि वह अपने रोगियों के संवेगात्मक अनुभवों का क्षण–प्रतिशत ज्ञान करता रहे तथा उन्हें प्रतिबिम्बित करता रहे जिससे कि रोगी अपनी भावनाओं को समझ सकें।

रोगी केन्द्रित उपचार पद्धति के पद

रोगी केन्द्रित उपचार पद्धति का उपयोग केवल उन्हीं रोगियों पर कना चाहिए जिनका बौद्धिक स्तर ऊँचा हो तथा जिन रोगियों की समस्याएँ साधारण हों। इस पद्धति का प्रयोग कालेज विद्यार्थियों पर सर्वाधिक मात्रा में किया गया है और किया जाता है। रोजर्स ने अपनी चिकित्सा पद्धति के निम्न पाँच मुख्य पद बतलाए हैं :

1. रोगी सहायतार्थ स्वयं आता है

रोगी अपनी चिकित्सा की सहायता के लिए स्वेच्छा से चिकित्सक के पास आता है। प्रथम साक्षात्कार में चिकित्सक रोगी को वस्तु स्थिति से अवगत कराते हुए यह स्पष्ट कर देता है कि आपको यहाँ ऐसा वातावरण उपलब्ध कराया जायगा कि आप अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर लेंगे तथा आपको अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ही करता है। यह आवश्यक है कि आपको अपनी समस्याओं के समाधान के लिए वातावरण उपलब्ध होगा। रोजर्स का विचार है कि रोगी के उपचार की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि रोगी अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए कितनी अधिक प्रबल इच्छा रखता है।

2. भावनाओं की अभिव्यक्ति

चिकित्सक ऐसा सहानुभूति वातावरण प्रस्तुत करता है कि रोगी अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहित हो। यहाँ चिकितसक का व्यवहार अनुज्ञापक और स्वीकारात्मक अभिवृत्ति से युक्त होता है। चिकित्सक के इस प्रकार के प्रोत्साहन के द्वारा रोगी की अर्न्तनिहित अवांच्छित इच्छाएं, भावनाएं घृणा और विरोध आदि की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ चिकित्सक रोगी की इन अभिव्यक्तियों को समझता है, स्वीकृति प्रदान करता है तथा इन अभिव्यक्तियों पर चिकित्सक इस प्रकार प्रकाश डालता है कि रोगी अपनी अवांछित भावनाओं

की पहिचानता ही नहीं है बल्कि उनको दूसरों से और स्वयं अपने से छिपाना बन्द कर देता है। वह इन अवांच्छित भावनाओं को मनोरचनात्मक द्वारा छिपाने का प्रयास नहीं करता है।

रोगी की इन अवांच्छित भावनाओं की अभिव्यक्ति के बाद अपनी अच्छी या धनात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। चिकित्सक बिना किसी आलोचना या प्रशंसा के इन भावनाओं को स्वीकार करता है जिससे कि रेागी इनको भी अपनी आत्म के अंश के रूप में स्वीकार कर ले।

3. अर्न्तदृष्टि का विकास

अपनी अवांच्छित भावनाओं की स्वीकृति के बाद रोगी में अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होती है जिसके द्वारा वह अपनी समस्याओं की जानकारी प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया के लिए रोजर्स ने कहा है कि रोगी आँखों से रंगीन चश्मा उतर जाता है रोगी की भावनाओं की जैसे–जैसे अभिव्यक्ति होती है रोगी अपने वातावरण का प्रत्यक्षीकरण अधिक वास्तविक ढंग के अनुसार करता है। रोजर्स के अनुसार अर्न्तदृष्टि से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण तथ्य है–

(1) अन्तर्दृष्टि द्वारा रोगी आत्म के उन पक्षों का अनुभव करना, समझना और स्वीकार करना जाना जाता है जिन्हें वह अतीत में दमित करता रहा था।

(2) अन्तर्दृष्टि के द्वारा रोगी आत्म की वास्तविक इच्छाओं और अभिवृत्तियों को स्वीकार करता है और समझता है।

(3) अन्तर्दृष्टि के द्वारा रोगी को अपनी समस्याओं के वास्तविक कारणों की जानकारी हो जाती है।

(4) अन्तर्दृष्टि के विकास के साथ–साथ रोगी में जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न होता है।

(5) अन्तर्दृष्टि के विकास के साथ अपनी समस्याओं के समाधान हेतु उपयुक्त मार्ग अपनाने की योग्यता उत्पन्न होती है।

4. धनात्मक पद

अन्तर्दृष्टि के विकास के बाद रोगी को अपनी समस्याओं का ज्ञान तो हो जाता है परन्तु यह नहीं समझ पाता है कि समस्याओं का समाधान किस प्रकार करे। चिकित्सक की सहायता और अर्न्तदृष्टि के विकास के साथ–साथ उनकी समस्याओं का समाधान और कार्य दिशाओं का स्पष्टीकरण होने लगता है। उचित मार्ग

अपनाने का कार्य रोगी ही करता है चिकित्सक कोई निर्देशन और सुझाव नहीं देता है। प्रारम्भ में रोगी को कठिनाई का अनुभव होता है परन्तु कुछ समय बाद उसमें आत्मविश्वास बढ़ने लगता है। इस प्रकार उसका आत्म पुष्ट होने लगता है और उसके द्वन्द्व कम होने लगते हैं।

5. सम्पर्कों का समापन

रोगी में दूसरों से सहायता प्राप्त करने की इच्छा वैसे–वैसे कम होती जाती है जैसे–जैसे वह स्वनिर्देशित मार्ग पर धनात्मक और आत्म–निर्देशित क्रियाओं की ओर विश्वासपूर्ण ढंग से अग्रसर होता है। जैसे–जैसे रोगी का यह विश्वास बढ़ता जाता है वह अनुभव करने लगता है कि अब उपचार समाप्त हो जाना चाहिए। रोगी स्वयं ही उपचार के समापन का निर्णय करता है। यह उपचार का अन्तिम पद है। इस अवस्था तक रोगी स्वयं को समस्याओं के समाधान के लिए योग्य समझने लगता है। चिकित्सक के सम्बन्धों की समाप्ति तक वह जीवन के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व को सम्भालने योग्य समझने लगता है।

(3) निदेशात्मक उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति का विकास थोर्न ने किया है। यह उपचार पद्धति साधारण लोगों के लिए अधिक प्रभावपूर्ण है। इस चिकित्सा पद्धति में पुनर्शिक्षा तथा प्रत्यक्ष सुझावों के द्वारा रोगी के लक्षणों को दूर या कम किया जाता है। इस चिकित्सा पद्धति में मनोचिकित्सक सक्रिय रूप से कार्य करता है और वह रोगी को समय–समय पर सुझाव देता है कि उसकी दशा में सुधार हो रहा है। कई बार सुझावों के साथ सम्मोहन का प्रयोग भी किया जाता है।

थोर्न का विचार है कि रोगी पर जब तक इस उपचार पद्धति का प्रयोग नहीं किया जाता है तब तक वह स्वयं पर नियन्त्रण नहीं कर पाता है। इस पद्धति में चिकित्सक रोगी की समस्याओं की जानकारी नियन्त्रण नहीं कर पाता है। इस पद्धति में चिकित्सक रोगी की समस्याओं की जानकारी प्राप्त करता है और रोगी निर्देश देता है कि रोग तो केवल 5.00 प्रतिशत ही है जिसे सरलता से दूर किया जा सकता है। मनोचिकित्सक रोगी को सुझाव देता है कि वह 95 प्रतिशत तो ठीक ही है।

इस उपचार पद्धति में रोगी की अभिवृत्तियों के स्वरूप का अध्ययन कर यह निश्चित किया जाता है कि रोगी का किस विधि से उपचार किया जाय। (1)

मनोचिकित्सक के पास रोगी को कौन लाया है अथवा मनोचिकित्सक के पास स्वयं आया है। (2) मनोचिकित्सक के साथ रोगी का व्यवहार सहयोगपूर्ण और आदरपूर्ण है अथवा नहीं। (3) रोगी में सुझाव ग्रहणशीलता कितनी है। (4) रोगी की संवेगात्मक स्थिति क्या है (5) रोगी का अस्वस्थ अहं उपचार में किस प्रकार रोगी को विश्वास दिलाता है कि वह उसे कोई निर्देश नहीं दे रहा है। वह तो केवल अपने अनुभवों और तार्किक विचारों के द्वारा रोगी को आराम पहुँचाना चाहता है।

(4) अस्तित्वपरक उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति की मानक क्रिया विधि नहीं है, अतः यहाँ इसके कुछ मौलिक प्रत्ययों का वर्णन किया गया है। लैंग (1967) एक ब्रिटिश मनोचिकित्सक है। आपका अस्तित्वपरक उपचार पद्धति और सम्बन्धित विचारधारा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। आपके अनुसार मनोविक्षिप्त विघटन का महत्वपूर्ण कारण विकृतिजन्य सामाजिक सम्बन्ध हैं ये सम्बन्ध व्यक्ति पर अनेक हानिकारक प्रभाव डालते हैं। आपके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति और अपने समूह का अभिन्न अंग है। लैंग का विचार है कि व्यक्ति के आन्तरिक आत्म और वाह्य आत्म के मध्य दरार का कारण जीवन की द्वन्द्वात्मक परिस्थितियाँ और सामाजिक माँगे हैं। मानसिक विकार व्यक्ति में उस समय उत्पन्न होते हैं जब आन्तरिक आत्म और वाह्य आत्म के मध्य दरार दढ़ जाती है। आपका विचार है कि मानसिक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति की प्रतिक्रियायें समग्रता की पुनः प्राप्ति का प्रयास मात्र है।

इस प्रकार की उपचार पद्धति में सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया जाता है कि अपने अस्तित्व का अनुभव किस प्रकार करना है। इस उपचार पद्धति में इस बात पर भी बल दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने साथियों के प्रति भी उत्तरदायित्व का अनुभव करता है। वह अपने जीवन के प्रति क्या योगदान रखना चाहता है।

अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिक मानव की निम्न चीजों पर भी बल देते हैं–संकटपूर्ण स्थिति, समकालीन संस्कृति से व्यक्ति की विरक्ति तथा अवैयक्तीकरण।

इस उपचार पद्धति को अपनाने वाला चिकित्सक यह मानकर चलता है कि मनुष्य में निम्न विशेषतायें होती हैं–जागरुकता, मननशक्ति, संकटपूर्ण स्थिति में कुछ कर सकने की योग्यता, उच्च मात्रा में स्वतन्त्रता आदि। रोगी के लिए यह निर्णय लेना है कि वह निम्न को किस प्रकार करेगा– आत्म परिभाषा आत्म वास्तवीकरण, जीवन मूल्यों की स्थापना आदि। मनोचिकित्सक इस बात पर बल

देता है कि रोगी अपने अस्तित्व का अर्थ ढूँढने योग्य हो जाय और अपने अस्तित्व से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के हल ढूँढ लें।

(5) व्यवहार उपचार–पद्धति

इस चिकित्सा पद्धति का शुभारम्भ वाटसन के उस प्रयोग से हुआ जो उसने एल्बर्ट पर आज से लगभग 60 वर्ष पूर्व किया। परन्तु इस चिकित्सा पद्धति को महत्व 1960 से मिलना प्रारम्भ हुआ। इस पद्धति का विकास नहीं होने और महत्व न मिलने का कारण मनोविश्लेषण उपचार पद्धति को बहुत महत्व देना रहा है। इस चिकित्सा पद्धति की मुख्य धारणा है कि अतीत में सीखी गयी कुसमायोजन से सम्बन्धित अनुक्रियाओं को विस्मृत किया जा सकता है और संशोधित किया जा सकता है। इस पद्धति में व्यवहार में परिवर्तन करने वाले चरों का प्रहस्तन किया जाता है, फिर पुनः अनुबन्धन और प्रति अनुबन्धन द्वारा व्यवहार में परिवर्तन करने वाले चरों या उद्दीपकों को उत्पन्न कर रोगी में समायोजनपूर्ण अनुक्रियाएं उत्पन्न की जाती है।

इस चिकित्सा पद्धति के अनुसार कुसमायोजित व्यवहार के दो प्रमुख कारण हैं –

(1) दोषपूर्ण अनुबन्धन प्रतिक्रियाएं व्यक्ति के आवश्यक समायोजित अनुक्रियाएं अर्जित करने में असफलता के अनेक कारण होते हैं: जैसे–दोषपूर्ण अनुबन्धन, अनुबन्धन के अवसरों का अभाव

(2) अधिशेष अनुबन्धन अनुक्रियाएं कभी–कभी व्यक्ति विषम परिस्थितियों में भी कुसमायोजन प्रतिक्रियाएं सीखते हैं जो सामान्यीकृत हो जाती है फलस्वरूप व्यक्ति सामान्य और साधारण परिस्थितियों में भी चिन्ताग्रस्त रहता है।

व्यवहार चिकित्सा पद्धति कुसमायोजित व्यवहार को बदलने या रूपान्तरित करने में विशेष रूप से प्रभावपूर्ण है। यह उस समय प्रभावशाली होती है जब इच्छित प्रत्युत्तर को प्राप्त करने के लिए पुर्नबलन किया जाता है। इस चिकित्सा पद्धति का अन्तिम लक्ष्य इच्छित प्रत्युत्तरों की उपलब्धि न होकर व्यक्ति के इन प्रत्युत्तरों को नियन्त्रित करना होता है। व्यवहार चिकित्सा पद्धति की कुछ प्रमुख तकनीकें निम्न प्रकार से हैं :–

1. सरल विलोप

अधिग्रमित व्यवहारों को यदि पुर्नबलित न किया जाय तो समय व्यतीत होने के साथ वे दुर्बल हो जाते हैं। अतः कुसमायोजित व्यवहार प्रतिमान को कम

करने के लिए सरल उपचार यह है कि पुर्नबलन को हटा दिया जाय। कभी–कभी कुसमायोजित व्यवहारों का पुर्नबलन अज्ञानवश हो जाता है ऐसे कुसमायोजित व्यवहारों के पुर्नबलन को हटा दिया जाय तो निश्चय ही कुसमायोजित व्यवहार समाप्त हो जाता है।

2. व्यवस्थित विसुग्राहीकरण

इसके अन्तर्गत वे व्यवहार प्रतिमान आते हैं जो धनात्मक रूप से पुर्नबलित किये गये हैं। इस दिशा में वुल्पे (1961, 1969) का योगदान महत्वपूर्ण है। वुल्पे के अनुसार इस विधि में रोगी को चिन्ता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में पूर्णतः शान्त और शिथिल रहने को कहा जाता है। रोगी को शान्त और शिथिल रहने के लिए सर्वप्रथम प्रशिक्षण दिया जाता है। रोगी को शान्त और शिथिल होने के प्रशिक्षण में सम्पूर्ण चिकित्सा अवधि के लगभग छः सत्र लग जाते हैं।

इस उपचार पद्धति में सर्वप्रथम रोगी को शान्त और शिथिल रहने का प्रशिक्षण दिया जाता है फिर इसी प्रारम्भिक अवधि में चिकित्सक रोगी की उन परिस्थितियों की सूची तैयार करता है जो रोगी में चिन्ता उत्पन्न करती है। जब सम्पूर्ण सूची तैयार हो जाती है तो विभिन्न चिन्ता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को प्रबलता या तीव्रता के आधार पर क्रमबद्ध किया जाता है या पदानुक्रम में रखा जाता है। परिस्थितियों को पदानुक्रम में इस प्रकार रखते हैं कि प्रथम परिस्थिति सरल हो और जैसे–जैसे सूची में पदानुक्रम बढ़ता जाता है परिस्थितियों की प्रबलता बढ़ती जाती है।

इस प्रकार जब चिन्ता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों की सूची तैयार हो जाती है और रोगी शान्त और शिथिल रहना सीख लेता है तब वास्तविक सुग्राहीकरण प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। सुग्राहीकरण प्रक्रिया में रोगी को एक आरामदेह कुर्सी पर बैठा दिया जाता है और उससे आँख बंद करके शान्त और शिथिल रहने के लिए कहा जाता है। जब रोगी यह कहता है कि मैं शान्त और शिथिल हूँ तब चिकित्स चिन्ता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों को एक–एक करके पदानुक्रम के अनुसार प्रस्तुत करता है। एक परिस्थिति को प्रस्तुत करके रोगी से चिकित्सक कहता है आप कल्पना करें कि आप इस परिस्थिति का अनुभव कर रहे हैं। यदि एक परिस्थिति को प्रस्तुत करने के बाद रोगी शान्त और शिथिल रहता है तो दूसरी क्रमानुसार परिस्थिति को चिकित्सक प्रस्तुत करता है। सुग्राहीकरण का एक सत्र 15 से 30 मिनट का होता है और एक सप्ताह में 2 या 3 सत्र होते हैं। सम्पूर्ण उपचार प्रक्रिया कई माह में समाप्त होती है। एक अध्ययन में यह देखा

गया है कि जिन रोगियों को 25 से 50 प्रतिशत भी लाभ होता है कि वे रोगी भी उपचार की दृष्टि से सार्थक लाभ प्राप्त करते हैं। वुल्पे (1969) का विचार है कि रोगी को शिथिल करना कठिन है। इसी प्रकार चिन्ता उत्पन्न करने वाली सूची को क्रमानुसार बनाना भी कठिन है।

3. इम्पलोसिव उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति के विकास में स्टम्फ और लेविस (1957, 1973) का योगदान प्रमुख है। इस चिकित्सा पद्धति में प्रारम्भ के कुछ सत्रों में चिन्ता उत्पन्न करने वाले उद्दीपकों की प्रकृति को निश्चित किया जाता है फिर इन उद्दीपकों को अनुबन्धित परिहार किया जाता है। इसमें रोगी से कहा जाता है कि चिन्ता से सम्बन्धित हानिकारक दृश्यों की कल्पना करे और चिन्ता मुक्त हो जाये।

4. विमुखी उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति का सर्वप्रथम उपयोग केनटोरोविच (1930) द्वारा किया गया तब से आज तक इस पद्धति का उपयोग कुसमायोजित व्यवहारों के उपचार हेतु किया जाता है। इस उपचार पद्धति के द्वारा सिगरेट पीने की आदत, मद्यपान की आदत, अधिक खाने की आदत, जुआ खेलने की आदत तथा यौन विचलन से सम्बन्धित व्यवहारों आदि को छुड़ाया जा सकता है या सामान्य बनाया जा सकता है।

इस उपचार पद्धति में दण्ड की सहायता से अवांछित व्यवहार का सम्बन्ध पुरस्कार से तोड़कर दण्ड से सम्बन्धित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए मद्यपान करने वाले व्यक्तियों की अधिक पीने की आदत को छुड़ाने के लिए मदिरा में Antabuse नामक औषधि मिलाकर रोगी को पिलाई जाती है जिससे रोगी को उल्टी होने लगता है, जी मिचलाता रहता, साँस लेने में कठिनाई होती है। उसे लगता है जैसे उसका दिल बैठा जा रहा है। मदिरापान में जब बार–बार Antabust मिलाई जाती है तो मदिरा का सम्बन्ध पीड़ादायक स्थिति से होने के कारण मदिरा पीने की आदत छूट जाती है। कुछ उपस्थितियों में दण्ड विद्युत आघात द्वारा दिया जाता है।

इस उपचार पद्धति के द्वारा अवांछीनय व्यवहारों को समाप्त तो किया जा सकता है लेकिन चिकित्सक वांछनीय व्यवहारों को उत्पन्न नहीं कर सकता है। बहुधा इस उपचार पद्धति का उपयोग अन्य पद्धतियों की सहायक पद्धति के रूप में किया जाता है।

5. धनात्मक पुर्नबलन का क्रमबद्ध प्रयोग

वांछित प्रत्युत्तरों के निर्माण में धनात्मक पुर्नबलन बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा व्यक्ति में वांछित प्रत्युत्तरों को उत्पन्न किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक शैतान छोटे बालक की आँखें खराब थीं उसे चश्मा पहिनना जरूरी था परन्तु अनेक प्रयासों के बाद भी वह चश्मा नहीं पहिनता था। धनात्मक पुर्नबलन के क्रमबद्ध प्रयोग द्वारा कुछ ही दिनांक में उसने चश्मा पहिनना प्रारम्भ कर दिया। शुरू में उसे चश्मा हाथ में पकड़ने पर उसे मन पसन्द मिठाई दी जाती थी। इस प्रकार कुछ दिनों करने के बाद बालक यदि चश्मे को अपने साथ रखता था तो उसे मन–पसंद मिठाई मिलती थी। इस प्रकार कुछ दिनों करने के बाद यदि बालक चश्मा पहिन कर एक बार भी दिखाता था तो उसे मिठाई दी जाती थी।

इस दिशा में बन्दूरा (1969) ने अपने अध्ययनों में देखा कि इस प्रकार वांछित व्यवहारों को उत्पन्न करने में बहुत अधिक समय लगता है उसने यह भी देखा कि प्रयोज्यों में जिस प्रकार का व्यवहार उत्पन्न करना है उस प्रकार का व्यवहार करते हुए मॉडल देखा जाय फिर यदि प्रयोज्य मॉडल का अनुकरण करता है तो उसको पुर्नबलन किया जाय। इस विधि द्वारा व्यक्ति वांछित व्यवहारों को अपेक्षाकृत जल्दी सीखता है। इस विधि द्वारा मंद बुद्धि बालकों में कुछ वाचिक और अवाचित कौशलों को सिखाया जा सकता है।

(6) सामूहिक उपचार पद्धति

सामूहिक मनोचिकित्सा पद्धति को बढ़ावा विश्वयुद्ध के समय से मिला। रोगियों की संख्या कम थी, फलस्वरूप समूह मनोचिकित्सा का विकास हुआ। सैनिकों की अनेक समस्याओं के समाधान में यह उपचार पद्धति उपयोगी थी। थोड़े ही दिनों में इस उपचार पद्धति का उपयोग अन्य लोगों पर किया जाने लगा।

परम्परागत सामूहिक उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति का उद्देश्य कम समय और कम व्यय से अधिक लोगों की चिकित्सा करना है। इस उपचार पद्धति से सर्वप्रथम रोगियों का एक समूह लेते हैं। समूह के रोगियों की संख्या 6 से 10 तक होती है। इस समूह का उपचार रोगियों की आयु, आवश्यकताओं और क्षमताओं के आधार पर किया जाता है। सामूहिक उपचार पद्धति में रोगी यह अनुभव करता है कि उसकी ही तरह समूह के अन्य लोग भी पीड़ित है। इस उपचार पद्धति में रोगी को अपनी समस्याओं को सुलझाने में समूह के दूसरे सदस्यों से सहायता और समर्थन प्राप्त होता है। रोगी की एकाकीपन की भावना समाप्त हो जाती है और उसे अपने अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों को सुधारने का अवसर प्राप्त होता है। समूह में रोगी की आत्म–स्वीकृति बढ़ती है

और व्यक्तित्व सामान्यता की ओर अग्रसर होता है। परम्परामत सामूहिक चिकित्सा के प्रमुख प्रारूप निम्न प्रकार से हैं :–

1. प्रबोधक सामूहिक उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति में एक समूह में रोगियों को बैठाकर कुछ औपचारिक व्याख्यान दिये जाते हैं, विचार–विमर्श किया जाता है तथा चलचित्रों के माध्यम से कुछ सामग्री पर्दे पर दिखायी जाती है। यह सब कार्य मनोचिकित्सक की देख–रेख में होता है। मद्यपान के कुप्रभावों पर व्याख्यान दिया जाय तथा उन्हें इन्हीं प्रभावों को स्पष्ट करने हेतु फिल्म दिखायी जाय।

2. क्रीड़ा उपचार पद्धति

3. साइक्रोड्रामा

एंनकाउन्टर समूह उपचार पद्धति

1960 से 1978 के मध्य सभी प्रकार की समूह उपचार पद्धतियों को इस प्रकार की उपचार पद्धति में परिवर्तित कर दिया गया क्योंकि यह उपचार पद्धति अधिक लोकप्रिय हुई है। इस उपचार पद्धति की प्रक्रिया विधि में अनेक विचलन है– जैसे इस उपचार पद्धति के किसी समूह में समूह का नेता होता है और अन्य में समूह का नेता नहीं होता है। इसी प्रकार कुछ उपचार समूहों में समूह के सदस्य नग्न अवस्था में होते हैं।

एनकाउण्टर–समूह में सदस्यों की संख्या 6 से 12 तक होती है जिसमें एक या दो व्यक्ति समूह नेता होते हैं। समूह के सभी सदस्य गोलाई में थोड़ी–थोड़ी दूर पर बैठे हुए होते हैं। सदस्यों के बीच इतनी दूरी होती है कि सभी सदस्य आराम से गति और अन्तःक्रिया कर सकें। इस प्रकार सभी सदस्यों को समूह अनुभवों को प्राप्त करने का अवसर होता है जिसकी सहायता से वे अपनी संवेगात्मक समस्याओं का निदान करते हैं, बहुधा यह समाधान एक–दूसरे की प्रभावपूर्ण नकल प्रविधि द्वारा करते हैं। समूह के नेता का कार्य समूह की मीटिंग को निश्चित करना तथा सभी सदस्यों के बैठने आदि की व्याख्या करना होता है। समूह का नेता एक "मनोवैज्ञानिक सुरक्षा" का वातावरण बनाता है। इस वातावरण में समूह का प्रत्येक सदस्य अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में सुरक्षा का अनुभव करता है। साथ ही साथ किसी भ नये तरीके से दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करने में भी अपने आपको सुरक्षित अनुभव करता है। समूह का नेता समूह में ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण बना देता है कि कोई भी सदस्य अपनी

भावनाओं को ईमानदारी और खुलेआम कहने में संकोच नहीं करता है इसी प्रकार वह दूसरे सदस्यों की आक्रामक अभिव्यक्तियों तथा अन्य ऋणात्मक अभिव्यक्तियों को बिना किसी सुरक्षा के सहन करता है। समूह का नेता समूह के सभी सदस्यों से अपनी भावनाओं को सविस्तार व्यक्त करने के लिए कहता है।

एनकाउण्टर समूह में इस बात पर बल दिया जाता है कि व्यक्ति स्वतन्त्रता और ईमानदारी से बातचीत करें तथा किसी बात को छुपाये नहीं। समूह का सामना करने और समूह में अन्तःक्रियाओं को करने पर भी बल दिया जाता है। जब समूह के सभी सदस्यों में इस प्रकार की भावनाएं विकसित हो जाती है तब समूह में एक दूसरे के प्रति स्नेह और सहायता की भावनाएं विकसित हो जाती हैं। जब रोगी की सामूहिक और अन्तःवैयक्तिक अन्तःक्रियाएं आदि सामान्य हो जाती हैं तो सामूहिक चिकित्सा का अन्तिम सत्र करके सामूहिक चिकित्सा को बंद या समाप्त कर दिया जाता है।

(7) अन्तःवैयक्तिक उपचार पद्धति

असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास को देखा जाये तो स्पष्ट होता है कि असामान्यता के आधुनिक दृष्टिकोण में एक दृष्टिकोण अन्तःवैयक्तिक दृष्टिकोण भी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार असामानरू का एक महत्वपूर्ण कारक अन्तःक्रियाएं मानवीय सम्बन्ध और सम्प्रेषण भी है। अन्तःवैयक्तिक दृष्टिकोण पर ही आधारित उपचार पद्धति का विकास किया गया है। इस दृष्टिकोण से सम्बन्धित निम्न दो चिकित्सा पद्धतियाँ है–

1. वैवाहिक उपचार पद्धति

वैवाहिक परिस्थितियों से सम्बन्धित समस्याओं के सम्बन्ध में सहायता लेने वाले व्यक्तियों ने वैवाहिक उपचार पद्धति को बढ़ावा दिया है। इस उपचार पद्धति में दोनों पार्टनर मनोचिकित्सक के पास आते हैं और उपचार या सहायता प्राप्त करते है। चिकित्सक दोनों पार्टनर के सम्बन्धों और अन्तःक्रियाओं को अधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयास करता है तथा दोनों पार्टनर के सम्बन्धों में तनाव और दोषों को दूर करता है। इस प्रकार की उपचार पद्धति से कितनी सफलता प्राप्त होगी यह कई कारकों पर निर्भर करता है– पारस्परिक संतुष्टि की आवश्यकता, सामाजिक भूमिका प्रत्याशाएँ, अन्तःवैयक्तिक कारक आदि।

इस चिकित्सा पद्धति में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि दोनों पार्टनर संवेगात्मक सम्बन्धों में बंधे हुए होते हैं इससे वे अपने आपसी सम्बन्धों की वास्तविकताओं का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाते हैं। बहुधा यह देखा गया है कि

पत्नी पति की गलतियों का तो प्रत्यक्षीकरण कर लेती हैं परन्तु अपनी स्वयं की गलतियों का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाती हैं।

वैवाहिक उपचार पद्धति की प्रक्रिया विधि में अनेक विचलन भी हैं। कुछ मनोचिकित्सक रोर्जस रोगी केन्द्रित चिकित्सा पद्धति का इसके साथ उपयोग करते हैं। व्यवहार चिकित्सा का भी इसके साथ उपयोग किया जाता है।

2. परिवार उपचार पद्धति

वैवाहिक उपचार पद्धति से परिवार उपचार पद्धति काफी कुछ समानता रखती है परन्तु दोनों एक–दूसरे से भिन्न है।

अध्ययनों में यह देखा गया है कि अस्पताल में रोगी का जब उपचार किया जाता है तो उसमें प्रगति दिखायी देती है परन्तु जब उसे परिवार में वापस भेज दिया जाता है तो उसकी स्थिति पुनः बिगड़ जाती है। इस प्रकार के केसेज में यह देखा गया है कि यह रोगी विकृत परिवारों से होते हैं। कभी–कभी रोगी के लक्षणों के अन्तर्निहित कारण बड़े परिवार की समस्याएं ही हुआ करती है। यदि उपचार पद्धति में केवल रोगी पर ही ध्यान दिया जायेगा और उसके परिवार पर ध्यान नहीं दिया जायेगा तो उपचार में केवल उसकी ही समस्याओं का समाधान होगा। ऐसा रोगी घर पहुँचते ही पुनः कुसमायोजित व्यवहार का प्रदर्शन करेगा।

परिवार उपचार पद्धति में मुख्यतः परिवार के सदस्यों के मध्य दोषपूर्ण सम्प्रेषण, दोषपूर्ण अन्तःक्रियाएं, दोषपूर्ण पारस्परिक सम्बन्धों आदि पर अधिक बल दिया जाता है। एक अन्य अध्ययन में यह देखा गया कि यदि परिवार के हानिकारक मूल्यों को मनोचिकित्सक हटा देता है तो रोगी का व्यवहार सामान्य की ओर अग्रसर हो जाता है।

(8) सम्मोहन उपचार पद्धति

प्राचीन समय में मिस्र के लोगों को सम्मोहन के सम्बन्ध में ज्ञान था। मनोचिकित्सा में इसका सर्वप्रथम उपयोग मेस्मर ने किया। मेस्मर के अतिरिक्त बर्नहीम और लीबाल्ट आदि का भी इस उपचार पद्धति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। आप लोगों ने कनर्वजन हिस्टीरिया के उपचार में इस पद्धति का उपयोग किया। फ्रायड ने भी इस उपचार पद्धति का उपयोग कनर्वजन हिस्टीरिया के उपचार में किया।

ल्यूबा के अनुसार (1960) "सम्मोहन एक अत्यधिक सुझावपूर्ण अवस्था है जो एक इच्छुक प्रयोज्य में एक कुशल चिकित्सक द्वारा उत्पन्न की जाती है।

सम्मोहन अवस्था में प्रयोज्य विशेष रूप से उसी वास्तविक और प्रतीकात्मक परिस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करता है जिसके लिए चिकित्सक उसके ध्यान को निर्देश देता है।

सम्मोहन का पदारोहन

सम्मोहन में पदारोहण की अनेक प्रविधियाँ हैं परन्तु इन सभी प्रविधियों में निम्न कारक समान रूप से पाये जाते हैं :–

1. सम्मोहन से सम्बन्धित उसके मन से भय को निकालकर प्रयोज्य का सहयोग प्राप्त किया जाता हे।

2. बैठने के लिए अयोज्य को आरामदेह आसन दिया जाता है जहां प्रयोज्य शिथिल होकर आराम कर सके।

3. प्रयोज्य के ध्यान को सीमित और केन्द्रित किया जाता है। इसके लिए प्रयोज्य को कहा जाता है कि वह चिकित्सक की आँखों में देखें या प्रयोज्य से किसी चमकीली वस्तु पर ध्यान लगाने को कहा जाता है।

4. पुर्नबलित सुझावों के द्वारा प्रयोज्यों की क्रियाओं को निर्देशित किया जाता है। इसके लिए आवश्यकतानुसार सुझावों को बार–बार दुहराया जाता है। प्रयोज्य के मन में यह विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है कि वह चिकित्सक के निर्देशों या सुझावों का पालन करे। इससे उसकी सुझाव ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। इसी बीच उसे यह निर्देश दिया जाता है कि वह ऊपर की आरे एक चमकीली वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करे। ऊपर चमकीली वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने से व्यक्ति की पलके झपकने लगती हैं। पलकें जब झपकने लगती हैं तो सम्मोहनकर्ता यह सुझाव देता है कि उसकी आंखें बोझिल हो रही हैं। इस अवस्था में प्रयोज्य यह समझता है कि उसकी आखें सम्मोहनकर्ता के प्रभाव के कारण बन्द हो रही हैं। इस प्रकार प्रयोज्य को आगे सुझाव देने के लिए रास्ता बन जाता है।

सभी व्यक्तियों को समान मात्रा में सम्मोहित नहीं किया जा सकता है। कुछ प्रयोज्य ऐसे होते हैं जिसको हल्के सम्मोहन के कारण ही आंखे बोझिल होने लगती हैं और सम्मोहनकर्ता के सुझावों का पालन करने लगते हैं। कुछ ऐसे भी प्रयोज्य होते हैं जिनके सम्मोहन के लिए अधिक सावधानी लेनी पड़ती है।

सम्मोहनात्मक व्यवहार

सम्मोहन के प्रभाव के आधार पर प्रयोज्य में अनेक रोचक व्यवहार उत्पन्न किये जा सकते हैं। मनोचिकित्सा में सम्मोहन के उपयोग से सम्बन्धित कुछ सम्मोहनात्मक व्यवहार निम्न प्रकार से है :–

1. विस्मृतियों का पुनःस्मरण

आघापूर्ण अनुभवों को जिनका चेतना से दमन हो चुका है; सम्मोहन के द्वारा पुनः चेतना में लाया जा सकता है। इस प्रकार से जब दमित आघातपूर्ण इच्छाओं को चेतना में लाया जाता है तो सम्बन्धित संवेगात्मक तनाव कम या समाप्त होता है और यह अनुभव अहं संरचना में समाविष्ट हो जाता है। किशोरावस्था और बाल्यावस्था से सम्बन्धित आघातपूर्ण अनुभवों को पुनः जागृत करके रोगी के विकृत वातावरण और आत्म–अभिवृत्तियों को संशोधित किया जा सकता है।

2. आयु प्रतिगमन

इसमें यदि रोगी को यह सुझाव दिया जाये कि वह छः वर्ष का हो गया है तो वह सम्मोहन के प्रभाव के कारण छः वर्ष के बच्चों की भांति चलना–फिरना, बात–चीत करना प्रारम्भ कर देगा। आयु प्रतिगमन के द्वारा प्रारम्भिक जीवन के अभिघातों को ज्ञात किया जा सकता है और रोगी को सम्बन्धित लक्षणों से मुक्ति दिलायी जा सकती है।

3. स्वप्न पदारोपण

सम्मोहन के प्रभाव के कारण रोगी में सम्मोहन तन्द्रा उत्पन्न की जा सकती है और इस सम्मोहन तन्द्रा में प्रयोज्य को स्वप्न दिखायी दे सकते हैं। सम्मोहन तन्द्रा के बाद जागृत अवस्था में भी रोगी स्वप्न देख सकता है। इस प्रकार के स्वप्न एक प्रकार के विभ्रम होते हैं जिनकी सहायता से दमित अर्न्तद्वन्द्वों का पता लगाया जा सकता है। मोस ने एक केस का वर्णन है जिसमें रोगी कुत्तों से अकारण भय रखता था। स्वप्न पदारोहण के द्वारा उसके इस भय का पता लगा लिया गया फिर सम्मोहन के प्रभाव के द्वारा रोगी का भय दूर–दूर दिया गया।

4. सम्मोहन के बाद सुझाव

सम्मोहन की अन्य प्रक्रिया विधियों की अपेक्षा इस प्रक्रिया विधि का उपयोग मनोचिकित्सा में सर्वाधिक किया जाता है। इस प्रकार के सुझाव रोगी को सम्मोहित करके सम्मोहन तन्द्रा में दिये जाते हैं लेकिन इन सुझावों का पालन रोगी सम्मोहन तन्द्रा के समाप्त होने के बाद करता है। उदाहरण के लिए एक मद्यपान के आदतजन्य रोगी को सम्मोहित किया गया तब वह सम्मोहन तन्द्रा में पहुँच गया तो उसे सुझाव दिया गया कि वह अभी सो रहा है कुछ समय

बाद जाग जायेगा परन्तु जागने के दो दिन बाद तक मद्यपान नहीं करता है। सम्मोहन तन्द्रा समाप्त होने के बाद रोगी सम्मोहन अवस्था में दिये गये सुझावों का पालन करेगा।

(9) साइकोड्रामा

इस उपचार पद्धति का विकास मारेनो ने सन् 1921 में किया। विशिष्ट रूप से निर्मित एक स्टेज पर साइकोड्रामा किया जाता है। इस साइकोड्रामा में मुख्य कलाकार रोगी तथा सहायक कलाकार अन्य रोग या सहायक चिकित्सक तथा श्रोता समूह आदि होते हैं। इस साइकोड्रामा निर्देशन मुख्य चिकित्सक करता है।

साइकोड्रामा का लक्ष्य रोगी की भावनाओं और समस्याओं को अभिव्यक्त कराना होता है। इसके अतिरिक्त रोगी के संवेगों का मोचन भी साइकोड्रामा का लक्ष्य है। साइकोड्रामा के द्वारा रोगी में उपयुक्तता, आत्म–स्फुरता और रचनात्मकता की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। साइकोड्रामा की प्रक्रिया में रोगी अपने व्यक्तित्व संगठन से सम्बन्धित अनेक समस्याओं, प्ररेणाओं तथा विशिष्ट मनोरचनाओं की अभिव्यक्ति करता है। साइकोड्रामा के द्वारा रोगी की ईर्ष्या, भय, अपराध भावनाएं, अनुपयुक्तता की भावनाओं की अभिव्यक्ति हो सकती है। रोगी को साइकोड्रामा के माध्यम से अभिव्यक्त सामग्री का उपयोग आगे अन्य उपचार पद्धतियों में हो सकता है।

साइकोड्रामा के साथ सम्मोहन उपचार पद्धति का उपयोग भी किया जाता है। इसके उपयोग से संवेगात्मक मोचन में सरलता होती है। साइकोड्रामा की एक तकनीक भूमिका निर्वाह है। साइकोड्रामा की इस तकनीक में रोगियों को कुछ विशिष्ट भूमिकाएं आदा करने के लिए दी जाती हैं। साइकोड्रामा एक सतही उपचार पद्धति है। इसका उपयोग सहायक पद्धति के रूप में होता है।

(10) क्रीडा उपचार पद्धति

क्रीड़ा उपचार पद्धति में रोगी को स्वतन्त्र रूप से खेलने के लिए मनोचिकित्सक प्रोत्साहित करता है। यह उपचार की एक तकनीक है न कि स्वतन्त्र उपचार पद्धति। इस तकनीक का प्रयोग बहुधा बालकों पर किया जाता है। खेल के द्वारा बालकों की भावनाएं, संवेग, समस्याएं और अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति होती है। मनोचिकित्सक का व्यवहार मित्रतापूर्ण तथा स्नेहयुक्त होता है। खेल में बालकों को सभी सुविधाएं और खिलौने उपलब्ध कराये जाते हैं। खेल के माध्यम से बालक की अन्तर्निहित घृणा, विरोध और अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति हो जाने से उसे राहत मिलती है।

23.4 जैविक उपचार पद्धतियाँ

इन उपचार पद्धतियों को मेडिकल चिकित्सा भी कह सकते हैं। मानसिक रोगियों का आपातकालीन उपचार भी इन्हीं उपचार पद्धति द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। कुछ प्रमुख उपचार पद्धतियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है :–

23.4.1 रसायन चिकित्सा

असामान्य व्यवहार की चिकित्सा हेतु रसायन पदार्थों का उपयोग पिछले लगभग 30 वर्षों से बहुत अधिक मात्रा में किया जा रहा है जिसका मुख्य कारण इसके सफल परिणाम है। रसायन चिकितसा में आधुनिक युग में मुख्यतः निम्न तीन प्रकार की औषधियों का प्रयोग किया जाता है :–

(क) मनोविक्षिप्तता विरोधी औषधियाँ

मनोविक्षिप्तता विरोध औषधियों को प्रशान्तक औषधियाँ भी कहते हें। भारतवर्ष में अनेक शताब्दियों से सर्वगन्धा जड़ी–बूटी का प्रयोग मानसिक विकारों के उपचार हेतु किया जा रहा है। इण्डियन मेडिकल गजट में सन् 1943 में इस जड़ी–बूटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस जड़ी–बूटी का उपयोग मनोविदिलता, उन्माद प्रतिक्रियाओं के उपचार में किया जाता है। सन् 1945 में अमेरिका में Reserpine औशधि का प्रयोग मानसिक रोगियों को शान्त करने के लिए किया जाने लगा। Reserpine औषधि भी Ranwolfia जड़ी–बूटी द्वारा ही तैयार की जाती है। Reserpine औषधि के कुछ सह प्रभाव भी हैं जैसे–अलसर, निम्न रक्तचाप, नासिका अवरुद्ध होना अवसाद आदि। आधुनिक युग में Reserpine के स्थान पर अन्य प्रशान्तक औषधियों का प्रयोग अधिक किया जाता है, जैसे Phenothiazines.

मानसिक रोगियों के उपचार में Phenothiazines का प्रयोग भी सन् 1950 से प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार की दो औषधिया Trifluoperazine, Chlorpromozine जो बाजार में क्रमशः Stelazine और Thorazine के नाम से भी बिकती हैं। यह दोनों औषधियां मनोविक्षिप्तता के रोगी को शान्त करने के उपयोग में आती हैं। इनके प्रयोग से रोगी की अधिक क्रियाशीलता, विकृत विचार प्रक्रिया और संवेगात्मक तनाव शान्त हो जाते हैं। इन औषधियों के प्रयोग में देखा गया है कि अत्यधिक उपद्रव करने वाला रोगी भी उपचार प्रारम्भ होने के कुछ ही घंटों में शान्त हो जाता है। लगातार दो सप्ताह तक इस औषधि के प्रयोग के

फलस्वरूप रोगी के विभ्रम और व्यामोह भी कम या समाप्त होने लगते हैं। यद्यपि इन औषधियों का प्रयोग पूर्णतः सुरक्षित है फिर भी उसके भी कुछ उप–प्रभाव है; पीलिया रोग, मुर्च्छित होना तथा अर्ध–निन्दा आदि। औषधि की खुराक की मात्रा घटाने या बढ़ाने से इसके सह प्रभावों के पड़ने की सम्भावना कम हो जाती है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य प्रशान्तक औषधियों का प्रयोग भी किया जाता है जिनका लगभग समान प्रभाव रोगी पर पड़ता है। ये प्रशान्तक औषधियाँ हैं– Butyrophenones, Dibenzoxazepines, Thioxanthene आदि।

(ख) चिन्ता विरोधी औषधियाँ

चिन्ता विरोधी औषधियाँ एक प्रकार के हल्के Tranquilize हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं– Meprobamate, Chlordiazepoxide, Hydrochloride and DiazepamA इन औषधियों का प्रयोग सामान्य व्यक्ति भी अपने तनाव और चिन्ता को दूर करने के लिए करते हैं। इन औषधियों को उस किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है जो तीव्र प्रतिबल का अनुभव कर रहा हो। मनस्ताप और मनोविक्षिप्तता से पीड़ित लोगों के उपचार में भी इन औशधियों के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

इन औषधियों का प्रयोग अधिक सुरक्षित इसलिए रहता है कि इनके सहप्रभाव कम होते हैं। ये औषधियाँ भी अर्ध निन्द्रा उत्पन्न करती है। अधिक मात्रा में और अधिक दिनों तक इन औषधियों का सेवन हानिकारक है। गर्भवती स्त्रियों और 6 वर्ष से कम आयु के बालकों को ये औषधियां नहीं दी जानी हैं। इन औषधियों का प्रयोग एल्कोहल के साथ नहीं करना चाहिए।

(ग) अवसाद विरोधी औषधियाँ

इस प्रकार की औषधियो से अनेक प्रकार के अवसाद से सम्बन्धित विकारों का उपचार किया जाता है। इन विकारों के उपचार में प्रशान्तक के स्थान पर मूड़–उत्थानक औषधियाँ चाहिए। प्रारम्भ में औषधि का प्रयोग किया जाता था परन्तु अनेक सह–प्रभावों के कारण अन्य औषधियों की खोज की गयी। आधुनिक युग की कुछ प्रमुख अवसाद विरोधी औषधियाँ हैं– Phenelzine तथा Isocarboxazid आदि।

इस प्रकार का औषधियों के प्रयोग से असामान्य व्यवहार की चिकित्सा के क्षेत्र में विद्युत आघात की आवश्यकता कम हो गयी है। अवसाद विरोधी औषधियों का प्रयोग अति सावधानी और आवश्यकतानुसार ही किया जाना चाहिए।

23.4.2 विद्युत उपचार पद्धति

प्रारम्भ में विद्युत उपचार पद्धति में केवल विद्युत आघात चिकित्सा अधिक प्रचलित थी। आधुनिक युग में निम्न विद्युत उपचार पद्धतियाँ अधिक हैं :–

अ) विद्युत आघात पद्धति

इस चिकित्सा पद्धति को इलेक्ट्रोकानवलसिव थेरेपी भी कहते हैं। इस उपचार पद्धति का प्रारम्भ सन् 1938 में सर्लेरी और बिनी ने किया। ये दोनों इटली के मनोचिकित्सक थे। आघात चिकित्सा के इतिहास का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि विद्युत आघात चिकित्सा से पूर्व इन्स्यूलिन आघात चिकित्सा और मेट्राजोल चिकित्सा प्रचलित थी। पाठकों की सुविधा के लिए इन दोनों उपचार पद्धतियों का यही संक्षिप्त वर्णन दिया गया है परन्तु आज ये दोनों आघात पद्धतियों का उपयोग नहीं किया जाता है।

इन्स्यूलिन आघात चिकित्सा

इस चिकित्सा पद्धतियों का शुभारम्भ सेकिल 1933 ने किया। इस आघात चिकित्सा में रोगी को अधिक मात्रा में इन्स्यूलिन की खुराक दी जाती है जिसके फलस्वरूप रक्त में सुगर की मात्रा कम हो जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि रोगी दीर्घकालीन के लिए निश्चेतन अवस्था उत्पन्न हो जाती है। निश्चेतन अवस्था के बाद रोगी स्वस्थ दिखायी देता हे। इन्स्यूलिन आघात की संख्या बढ़ने के साथ–साथ निश्चेतन अवस्था समाप्त होने पर रोगी स्वस्थ और अधिक स्वस्थ होता जाता है। यह उपचार पद्धति अनेक रोगों के उपचार में प्रयोग में लायी जाती थी– Paranoid Schizophrenic, Cataonic Type, Simple और Hebephranic Type मनोविदिलता। आवष्यकता से अधिक मात्रा में इन्स्युलिन का प्रयोग अपरिवर्तनीय जड़िम अवस्था उत्पन्न हो जाती है। हृदय रोगी, मधुमेह रोगी तथा टी. बी. के रोगियों पर इस प्रकार की आघात पद्धति का उपयोग नहीं करना चाहिए।

मेट्राजोल चिकित्सा

इस उपचार पद्धति का आविष्कार सन् 1935 में बुडापोस्ट के मनोचिकित्सक Von Meduna ने किया। अपने अध्ययनों में देखा कि मनोविदिलता के जिन रोगियों को मिर्गी के दौरे आते हैं तो दौरे के पश्चात् अस्थायी रूप से मनोविदिलता के लक्षण समाप्त हो जाते हैं। अतः वह मनोविदिलता के उपचार के लिए उसे औषधि की खोज करने लगा जिससे मिर्गी जैसे दौरे पड़े। इसके लिए उसने मेट्राजोल औषधि का प्रयोग किया। इस औषधि के प्रयोग से रोगी की हड्डियाँ टूटने और अधिक मृत्यु भय की सम्भावना के कारण यह उपचार पद्धति लोकप्रिय न हो सकी। आज इसका प्रयोग नहीं किया जाता है।

विद्युत आघात चिकित्सा

इसमें रोगी को गद्देदार बिस्तर पर सीधा लेटा दिया जाता है। रोगी के

हाथ–पैरों को मजबूती से अन्य लोग पकड़ लेते हैं जिससे कि विद्युत आघात के समय रोगी को कोई चोट आदि न लगे। एक प्लास्टिक की बनी मुखरोधनी उसके दांतों में फंसा दी जाती है, जिससे आघात के समय शरीर में जब ऐंठन हो तो रोगी की जीभ उसके दाँतों के बीच दब कर घायल न हो जाये। रोगी की कनपटी पर विद्युदग्र को बांध दिया जाता है। रोगी के साथ उपर्युक्त तैयारी पूर्ण कर लेने के बाद 70 से 130 बोल्ट की विद्युत धारा लगभग 01 से. से 0.5 से. तक प्रवाहित की जाती है। विद्युतधारा प्रवाहित करते ही रेगी के शरीर में ऐंठन प्रारम्भ हो जाती है। रोगी के शरीर की ऐंठन मिर्गी के ग्राण्डमल दौरे से मिलती–जुलती है। ऐंठन के कुछ समय बाद ही रोगी के शरीर के आकुंचन होता है तत्पश्चात् Tonic Phase प्रारम्भ होता है। इस अवस्था के प्रारम्भ होते ही रोगी का शरीर अनम्य होना प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था के बाद जो अवस्था आती है उसे Clomic Phase कहते हैं। इस अवस्था में रोगी के सम्पूर्ण शरीर में ऐंठन दिखाई देती है। रोगी के हाथ–पांव फड़फड़ाते हैं। यह अवस्था लगभग 30 से. रहती है तथा Tonic Phase लगभग 10 से. रहती है। रोगी के शरीर में ऐंठन जैसे ही समाप्त होती है रोगी लगभग आधे घंटे के लिए अचेतन हो जाता है।

2. विद्युत निन्द्रा उपचार पद्धति

इस उपचार पद्धति को Cereberal Electrotherapy भी कहते हैं। यह रूस में अधिक प्रचलित है। इसमें रोगी की कनपटी से विद्युदग्र बांध कर अति हल्की विद्युतधारा प्रवाहित की जाती है। रोगी इस प्रकार विद्युतधारा प्रवाहित करने से न निश्चेतन होता है और न ही उसके शरीर में किसी प्रकार की ऐंठन होती है। एक या दो सप्ताह तक यह उपचार प्रतिदिन आधा घंटा चलता है। एक अध्ययन में यह देखा गया कि दीर्घकालीन चिन्ता अवसाद और Insomani से पीड़ित रोगियों को उस उपचार पद्धति से लाभ होता है।

23.4.3 मनोशल्य चिकित्सा

मनोजन्य मनोविक्षिप्तता के उपचार में सर्वप्रथम मॉनिज (Moniz, 1936) ने साइकोसर्जरी उपचार पद्धति का उपयोग किया। आज इस उपचार पद्धति द्वारा मनोविदिलता, Involutional Melancholi और Manic Depressive रोगों से ग्रस्त रोगियों का उपचार किया जाता है।

मोनिज रोगियों के आपरेशन में रोगी की दोनों कनपटियों पर एक–एक छेद करता था फिर Frontal Lobe और Thalamu को जोड़ने वाले नाड़ी तन्तुओं के एक निश्चित भाग को काट देता था। इस प्रकार की सर्जरी को Preforntal Labotomy Leucotomy कहा जाता है। मोनिज के बाद इस प्रकार की सर्जरी में अनेक

तकनीकों का आविष्कार हुआ।

इस प्रकार की सर्जरी की कुछ अन्य तकनीकें हैं– 1. Topectomy इसमें आपरेशन के द्वारा Frontal Lobe के कुछ अंशों को निकाल दिया जाता है। 2. Thalectomy- इसमें आपरेशन के द्वारा थैलेमस में एक विद्युत सुई घुसाकर विद्युतधारा प्रवाहित की जाती है।

आपरेशन सफल हो जाने पर रोगी के लक्षण समाप्त हो जाते हैं। बहुधा यह उपचार पद्धति अन्तिम उपाय के रूप में ही अपनायी जाती है। मनोविकृत व्यक्तित्व वाले रोगियों पर इस चिकित्सा पद्धति की सफलता पर संदेह है।

23.5 सामाजिक उपचार पद्धति

सामाजिक उपचार पद्धति में रोगी के वातावरण में ऐसा रूपान्तरण किया जाता है कि रोगी का परिस्थितियों के साथ समायोजन सफल हो जाता है। कोलमैन (1969) के अनुसार Sociotherapy refers primarily is soma mdofification of the environment in order to provide a life situation in which the patient has a resonable chance of making successful adjustment. सामाजिक उपचार पद्धति का संचालन मनोरोग समाज कार्यकर्ता द्वारा होता है।

जब किसी रोगी की अस्पताल से छुट्टी होती है और वह घर वापस आता है तो Psychiatrice Social Worker रोगी की समस्या समाधान में पर्याप्त सहातया कर सकता है। यह Social Worker रोगी के परिवार के लोगों को बताता है कि रोगी के साथ परिवार के लोगों को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए तथा रोगी से क्या–क्या प्रतयाक्षा की जानी चाहिए।

अस्पताल से रोगी की छुट्टी होने के बाद समय–समय पर Psychiatrice Social Worker रोगी के पास जाकर उसकी तात्कालिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। जब रोगी को तीव्र प्रतिबल का अनुभव होता है तो वह स्वयं Social Worker के पास पहुँच जाता है और सहायता प्राप्त करता है। Psychiatrice Social Worker रोगी के लिए एक मित्र की भांति होती है जिससे रोगी अपनी सभी समस्याएं समाधान के लिए प्रस्तुत करता है। वह रोगी के समायोजन में समय–समय पर सहायता करता है। Psychiatrice Social Worker पूर्णतः प्रशिक्षित होता है।

जब कभी बालकों की व्यवहार समस्याओं का उपचार इस विधि से करना होता है तो बालकों के साथ–साथ बालक के संरक्षकों का उपचार भी करना

आवश्यक होता है। कभी–कभी समस्यात्मक बालकों को प्रतिपालक परिवारों में रखा जाता है।

इस चिकित्सा पद्धति द्वारा वयस्क व्यक्तियों की भी सहायता की जा सकती है। बालकों के लालन–पालन से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान वैवाहिक समस्याओं का समाधान तथा जीवन की अन्य समस्याओं का समाधान इस उपचार पद्धति द्वारा सफलतपूर्वक किया जा सकता है।

23.6 सहायक उपचार पद्धतियाँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत उन उपचार पद्धतियों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है जिनकी सहायता से अति हल्के मानसिक विकारों का उपचार किया जाता है। ये उपचार पद्धतियाँ उन लोगों के लिए भी लाभप्रद है जब व्यक्ति छोटी–छोटी समस्याओं से ग्रस्त होने के कारण समायोजन करने में कठिनाई का अनुभव करता है। कुछ प्रमुख सहायक उपचार पद्धतियाँ निम्न प्रकार से हैं :–

23.6.1 व्यावसायिक चिकित्सा

यह वह उपचार पद्धति है जिसमें रोगी को उसकी योग्यतानुसार किसी व्यवसाय में लगाकर उसकी असमान्यताओं का न्यूनीकरण या निराकरण किया जाता है। जब किसी रोगी को उसकी योग्यतानुसार किसी व्यवसाय में लगा दिया जाता है तो उसका ध्यान व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य करते समय उसकी अन्तर्निहित समस्याओं से हट जाता है। थोड़ी देर तक रोगी को राहत का अनुभव होता है।

रोगी को व्यस्त रखने के लिए यदि कोई उपयुक्त व्यवहार न हो तो उसे चित्रकारी या अन्य किसी हावी के कार्य में व्यस्त रखना चाहिए।

23.6.2 मनोरंजनात्मक चिकित्सा

यह वह उपचार पद्धति है जिसमें रोगी को उसकी रुचि के अनुसार किसी विशेष मनोरंजन में व्यस्त रखकर उसकी असामान्यताओं का न्यूनीकरण किया जाता है। मनोरंजन में व्यस्त रोगी मनोरंजन करते समय अपनी समस्याओं और कष्टों को भूल जाता है। मनोरंजन किसी भी प्रकार का हो सकता है। उस मनोरंजन का प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है जो रोगी की रुचियों के अनुसार होता है।

23.6.3 जल चिकित्सा

यह वह उपचार पद्धति है जिसमें रोगी को गम अथवा ठण्डे जल में नहलाकर उसकी असामान्यता का न्यूनीकरण किया जाता है। विशादात्मक रोगी

को नहलाने से उसमें कुछ सक्रियता दिखाई देती है। अब इस चिकित्सा का उपयोग बहुत कम किया जाता है।

23.6.4 संगीत चिकित्सा

यह वह उपचार पद्धति है जिसमें रोगी को संगीत सुनाकर उसकी असामान्यता का न्यूनीकरण किया जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस उपचार पद्धति से सम्बन्धित कुछ साहित्य उपलब्ध है। संगीत के द्वारा रोगी को षान्त, उत्तेजित नहीं किया जा सकता है बल्कि उसमें सुख और दु:ख की भावनाएं उत्पन्न की जा सकती है।

23.6.5 अन्य सहायक पद्धतियाँ

साधारण समस्याओं से ग्रस्त लोगों को स्वस्थ साहित्य पड़ने को दिया जा सकता है। इससे उन्हें लाभ पहुँचता है।

किसी भी मानसिक रोगी को जिसकी विचार प्रक्रिया विघटित नहीं हुई है। उसे आष्वासन और निर्देशन के द्वारा भी कुछ मात्रा में नियन्त्रित किया जा सकता है।

भारत वर्ष में इलाज की सुविधाएं

भारत में 38 मानसिक चिकित्सालय हैं। वाराणसी, आगरा, बरेली, लखनऊ, जयपुर, जोधपुर, इन्दौर, ग्वालियर, राँची, दिल्ली, बड़ौदा, भावनगर, भुज, आमनगर, श्रीनगर, ठाणे, यखड़ा, रत्नागिरी, नागपुर, मिरज, कटक, अमृतसर, बैंगलोर, धारवाड़, गोवा, त्रिवेन्द्रम, कालीकट, कलकत्ता और हुगली में स्थित इन मानसिक चिकित्सालयों में 25,000 मानसिक रोगियों के रहने की व्यवस्था है। इन मानसिक चिकित्सालयों के अतिरिक्त कुछ प्रान्तों में 51 संस्थाएँ ऐसी है जहाँ मंद बुद्धि लोगों का इलाज किया जाता है। मंद बुद्धि लोगों के इलाज के लिए उत्तर प्रदेश, चण्डीगढ़, दिल्ली, महाराष्ट्र और कर्नाटक की संस्थाएं काफी प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भारतवर्ष के प्रत्येक बड़े शहर के बड़े अस्पतालों, विशेषकर मेडिकल कालेजों में मानसिक रोगियों के इलाज की सुविधाएं हैं। दिल्ली में आल इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइन्सेस, बंगलौर में नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ मेंटल हेल्थ ऐण्ड न्यरोसाइंसेज है जहाँ मानसिक रोगियों के इलाज की अधिक अच्छी सुविधाएं हैं। बम्बई के कुछ अस्पतालों में भी मानसिक रोगियों के चिकित्सा की सुविधाएं हैं; जैसे के. ई. एम. अस्पताल, नायर अस्पताल, जे. जे. अस्पताल, सापन अस्पताल। इसके अतिरिक्त जुहू में बच्चों के लिए दिलखुख स्पेशल स्कूल है।

उपर्युक्त अस्पतालों के अलावा बहुत बड़े शहरों में प्राइवेट प्रैक्टिस करने वाले मनोचिकित्सक भी हैं। इसका इलाज अस्पतालों की अपेक्षा बहुत महँगा पड़ता है।

आधुनिक युग में मानसिक रोग बड़े तेजी से बढ़ रहे हैं। अतः मानसिक रोगियों के इलाज की उपलब्ध सुविधाओं को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि मानसिक रोग जितनी तेजी से बढ़ रहे हैं उतनी सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। मानसिक रोगियों के इलाज के लिए मनोचिकित्सक या मनोवैज्ञानिक के परामर्श की आवश्यकता होती है। मानसिक बीमारियों का इलाज सामान्य चिकित्सक नहीं कर सकते हैं। मानसिक चिकित्सकों की संख्या आज बहुत कम है। अमरीका जैसे देश में प्रति एक लाख मानसिक रोगियों के लिए केवल 12.5 मनोचिकित्सक हैं, सोवियत संघ में 5.5, लंदन में 3.7, जर्मनी में 4.7 तथा भारत वर्ष में प्रति लाख केवल 15 चिकित्सक उपलब्ध हैं।

इस दिशा में हुए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि भारतवर्ष में मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों में से केवल 20 प्रतिशत रोगी ही अपना इलाज कराते हैं। इसका मुख्य कारण है कि अपने देश में मानसिक रोगियों को इस लायक नहीं समझा जाता है कि इनका इलाज कराया जाय क्योंकि लोग आज भी इन्हें देवी–देवताओं का अभिशाप मानते हैं। तन्त्र–मंत्र, झाड़फूंक द्वारा इनका इलाज कराया जाता है अथवा कुछ प्रसिद्ध देवस्थानों पर ऐसे रोगियों को ले जाया जाता है। राजस्थान के बालाजी मंदिर परिसर में प्रायः इलाज प्राप्त करते ऐसे अनेक रोगी हर मौसम में दिखाई देते हैं। कुछ लोग ला–इलाज समझकर उपचार ही नहीं कराते हैं। कुछ लोग बहुत दिन तक इन रोगों को छिपाने का प्रयास करते हैं जिससे रोग और भी गम्भीर रूप धारण कर लेता है। यह देखा गया है कि मानसिक रोग के प्रारम्भ होते ही यदि इलाज का परामर्श ले लिया जाये तो रोग न केवल जल्दी ठीक होता है बल्कि जड़ से भी निकल जाता है। देर करने से रोग देर से ठीक होता है या रोगी कुछ दिन ठीक रहता है फिर उसे दुबारा रोग हो जाता है। ऐसे में निरन्तर इलाज करवाने से लाभ रहता है।

दुर्भाग्य की बात है कि भारतवर्ष में शारीरिक रोगों की चिकित्सा का जितना अच्छा प्रबन्ध है उतना अच्छा प्रबन्ध मानसिक रोगों की चिकित्सा का नहीं है। जबकि आधुनिक युग में भारतवर्ष में भी तनाव और मानसिक अशान्ति आदि बढ़ रही है जिससे मानसिक रोगियों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। सरकार को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

23.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में मानसिक असंतुलन के प्रबन्धन के विषय में अध्ययन किया इसके पश्चात् मनो सामाजिक उपचार पद्धतियों तथा सामाजिक उपचार पद्धतियों का अध्ययन भी इस इकाई में किया तथा इकाई के अन्त में सहायक उपचार पद्धतियों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

23.8 प्रश्न

1. मनसिक असंतुलन प्रबन्ध से क्या तात्पर्य है? उपचार पद्धतियों का वर्णन कीजिए।
2. जैविक उपचार पद्धतियों से आप क्या समझते हैं? रसायन चिकित्सा तथा विद्युत उपचार पद्धति का उल्लेख कीजिए।
3. सामाजिक उपचार पद्धति का उपचार पद्धति में क्या महत्व है।
4. सहायक उपचार पद्धति का वर्णन कीजिए।
5. व्यवसायिक चिकितसा पद्धति का उल्लेख कीजिए। मनोरंजनात्तमक चिकित्सा, जल चिकित्सा तथा संगीत चिकित्सा पद्धति के मध्य सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

23.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. चौबे, डॉ. सरयू प्रसाद, सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, कानसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2005।
2. सिंह, डॉ. श्याम बिहारी, बाल–व्यवहार व्यतिक्रम, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1995।
3. मिश्र, डॉ. पी. डी., सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
4. जायसवाल, डॉ. सीताराम, शिक्षा में निर्देशन और परामर्श, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2010/2011।
5. आलम, डॉ शाह, एवं गुफरान डॉ. मोहम्मद, निर्देशन एवं परामर्श का मूलभूत आधार, ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011।
6. सिंह, अरुण कुमार, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2004।

7. सुलेमान, डॉ. मुहम्मद एवं तौवाब, डॉ. मुहम्मद, असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004।

8. शर्मा, डॉ. सीमा, सामान्य मनोविज्ञान, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011।

9. मिश्र, डॉ. पी. डी., असामान्य व्यवहार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MSW-112

व्यक्तित्व एवं
असामान्य व्यवहार

खण्ड

5

मानसिक अस्थिरता

इकाई-24 5
अन्तर्मुखी व्यक्तित्व

इकाई-25 18
वाह्यमुखी अथवा बहिर्मुखी व्यक्तित्व

इकाई-26 27
असंगत भय

इकाई-27 43
उन्माद एवं अवसाद

इकाई-28 57
मानसिक संवेगों का प्रबन्धन

संरक्षक एवं मार्गदर्शक	
प्रो० एम० पी० दुबे	कुलपति - अध्यक्ष
विशेषज्ञ समिति	
प्रो० एस० त्रिपाठी	अवकाश प्राप्त, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० ए०एन०सिंह	विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसा
प्रो० अरविन्द जोशी	समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ० अल्का वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
परिमापक	
प्रो० बालेश्वर पाण्डेय	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
सम्पादक	
प्रो० जय कान्त तिवारी	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
लेखक	
डॉ० अनूप कुमार भारती	असि०प्रोफेसर, समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
डॉ० राकेश द्विवेदी	असि० प्रोफेसर, समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
डॉ० विनोद कुमार	तीरथंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद
समन्वयक	
डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रकाशक	
प्रो०(डॉ०) जी०एस०शुक्ल	कुलसचिव, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई हैं। विश्वविद्यालय इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

पंचम खण्डः मानसिक अस्थिरता

खण्ड परिचय :

पंचम खण्ड में मानसिक अस्थिरता से सम्बद्ध विविध पहलुओं को कुल 5 इकाईयों में व्यवस्थित किया गया है। इकाई 24 में अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषता एवं लक्षण, अन्तर्मुखी चिन्तन, भाव, संवेदी एवं अन्तर्ज्ञानी प्रकारों की विवेचना की गई है। इकाई 25 में बहिर्मुखी व्यक्तित्व के विविध प्रकारों एवं विशेषताओं की विवेचना की गई है। इकाई 26 में असंगत भय के अर्थ, लक्षण, कारक एवं उपचार के विविध स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। इकाई 27 के अन्तर्गत उन्माद एवं अवसाद के लक्षण, कारण एवं उपचार की विवेचना की गई है। इकाई 28 में मानसिक संवेग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मानसिक संवेगों के प्रबन्धन की विवेचना की गई है।

इकाई – 24 अन्तर्मुखी व्यक्तित्व

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 व्यक्तित्व

24.2.1 व्यक्तित्व के तत्व और विशेषताएं

24.3 युंग द्वारा व्यक्त किये गये व्यक्तित्व के प्रकार

24.3.1 मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकार

24.3.2 अन्तर्मुखी चिन्तन प्रकार

24.3.3 अन्तर्मुखी भाव प्रकार

24.3.4 अन्तर्मुखी संवेदी प्रकार

24.3.5 अन्तर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार

24.4 आइजेन्क द्वारा व्यक्त किये गये व्यक्तित्व के प्रकार

24.4.1 अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता व्यक्तित्व

24.4.2 स्नायुविकृति–स्थिरता व्यक्तित्व

24.4.3 मनोविक्षिप्तता–परांह की क्रियायें के आधार पर व्यक्तित्व

24.5 अन्तर्मुखी व्यक्तित्व

24.5.1 एकान्तप्रिय

24.5.2 कम बोलना

24.5.3 लज्जाशील

24.5.4 शीघ्र घबड़ा जाना

24.5.5 संकोची स्वभाव

24.5.6 चिन्तनशील

24.5.7 विचारशील

24.5.8 कर्तव्यों के प्रति सत्यनिष्ठ

24.5.9 अध्ययनशील

24.5.10 संदेही व सावधान

24.5.11 आत्मकेन्द्रित

24.5.12 व्यवहार में अकुशल

24.5.13 आदर्शवादी

24.5.14 वाक्पटुता का अभाव

24.5.15 शीघ्र निर्णय में देरी

24.5.16 भविष्योन्मुखी योजनाओं को प्राथमिकता

24.5.17 चिन्ताग्रस्त

24.5.18 निराशावादी

24.5.19 हंसी मजाक व निन्दा

24.5.20 लेखक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक

24.6 सारांश

24.7 शब्दावली

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

इस इकाई में व्यक्तित्व, व्यक्तित्व के प्रकारों, अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। व्यक्तित्व को समझने के लिए इनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- व्यक्तित्व के विषय में समझ सकेंगे।
- व्यक्तित्व के प्रकारों को, जान सकेंगे।
- अन्तर्मुखी व्यक्तित्व क्या है? यह जान सकेंगे।
- अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताओं को, समझ सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्तित्व का निर्धारण समय–समय पर भिन्न–भिन्न प्रकार से किया गया है। सामान्यतः व्यक्तित्व का निर्धारण मानव की प्रकृति के आधार पर देखने को मिलता है। मनोवैज्ञानिक युंग ने व्यक्तित्व को मानवीय प्रकृति के आधार पर

हो समझाने का प्रयास किया है। युंग द्वारा बताये गये व्यक्तित्व के प्रकारों को समझने के लिए आवश्यक है कि संक्षिप्त रूप से व्यक्तित्व तथा उससे सम्बन्धित तत्वों एवं विशेषताओं के विषय में जाना जाये।

24.2 व्यक्तित्व

प्रारम्भ से ही मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व के अध्ययन में रूचि दिखायी है। जिसके आधार पर विभिन्न वैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है। व्यक्तित्व की परिभाषाओं के क्रम में सबसे पुरानी परिभाषा व्यक्तित्व शब्द की उत्पत्ति से सम्बन्धित अवधारणा पर आधारित है। व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी शब्द Personality का हिन्दी रूपान्तरण है। Personality शब्द लैटिन शब्द Persona से बना है। जिसका अर्थ नकाब (Mask) से होता है और जिसे नायक नाटक करते समय पहनते है। इस शाब्दिक अर्थ का यदि विश्लेषण किया जाये तो व्यक्तित्व को वाहय वेष भूषा (External Apperarance) के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। अर्थात् जिस व्यक्ति की वाह्य वेशभूषा जितनी आकर्षित होगी वह व्यक्ति उतना ही अच्छा माना जायेगा, परन्तु ऐसी परिभाषाओं को अवैज्ञानिक घोषित किया गया और कालान्तर में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्तित्व को अनेकों रूपों में परिभाषित किया गया।

24.2.1 व्यक्तित्व के तत्व और विशेषताएं

व्यक्तित्व शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या करने के लिए व्यक्ति में पाये जाने वाले तत्वों का वर्णन करना आवश्यक है। व्यक्तित्व के लक्षणों का निर्माण व्यक्ति में पाये जाने वाले तत्वों के आधार पर होता है –

- **आत्म–चेतना** :– व्यक्ति की क्रियाशीलता का आधार चेतना है। इस गुण के कारण ही उसमें अहं भाव, सफलता, आत्मबोध आदि होता है।
- **सामाजिकता** :– सामाजिक पर्यावरण और उत्तेजना के आधार पर ही वह क्रिया प्रतिक्रिया करता है, सामाजिक सम्पर्क में व्यक्तित्व का विकास होता है और सामाजिक व्यवहार को देखकर उसके व्यक्ति का मूल्यांकन होता है।
- **समन्वय या सामंजस्यता** :– व्यक्ति अपने समाज व पर्यावरण से अनुकूलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए पर्यावरण से समन्वय होना आवश्यक है। सामंजस्य करने के कारण ही उसके व्यवहार में परिवर्तन होता है।

- **साधनपूर्णता या युक्तिपूर्णता** :– व्यक्ति अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न साधन या युक्ति ढूंढता रहता है। इनकी पूर्ति के अनुभव से उसमें कुछ विशेष रूचियां प्रवृत्तियां, इच्छाएं या गुण अर्जित होते रहते हैं जो उसके व्यक्तित्व के लक्षणों का निर्माण करते हैं। व्यक्ति के व्यवहार का भी एक निश्चित लक्ष्य होता है जिसको जानकर उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

- **समग्रता** :– व्यतित्व की समस्त क्रियाएं एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित रहती है और उनमें एकीकरण रहता है। व्यक्तित्व के व्यावहारिक लक्षण पृथक नहीं होते भले ही वे परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं। उसका व्यवहार समग्र रूप से प्रकट होता है।

- **एकीकरण**: – व्यक्तित्व का कोई भी तत्व (शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, संवेगात्मक आदि) अकेले कार्य नहीं करता। इन सभी तत्वों में एकता या एकीकरण होता है।

- **विकास की निरन्तरता** :– व्यक्तित्व स्थिर नहीं रहता, इसके विकास में स्थिरता नहीं आती। व्यक्तित्व के स्वरूप में परिस्थितियां, कार्यों व अनुभवों के अनुसार परिवर्तन होता है। गैरिसन और अन्य ने कहा है– "व्यक्तित्व निरन्तर होने की प्रक्रिया में रहता है।"

24.3 युंग द्वारा व्यक्त किये गये व्यक्तित्व के प्रकार

व्यक्तित्व की व्याख्या को स्पष्ट करने में विभिन्न विद्धानों ने विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इस सिद्धान्तों में 'प्रकार' सिद्धान्त व्यक्तित्व का सबसे पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को विभिन्न प्रकार में बांटा जाता है और उसके आधार पर शीलगुणों का वर्णन किया जाता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने 'प्रकार' सिद्धान्त को मूलतः दो भागों में विभाजित करके व्यक्तित्व की व्याख्या की गयी है। प्रथम भाग में व्यक्ति के शारीरिक गुणों एवं उसके स्वाभाव के संबंधों पर बल डाला है, तथा दूसरे भाग में व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर उसे भिन्न–भिन्न प्रकार में बांटकर अध्ययन किया है।

युंग (1923) ने अपनी पुस्तक "Psychological Types" में व्यक्तित्व का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर किया है। युंग के अतिरिक्त स्प्रेंजर तथा हालैण्ड का नाम भी अत्यधिक प्रसिद्ध है। युंग ने मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रकार बताए हैं:–

- अन्तर्मुखी

- बहिर्मुखी

अन्तर्मुखी ऐसे व्यक्ति में बहिर्मुखी के विपरीत गुण पाये जाते हैं। इन गुणों से युक्त व्यक्ति बहुत लोगों से मिलना–जुलना पसंद नहीं करते है और उनकी मित्रता कुछ ही लोगों तक सीमित होती है। इन व्यक्तियों में आत्म–केन्द्रिता का गुण अधिक पाया जाता है तथा ऐसे लोग रूढ़िवादी प्रकृति के होते है तथा पुराने रीति–रिवाजों एवं नियमों का आदर करने वाले व देने वाले होते हैं।

बहिर्मुखी तरह के व्यक्ति की अभिरूचि विशेषकर समाज के कार्यों की ओर उन्मुख होती है। वह अन्य लोगों से मिलना–जुलना पसंद करता है तथा प्रायः खुश–मिजाज होता है। ऐसे व्यक्ति आशावादी होते है तथा अपना संबंध यथार्थता से अधिक और आदर्शवाद से कम रखते है। ऐसे लोगों को खाने–पीने की ओर भी अधिक रूचि रखते है। ऐसे लोग समाज में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

24.3.1 मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकार

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि युंग ने मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण क्रमशः अन्तर्मुखी व बहिर्मुखी किया है। जिसके आधार पर आठ प्रकार के व्यक्तित्व के प्रकारों का उल्लेख किया है। जो कि निम्नवत् है :–

- अन्तर्मुखी चिन्तन प्रकार (Introverted Thinking Type)
- अन्तर्मुखी भाव प्रकार (Introverted Feeling Type)
- अन्तर्मुखी संवेदी प्रकार (Introverted Sensing Type)
- अन्तर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार (Introverted IntutingType)
- बहिर्मुखी चिन्तन प्रकार (Extroverted Thinking Type)
- बहिर्मुखी भाव प्रकार (Extroverted Feeling Type)
- बहिर्मुखी संवेदी प्रकार (Extroverted Sensing Type)
- बहिर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार (Extroverted Intating Type)

मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के चार प्रकारों निम्नांकित रुप में स्पष्ट किया गया है तथा बहिर्मुखी व्यक्तित्व के चार प्रकारों का उल्लेख अगली इकाई में किया गया है। :–

24.3.2 अन्तर्मुखी चिन्तन प्रकार (Introverted Thinking Type)

अन्तर्मुखी चिन्तन प्रकार के व्यक्ति दूसरों के साथ समायोजन स्थापित नहीं कर पाते हैं तथा अपने मनो व विचारों को उचित तरीके से व्यक्त नहीं कर पाते है।

ऐसे लोग अपने चिन्तन की अपेक्षा अपने भाव पर अधिक ध्यान केन्द्रित करते है। इनमें व्यावहारिक निर्णय की क्षमता भी कम होती है।

24.3.3 अन्तर्मुखी भाव प्रकार (Introverted Feeling Type)

अन्तर्मुखी भाव प्रकार के व्यक्तियों का चिन्तन दमित होता है। ऐसे लोग अन्य लोगों के लिए सामान्य पहुँच से बाहर तथा रहस्मय होते है। ऐसे लोग प्रायः शान्त व विनम्र होते है परंतु वे दूसरों के विचारों एवं भावों को कम प्रधानता देते है।

24.3.4 अन्तर्मुखी संवेदी प्रकार (Introverted Sensing Type)

अन्तर्मुखी संवेदी प्रकार के व्यक्तियों में अन्तर्मुखता का गुण अधिक पाया जाता है तथा उसका स्वरूप अतार्किक होता है। ऐसे लोग अपने पर्यावरण से अपने आप को अलग रखने की कोशिश करते हैं। ऐसे व्यक्ति अन्दर से काफी संवेदनशील होते हैं अपने संवेदनों पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने वाले होते हैं तथा अपने अन्तर्ज्ञान को दमित करने वाले होते हैं।

24.3.5 अन्तर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार (Introverted IntutingType)

अन्तर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार के व्यक्ति अपने अन्तर्ज्ञान पर इतना अधिक ध्यान केन्द्रित किये रहते हैं कि वास्तविकता से उनका सम्पर्क बहुत कम रह जाता है। ऐसे लोग अपनी काल्पनिक दुनिया बना लेते है और उसी में विचरण करना अधिक पसंद करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अन्य लोग ठीक ढंग से समझ नहीं पाते हैं और प्रायः वे अन्य लोगों द्वारा सनकी या झक्की समझे जाते हैं।

24.4 आइजेन्क द्वारा व्यक्त किये गये व्यक्तित्व के प्रकार

आइजेन्क (1947) ने भी मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व की तीन प्रकार बताए हैं। आइजेक ने युंग के अन्तर्मुखी –बहिर्मुखी सिद्धान्त की सत्यता की जांच करने के लिए 10000 सामान्य एवं तन्त्रिका रोगियों पर अध्ययन किया और विशेष सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट किया है। व्यक्तित्व के निम्नांकित तीन प्रकार होते हैं जो द्विध्रुवीय है–

- अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता व्यक्तित्व
- स्नायुविकृति–स्थिरता व्यक्तित्व
- मनोविक्षिप्तता–परांह की क्रियायें के आधार पर व्यक्तित्व

24.4.1 अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता व्यक्तित्व

आइजेन्क ने युंग के अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी के सिद्धान्त को स्वीकार किया परन्तु युंग के समान उन्होनें इसे व्यक्तित्व के दो अलग–अलग प्रकार नहीं माने। आपका कथन था कि चूंकि ये दोनों प्रकार एक–दूसरे के विपरीत है, अतः इन्हें एक साथ मिलाकर रखा जा सकता है तथा एक मापन पर अध्ययन किया जा सकता है।

24.4.2 स्नायुविकृति–स्थिरता व्यक्तित्व

आइजेन्क के अनुसार स्नायुविकृति–स्थिरता व्यक्तित्व का दूसरा प्रमुख प्रकार है। व्यक्तित्व के इस प्रकार के पहले छोर पर होने पर व्यक्ति में सांवेगिक नियंत्रण कम होता है तथा उसकी इच्छाशक्ति कमजोर होती है। जबकि दूसरे छोर पर होने पर व्यक्तित्व में स्थिरता होती है जिसकी ओर बढ़ने पर उक्त व्यवहारों या लक्षणों की मात्रा घटती जाती है।

24.4.3 मनोविक्षिप्तता–परांह की क्रियायें के आधार पर व्यक्तित्व

मनोविक्षिप्तता–परांह की क्रियाएं के आधार पर आइजेन्क ने व्यक्तित्व का यह प्रकार मानसिक रोग की एक विशेष श्रेणी जिसे मनोविक्षिप्तता कहा जाता है के समतुल्य नहीं है। हां इतना अवश्य है कि मनोविक्षिप्ति रोग से पीड़ित व्यक्ति में मनोविक्षिप्तता के गुण अधिक होंगे। आइजेन्क के अनुसार इस प्रकार के व्यक्ति क्षीण एकाग्रता, क्षीण स्मृति, तथा क्रूरता के गुण अधिक होते हैं।

24.5 अन्तर्मुखी व्यक्तित्व

कार्ल जी. युंग ने 1923 में व्यक्ति के सामाजिक रूपों का महत्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक युंग ने मानव की प्रकृति के आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रमुख आधार बताए हैं। जिनमें अन्तर्मुखी व्यक्तित्व एक मुख्य आधार है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व उन व्यक्तियों का होता है जिनका स्वभाव, आदतें, प्रकृति, गुण वाह्य रूप से प्रकट नहीं होते। इन व्यक्तियों को प्रकृति आत्मकेन्द्रित होती है और सदा ही अपने आप में खोये रहते हैं। इन व्यक्तियों को वाह्य जगत की चिन्ता नहीं होती है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व को इनकी निम्नलिखित विशेषताओं द्वारा आसानी से समझा जा सकता है :–

- एकान्तप्रिय
- कम बोलना
- लज्जाशील

- शीघ्र घबड़ा जाना
- संकोची स्वभाव
- चिन्तनशील
- विचारशील
- कर्तव्यों के प्रति सत्यनिष्ठ
- अध्ययनशील
- संदेही व सावधान
- आत्मकेन्द्रित
- व्यवहार में अकुशल
- आदर्शवादी
- वाक्पटुता का अभाव
- शीघ्र निर्णय में देरी
- भविष्योन्मुखी योजनाओं को प्राथमिकता
- चिन्ताग्रस्त
- निराशावादी
- हंसी–मजाक, निन्दा और बेकार बातचीत को न पसन्द करना
- लेखक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, अन्वेशक

24.5.1 एकान्तप्रिय

एकान्तप्रिय होना अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है। एकान्तप्रिय व्यक्तित्व के लोग अपने आप में ही मगन रहते है तथा भीड़ इत्यादि को पसंद नहीं करते है तथा लोगों से सामाजिक दूरी बनाकर रखते हैं।

24.5.2 कम बोलना

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग कम बोलना पसंद करते है तथा सोच–विचार कर ही अन्य लोगों से बात करते हैं। ऐसे लोग विषय को ध्यान में रखकर बात करते हैं।

24.5.3 लज्जाशील

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में लज्जाशील का गुण पाया जाता है। ऐसे लोग अन्य लोगों से बात करते हुए शर्माते है तथा लोगों को इस बात का भी डर रहता है कि कहीं किसी कारणवश शर्मिन्दगी न उठानी पड़े।

24.5.4 शीघ्र घबड़ा जाना

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग विभिन्न परिस्थितियों में शीघ्र घबड़ा जाते है और परेशान हो जाते हैं।

24.5.5 संकोची स्वभाव का होना

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग संकोची स्वभाव के होते हैं। ऐसे लोग अपनी बात को व्यक्त करने में कठिनाई को महसूस करते हैं तथा इस बात से भी डरते हैं कि उनके द्वारा व्यक्त की बात को लोग अन्यथा न ले ले।

24.5.6 चिन्तनशील

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग चिन्तन प्रकृति के होते हैं। ऐसे लोग किसी भी विषय पर लगातार चिन्तन मनन करते रहते हैं।

24.5.7 विचारशील

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग विचारशील प्रकृति के होते हैं। ऐसे लोग किसी भी कार्य को सोच समझकर करते हैं।

24.5.8 कर्तव्यों के प्रति सत्यनिष्ठ

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग अपने कर्तव्यों के प्रति सदैव सचेत रहते हैं। और अपने उत्तरदायित्वों का उचित निर्वहन करते हैं।

24.5.9 अध्ययनशील

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में अध्ययनशीलता का गुण पाया जाता है। ऐसे लोग प्रायः किसी भी विषय को गहनपूर्वक अध्ययन करके अपनी बातों को व्यक्त करते हैं।

24.5.10 संदेही व सावधान

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग एकान्तप्रिय होते है और संकोची स्वभाव के होते हैं। इसलिए सदैव अन्य लोगों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं तथा दूसरे लोगों से सावधान रहते हैं कि किसी भी प्रकार के विवादों से बचा जाए।

24.5.11 आत्मकेन्द्रित

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग आत्मकेन्द्रित होते है। ऐसे लोग प्रायः अपने ही विचारों को अत्यधिक महत्व देते हैं। तथा दूसरे लोगों के विचारों को अस्वीकार करते हैं। आत्मकेन्द्रित होने के कारण ऐसे लोग अन्य लोगों को असहज महसूस करते है।

24.5.12 व्यवहार में अकुशल

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग व्यवहार में अकुशल होते है। प्रायः ऐसे लोगों का अन्य लोगों के साथ व्यवहार असामान्य रहता है। व्यवहार में अकुशल रहने के कारण ऐसे लोगों का सामाजिक दायरा सीमित होता है।

24.5.13 आदर्शवादी

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग अपने सिद्धान्तों तथा मूल्यों के आधार पर अपना ज़ीवन यापन करते हैं। ऐसे लोग आदर्शवादी विचारधारा के होते हैं। इसलिए छल–कपट, निन्दा तथा व्यर्थ के कार्यों को नापसंद करते हैं।

24.5.14 वाक्पटुता का अभाव

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में वाक्पटुता का अभाव पाया जाता है। ऐसे लोग विचारशील ज्यादा होते हैं तथा अध्ययनशील होते है जिसके कारण शीघ्र उत्तर देने में असमर्थ होते हैं।

24.5.15 शीघ्र निर्णय में देरी

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग निर्णय लेने में अत्यधिक समय लेते हैं। शीघ्र निर्णयन के क्रियान्वयन में भी अत्यधिक समय लेते है। जिसके कारण यथा समय पर निश्चित किए गए लक्ष्यों को प्राप्त करने में उन्हें अत्यधिक समय लगता है।

24.5.16 भविष्योन्मुखी योजनाओं को प्राथमिकता

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग भविष्य पर अत्यधिक निर्भर होते हैं। ऐसे लोग प्रायः वर्तमान के स्थान पर भविष्य की योजनाओं पर अत्यधिक बल देते हैं। ये लोग वर्तमान की चिन्ता नहीं करते हैं। जिसके कारण जीवन के आनन्द का मजा नहीं ले पाते हैं।

24.5.17 चिन्ताग्रस्त

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं। अपने एकान्तप्रिय स्वभाव के कारण तथा वर्तमान की न सोचकर सदैव भविष्य के विषय में सोचना, ऐसे लोगों को चिन्ताग्रस्त बनाए रहता है।

24.5.18 निराशावादी

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग निराशावादी होते हैं। ऐसे लोग प्रायः चिन्ताग्रस्त रहते हैं तथा भविष्योन्मुखी योजनाओं में ही विश्वास करते हैं जिसके कारण इन लोगों को निराशा ही हाथ लगती है।

24.5.19 हंसी मजाक व निन्दा

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग **हंसी–मजाक, निन्दा** और **बेकार की बातचीत** को न पसन्द करते है।

24.5.20 लेखकए वैज्ञानिक एवं दार्शनिक

अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग **अध्ययनशील** और **मननशील** होते हैं। प्रायः ऐसे व्यक्ति किताबों की दुनिया में खोये रहते हैं और आगे चलकर **लेखक, वैज्ञानिक, दार्शनिक** और **अन्वेशक** बनते हैं।

24.6 सारांश

सारांशतः व्यक्तित्व की व्याख्या करने के पश्चात् स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व को समझने के लिए विभिन्न आधारों पर विभाजित किया जा सकता है। इस इकाई में व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर समझाने का प्रयास किया गया है। मनोवैज्ञानिक गुण के आधार पर व्यक्तित्व के प्रमुख दो रूप देखने को मिलते हैं, जो कि क्रमशः अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी है।

24.7 शब्दावली

अन्तर्मुखी अन्तर्मुखी ऐसे व्यक्ति में बहिर्मुखी के विपरीत गुण पाये जाते हैं। इन गुणों से युक्त व्यक्ति बहुत लोगों से मिलना–जुलना पसंद नहीं करते है और उनकी मित्रता कुछ ही लोगों तक सीमित होती है। इन व्यक्तियों में आत्म–केन्द्रिता का गुण अधिक पाया जाता है तथा ऐसे लोग रूढ़िवादी प्रकृति के होते है तथा पुराने रीति–रिवाजों एवं नियमों का आदर करने वाले व देने वाले होते हैं।

बहिर्मुखी बहिर्मुखी तरह के व्यक्ति की अभिरूचि विशेषकर समाज के कार्यों की ओर उन्मुख होती है। वह अन्य लोगों से मिलना–जुलना पसंद करता है तथा प्रायः खुश–मिजाज होता है। ऐसे व्यक्ति आशावादी होते है तथा अपना संबंध यथार्थता से अधिक और आदर्शवाद से कम रखते है। ऐसे लोगों को खाने–पीने की ओर भी अधिक रूचि रखते है। ऐसे लोग समाज में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

एकान्तप्रिय एकान्तप्रिय होना अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है। एकान्तप्रिय व्यक्तित्व के लोग अपने आप में ही मगन रहते है तथा भीड़ इत्यादि को पसंद नहीं करते है तथा लोगों से सामाजिक दूरी बनाकर रखते हैं।

आदर्शवादी अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोग अपने सिद्धान्तों तथा मूल्यों के आधार पर अपना जीवन यापन करते हैं। ऐसे लोग आदर्शवादी विचारधारा के होते हैं। इसलिए छल–कपट, निन्दा तथा व्यर्थ के कार्यों को नापसंद करते हैं।

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिंह, ए.के. (2009), उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, नई दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास।

मिश्रा, पी.डी. एवं मिश्र, बी. (1982), असामान्य व्यवहार, लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।

श्रीवास्तव, डी.एन. (1997), आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, आगरा : साहित्य प्रकाशन।

बोध प्रश्न – 1

टिप्पणी (i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(i) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं?

_____

_____

_____

2. व्यक्तित्व के प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।

_____

_____

_____

3. अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताओं को समझाइये।

_____

_____

_____

4. मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व को स्पष्ट कीजिए।

5. युंग द्वारा बताए गए व्यक्तित्व के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

24.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1. भाग 22.2 एवं उपभाग 22.2.1 देखे।
2. भाग 22.3 एवं भाग 22.4 देखें।
3. भाग 22.5 देखे।
4. भाग 22.3 एवं भाग 22.4 देखें।
5. भाग 22.3 देखे।

इकाई–25 वाह्यमुखी अथवा बहिर्मुखी व्यक्तित्व

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 बहिर्मुखी व्यक्तित्व

25.2.1 बहिर्मुखी चिन्तन प्रकार

25.2.2 बहिर्मुखी भाव प्रकार

25.2.3 बहिर्मुखी संवेदी प्रकार

25.2.4 बहिर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार

25.3 कार्ल जी. युंग द्वारा व्यक्त की गई बहिर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताएं

25.3.1 यथार्थवादी

25.3.2 विस्तृत सामाजिक दायरा

25.3.3 व्यवहार में कुशल

25.3.4 वर्तमान समय को अत्यधिक महत्व

25.3.5 वाक्पटुता में कुशल

25.3.6 यथाशीघ्र निर्णय लेना एवं उसका क्रियान्वयन

25.3.7 भावनाओं को प्राथमिकता

25.3.8 वैचारिक जगत से दूर

25.3.9 आशावादी

25.3.10 अहंवादी एवं अनियंत्रित

25.3.11 आत्मदर्शन की भावना

25.3.12 चिन्तामुक्त

25.3.13 अवसरवादी

25.3.14 सामांजस्यपूर्ण जीवन

25.3.15 लोकप्रिय

25.3.16 भविष्य के प्रति निश्चिन्त

25.3.17 संकोची व दब्बू न होना

25.3.18 नेता, अभिनेता एवं खिलाड़ी

25.4 उभयमुखी

25.5 सारांश

25.6 शब्दावली

25.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई में बहिर्मुखी व्यक्तित्व, बहिर्मुखी व्यक्तित्व के प्रकारों, विशेषताओं तथा उभयमुखी व्यक्तित्व के विषय में बताया गया है, इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- बहिर्मुखी व्यक्तित्व के अर्थ को, जान सकेंगे।
- बहिर्मुखी व्यक्तित्व के प्रकारों को समझ सकेंगे।
- बहिर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताओं को, जान सकेंगे।
- उभयमुखी व्यक्तित्व का अर्थ समझ सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

युंग द्वारा मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है। यह प्रमुख आधार मानवीय प्रकृति को स्पष्ट करते हैं। युंग द्वारा व्यक्तित्व के प्रमुख प्रकारों में क्रमशः अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के विषय में पूर्व इकाई में बताया गया है।

25.2 बहिर्मुखी व्यक्तित्व

युंग द्वारा व्यक्त किये गये व्यक्तित्व के प्रकारों में बहिर्मुखी व्यक्तित्व दूसरा प्रमुख आधार है। युंग ने मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर बहिर्मुखी व्यक्तित्व के प्रमुख चार प्रकार बताये हैं। जिनको निम्नवत् रूप से समझा जा सकता है।

25.2.1 बहिर्मुखी चिन्तन प्रकार (Extroverted Thinking Type)

बहिर्मुखी चिन्तन प्रकार के व्यक्ति अपने जीवन के आदर्शों एवं नियमों का सख्ती से पालन करते हैं। वे अपने भावों एवं संवेगों को दमित करते हैं और अपनी जिन्दगी में वस्तुनिष्ठता अधिक पसंद करते हैं।

25.2.2 बहिर्मुखी भाव प्रकार (Extroverted Feeling Type)

बहिर्मुखी भाव प्रकार के व्यक्ति अपने चिन्तन का दमन करने वाले होते हैं तथा इनकी प्रकृति अधिक सांवेगिक होती है। उन्हें जो सामाजिक मूल्यों, मानकों, एवं आदर्शों की शिक्षा दी गयी होती है उस पर वे तटस्थ रहते हैं। ऐसे लोग दूसरों के विचारों, मतों एवं प्रत्याशाओं के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं।

25.2.3 बहिर्मुखी संवेदी प्रकार (Extroverted Sensing Type)

बहिर्मुखी संवेदी प्रकार के व्यक्ति खुशमिजाज होते हैं और हमेशा नयी–नयी अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्राप्त करने में उन्हें अत्यधिक उल्लास एवं हर्ष का अनुभव होता है। ऐसे व्यक्तियों में सच्चाई के प्रति उन्मुखता अधिक होती है। और विभिन्न परिस्थितियों में लोगों के साथ आसानी से समायोजन स्थापित कर लेने वाले होते हैं।

25.2.4 बहिर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार (Extroverted Intating Type)

बहिर्मुखी अन्तर्ज्ञानी प्रकार के व्यक्ति उचित अवसर की पहचान कर उसका सही उपयोग करने की क्षमता रखते हैं। अतः ऐसे लोग व्यवसाय एवं राजनीति में अत्यधिक सफल होते हैं। ऐसे लोग किसी नये विचार से काफी उत्तेजित होते है तथा उनका स्वरूप सृजनात्मक होता है।

कोस्टा एवं मैकक्रे (1994) होमान (1983), मैकक्रे (1994), नौलर, ला एवं कोमरे (1987) आदि शोधकर्ताओं के बीच इस बात की सहमति है कि व्यक्तित्व के पांच महत्वपूर्ण विभाएं हैं जिनमें बहिर्मुखता **(Extroversion)** विभा एक है।

25.3 कार्ल जी. युंग द्वारा व्यक्त की गई बहिर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताए

कार्ल जी. युंग ने 1923 में मानव की प्रकृति के आधार पर दो प्रमुख व्यक्तित्व का उल्लेख किया है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व इन आधारों में से दूसरा प्रमुख आधार है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के विपरीत वाह्य जगत में अत्यधिक रूचि रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति सम्मानपूर्ण होती है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति समय विशेष का ध्यान में रखते हुए वर्तमान में जाते हैं और निर्णय शीघ्र करते हैं। बहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति अत्यधिक व्यवहार में कुशल होते है और समाज में सामंजस्य स्थापित करने में सदैव प्रयत्नशील और सचेत रहते हैं। ऐसे व्यक्ति परिस्थितियों एवं आवश्यकता के अनुरूप अपने आप को व्यवस्थित कर लेते हैं। ऐसे

व्यक्तियों का जीवन आनन्दमय होता है तथा वर्तमान में प्रसन्न रहते हैं। बहिर्मुखी व्यक्तित्व को इनकी विशेषताओं के आधार पर निम्नवत् समझा जा सकता है :–

- यथार्थवादी
- विस्तृत सामाजिक दायरा
- व्यवहार कुशल
- वर्तमान समय को अत्यधिक महत्व
- वाक्पटुता में कुशल
- यथाशीघ्र निर्णय क्रियान्वयन
- भावनाओं को प्राथमिकता
- वैचारिक जगत से दूर
- आशावादी
- अहंवादी व अनियंत्रित
- आत्मदर्शन की भावना
- चिन्तामुक्त
- अवसरवादी
- सामंजस्यपूर्ण जीवन
- लोकप्रिय
- भविष्य के प्रति निश्चित
- हास्य, निन्दा और बेकार बातचीत को पसन्द करना
- संकोची व दब्बू स्वभाव का न होना

25.3.1 यथार्थवादी

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग यथार्थता पर विश्वास करते हैं। ऐसे लोगों का जीवन वास्तविकता पर आधारित है।

25.3.2 विस्तृत सामाजिक दायरा

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग सामाजिक जीवन में अत्यधिक रूचि लेते हैं। इन लोगों का अन्यं लोगों से सामाजिक सम्बन्ध बेहतर होता है। ऐसे लोगों का सामाजिक दायरा भी विस्तृत होता है।

25.3.3 व्यवहार में कुशल

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग व्यवहार में अत्यधिक कुशल होते हैं। ऐसे लोगों का अन्य लोगों से सम्बन्ध अत्यधिक विस्तृत होता है। समाज में इन लोगों की प्रतिष्ठा होती है।

25.3.4 वर्तमान समय को अत्यधिक महत्व

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग वर्तमान को अधिक महत्व देते हैं। तथा भविष्य की योजनाओं पर ज्यादा विचार नहीं करते हैं। ऐसे लोग प्रायः वर्तमान में ही जीते है और जीवन का आनन्द लेते हैं।

25.3.5 वाक्पटुता में कुशल

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग वाक्पटुता में कुशल होते हैं। ऐसे लोग बोलने से पूर्व ज्यादा विचार नहीं करते हैं और त्वरित रूप से अपनी बातों को व्यक्त करते हैं।

25.3.6 यथाशीघ्र निर्णय लेना एवं उसका क्रियान्वयन

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग अपने कार्य के प्रति ज्यादा सचेत रहते हैं और यथा समय पर निर्णय लेते हैं और यह भी प्रयास करते हैं कि लिये गये निर्णय तुरन्त लागू कर दिया जाए।

25.3.7 भावनाओं को प्राथमिकता

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग दूसरों के द्वारा व्यक्त की भावनाओं का आदर करते हैं और उन भावनाओं को प्रायमिकता देते हैं जिससे कि लोगों को कष्ट न हो।

25.3.8 वैचारिक जगत से दूर

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग वैचारिक जगत से दूर रहते हैं। ऐसे लोग किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व ज्यादा सोच–विचार नहीं करते हैं।

25.3.9 आशावादी

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग सदैव आशावादी होते हैं। ऐसे लोगों की सोच सदैव सकारात्मक होती है।

25.3.10 अहंवादी व अनियंत्रित

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों की अपेक्षा अहंवादी होते है तथा दूसरे से अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। ऐसे लोग प्रायः अनियंत्रित होते है इन्हें नियंत्रित करना कठिन होता है।

25.3.11 आत्मदर्शन की भावना

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में आत्मदर्शन की भावना अधिक होती है। ये लोग अपने विचारों, वेशभूषा, चाल–ढाल, योग्यता से दूसरों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

25.3.12 चिन्तामुक्त

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। ये लोग कार्य के परिणाम पर ज्यादा चिन्ता नहीं करते है। बल्कि कार्य को प्रारम्भ करने में त्वरित निर्णय लेते हैं।

25.3.13 अवसरवादी

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में अवसरवादी का गुण पाया जाता है। ये लोग अवसरवादी होते है और सदैव अवसरों की तलाश में रहते है तथा अपने कार्य को सर्वोपरि मानते है तथा दूसरों को प्रभावित करके अपना कार्य निकालते हैं।

25.3.14 सामंजस्यपूर्ण जीवन

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने में अधिक रूचि रखते हैं। इन लोगों का सामाजिक दायरा अत्यधिक विस्तृत होता है ये लोग आसानी से अन्य लोगों के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।

25.3.15 लोकप्रिय

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग अत्यधिक लोकप्रिय होते हैं ये लोग अन्य लोगों के द्वारा आसानी से स्वीकार कर लिए जाते हैं। ऐसे लोग प्रायः वाक्पटुता में कुशल होते है और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने में सदैव सफल होते है जिसके कारण इनकी लोकप्रियता सदैव बनी रहती है।

25.3.16 भविष्य के प्रति निश्चिन्त

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग भविष्य के प्रति निश्चित होते हैं। ऐसे प्रायः वर्तमान को अत्यधिक प्राथमिकता देते है और भविष्य पर कम विचार विमर्श करते हैं।

25.3.17 संकोची व दब्बू न होना

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग व्यवहार में कुशल तथा इनका सामाजिक दायरा अत्यधिक विस्तृत होता है जिसके कारण समाज में अधिकांश लोगों के द्वारा स्वीकार किये जाते हैं और अपनी वाक्पटुता की कुशलता से अपनी बातों को सबके सामने बड़ी सरलता से व्यक्त कर देते हैं। जिसके कारण वे संकोची व दब्बू स्वभाव के

नहीं होते हैं।

25.3.18 नेता, अभिनेता एवं खिलाड़ी

बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग व्यावहारिक, वाक्पटुता में कुशल व लोकप्रिय होते हैं तथा इनका किताबों की दुनिया से ज्यादा सम्पर्क नहीं होता हैं। ये लोग आगे चलकर के सामाजिक, राजनैतिक या व्यापारिक नेता, अभिनेता, खिलाड़ी बनते हैं।

25.4 उभयमुखी

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बहुत ही कम व्यक्ति ऐसे होते है जो पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो या बहिर्मुखी। कुछ लोग इस प्रकार के होते है जिनमें दोनों प्रकार के गुणों का समावेश होता है। ये लोग उभयमुखी होते है। जो व्यक्ति अन्तर्मुखी एवं बर्हिमुखी व्यक्तियों के मध्य के गुण रखते हैं या उदासीन एवं औसत प्रकार के होते हैं उन्हें उभयमुखी कहते हैं। ऐसे व्यक्ति कई बार बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के मध्य झूलते से दिखाई देते हैं। इस प्रकार इनके व्यक्तित्व में अनिश्चितता का भी गुण देखने को मिलता है। इस प्रकार का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी गुणों को विचार में ला सकता है और बहिर्मुखी गुणों को कार्य रूप में स्थान दे सकता है। यथा एक व्यक्ति लेखक अथवा वक्ता अथवा दोनों हो सकता है। एक व्यक्ति सामाजिक व्यवहार प्रदर्षित करता है किन्तु वह कोई कार्य अकेले ही करना पसन्द करता है। उभयमुखी व्यक्ति अपना तथा समाज दोनों का लाभ देखता है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति के व्यवहार का समूचा रूप जिसको कि यह पर्यावरण के साथ समायोजन के लिए अपनाता है, उसका व्यक्तित्व होता है।

25.5 सारांश

सारांशतः बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग समाज में एक विशेष स्थान रखते हैं क्योंकि यह लोग व्यवहार में कुशल होते हैं और अपनी वाक्पटुता की कुशलता से दूसरों को जल्दी से आकर्षित कर लेते हैं। ऐसे लोग एक सामंजस्यपूर्ण जीवन को व्यतीत करते हैं तथा जीवन का पूर्णरूप से आनन्द उठाते हैं।

25.6 शब्दावली

बहिर्मुखी बहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के विपरीत वाह्य जगत में अत्यधिक रूचि रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों की

सामाजिक स्थिति सम्मानपूर्ण होती है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति समय विशेष का ध्यान में रखते हुए वर्तमान में जाते हैं और निर्णय शीघ्र करते हैं। बहिर्मुखी व्यक्तित्व के व्यक्ति अत्यधिक व्यवहार में कुशल होते है और समाज में सामंजस्य स्थापित करने में सदैव प्रयत्नशील और सचेत रहते हैं। ऐसे व्यक्ति परिस्थितियों एवं आवश्यकता के अनुरूप अपने आप को व्यवस्थित कर लेते हैं।

उभयमुखी जो व्यक्ति अन्तर्मुखी एवं बर्हिमुखी व्यक्तियों के मध्य के गुण रखते हैं या उदासीन एवं औसत प्रकार के होते हैं उन्हें उभयमुखी कहते हैं। ऐसे व्यक्ति कई बार बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के मध्य झूलते से दिखाई देते हैं। इस प्रकार इनके व्यक्तित्व में अनिश्चितता का भी गुण देखने को मिलता है।

अवसरवादी बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में अवसरवादी का गुण पाया जाता है। ये लोग अवसरवादी होते है और सदैव अवसरों की तलाश में रहते है तथा अपने कार्य को सर्वोपरि मानते है तथा दूसरों को प्रभावित करके अपना कार्य निकालते हैं।

लोकप्रिय बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोग अत्यधिक लोकप्रिय होते है ये लोग अन्य लोगों के द्वारा आसानी से स्वीकार कर लिए जाते हैं। ऐसे लोग प्रायः वाक्पटुता में कुशल होते है और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने में सदैव सफल होते है जिसके कारण इनकी लोकप्रियता सदैव बनी रहती है।

25.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिंह, ए. के. (2009), उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, नई दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास।

मिश्रा, पी. डी. एवं मिश्र, बी. (1982), असामान्य व्यवहार,, लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।

श्रीवास्तव, डी.एन., (1997), आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, आगरा : साहित्य प्रकाशन।

बोध प्रश्न – 1

टिप्पणी (i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. बहिर्मुखी व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं?

2. बहिर्मुखी व्यक्तित्व के प्रकारों को बताइये।

3. बहिर्मुखी व्यक्तित्व की विशेषताओं को समझाइये।

4. उभयमुखी व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं।

25.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1. भाग 23.2 देखे।
2. भाग 23.2 देखें।
3. भाग 23.3 देखे।
4. भाग 235.4 देखे।

इकाई – 26 असंगत भय

ईकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 असंगत भय का अर्थ एवं परिभाषा

26.3 असंगत भय के लक्षण

26.4 असंगत भय के प्रकार

26.4.1 विशिष्ट असंगत भय

26.4.2 एगोराफोबिया

26.4.3 सामाजिक असंगत भय

26.5 असंगत भय के कारक

26.5.1 जैविक कारक

26.5.2 मनोविश्लेषणात्मक कारक

26.5.3 व्यवहारपरक कारक

26.5.4 संज्ञानात्मक कारक

26.6 असंगत भय के उपचार

26.6.1 जैविक उपचार

26.6.2 मनोविश्लेषणात्मक उपचार

26.6.3 व्यवहारपरक उपचार

26.6.4 संज्ञानात्मक उपचार

26.7 सारांश

26.8 पारिभाषिक शब्दावली

26.9 सन्दर्भग्रन्थ सूची

26.0 उद्देश्य

असंगत भय (Phobia) एक बहुत ही सामान्य चिन्ता विकृति है जिसमें व्यक्ति किसी ऐसे विशिष्ट वस्तु (Object) या परिस्थिति (Situation) से अतत एवं असंतातीत

मात्रा में डरता है जो वास्तव में व्यक्ति के लिये कोई खतरा या न के बराबर खतरा उत्पन्न करता है। इस ईकाई का उद्देश्य आपको असंगत भय क्या है? इसके कारणों प्रकारो एवं परिणामों की व्यापक समझ प्रदान करना है।

इस ईकाई को पढने के बाद आप–

(1) असंगत भय क्या है? इसको समझ सकेंगे।

(2) असंगत भय के लक्षण को जान एवं पहचान सकेंगे।

(3) असंगत भय के विभिन्न प्रकारो का वर्णन कर सकेंगे।

(4) असंगत भय के कारणों को समझा सकेंगे।

(5) असंगत भय के परिणामों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

(6) असंगत भय के उपचार के बारे में जान एवं समझ सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

असंगत भय एक बहुत ही सामान्य चिन्ता विकसित है जिसमें किसी ऐसे विशिष्ट वस्तु या परिस्थिति से सतत एवं असंतुलित मात्रा में उभरता है जो वास्तव में व्यक्ति के लिए कोई खतरा या न के बराबर खतरा उत्पन्न करता है। जैसे जिस व्यक्ति में मकड़ा से असंगत भय (दुर्भीति) उत्पन्न हो गया है वह उस कमरे में नही जा सकता जहां मकड़ा मौजूद है। स्पष्टतः मकड़ा एक ऐसा जीव–जन्तु है जो व्यक्ति के लिए कोई खतरा नहीं पैदा करता है, परन्तु इससे असंगत भय उत्पन्न हो जाने पर व्यकित के सामान्य व्यवहार को वह विचलित कर देता है।

26.2 असंगत भय का अर्थ एवं परिभाषा

ऐलिगमैन एवं रोजेनहान के अनुसार (1998) "असंगत भय एक सतत डर प्रतिक्रिया है जो खतरा के वास्तविकता के अनुपात से परे होता है।"

डेविसन एवं नील के अनुसार:– "मनोरोग विज्ञानियों द्वारा असंगत भय को एक विघटनकारी, डर व्यवहस्त परिहार जो किसी खास वस्तु या परिस्थिति से उत्पन्न खतरा के अनुपात से अधिक होता है तथा जिससे प्रभावित व्यक्ति द्वारा आधारहीन समझा जाता है।

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि असंगत भय में व्यक्ति या रोगी किसी ऐसे वस्तु या परिस्थिति से असंतुलित मात्रा में डरता है जिससे वास्तव में कोई खतरा नहीं होता। उसका सामान्य जीवन का व्यवहार अपअनुकूलित हो जाता है।

26.3 असंगत भय के लक्षण

अमेरिकन मनौचिकित्सक संघ (1994) के अनुसार असंगत भय के निम्नांकित प्रमुख लक्षण होते है।–

1– किसी विशिष्ट परिस्थिति या वस्तु से इतना अधिक सतत डर जो वास्तविक खतरा के अनुपात से कहीं अधिक होता है।

2– व्यक्ति को उस विशिष्ट वस्तु या परिस्थिति से सामना होने पर अत्याधिक चिन्ता या विभीषिका दौरा भी उत्पन्न हो जाता है।

3– व्यक्ति या रोगी यह समझता है कि डर अत्यधिक अवास्तविक है।

4– व्यक्ति असंगत भय उत्पन्न करने वाली परिस्थिति या वस्तु से दूर रहना पसन्द करता है।

5– अगर उपर्युक्त लक्षण कोई विशेष रोग से उत्पन्न न हुए हों।

उपर्युक्त प्रमुख लक्षणों के अतिरिक्त ऐसे व्यक्यिों में अन्य कई तरह के लक्षण जैसे तनाव, सिरदर्द, पेटदर्द, पीठदर्द आदि देखने को मिलते है। तीव्र संत्रांस या आतंक की स्थिति में ऐसे व्यक्तियों में व्यक्तित्व लोप का अनुभव उत्पन्न करता है। तथा साथ ही साथ अवास्तविकता तथा विचित्रता आदि का भाव भी उत्पन्न करता है। असंगत भय में प्रायः विषाद के लक्षण भी पाये जाते है और कई रोगियों में तो गम्भीर अन्तरवैयक्तिक कठिनाइयां भी उत्पन्न हो जाती है। कुछ रोगियों में तो निर्णय लेने में भी काफी कठिनाईं उत्पन्न हो जाती है। जिसे कॉफमैन 1973 में संगात्मक लहजे में निर्णय दुर्भीत कुछ है।

असंगत भय का एक उदाहरण –

अन्ना नाम की एक महिला जिसकी आयु 38 वर्ष की थी में बिल्ली से असंगत भय उत्पन्न हो गया! 6 माह पहले उसके मकान के ठीक सामने वाला मकान खाली हो गया था और उसमें बडा–बडा घास उग गया था जिसमे अगल–बगल की बिल्लियां खूब उछल कूद करती थी अन्ना को यह डर हो गया था कि जब वह अपने मकान से बाहर निकलेगी तो बिल्ली उस पर कूद कर उसे नोच–खसोंट लेगी इसीलिए वह अपने आप को घर में बन्द रखती थी जब वह 4 वर्ष की थी तो उसके मन में यह भय का खयाल आता था कि उसके पिता बिल्ली के एक बच्चे को पकडकर पानी मे डुबो दिए थे और तभी से वह सचमुच बिल्ली के बच्चो से आतंकित रहती थी यह कहने पर की उसके पिता ने ऐसा कुछ नही किया है वह इस डर से

घबरा जाती थी बिल्ली को देखते ही वह आतंकित हो जाती थी तथा वह सिर्फ बिल्ली के डर से उत्पन्न आसंकाओं के बारे में सोचा करती थी वह कोई अप्रत्याथित गति छाया या आवाज को बिल्ली की ही आवाज समझ बैठती थी।

उक्त केस मे अन्ना इसलिए घर मे ही रहना चाहती है क्योंकि उसे डर हैं कि यदि वह घर से बाहर निकलती है तो बिल्ली द्वारा उस पर आक्रमण किया जा सकता है। उसका डर सचमुच में उस अनुपात से काफी अधिक है जिसमें सचमुच में बिल्ली उस पर झपट कर हानि पहुँचा पाये। यहां वास्तविक खतरा लगभग शून्य है परन्तु उसका डर काफी आंशिक एवं निराधार है। सचमुच में उसकी समस्या एक सामान्य डर से कहीं अधिक है। अतः यह निश्चित रूप से असंगत भय का एक उत्तम उदाहरण है। एक नवीनतम अनुमान के अनुसार के बीच अंक्षगत भय एक सामान्य विकृति है। आम लोगों के बीच इस मनोविवृति के होने की दर 6.2:प्रतिशत है जिससे महिलाओं में इसका दर 8 प्रतिशत है जबकि पुरूषों में उससे आधा से भी कम 3.4 प्रतिशत है।

26.4 असंगत भय के प्रकार

असंगत भय मुख्यतः 3 प्रकार के पाये जाते है–

(1) विशिष्ट असंगत भय

(2) एगोरा असंगत भय

(3) सामाजिक असंगत भय

इन तीनों का वर्णन इस प्रकार है–

26.4.1 विशिष्ट असंगत भय

विशिष्ट असंगत भय एक ऐसा डर होता है जो विशिष्ट वस्तु या परिस्थित की उपस्थिति या उसके अनुमान मात्र से ही उत्पन्न होता है जैसे बिल्ली से डरना या मकड़ा से डरना विशिष्ट असंगत भय का उदाहरण है। सम्पूर्ण दुर्भीत का करीब 3 प्रतिशत दुर्भीत ही विशिष्ट असंगत भय होता है।

विशिष्ट असंगत भय बहुत तरह के होते है जिन्हें मूलतः 4 प्रमुख भागों में बांटा गया है।

(i) पशु असंगत भय – पशु असंगत भय एक बहुत ही सामान्य प्रकार का विशिष्ट असंगत भय हैं। जिसमें रोगी विशेष तरह के पशु से कुछ कारणों से असंगत ढंग से डरने लगता है। दुर्भीत असंगत भय महिलाओं में अधिकतर पाया जाता है। तथा इसकी शुरूआत वाल्यावस्था से होती है। प्रमुख पशु असंगत भय निम्नांकित है–

बिल्ली से डर : एलूरोफोबिया (Ailureophobia)

कुत्ता से डर : साइनोफोबिया (Cynophobia)

कीट–मकोड़ो से डर : इन्सेक्टोफोबिया (Insectophobia)

चिड़ियो से डर : एबिसोफोबिया (Avisofobia)

घोड़ा से डर : एक्यूनोफोबिया (Equinophobia)

साँप से डर : ओफडयोफोबिया (Ophidiaphobia)

जीवाणुओं या रोगाणुओं से डर : माइसोफोबिया (Mysophobia)

इत्यादि।

(ii) अजीवित वस्तु से उत्पन्न असंगत भयः–

इसमें रोगी कुछ अजीवित वस्तुओं से असंगत डर दिखलाता है और सम्भव है। कि व्यक्ति अन्धेरे से या गन्दगी से ऐसा असंगत डर दिखलाना प्रारम्भ कर दे। पशु दुर्भीति असंगत भय के समान ही इस तरह के असंगत भय का केन्द्र बिन्दु कोई एक विशेष वस्तु होती है। वरना अन्य दृष्टिकोणों से व्यक्ति सामान्य दिखता है। पुरूष एवं महिला दोंनो में ही लगभग समान रूप से होता है। इस तरह के असंगत भय की विशेषता यह भी है वह किसी भी उम्र के व्यक्ति में हो सकता है।

ऐसे असंगत भय के प्रमुख प्रकार निम्नांकित है।

आँधी–तूफान से डर : बगौनटोफोबिया (Brontophobia)

ऊँचाई से डर : एक्रोफोबिया (Acrophobia)

अंधेरा से डर : नाइक्टोफोबिया (Nyctophobia)

बंद जगहो से डर : क्लाऊस्ट्रोफोबिया (Clourstraphobia)

अकेलापन से डर : मौनोफोबिया (Monophobia)

(iii) बीमारी एवं चोट से सम्बद्व असंगत भयः–

इस तरह के असंगत भय में व्यक्ति में चोट, जख्म या अन्य तरह के बीमारी से सम्बद्व असंगत भय उत्पन्न हो जाता है। हालांकि जिस बीमारी से वह इतना डरता है उससे अब इतना डरने की भी बात नहीं है। ऐसे लोग अन्य दृष्टिकोण से सामान्य होते है। परन्तु इनमें इस बात का भयानक डर बना रहता है। कि उसे जल्द ही अमुख बीमारी हो जायेगी इस तरह के भयानक डर से ही उसमें कुछ लक्षण जैसे छाती में दर्द तथा पेट में दर्द होने लगता है जिससे वह समझता है कि अब उसमें अमुक रोग

हो जायेगा इस तरह के असंगत भय की शुरूआत मध्य उम्र में होता है। इस तरह के असंगत भयको नोसोफोबिया कहा जाता है।

जिसके प्रमुख प्रकार इस तरह से हैं:–

मृत्यू से डर	:	थैनटोफोबिया (Thaintophobia)
कैसर से डर	:	कैसराफोबिया (Cancerphobia)
यौन रोगो से डर	:	वेनीरिफोबिया (Vinirephobia)

इत्यादि

(iv) रक्त असंगत भय:–

इस तरह के रोगी में उन परिस्थितियों से असंगत डर विकसित हो जाता है जिसमें उन्हें रक्त देखने को मिलता है। चाहे कट–फट जाने से रक्त निकल रहा हो या फिर सुई देने से रक्त निकल रहा हो इसी असंगत भय के कारण वे मेडिकल जांच आदि से अपने को दूर रखते है। क्लिनकेनेचट Klinknecht (1994) के अनुसार रक्त असंगत भय महिलओं में पुरूषों की अपेक्षा अधिक होती है इसकी शुरूआत अक्सर उत्तर बाल्यावस्था में होती है।

26.4.2. एगोराफोबिया :–

एगोराफोबिया का शाब्दिक अर्थ भीड़भाड या बाजार स्थलों से डर होता है। परन्तु यह है कि एगोराफोबिया में कई तरह के डर सम्मलित होते है जिसका केन्द्र बिन्दु सार्वजनिक या आम स्थान ही होता है जहां से व्यक्ति को ऐसा विश्वास होता है कि किसी तरह की घटना या दुर्घटना होनें पर न तो कोई बचाव सम्भव है और न कोई बचाने के लिए ही आ सकता है। खरीददारी करने के लिए जाने से डर भीड़भाड वाले स्थानों में प्रवेश से डर तथा यात्रा से डर आदि एगोरोफोबिया के सामान्य अंश है।

एगोराफोबिया की शुरूआत बार–बार आतंक दौरा हाने से सामान्यता होता है इसमें कुछ और लक्षण भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलते है जैसे इसमें तनाव घुमड़ी, हल्का फुल्का बाध्यता व्यवहार यथा बार–बार यह देखना कि दरबाजा ठीक से बन्द है कि नहीं या बिछावन के नीचे झांककर यह देखना कि कहीं कोई घुस तो नहीं गया है। तथा विशादी प्रवृत्तियां भी देखने को मिलती है। बगलास तथा उनके सहयोगियों (1977) के अनुसार–एगारोफोबिया के रोगियो के करीब 93% रोगी ऐसे पाये गये जिनमें ऊँचाई एवं बन्द जगहो से भी असंगत पाया गया एगोफोबिया की उत्पत्ति विभीषिका विकृति के इतिहास के बिना या उसके साथ दोनो ही तरह से होते माना गया है। कुछ ऐसे व्यक्ति

होते है जिनमें विभीषिका विकृति में हुए आतंक या विभीषिका दौरा के कारण एगोफोबिया विकसित हो जाता है तथा कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिनमें यह रोग विकसित हो जाता है यही कारण है कि DSM IV में एगोफोबिया को वास्तविक असंगत भय का उप प्रकार न मानकर विभीषिका विकृति का एक प्रकार बतलाकर उसकी व्याख्या की गई है।

26.4.3. सामाजिक असंगत भय :–

समाजिक असंगत भय वैसे असंगत भय को कहा जाता है जिसमें व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में यह डर बना रहता है कि उसका मूल्यांकन लोग करेंगे अतः वह ऐसी परिस्थितियों से दूर हटना चाहता है। तथा वह चिंतित नजर आता है तथा वह काफी घबराया हुआ दिखता है इसे सामाजिक चिन्ता विकृति भी कहा जाता है। ऐसे लोग आम लोगों के बीच बोलने तथा कुछ विशेष तरह की भूमिका करने आदि से काफी डरते है। इतना ही नहीं ऐसे लोग आम लोगो के साथ खाना खाने या सार्वजनिक पेशाब घरो के उपयोग से भी डरते है।

सामाजिक दुर्भीति की शुरूआत प्रायः किशोरावस्था में होता है तथा 25 वर्ष के बाद शायद ही किसी व्यक्ति में इसका प्रकोप होता है। इसका कारण यह है कि किशोरावस्था में ही व्यक्ति प्रथम बार सही अर्थो में सामाजिक चेतना तथा अन्य लोगो के साथ अन्तः क्रियाओं से अवगत हो पाता है। यह विकृति सचमुच में पुरूष तथा महिला दोनों में समान रूप से पाया गया। टर्नर तथा उनके सहयोगियो के अनुसार–सामाजिक दुर्भीति का अन्य विकृतियों के साथ मिलकर होने की सम्भावना भी अधिक होती है। प्रायः यह देखा गया है कि यह विकृति सामान्यीकृत चिन्ता विकृति, विशिष्ट असंगत भय, विभाषिका विकृति तथा वाह्य विकृतियों के साथ–2 भी उत्पन्न होता है।

प्रश्न (1) असंगत भय को परिभाषित कीजिए और इसके प्रकारो की उपर्युक्त उदाहरणों के साथ चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

प्रश्न (2) असंगत भय के लक्षण क्या है? वर्णन कीजिए।

.....

.....

26.5 असंगत भय के कारक

असंगत भय के उत्पत्ति के कारणों पर मनौवैज्ञानिको तथा मनोचिकित्सकों द्वारा काफी गहन रूप से अध्ययन किया गया और उनसे मिले तथ्यों से स्पष्ट है कि असंगत भय के निम्नांकित 4 प्रमुख कारक हैः–

(1) जैविक कारक

(2) मनोविश्लेषणात्मक कारक

(3) व्यवहार परक कारक

(4) संज्ञानात्मक कारक

26.5.1 जैविक कारक :–

एक ही तरह के तनाव वाली परिस्थिति में होने पर भी कुछ व्यक्तियों में असंगत भय विकसित हो जाता है जबकि में कुछ अन्य में नहीं। इसका कारण यह बताया गया है कि जिनमें असंगत भय उत्पन्न हो जाता है उनमें कुछ जैविक दुष्कार्य होता है जो इनमें तनावपूर्ण परिस्थिति के बाद असंगत भय उत्पन्न करता है इसमें दिये गये शोधो से यह स्पष्ट हुआ कि निम्नांकित दो क्षेत्रो से सम्बद्व जैविक कारक महत्तवपूर्ण है।

(i) स्वायत्त तंत्रिका तंत्रः–

कुछ अध्ययनों से इस बात के सबूत मिले है कि असंगत भय उन व्यक्तियों में अधिक उत्पन्न होता है जिनका स्वायत्व तंत्रिका तंत्र कई तरह के प्यार्वरणीय उद्दीपको से बहुत ही जल्द उत्तेजित हो जाता है।

(Gabby) गावे 1992 के अनुसार :– स्वयत्व अस्थिरता बहुत हद तक वंशानुगत रूप से निर्धारित होता है। अतः व्यक्ति के आनुवंशिकता का दुर्भीति उत्पन्न होने में एक निश्चित भूमिका होती है।

(ii) आनुवंशिक कारकः–

ऐसे अध्ययन हुए है। जिनसे यह स्पष्ट सबूत मिलता है कि असंगत भय होने की सम्भावन उन व्यक्तियों में अधिक होता है। जिसके माता–पिता तथा तुल्य सम्बन्धियों में इस तरह का रोग पहले से उत्पन्न हो चुका हो। हैरिस 1983 के अनुसार एगोरोफोबिया के रोगियों के प्रत्यक्ष सम्बन्धियों में उस विकृति के होने की संभावना आचिंतित प्रयोज्यों के प्रत्यक्ष संबंधियो के तुलना में अधिक पायी गयी उसी तरह से टारग्रेसेन 1983 ने अपने अध्ययन में पाया कि एकांगी जुड़वा बच्चों में भ्रप्तीय जुड़वा बच्चों की तुलना में एगोराफोबिया का सुसंगतता दर अधिक होता है।

उपर्युक्त अध्ययनों के आलोक से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि असंगत भय की उत्तपत्ति में जैविक कारको की भूमिकास होती है।

26.5.2. मनोविश्लेषणात्मक कारक :–

असंगत भय के कारणों की व्यख्या मनोविश्लेषणात्कम कारको के रूप में भी की गई है। फ्रायड पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने असंगत गय के कारणों की व्यख्या मनोविश्लेशात्मक सिद्वान्त के रूप में किया है। फ्रायड के अनुसार द्रमित उपांह इच्छाओं से उत्पन्न चिन्ता के प्रति रोगी द्वारा अपनाई गई असंगत भय एक सुरक्षा होता है। यह चिन्ता डर उत्पन्न करने वाले उपांह की इच्छाओं से विस्थापित होकर किसी वैसे वस्तु या परिस्थिति से सम्बन्धित हो जाता है जो इन इच्छाओं से किसी न किसी ढंग से जुड़ा होता है। वह वस्तु या परिस्थिति से किसी न किसी ढंग से जुड़ा होता है। वह वस्तु या परिस्थिति जैसे, बन्द स्थान, ऊँचाई, कीडे मकोड़े आदि तब व्यक्ति के लिए असंगत भय उत्पन्न करने वाले उद्दीपक हो जाते है। उनसे दूर रहकर व्यक्ति अपने आप को द्रमित संघर्ष से बचाता है।

असंगत भय का दूसरा मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या ऐरिट्री (1979) द्वारा प्रदान किया गया है। इनके अनुसार बाल अवस्था में बच्चे निर्दोषता की अवधि से गुजरते है जिसके दौरान उन्हें यह विश्वास रहता है कि वयस्क लोग उन्हें किसी भी तरह के खतरो से बचा पायेंगे। परन्तु जब उनका यह विश्वास टूट जाता है तो वे अन्य वयस्को विशेषकर माता–पिता को अधिक विश्वनीय नहीं मानने लगते है। परन्तु वे इस अविश्वास से बहुत ही अपने को छुटकारा दिलाने की कोशिश करने लगते है। क्योंकि यह सामाजिक दृष्टिकोण से अनुचित होता है इसलिए वे फिर से इन वयस्को में विश्वास तथा भरोसा करने का प्रयास प्रारम्भ कर देते है। तथा इस क्रम में वे अचेतन रूप से अन्य लोगो के डर को कुछ वस्तु या परिस्थिति से प्रतिस्थापित कर देते है। इससे अन्तोगत्वा व्यक्ति में असंगत भय उत्पन्न हो जाता है।

26.5.3 व्यवहारपरक कारक :–

इस सिद्वात के अनुसार व्यक्ति में असंगत भय उत्पन्न होने का मुख्य कारक दोषपूर्ण सीखना होता है। इस दोषपूर्ण सीखना की व्यख्या निम्नांकित 3 तरह के कारको से की गई है।

(i) परिहार अनुबंध

(ii) मॉडलिंग

(iii) धनात्मक पुनर्वलन

इन तीनो का वर्णन निम्नांकित है:–

(i) **परिहार अनुबन्धः–** इन तीनो का वर्णन निम्नांकित असंगत भय का विकास परिहार अनुबंध के द्वारा होना पाया गया है। इस तथ्य को सबसे पहले बॉटसन तथा उनकी शिष्या जो बाद में उनकी पत्नी बनी रेनर द्वारा एक अलवर्ट नामक बालक में प्रयागोत्मक रूप से डर या असंगत भय उत्पन्न करके दिखलाया गया बाद में इसकी सटीक व्याख्या माउर 1947 द्वारा किया गया। इनके अनुसार असंगत भय दो तरह के संबद्व सीखना से होता है। क्लसिकी अनुबंध द्वारा जब किसी तटस्थ उद्दीपक को जिसे अनुबन्धित उद्दीपक भी कहा जाता है। डर उत्पन्न करने वाला सदीपक या घटना के साथ युग्मित कर दिया जाता है तो व्यक्ति पहले इस तटस्थ उद्दीक के प्रति डरना सीख लेता है फिर इसके बाद व्यक्ति इस अनुबन्धित डर को तटस्थ उद्दीपक या अनुबन्धित उद्दीपक से दूर रहकर काम करना सीख लेता है। असंगत भय के उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक हे कि उत्पन्न डर सामान्यीकृत हो अर्थात व्यक्ति सिर्फ अनुबन्धित उद्दीपक से ही नहीं डरे बल्कि अन्य समान उदीपको से भी डरे जैसे स्कूटर से दुर्घटना हो जाने पर कुछ लोगो में सिर्फ स्कूटर ही नहीं बल्कि सभी तरह के दो पहिया तीन पहिया तथा पहिया वाहनो को चलाने के प्रति उनमें असंगत डर विकसित हो जाना है।

(ii) **माँडलिंग :–**

माँडलिंग के अनुसार असंगत भय व्यक्ति में दूसरो के व्यवहार को प्रेक्षण करके विकसित होता है। प्रेक्षण द्वारा इस तरह के सीखना को स्थानापन्न सीखना या प्रेक्षणात्मक सीखना भी कहा जाता है। इस तथ्य को वैण्डुरा तथा रोजेनहल (1966) ने अपने अध्ययन में दिखलाया है जिसमें यह स्पष्ट रूप से पाया गया है कि जब प्रयोज्यो ने दूसरो में किसी वैद्युत उपकरण को स्पर्श करने पर दर्द का अनुभव होने के कई प्रयासो में प्रेक्षण किया तो उसमें भी उस उपकरण से असंगत भय उत्पन्न हो गया। माँडलिंग द्वारा असंगत भय विकसित होने की प्रक्रिया को माइनेका तथा उनके सहयोगियों 1994 के प्रयोगो में भी स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। इस प्रयोग में किशोर बन्दरो को कुछ ऐसे माता पिता का दर्जा प्राप्त किये बन्दरो के साथ रखा गया जो सांप से काफी करते थे। विभिन्न प्रेक्षणात्मक सीखना के सत्र के दौरान किशोर बन्दरो ने उन वयस्क बन्दरो को सांप से डरने के व्यवहारो का तथा अन्य उददीपको से नहीं डरने के व्यवहारो का प्रेक्षण किया। 6 ऐसे सत्रों के बाद यह पाया गया कि किशोर बन्दरो में भी सांप के प्रति इसी ढंग का असंगत डर विकसित हो गया।

कई अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ कि असंगत भय के सभी रोगी यह नहीं कहते कि उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति को संवेगात्मक परिस्थिति में प्रेक्षण किया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्ति भी है जिन्हे दूसरो से काफी बुरा अनुभव प्राप्त हुआ है। परन्तु फिर भी उसमें किसी प्रकार का असंगत भय उत्पन्न नही हुआ है। ऐसे सबूतो से स्पष्ट होता है कि माँडलिंग अपने आप में असंगत भय की पूर्ण व्याख्या नही करता है।

(iii) धनात्मक पुनर्वलनः–

असंगत भय का विकास व्यक्ति में धनातमक पुनर्वलन के आधार पर होता है। जैसे मान लिया जाये कि कोई बच्चा स्कूल जाने से डरकर अपने माता–पिता के सामने कुछ ऐसा बहाना बनाता है कि उसे स्कूल नही जाना पड़े। यदि माता पिता उसके इस बहाने को सुनकर उसे स्वीकार कर लेते है। और जिसके परिणामस्वरूप उसे स्कूल नहीं जाना पड़ता है तो यहां माता पिता द्वारा बच्चा को स्कूल नही जाने के लिए सीधा धनात्मक पुनर्वलन मिल रहा है। इसका परिणाम यह होगा कि बच्चा भविष्य में डरकर स्कूल न जाने की अनुक्रिया के कारण सीख लेगा। इस उदाहरण से स्पष्ट हाता है कि धनातमक पुनर्वलन से भी व्यक्ति में डर या असंगत भय उत्पन्न होना है। डेविसन और नील (1996) ने अपने अध्ययन से इस तथ्य की संपुष्टि किया है।

26.5.4 संज्ञानात्मक कारक

असंगत भय के विकास में कुछ संज्ञानात्मक कारको को भी अहम भूमिका रही है। असंगत भय विकृति से ग्रस्त व्यक्ति जान–बूझकर परिस्थिति को या उससे मिलने वाली सूचनाओं को इस ढंग से संशोधित करते है कि उससे उनका असंगत भय और भी मजबूत हो जाता है। इस तरह से असंगत भय के उत्पन्न होने तथा उसे संशोधित होने में एक तरह का संज्ञानात्मक पूर्वाग्रह होता है। इस तथ्य का समर्थन टोमार्केन, माइनेका तथा कूक के अध्ययन से होता है। इस अध्ययन में सांप या मकड़ा से डरने वाले प्रयोज्यों का दो समूह तैयार किया साँप या मकड़ा से अधिक डरने वाले प्रयोज्यो का समूह तथा साँप या मकड़ा से कम डरने वाले प्रयोज्यो का समूह। इसके बाद इन्हें कई ऐसे स्लाईड दिखलाये गए जिनमें से कुछ तो डर संगत थे। जैसे (फन फैलाये साँप) तथा कुछ ऐसे स्लाईड दिखलाये गए जिसमें डर असंगत जैसे तरह–तरह के फूल खिले थे इसके बाद उन्हें तीन में से किसी एक को परिणाम के रूप में सामना कराने के बाद प्रयोज्यो को प्रत्येक के साहचर्यो का स्लाईड देखने और उसका

परिणाम से सामना कराने के बाद देखा गया कि प्रत्येक प्रकार के स्लाईड तथा प्रत्येक परिणाम के बीच साहचर्य की मात्रा एक समान अर्थात 33 प्रतिशत ही थी। इस आधार पर प्रयोगकर्ता द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि साँप या मकड़ा से अधिक मात्रा में डरने वाले प्रयोज्य जान बूझकर सूचनाओं को इस ढंग से संपोशित कर रहे थे कि उनमें ऐसे डर और अधिक संशोधित होता रहे या बना रहे। सामाजिक असंगत भय में भी संज्ञानात्मक कारको की स्पष्ट भूमिका देखने को मिली है।

स्पष्ट हुआ कि असंगत भय के कारणों की व्याख्या करने के लिए कई तरह के सिद्वान्तो का वर्णन किया गया है। अतः असंगत भय के तुर्की को संपूर्ण रूप से समझने के लिए यह आवश्यक हे कि इन सभी सिद्वान्तो द्वारा प्रतिपादित कारको पर उचित ध्यान दिया जाए।

26.6. असंगत भय के उपचार–

(1) जैविक उपचार

(2) मनोविश्लेषणात्मक उपचार

(3) व्यवहार परक उपचार

(4) संज्ञानात्मक उपचार

26.6.1 जैविक उपचार :–

असंगत भय के रोगियो की चिन्ता को कम करने के लिये चिंता विरोधी औषधि जैसे वार–वार विट्रेट का प्रयोग किया जाता है। परन्तु चूँकि इसका अवाछनीय पार्श्विक प्रभाव अधिक होता पाया गया इसलिए अब इसका उपयोग कम होने लगा है। अब तुलनात्मक रूप से दो अन्य औषधों जैसे प्रोपैनेडिपोला तथा वेनजोडिपाजेपाइन्स का उपयोग असंगत भय के रोगियों के उपचार में अधिक किया जाता है।

इन औषधों के सहारे उपचार करने में जो सबसे बड़ा दोष दिखता है। वह यह है कि औषध बंद करते ही पुनः असंगत भय के लक्षण लौट आते है। अतः जैविक चिकित्सा में असंगत भय के रोगियों का एक बहुत सही उपचार नही दिखता है।

26.6.2 मनोविश्लेषणात्मक उपचार :–

मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा में चिकित्सक रोगी के उन दमित मानसिक संघर्ष की पहचान करना चाहता है जो उसमें असंगत डर तथा डर के वस्तुओं या परिस्थितियो से दूर ले जाता है। इस तरह के संघर्ष की पहचान करने में वह स्वतंत्र साहचार्य

विधि, स्वप्न विश्लेषण आदि का सहारा लेता है। परम्परागत मनोंविश्लेषण मूलतः लैगिक संघर्ष का पता लगाकर रोग का उपचार करते है। परन्तु ऐरीटी के अन्तरवैयत्तिक सिद्वान्त से सम्बन्द्व मनोविश्लेषक रोगी को अपने सामान्यकृत डर को समझने में मद्द कर उसका उपचार करेंगे।

26.6.3 व्यवहारपरक उपचार :–

असंगत भय के उपचार में कई तरह के व्यवहारपरक विधियों जैसे क्रमबद्व असंवेदीकरण माडलिंग तथा फ्लाडिंग आदि प्रमुख है।

क्रमवद्व असंवेदीकरण की प्रविधि जिसका विकास जोसेफ अल्फ द्वारा 1950 वाले दशक में किया गया था द्वारा असंगत भय का उपचार काफी किया गया है। इस विधि में उपचार तीन स्तरीय अवस्था में होता है। पहली अवस्थी में चिकित्सक रोगी को मांसपेशियों के शिथलीकरण का प्रशिक्षण देता है। दूसरी अवस्था में चिकित्सक की मदद से रोगी उन सभी वस्तुओं या परिस्थितियों जिनसे वह डरता है कि एक पदानुक्रमिक सूची तैयार करता है। तीसरी अवस्था में रोगी गहरी शिथिलीकरण की अवस्था में रहते हुए सूची से डर उत्पन्न करने वाले उद्दीपीकों के बारे में एक–एक करके सोचते जाता है। वह पहले सूची के उस उद्दीपक के बारे में सोचता है जिससे सबसे कम डर उत्पन्न होता है। फिर उत्तरोत्तर अधिक डर उत्पन्न करने वाले उद्दीपक के बारे एक के बाद एक करके सोचता है।

असंगत भय के रोगियों के उपचार में इस विधि का उपयोग विलसन एवं ओलयरी द्वारा काफी अधिक सफलता पूर्वक किया गया है।

माडलिंग की प्रविधि असंगत भय के रोगी किसी ऐसे माडल या व्यक्ति के व्यवहार को देखता है जो उसके रोग से सम्बंध व्यवहार को बिना किसी डर के करता है। जैसे– सर्प असंगत भय के रोगी को ऐसा मॉडल दिखला कर उसका उपचार सफलतापूर्वक वैण्डुरा द्वारा किया गया है जिसमें माडल या व्यक्ति सर्प को लेकर अपने शरीर पर छोड़ता है तथा वह फिर सर्प को हाथ से पकड़कर उसे उलट–पलट करते हुए अपने कंधे एवं गले में लिपटाता है। उसे देखकर रोगी यह सीखता है कि सचमुच में सर्प को उसका डर व्यर्थ है। फिर उसके बाद चिकित्सक उस रोगी को धीरे–धीरे साप के पास आने उसे घूने एवं पकड़ने के लिए प्रोत्साहित करता है और इस तरह से बार–बार करके उसकी असंगत भय को कम या समाप्त करता है।

फ्लाडिंग में असंगत भय के रोगी को उस वस्तु या परिस्थिति में लंबे अवधि तक रखा जाता है। जिससे वह डरता है। जैसे बंद स्थान से असंगत भय जिसे क्लाऊस्ट्रोकोबिया कहा जाता है। तथा ऊँचाई से डरने वाले व्यक्ति को ऊँचें मकान पर कुछ घंटों के लिए ले जाया जा सके। ऐसा करने से रोगी में यह सूझ उत्पन्न होता है कि उसका डर व्यर्थ है। क्योंकि किसी भी तरह का अनर्थ तो नहीं होता है। ऐसी सूझ से उसकी असंगत भय स्वतः कम होने लगती है।

उपर्युक्त प्रविधि के अलावा असंगत भय खासकर रक्त असंगत भय के उपचार के लिए एक नयी प्रविधि जिसे प्रयुक्त तनाव कहा जाता है का उपयोग अधिक किया जा रहा है। इस प्रविधि प्रतिपादन स्वीडेन के मनोवैज्ञानिक लारस–गोरेन ओस्ट द्वारा किया गया और यह प्रविधि क्रमबद्ध असंवेदीकरण के तर्क पर आधृत है। ओस्ट ने यह देखा कि रक्त असंगत भय के रोगी जब रक्त को देखता है तो उसमें कुछ ऐसी जैविक प्रक्रियाएं प्रारंभ होती है जो अन्य तरह के दुर्भित के रोगियों में होने वाले जैविक प्रक्रियाओं से विपरीत होता है जैसे रक्त असंगत भय का रोगी जब रक्त देखता हे तो उसका रक्तचाप कम हो जाता है तथा हदय गति मन्द हो जाती है तथा अक्सर वह बेहोश हो जाता है ओस्ट का तब तर्क यह है कि यदि ऐसे रोगी को अपने मांस पेशियों में तनाव उत्पन्न करने का प्रशिक्षण दिया जाये तो इससे स्वभावतः विपरीत जैविक प्रक्रिया जैसे रक्त चाप एवं हदय गति में वृद्धि आदि होगी, और तब रक्त देखकर उसमें बेहोशी जैसी अनुक्रिया नही होगी। प्रयुक्त तनाव विधि में रोगी को अपने बाह, हाथ, पैर आदि के मांशपेशियों से तनाव उत्पन्न करके फिर उसे धीरे–धीरे तनावरहित करने का प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि वह इसका रक्त देखने पर उपयोग कर सकें ओस्ट ने अपने एक अध्ययन में जिसमें रक्त असंगत भय के 30 रोगियों प्रयुक्त के सहारे उपचार किया यह पाया कि 90 प्रतिशत रोगी ठीक हो गए।

26.6.4 संज्ञानात्मक उपचारः–

असंगत भय के उपचार में संज्ञानात्मक विधियाँ अधिक सफल नही हो पायी। इलिस 1962 का सुझाव है कि रोगी के असंगत विश्वासों द्वारा असंगत भय सम्पोशित होता है। अतः जब भी रोगी उस वस्तु या परिस्थिति जिससे वह डरता है का सामना करता है तो उसे अपने असंगत विश्वास के खोखलापन को समझाने की कोशिश करनी चाहिए इससे रोगी में असंमगत विश्वास कमजोर होकर उसके जगह पर संगत विश्वास कायम हो जाएगा, और फिर धीरे–धीरे उसकी दुर्भित कमजोर हो जाएगी या समाप्त हो जाएगी परन्तु टर्नर 1992 एवं विलियम्स एवं रैपापोर्ट में अपने–अपने अध्ययनो में यह स्पष्ट रूप से पाया है कि डर उत्पन्न करने वाले वस्तु या परिस्थिति से बिना सामने

कराये हुए सिर्फ असंगत बिश्वास को कमजोर करके असंगत भय के रोगियो को कोई विशेष फायदा नही होता है।

स्पष्ट हुआ कि असंगत भय जिसके कई प्रकार है, कई कारणों से उत्पन्न होता है। इसके उपचार की कई विधियाँ है जिनका उपयोग आज भी मनोवैज्ञानिकों एवं मनोचिकित्सको द्वारा काफी किया जाता है।

प्रश्न (1) असंगत भय के लिए उत्तरदायी कारको को बताइये।

.....

.....

.....

प्रश्न (2) असंगत भय के उपचार की विधियों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

26.7 सारांश

प्रस्तुत ईकाई में असंगत भय क्या है? इसके लक्षण कौन–2 से है विस्तार पूर्वक समझाया गया है। इसके साथ ही साथ असंगत भय के प्रकारो एवं कारको को बताया गया है तथा असंगत भय के निराकरण के लिए इसके उपचार के विभिन्न प्रकारो को बताया गया है।

26.8 पारिभाषिक शब्दावली

असंगत भय – दुर्भीति (एक बहुत ही सामान्य चिन्ता विकषति)

एगोराफोबिया – भीड़–भाड़ या बाजार स्थलो से डर

सामाजिक असंगत भय – व्यक्ति को अन्य व्यक्तियो की उपस्थिति का सामना करने से भय

26.9 सन्दर्भग्रन्थ सूची

(1) अरूण कुमार सिंह "आधुनिक असामान्य मनोवैज्ञानिक" प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

(2) Seligman & Rosenhan 'Abnomatily' 1998, P.125.

(3) Davison & Neale "Abnoumad Phychology" 1996, P- 130

(4) पी0डी0 मिश्रा 'असामान्य व्यवहार' न्यू रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ

इकाई–27 : उन्माद एवं अवसाद

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 उन्माद

27.2.1 उन्माद के लक्षण

27.2.2 उन्माद के कारण

27.2.3 उन्माद के उपचार

27.3 अवसाद

27.3.1 अवसाद विकृति के प्रकार

27.3.2 अवसाद या एक ध्रुवीय विषाद के कारण

27.4 सारांश

27.5 शब्दावली

27.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई में उन्माद एवं विषाद की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- उन्माद के विभिन्न लक्षणों से परिचित हो जायेंगे।
- उन्माद के कारणों को जान सकेंगे।
- उन्माद के उपचार की विभिन्न विधियों से परिचित हो सकेंगे।
- विषाद के प्रकारों को जान सकेंगे।
- विषाद या एक ध्रुवीय विषाद के कारणों से परिचित हो सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

मनुष्य के सामान्य कार्य एवं व्यवहार के लिये यह आवश्यक है कि वह मानसिक रूप से स्वस्थ एवं संतुष्ट होने का अनुभव करे, किन्तु विभिन्न कारणों से

व्यक्ति उन्माद तथा विषाद जैसी समस्याओं से पीडित हो जाता है और वह सामान्य क्रिया–कलापों को सम्पन्न करने में कठिनाईयों का अनुभव करने लगता है। इन समस्याओं के कारणों को जानने का प्रयास मनोवैज्ञानिकों द्वारा एक लम्बे समय से किया जाता रहा है जिनके परिणामस्वरूप उन्माद तथा विषाद के विशिष्ट लक्षणों की पहचान की जा सकी है और इन समस्याओं के समाधान के लिये मनोवैज्ञानिक उपचारों की भी खोज की गयी है।

27.2 उन्माद

असामान्य मनोविज्ञान के परिपेक्ष्य में उन्माद का महत्वपूर्ण स्थान है। पुराने समय में उन्माद के सन्दर्भ में लोग यह विश्वास करते थे कि यह मानसिक रोग नहीं हैं। पूर्व में यह भी माना जाता है कि यदि व्यक्ति में बुरी आत्मा के प्रवेश के कारण भी व्यक्ति को यह रोग हुआ है। उन्माद रोगी को ठीक करने के लिये कभी–कभी उसकी पिटाई भी की जाती थी। लोग मानते थे कि मार से भूत या बुरी आत्मा भाग जायेगी और रोगी स्वस्थ हो जाएगा। रोगी के उपचार में ओझा, फकीर, दुआ, आत्मा का भी प्रयोग किया जाता था। धीरे–धीरे आधुनिक समय में लोगों में यह विश्वास हो गया कि उन्माद एक मानसिक रोग है।

27.2.1 रूपान्तरण उन्माद के प्रमुख लक्षण

रूपान्तरण विकृति, जिसे पहले रूपानतरण उन्मान या केवल उन्माद कहा जाता था वास्तव में कार्य प्रारूप विकृति का एक महत्वपूर्ण प्रकार है। रूपान्तर विकृति को DSM-IV (1994) में कायप्रारूप विकृति का एक प्रमुख प्रकार माना गया है। पहले रूपान्तरण विकृति को रूपान्तरण–उन्माद ही कहा जाता था।

होम्स के अनुसार "रूपान्तरण विकृति एक विकृति है, जिसमें व्यक्ति एक या अधिक प्रमुख शारीरिक ऐसे लक्षणों से पीडित होता है जिसके कायिक आधार नहीं पाये जा सकते हैं। लक्षण प्रायः कार्यवाही को विकृत बना देते हैं"।

डेविसन तथा नील के अनुसार "रूपान्तरण विकृति एक कार्य प्रारूप विकृति है जिसमें संवेदी अथवा पेशीय कार्य बाधिक होते हैं जिनसे प्रायः स्नायिक रोग का संकेत मिलता है यद्यपि शारीरिक अंग अपने आप में दुरूस्त होते हैं स्मृति लोप तथा अंगों के लकवे इसके उदाहरण हैं"।

रूपान्तरण विकृति के सम्बन्ध में दी गयी उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर इसके नैदानिक विवरण अथवा लक्षणों को निम्नलिखित रूपों में प्रकट किया जा सकता है–

1. शाारीरिक लक्षण

पेशीय लक्षणों में शारीरिक रोग देखे जाते हैं। रोगी स्नायु प्रकम्पन, एस्टासिया–एबासिया, एफोनिया, गूंगापन, उन्मादी ऐंठन, मिरर्गी, मूर्च्छा आदि लक्षण देखे जाते हैं इन लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है–

i. लकवा

ii. तंत्रिकीय प्रकम्पन

iii. एस्टासिया एबासिया

iv. एफोनिया तथा मुटिज्म

v. ऐंठन तथा मूर्च्छा

2. संवेदी लक्षण

संवेदी लक्षण का तात्पर्य ऐसे लक्षणों से है जिनका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों की विकृतियों से है, हालांकि इन ज्ञानेन्द्रियों में कोई शारीरिक या दैहिक दोष नहीं होता है। रूपान्तर उन्माद या रूपान्तर विकृति के रोगी में पाये जाने वाले मुख्य संवेदी लक्षण निम्नलिखित हैं–

i. देखने से सम्बन्धित दोष

ii. सुनने की क्षमता में विकार

iii. संवेदनशीलता से सम्बन्धित विकार

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूपान्तर विकृति अथवा उन्माद के उपर्युक्त कई लक्षण है। जिससे इसके रोगी का नैदानिक चित्र सहज ही स्पष्ट हो जाता है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि रूपान्तर विकृति की एक विशेष प्रकटीकरण की महामारी की स्थिति में इसे समूह मनोवैज्ञानिक रोग कहते हैं जिसका सुन्दर उदाहरण नृत्य उन्माद है।

27.2.2 उन्माद का कारण

उन्माद के निम्नलिखित कारण है–

1. अचेतन लैंगिक इच्छाएं

मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के अनुसार उन्माद के विकास में अचेतन इच्छाओं और विशेष रूप से दमित लैंगिक इच्छाओं का हाथ होता है। सिगमण्ड फ्रायड ने बतलाया जिन लैंगिक इच्छाओं की संतुष्टि हम चेतन स्तर पर नहीं कर पाते हैं उनका दमन या दलन चेतन में हो जाता है। लेकिन अचेतन स्तर पर भी वे इच्छाएं सक्रिया

रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप अचेतन द्वन्द्वों का जन्म होता है। इन्हीं द्वन्द्वों क समाधान शारीरिक लक्षणों के रूप में होती है।

डेविसन तथा नील ने इस विचार का समर्थन किया और कहा है कि उन्मार्द लक्षणों के विकास में दमित लैंगिक इच्छाओं का हाथ होता है।

2. गुप्त आक्रमणशील आवेग

उन्माद के विकास में वर्जित आक्रमणशील आवेगों का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। उनमत्त लकवा के विकास में अचेतन आक्रमणशील आवेग का हाथ होता है जैसे – एक अनुभवी तथा सफल डाक्टर का दाहिना हाथ अचानक लकवाग्रस्त हो गया। मेडिकल जांच से उसके हाथ में कोई कायिक दोष नहीं पाया गया। मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा से ज्ञात हुआ कि डाक्टर का यही आक्रमणशील आवेग आत्मिक दंड के उद्देश्य से हाथ के लकवा के रूप में बदल गया और उसे अपने द्वन्द्वों से छुटकारा मिल गया। कुछ विद्वानों ने इस प्रकार के आवेग की दशाओं का समर्थन किया।

3. भयानक तथा संकटमय परिस्थितियां

उन्माद के विकास में भयानक कष्टप्रद तथा संकटमय परिस्थितियों की भूमिका होती है। डेविसन तथा नील ने इस सन्दर्भ में कहा है कि युद्ध तथा संकटमय परिस्थिति से बचाव के लिए सैनिक में उन्माद के लक्षण जैसे– लकवा, अंधापन, बहरापन, प्रकम्पन आदि विकसित होते हैं। जिगलर, इम्बोडेन तथा मायर के अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध के समय काफी सैनिक उन्माद के शिकार हुये। यह बात इन्होंने अपने अध्यनों में पाई।

4. आयु एवं यौन भिन्नता

अध्ययनों से पता चलता है कि उन्माद के विकास पर व्यक्ति की आयु तथा यौन भिन्नता का भी बहुत प्रभाव पडता है। इस रोग का प्रभाव सामान्यतः किशोरावस्था अर्थात 13 से 19 वर्ष की आयु में अधिक होता है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इस आयु में किशोरों तथा किशोरियां का भी गम्भीर समस्याओं से सामना होता है। इसी कारण इसे बहुत नाजुक अवस्था कहा गया है। अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं में यह रोग अधिक होता है।

5. व्यक्तित्व झीलगुण

अध्ययनों तथा दैनिक जीवन के निरीक्षणों से पता चलता है कि कुछ खास तरह के शीलगुण वाले व्यक्ति में रूपान्तर उन्माद के लक्षणों के विकसित होने की सम्भावना अधिक रहती है जबकि कुछ अन्य तरह के शीलगुण वाले व्यक्तियों से इस रोग के

विकसित होने की सम्भावना अधिक रहती है।

6. दोषपूर्ण अनुशासन

कई मनोवैज्ञानिकों ने दोषपूर्ण अनुशासन को उन्माद का कारण माना है। दोषपूर्ण अनुशासन का अर्थ है वह अनुशासन जो अत्यधिक लचीला अथवा अत्यधिक कठोर होता है। इस प्रकार का अनुशासन ठीक प्रकार से कार्य नहीं करता है। जो बाद में उन्माद में परिवर्तित हो जाती है।

7. सामाजिक सांस्कृतिक कारक

व्यक्ति के परिवार की सामाजिक आर्थिक स्थिति, सामाजिक मूल्य, सामाजिक संरचना के स्वरूप, ग्रामीण शहरी क्षेत्र आदि द्वारा भी इस मानसिक रोग का विकास होता है। इसी प्रकार उच्च सामाजिक वर्ग की अपेक्षा निम्न वर्ग स्थिति के लागों में यह रोग अधिक पाया जाता है।

इसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न–भिन्न पालन–पोषण पद्धतियां होने के कारण उन्माद या रूपान्तर विकृति के लक्षणों को विकसित होने की प्रबल सम्भावना रहती है। विभिन्न सांस्कृतिक अध्ययनों की समीक्षा से भी इस बात को समर्थन मिलता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि रूपान्तर विकृति, रूपान्तर प्रतिक्रिया अथवा रूपान्तर उन्माद के कई कारण हैं।

27.2.3 उन्माद का उपचार

उन्माद अथवा रूपान्तर विकृति के रोगियों के उपचार के लिए निम्नलिखित चिकित्सा प्रविधियों का उपयोग किया जा सकता है–

1. मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा

इस चिकित्सा में चिकित्सक व्यक्ति में मनोविश्लेषण के विभिन्न चरणों के माध्यम से अचेतन में दमित ऐसे द्वन्द्वों की खोज करता है जो रोगी में उन्माद के मूल कारण होते है। फिर रोगी के अहम् को संरचित करके इस हद तक शक्तिशाली बनाया जाता है कि वह वास्तविकता अर्थात द्वन्द्व को स्वीकार कर उसका सामना ठीक प्रकार से कर सके। इससे रोगी में उन्माद के लक्षण कमजोर होते–होते समाप्त हो जाते हैं। लेकिन, यह एक कठिन तथा जटिल चिकित्सा है जिसका उपयोग केवल एक अनुभवी तथा कुशल चिकित्सक द्वारा ही किया जा सकता है।

2. व्यवहार चिकित्सा

व्यवहार चिकित्सा के उपयोग से भी रोगी को काफी लाभ मिलता है। विशेष रूप से मॉडलिंग, अन्तःस्फोटक, विमुखता तथा अनुकूलन प्रविधि द्वारा रोगी को अधिक लाभ होता है।

3. पारिवारिक चिकित्सा

उन्माद के रोगी को पारिवारिक चिकित्सा द्वारा काफी लाभ होता है। इस परिपेक्ष्य में किये गये अध्ययन में देखा गया कि उन्माद के रोगियों पर पारिवारिक चिकित्सा का उपयोग किया गया तो लगभग 50 प्रतिशत रोगी अच्छे हो गये।

4. समुदाय चिकित्सा

मोनीज ने कहा है कि एक सहायक प्रविधि के रूप में समुदाय चिकित्सा से रोगी को काफी लाभ होता है। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि अन्य चिकित्सा प्रतिधियों के साथ–साथ समुदाय चिकित्सा प्रविधि का उपयोग करने पर लगभग 6 प्रतिशत रोगियों को लाभ हुआ।

अतः रूपान्तर विकृति अथवा रूपान्तर उन्माद के उपचार के लिए उपर्युक्त विधियों का उपयोग आवश्यकता अनुसार किया जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्माद के रोगी के लक्षणों तथा वास्तविक शारीरिक रोगी के लक्षणों के बीच मूलभूत अन्तर है।

बोध प्रश्न–1

टिप्पणी

(i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. उन्माद से आप क्या समझते हैं इसके लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

2. उन्माद के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

3. उन्माद के उपचार की विधियों को समझाइये।

.....

.....

.....

27.3 अवसाद

अवसाद मानसिक रोगों का एक प्रमुख कारण है। अवसाद से तात्पर्य मनोदशा में उत्पन्न उदासी या निराशा से होता है या इससे तात्पर्य एक नैदानिक संलक्षण से होता है जिसमें सांवेगिक, अभिप्रेरणात्मक, व्यवहारात्मक, संज्ञानात्मक तथा दैहिक लक्षणों का एक समिश्रण पाया जाता है। इसे नैदानिक अवसाद भी कह सकते हैं। यहां अवसाद का उपयोग इसी नैदानिक अवसाद/विषाद के अर्थ में किया जाता है न कि मनोदशा में उत्पन्न साधारण उदासी के अर्थ में। नैदानिक विषाद में विषादी मनोदशा के अतिरिक्त अन्य कई लक्षण जैसे, थकान, शक्तिहीनता, नींद में कठिनाई, भूख में कमी, एकाग्रता में कमी आदि मुख्य रूप से देखने को मिलता है। अवसाद के प्रकारों पर चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि नैदानिक विशाद के पांच सामान्य लक्षणें पर प्रकाश डाला जाए वे पांच सामान्य लक्षण निम्नांकित हैं–

1. सांवेगिक लक्षण

विषाद में कुछ स्पष्ट सांवेगिक लक्षण व्यक्ति में होते हैं। ऐसे में व्यक्ति में उदासी, निराशा, दुखी, लज्जालूपना, दोषभाव, बेकारी का भाव आदि की भावना से ग्रसित होता है। इसमें उदासी सबसे सामान्य सांवेगिक लक्षण है। इसमें से कुछ लोग तो इतना अधिक विषादी हो जाते हैं कि विषाद की अवस्था में उदासी के भाव के साथ ही साथ चिंता एवं तनाव का भी भाव अधिक प्रबल होता है। ऐसे में व्यक्ति लोगों को अपने हाबी या शौक, मनोरंजन तथा परिवार सभी अर्थहीन लगते हैं और इनसे उन्हें किसी प्रकार की कोई आनन्द नहीं आता है। इसके साथ प्रमुख जैविक कियाएं जैसे भूख एवं यौन भी इनके लिए कोई सार्थक सुख का साधन नहीं रह जाता है।

2. संज्ञानात्मक लक्षण

एक विषादी व्यक्ति अपने बारे में हमेशा नकारात्मक ढंग से सोचता है। इस तरह का नकारात्मक चिंतन अपने वर्तमान तथा अपने भविष्य के बारे में होता है। नकारात्मक ढंग से अपने बारे में सोचते हुए ऐसा व्यक्ति यह सोचता है कि वह तुच्छ

एवं घटिया है तथा उसमें आत्म सम्मान नाम की कोई चीज नहीं है। वह अपने को असफल मानता है और इस असफलता का मुख्य कारण अपने आप को ही वह समझता है। वह अपने आप को हर ढंग से अयोग्य एवं अपर्याप्त मानता है। वह स्वयं अपने को विभिन्न घटनाओं के लिये दोषी भी मानता है इनके जीवन में जब–जब असफलता होती है, उसका पूर्ण दायित्व वे अपने ऊपर लेते हैं। ऐसे लोग अपने बारे में नकारात्मक विचार तो रखते ही हैं साथ ही साथ अपने भविष्य को निराशा एवं उदासी से भरा समझते हैं। उनका यह विचार होता है कि अब सब कुछ खराब हो गया और उसे किसी अच्छे चीज की उम्मीद छोड़ देनी चाहिए और भविष्य के लिए वह तरह–तरह के तर्क भी लोगों को देना प्रारम्भ कर देता है। ऐसे लोग प्रायः यह भी कहते सुने जाते हैं कि उनकी बौद्धिक क्षमता दिन प्रतिदिन ह्रास हो रहा है। और वे छोटी–छोटी समस्याओं का समाधान ठीक ढंग से याद नहीं रख पाते है।

3. प्रेरणात्मक लक्षण

विषादी व्यक्ति प्रायः अपने दिनचर्या के कार्यों में अभिरूचि खो देते हैं (अभिप्रेरणा) ऐसे व्यक्तियों में प्रणोद, पहल तथा स्वेच्छा की कमी पायी जाती है। ऐसे लोगों को काम पर जाने के लिए, दूसरों के साथ बातचीत करने के लिए, भोजन करने के लिए तथा यौन व्यवहार करने के लिए काफी दबाव डालना पड़ता है। यह अपनी इच्छाओं पर पक्षाघात भी करते हैं। ऐसे लोग किसी समस्या पर अंतिम निर्णय लेने में काफी कठिनाई का सामना करते हैं। सचमुच में इनके लिए निर्णय लेना एक कठिन कार्य होता है जिसे वे सामान्यतः नहीं करना चाहते हैं। इनमें आत्महत्या करने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है।

4. व्यवहारपरक लक्षण

विषादी व्यक्तियों की क्रियाएं सामान्यतः तेजी से गिरती जाती हैं। वे कम कार्य करते हैं तथा उनकी उत्पादकता भी काफी कम होती है। वे अकेले रहकर अधिक समय व्यतीत हैं और विछावन पर ही लम्बे समय तक लेटे रहते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत धीरे–धीरे चलते हैं तथा उनके व्यवहार से ऐसा लगता है कि उनमें न तो चलने की इच्छा है और न शक्ति। यहां तक कि उनका संभाषण धीमा, एकस्वरीय तथा आंख झुकाकर किया जाता है। ऐसे लोग सीधे आंख सम्पर्क स्थापित करके बातचीत नहीं करते हैं तथा प्रायः वे मुंह फेरकर किसी प्रश्न का जवाब देते देखे जाते हैं।

5. दैहिक लक्षण

विषादी व्यक्तियों में प्रायः दैहिक रोग लक्षण जैसे सिरदर्द, अपच, कब्ज, छाती में दुखद संवेदन तथा पूरे शरीर में दर्द आदि भी होते देखे जाते हैं। जिनमें कई बार इम चिकित्सीय समस्या समझ लेते हैं। व्यक्तियों में अन्य दैहिक लक्षणों की तुलना में भूख एवं नींद में कमी या क्षुब्धता प्रमुख होती है। इनमें थकान लम्बे समय तक आराम एवं नींद के बाद भी वह समाप्त नहीं होती है।

उपरोक्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि विषाद में कई तरह के लक्षण होते हैं एक विशेष प्रश्न जिसमें मनोवैज्ञानिकों और मनोचिकित्सकों एवं मनोरोगविज्ञानियों की अभिरूचि रही है वह है सामान्य लोगों में कौन लोग विषाद के प्रभाव से अधिक प्रभावित होते है? सामान्यतः इसका उत्तर नकारात्मक होता है क्योंकि विषाद एक ऐसी मानसिक अवस्था है जिससे सभी लोग चाहे वे अमीर हों या गरीब, बूढे हों या जवान, स्त्री हो या पुरूष सभी प्रभावित होते हैं। जो सामान्यता विषादी व्यक्ति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं। महिलाओं में सभी तरह के विषादी अवस्थाओं के होने की संभावना पुरूषों की अपेक्षा दुगुनी होती है।

विषादी विकृति या एकध्रुवीय विषाद के मुख्य दो प्रकार होते हैं।

विषाद या एकध्रुवीय विकृति

विषाद या विषाद विकृति को एकध्रुवीय विकृति कहा जाता है। यहां रोगी केवल विषादी लक्षणों से होता है। उसमें उत्साह का कोई लक्षण नहीं देखा जाता है।

डेवीसन तथा नील के अनुसार "एकध्रुवीय विषाद का तात्पर्य उस विकृति से है, जिसमें व्यक्ति केवल विषादी घटनाओं पीडित होता है, किसी उत्साह से नहीं। इसे DSM-IV में प्रधान विषाद माना गया है।"

इस तरह सरासन तथा सरासन के अनुसार "एकध्रुवीय विकृति का तात्पर्य एक प्रभावी विकृति से है, जिसमें केवल विषाद घटित होता है और उत्साह की घटनाओं का कोई इतिहास नहीं होता है।"

27.3.1 अवसाद विकृति के प्रकार

विषाद विकृति को दो प्रकारों में विभाजित किया गया है, जो निम्नलिखित हैं–

1. प्रधान विषाद

विषाद अथवा एकध्रुवीय विषाद का यह महत्वपूर्ण प्रकार है। इसका महत्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि DSM-IV में एकध्रुवीय विषाद को प्रधान विषाद कहा गया है।

प्रधान विषाद वह विषाद विकृति है, जिसमें गम्भीर विषाद के लक्षण पाये जाते हैं इसमें विकृत मनोदशा, भूख की कमी, नींद की समस्या, बेचैनी या सुस्ती के भाव देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त थकावट, बेकार हो जाने का भाव, बीमार विचार, जीवन के प्रति उदासीनता, जीवन की खुशियों में अरूचि और कभी–कभी आत्महत्या के लक्षण देखे जा सकते हैं। इन लक्षणों की पूर्ण श्रेणी की कमी की स्थिति में विषादी विकृति को प्रधान विषाद के बदले गौण विषाद कहा जाता है।

2. डाइसथाइमिक विकृति

विषाद विकृति का यह एक साधारण प्रकार की विकृति है। इसमें विषाद के कोई गम्भीर लक्षण नहीं पाये जाते हैं इसके लक्षण हैं साधारण विषाद, दैनिक क्रियाओं के प्रति साधारण अरूचि इत्यादि। लेकिन इन लक्षणों का कम से कम एक या दो साल तक जारी रहना आवश्यक है।

27.3.2 अवसाद या एकध्रुवीय विशाद के कारण

विषाद, विषाद विकृति अथवा एकध्रुवीय विकृति के कारणों को निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

1. मनोगतिक कारक
2. अधिगम कारक
3. संज्ञानात्मक कारक
4. शारीरिक या जैविक कारक

1. मनोगतिक चिकित्सा

इस चिकित्सा में पहले रोगी के विषाद के अचेतन में दमित वास्तविक कारण को समझा जाता है। मनोविश्लेषण की विभिन्न चरणों जैसे साक्षात्कार, अन्तःक्रिया स्वतन्त्र सहचर्य, बातचीत, दैनिक जीवन की भूलों का विश्लेषण, स्वप्नों के विश्लेषण तथा स्थानान्तरण के आधार पर अचेतन द्वन्द्व या प्रतिबल का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। फिर रोगी को उसके विषादी होने के वास्तविक कारण को बतला दिया जाता है। इसमें रोगी को इतना सबल बना दिया जाता है कि वह विषाद के कारण को स्वयं स्वीकार कर लेता है और इसी के साथ विषाद में कमी आने लगती है और अन्ततः रोगी विषाद रोग से मुक्त हो जाता है।

विषाद के उपचार के लिए मनोगतिकी चिकित्सा अधिक प्रभावी है।

2. व्यवहार चिकित्सा

व्यवहार चिकित्सा के माध्यम से विषाद का उपचार करते समय रोगी के जीवन में पुरस्कार (प्रशंसा) को बढ़ाने तथा दण्ड को घटाने का प्रयास किया जाता है। इस चिकित्सा का उपयोग तीन स्तरों पर किया जाता है। पहले स्तर पर ऐसे व्यक्तियों, क्रियाओं या परिस्थितियों की खोज की जाती है जो रोगी के पुरस्कार तथा दंड के मुख्य स्रोत हैं। दूसरे चरण में दंड से सम्बन्धित अनुभूतियों को समाप्त करने, उससे बचाव करने या उसमें कमी लाने के लिए विषादी रोगी को नये ज्ञान कौशल प्रविधियां या रणनीतियां सिखलाई जाती है। इसके लिये व्यवहार चिकित्सा की कई प्रतिधियों जैसे आदेश प्रशिक्षण, परामर्श प्रविधि, शिथिलता प्रविधि सामाजिक कौशल आदि का उपयोग आवश्यकता अनुसार किया जाता है। तीसरे चरण में रोगी को अपने जीवने में पुरस्कार को बढाने की शिक्षा दी जाती है। इस कार्य को आत्म प्रबलन प्रोग्राम की सहायता से शुरू किया जाता है।

3. संज्ञानात्मक चिकित्सा

विषादी रोगी की चिकित्सा के लिए संज्ञानात्मक प्रविधि भी लाभप्रद तथा प्रभावी प्रमाणित हुई है। इस चिकित्सा का मुख्य लक्षण यथार्थ से दूर नकारात्मक विश्वासों को यथार्थ सकारात्मक विश्वासों के द्वारा विस्थापित करना है। यहां चिकित्सा तीन चरणों में सम्पन्न होता है। पहले चरण में रोगी को प्रभावित करने वाले नकारात्मक विश्वासों की पहचान की जाती है। दूसरे चरण में पहचान की गयी नकारात्मक विश्वासों से सम्बन्धित परिकल्पना की जांच की जाती है।

4. शारीरिक चिकित्सा

विषाद के उपचार में निम्नलिखित दो शारीरिक चिकित्सा प्रविधियों का सामान्यतया उपयोग किया जाता है–

(i) औषध चिकित्सा

(ii) वैद्युत आक्षेपीय चिकित्सा

(i) औषध चिकित्सा

इस चिकित्सा विधि में विषादी रोगी के उपचार के लिए विषाद विरोधी औषधों का उपयोग किया जाता है। ऐसे औषधों में मोनोएमाइन ऑक्सीडेस प्रतिरोधक, ट्रीसाइकिलक्स तथा सेकेण्ड जेनेरेशन ऐंटीडिपरेसेन्ट ड्रग्स का उपयोग किया जाता है।

(ii) वैद्युत आक्षेपीय चिकित्सा

विद्युत आक्षेपी चिकित्सा को एटालियन मनोचिकित्सक उगोसरलेटी ने 1939 में प्रस्तुत किया। उनका उद्देश्य विद्युत आघात द्वारा पशुओं का अचेतन बनाना था। इस आधार पर इसका उपयोग मनोविदलता के उपचार में भी किया गया। 1950 में इसका उपयोग गम्भीर विषाद के उपचार के लिये किया जाता था। साधारण विषाद के उपचार में विषाद विरोधी औषध का उपयोग बेहतर अवश्य हैं किन्तु प्रधान विषाद के उपचार में ईसीटी का उपयोग आज भी बडे पैमाने पर किया जाता है।

निष्कर्ष

मनोचिकित्सा, संज्ञानात्मक चिकित्सा तथा औषध चिकित्सा विषाद के उपचार में समान रूप से प्रभावी हैं फिर भी रासायनिक कारणों से उत्पन्न विषाद के उपचार के लिए सबसे अधिक प्रभावी औषध चिकित्सा है जबकि अन्य कारणों से उत्पन्न विषाद के उपचार के लिए विभिन्न चिकित्सा विधियों का संयुक्त उपयोग अधिक प्रभावी होता है। जैसे गम्भीर विषाद का उपचार औषध चिकित्सा से करने के बाद इसके फिर से दोबारा हो जाने की सम्भावना को मनोचिकित्सा या संज्ञानात्मक चिकित्सा से रोका जा सकता है। मनोविषाद, मनोसामाजिक कारणों से उत्पन्न होता है इसलिये संज्ञानात्मक चिकित्सा पद्धति के माध्यम से समस्या ग्रसत व्यक्ति के दुस्चिन्ता एवं अवसाद के कारणों को संज्ञानात्मक पद्धति से दूर करके उसको मानसिक संवेगों के बोझ से मुक्ति प्रदान की जाती है तथा समस्या के फिर से प्रारम्भ होने के सम्भावना को सीमित किया जाता है।

27.4 सारांश

उन्माद वास्तव में कार्य प्रारूप विकृति का एक महत्वपूर्ण प्रकार है। उन्माद एक ऐसी विकृति है, जिसमें व्यक्ति एक या अधिक प्रमुख शारीरिक ऐसे लक्षणों से पीडित होता है जिसके कायिक आधार नहीं पाये जा सकते हैं। लक्षण प्रायः कार्यवाही को विकृत बना देते है। इसलिये उन्माद के उपचार में मनोविश्लेषणात्मक विधि, व्यवहार विधि, पारिवारिक विधि तथा समुदाय विधि जैसी विधियों का उपयोग किया जाता है। अवसाद/विषाद भी एक ऐसी मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति को उदासी तथा निराशा की स्थिति का सामना करना पडता है जिससे व्यक्ति में सांवेगिक एवं संज्ञानात्मक दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिसके कारण उसमें दैहिक समस्यायें भी उत्पन्न हो जाती है। इन रोगों के कारण व्यक्ति की सामाजिक कार्य क्षमता भी प्रभावित होती है अतः इनके समाधान के लिये परामर्शात्मक एवं औषधीय चिकित्सा पद्धति का उपयोग

कर व्यक्ति को रोगमुक्त किया जाता है एवं उसे सामान्य काम–काज करने के योग्य बनाया जाता है।

27.5 शब्दावली

एफोनिया	रोगी केवल फुसफुसाहट की आवाज में ही कुछ बोलने में समर्थ होता है।
मुटिज्म	रोगी बिल्कुल ही नहीं बोल पाता है।
एकध्रुवीय विकृति	विषाद का वह स्वरूप जिसमें व्यक्ति में उत्साह का कोई लक्षण नहीं होता है।
डाइसथाइमिक विकृति	विषाद का एक सामान्य प्रकार जिसमें अपने सामान्य काम–काज के प्रति अरूचि पायी जाती है।

27.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- सिंह, अरूण कुमार, (2001) आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास।
- चौबे, एस.पी., (2005) सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, कान्सेप्ट पब्लिशिंग क0, नई दिल्ली।
- वाल्टर ए0 फ्रीडलैण्डर एण्ड राबर्ट जेड, (1982), इन्ट्रोडक्शन टू सोशल वेल्फेयर, प्रेन्टिस हाल इण्डिया प्रा0लि0।
- सुलेमान, मोहम्मद एवं मो0 तव्वाब, (2004) असामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसी दास।
- शर्मा, सीमा, (2011) सामान्य मनोविज्ञान यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- यादव के.एन. सिंह, रामजी यादव, (2008) तुल्नात्मक और शिक्षा मनोविज्ञान अर्जुन पब्लिशिंग हाउस।
- बेथवी, हार्लोक एलिजा, (2002) विकास मनोविज्ञान, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित वित्तीय पुनर्मुद्रण।

बोध प्रश्न–2

टिप्पणी (i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. विषाद से आप क्या समझते हैं? इसमें व्यक्ति को किस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पडता है?

.....

.....

.....

2. विषाद के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

27.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. भाग 25.2 तथा उपभाग 25.2.1 देखें।
2. उपभाग 25.2.2 देखें।
3. उपभाग 25.2.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1. भाग 25.3 देखें।
2. उपभाग 25.3.1 देखें।

इकाई–28 : मानसिक संवेगों का प्रबन्धन

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 मानसिक संवेग

28.3 मानसिक संवेग एवं उनका प्रबन्धन करने के उपाय

28.4 सारांश

28.5 शब्दावली

28.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

28.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई में मानसिक संवेगों के प्रबन्धन की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- मानसिक संवेगों के स्वरूप के विषय में जान सकेंगे।
- मानसिक संवेगों के प्रबन्धन की आवश्यकताओं से परिचित हो जायेंगे।

28.1 प्रस्तावना

व्यक्ति की समस्त मानसिक क्रियाओं के संचालन में मस्तिष्क एक महत्वपूर्ण अवयव होता है। मस्तिष्क की जटिलता एवं मानसिक जटिलता में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की प्रक्रियायें चलती रहती हैं जिसके कारण विभिन्न प्रकार के संवेग उत्पन्न होते हैं इन संवेगों के कारण व्यक्ति को मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की समस्याओं का सामना करना पडता है जिसके कारण संवेगों के प्रबन्धन की आवश्यकता उत्पन्न होती है। यह प्रबन्धन विभिन्न विधि ायों से सम्पन्न करके मन और शरीर का संतुलन बनाये रखा जा सकता है।

28.2 मानसिक संवेग

सामान्यतः संवेग व्यक्ति के मस्तिष्क की विभिन्न क्रियाओं की जटिलता का परिणाम है। जिसमें संवेगों के साथ भाव भी उत्पन्न होते हैं। भाव और संवेग

पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं। संवेग, भाव की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। सामान्यतः संवेग में भाव समाया होता है। संवेग का जन्म हमारी विचारधाराओं से हुआ करता है। हम संवेग को भली प्रकार समझने के लिए संवेग का निम्नलिखित से सम्बन्ध जानने का प्रयास करेंगे। तभी संवेग को स्पष्टतः समझा जा सकेगा।

संवेग और चेहरे पर मुद्राएं

चेहरे की मुद्राओं के आधार पर व्यक्ति के संवेगों का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी बात को लेकर मनोविज्ञान क्षेत्र में बहुत से प्रयोग किए गए। जटिल और गम्भीर संवेगों का ज्ञान केवल चेहरे की मुद्राओं को देखकर नहीं हो सकता। इनकी पहचान करने में लोगों के अलग–अलग मत है। चेहरों की मुद्राओं को पहचानना तीव्र बुद्धिमानी दक्षता और निरन्तर अभ्यास पर निर्भर करता है। चेहरे की मुद्राएं भाव प्रकाशन की दृष्टि से शब्दों जैसा कार्य करती है। हमारे सभी व्यवहार मूलप्रवृयात्मक ही हों ऐसी बात नहीं वे सामाजिक भी होते हैं। सामाजिक विकास और व्यवहार का प्रभाव चेहरे की मुद्राओं को छिपाने में सहायक होता है। मनोवैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों से यह स्पष्ट कर दिया है कि चेहरे की विविध मुद्राएं परम्परास्वरूप विभिन्न भावों को व्यक्त करती है।

संवेग और शारीरिक परिवर्तन

जब कोई संवेग उत्पन्न होता है तो शारीरिक परिवर्तन भी होने लगते हैं। जैसे– क्रोध के संवेग के आते ही व्यक्ति का रक्तचाप बढ जाता है, रक्त की रासायनिक क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, सांस तेजी से चलने लगती है और आंखे लाल हो जाती है, भौहें चढ जाती है। यही बात अन्य संवेगों के होने पर भी होती है। घृणा, प्रेम, शोक आदि के होने पर नाडी की गति रक्तचाप, श्वसन, रक्त में रासायनिक परिवर्तन पाचन–क्रिया तथा पसीने के निकलने की क्रिया प्रभावित हो जाती है। इनसे स्वयं संचालित नाडी मण्डल तथा एड्रनिन की क्रियाएं भी प्रभावित होती है। यहां संवेगों के होने पर विविध शारीरिक परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक है–

1. हृदय गति एवं रक्त चाप में परिवर्तन

संवेग द्वारा व्यक्ति में उत्तेजना आ जाती है जिसका कारण व्यक्ति में कण्ठस्थ–ग्रन्थि का रस स्राव बढ जाना है। व्यक्ति के रक्त चाप में भी वषद्धि हो जाती है और हृदय की गति अधिक तेज हो जाती है। रक्त चाप की बढी गति दो बातों पर आधारित होती है–

रक्त संचार में रक्त नलिकाओं की प्रतिरोध शक्ति के बढने पर। हृदय से निकलने वाली रक्त की मात्रा पर।

संवेदनशील स्थिति में सामान्यतः हमारी श्वसन की क्रिया तेज हो जाती है। अध्ययनों से पता चलता है कि संवेगशील स्थिति में श्वसन क्रिया की गति लगभग 4 गुनी अधिक हो जाती है। जैसे–जैसे संवेग की गहनता में बदलाव आता है वैसे–वैसे ही श्वसन क्रिया की गति भी बदल जाती है। इस दशा में जितना समय सांस अन्दर लेने में लगाते हैं सांस छोडने में उससे दूना समय लग जाता है।

मनुष्य में प्रायः यह देखा गया है कि अप्रिय संवेग (भय, क्रोध आदि) के होने पर पाचन क्रिया घट जाती है तथा आंतों की क्रिया भी कम हो जाती है। जब संवेग की दशा पूर्णतः समाप्त हो जाती है तो उसके 15 मिनट बाद ही पाचन क्रिया अपनी सामान्य स्थिति में आना प्रारम्भ करती है। यदि भोजन के तुरन्त बाद ऐसा कोई संवेग आ जाए तो स्वास्थ्य की दृष्टि से यह बहुत ही हानिकारक सिद्ध होता है तथा इसके गम्भीर शारीरिक परिणाम हो सकते हैं।

शरीर में ऐड्रीनल ग्रन्थियों द्वारा ऐड्रेनिन नामक रस का स्राव होता है जो रक्त पर एक रासायनिक क्रिया करता है। जब व्यक्ति किसी अप्रत्याशित घटना के कारण संवेग में फंस जाता है तो ऐड्रीनल ग्रन्थि से रस का स्राव अधिक होने लगता है और रक्त में ग्लाइकोजन अथवा चीनीयुक्त पदार्थ अधिक मात्रा में मिल जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति अधिक शक्ति का अनुभव करता है और अप्रत्याशित साहस दिखा बैठता है जिसकी किसी से अपेक्षा नहीं की जा सकती है। हृदय की गति भी तीव्र हो जाती है और रक्त चाप बढ जाता है।

विभिन्न परीक्षणों से यह बात स्पष्ट हुई कि जब व्यक्ति संवेग पूर्ण होता है उस समय स्वयं संचालित स्नायु मण्डल अधिक क्रियाशील हो जाता है। स्वयं संचालित स्नायु मण्डल के सहानुभूति एवं उपसाहनुभूतिक दोनों मण्डल अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। विद्वान संवेग की स्थिति में सहानुभूतिक स्नायु मण्डल की क्रिया को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। यह बात कुछ सीमा तक ठीक भी है और नहीं भी।

संवेग की स्थिति में जब उप सहानुभूतिक स्नायु मण्डल की क्रिया की प्रधानता होती है तो, रक्त नलिकाएं फैल जाती हैं, हृदय गति मन्द पड जाती है, रक्त चाप गिर जाता है और लार टपकना बहुत तीव्र हो जाता है।

विशिष्ट संवेग

विशिष्ट संवेगों से तात्पर्य ऐसे संवेगों से है जो विशिष्ट लक्षणों से युक्त होते हैं इनमें से कुछ निम्न लिखित है–

मुस्कराना और हंसना सुखद अथवा प्रिय अनुभूतियों से सम्बन्धी संकेत हैं। प्रायः रोना दुःखद अनुभूतियों का संकेत है। अन्य संवेगात्मक अनुभवों से पूर्व इनका प्रारम्भ हुआ करता है। बच्चा जन्म लेने के 1–2 माह बाद से ही बच्चा मुस्कुराना शुरू कर देता है और रोना तो जन्म लेते ही शुरू हो जाता है हंसना और मुस्कराना सभी को अच्छा लगता है तथा यह मानव जीवन पर उसका अत्यधिक प्रभाव भी होता है।

हंसना, मुस्कुराना सामाजिक संवेग है। ये सदैव दूसरों की उपस्थिति में ही होते हैं हंसना कई प्रकार का होता है जैसे आनन्दमय होकर हंसना, मानसिक तनाव को दूर करने के लिए हंसना और पागलपन अथवा बेहोशी में हंसना। किसी विशेष मनोदशा में ही व्यक्ति अकेले हंसता है।

जब कोई अप्रत्याशित भयप्रद घटना अथवा बात का प्रसंग आ जाता है तो व्यक्ति भय के संवेग से पीडित हो जाता है। भय के संवेग का प्रभाव व्यक्ति पर भली प्रकार देखा जा सकता है। भयभीत होने की स्थिति में व्यक्ति का हृदय तेजी से धडकता है, माथे पर पसीना आ जाता है रक्त का चाप बढ जाता है शरीर कांपने लगता है, पेट बैठा सा लगता है, चेहरा लाल और पीला पड जाता है, शरीर में कमी का अनुभव होने लगता है और कभी–कभी व्यक्ति संवेग की गहनता में बेहोश तक हो जाता है। इन सभी संकेतों के अतिरिक्त व्यक्ति भयप्रद वातावरण का परिस्थिति से दूर भागने का प्रयास करता है। इसका कारण यही है कि उस परिस्थिति का सामना करने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। वातावरण के वे उद्दीपक जो वातावरण में कोई परिवर्तन लाते हैं अथवा अप्रत्याशित भयप्रद परिस्थिति पैदा करते हैं भय का कारण होते हैं।

यदि व्यक्ति भय की परिस्थिति का भली प्रकार अध्ययन करके उसका सामना करने के लिए कटिबद्ध हो जाए तो भय जाता रहता है। पूर्व निश्चित आदतें भय को दूर करने में सहायक होती है। यदि कोई शिकारी व बाघ का पहली बार सामना करता है तो उसे भय सता सकता है। परन्तु जो शिकारी कई बार बाघ का सामना कर चुका है उसे भय नहीं लगता क्योंकि वह उसकी पूर्व–निश्चित आदत हो जाती है। सामना करने के उपाय सोचकर उन पर व्यवहार करने की दृढ इच्छा भय को नहीं आने देती। इससे आत्म विश्वास आ जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है, किसी परिस्थिति में जाकर वह सफलता प्राप्त करना चाहता है और समस्या का हल चाहता है। जब इनमें से कोई बात पूरी नहीं होती तो व्यक्ति झुंझला जाता है और उसमें क्रोध का संवेग पैदा हो जाता है। क्रोध के संवेग से पीडित होकर हम सामाजिक मान्यताओं की परवाह न

करके सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। कभी–कभी हम क्रोध के कारण समूची शक्ति लगा देना चाहते हैं। इस क्रोधावस्था में विवेक नहीं होता। क्रोध के कारण स्वभाव उग्र बन जाता है और शक्ति एक ओर निश्चित दिशा में केन्द्रित करने की कोशिश करता है।

क्रोध पर नियन्त्रण के लिये आत्म नियन्त्रण आवश्यक है। अतः क्रोध में नियन्त्रण पाना पहली आवश्यकता है। कुछ का यह कहना ठीक है कि जैसे ही क्रोध आए तो उल्टी गिनती गिनने लगो। 10,9,8,7 इत्यादि। या मन को भाव शून्य कर लो इससे क्रोध का संवेग ढीला पड जायेगा, विवेक जागने लगेगा, ध्यान बंट जायेगा।

जब व्यक्ति चारों ओर से निराशा एवं हताश होने लगता है तो भग्नाशा चिन्ता को जन्म देती है। भावों की उलझन में पडकर जब यह निश्चय न हो पाऐ कि क्या करना उचित है क्या नहीं तब व्यक्ति को चिन्ता हो जाती है। चिन्तित व्यक्ति अपनी परिस्थिति पर नियन्त्रण नहीं कर पाता और उसका व्यवहार अव्यवस्थित तथा अनियन्त्रित हो जाता है। विशेषकर आर्थिक संकट, इष्टजनों की स्वास्थ्य–सम्बन्धी, परिवारिक और आर्थिक उलझनें एवं कार्य में असफलताओं का होना ये सब चिन्ता को जन्म देते हैं। चिन्तित व्यक्ति आत्महीनता का शिकार होकर निराश एवं दुखी हो जाता है। अधिक लम्बी निराशा व्यक्ति के जीवन पर बुरा प्रभाव डालती है और व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक रोगी बना देती है।

जब व्यक्ति भयभीत, दुखी, उदास और चिन्तित हो तो उसे दुख की अनुभूति होती है। छोटे बच्चे जितनी शीघ्र दुःखी होते हैं उतना शीघ्र ही वे दुःख रहित भी हो जाते हैं। परन्तु अधिक संवेगात्मक प्रोढता के कारण प्रौढ व्यक्ति शीघ्र दुःखी नहीं होते। दुःखी होने पर उनका दुःख बच्चों की भांति शीघ्र दूर भी नहीं होता। कुछ लोग दुःख में ही घुटते रहते हैं और अपना सारा जीवन दुःखी एवं नर्क बना लेते हैं। जो व्यक्ति दुःखों पर विजय पाने क लिए अच्छे कार्यों में लगे रहते हैं उनका दुःख स्वतः ही दूर भाग जाता है तथा वह सामान्य जीवन जीते हैं।

जब व्यक्ति किसी अप्रत्याशित घटना या ऐसी घटना जिसकी उसने कल्पना न की हो का सामना करता है और उसके लिए तैयार नहीं होता तो उसमें आश्चर्य का संवेग उत्पन्न होता है। इसे भय के सदृश्य ही माना जा सकता है। परन्तु अन्तर इतना है कि भय में व्यक्ति आश्चर्य की अपेक्षा अधिक समय तक घबडाया रहता है। आश्चर्य अधिक समय तक नहीं टिक पाता, कुछ समय बाद यह स्वयं खत्म हो जाता

है। भय तो सदैव दुःखद ही होता है परन्तु आश्चर्य सुखद और दुःखद दोनों प्रकार के होते हैं।

दया सहानुभूति की कोटि में भी आती है। अन्तर यह है कि दया अपने से छोटों पर दुःखद अवसर पर की जाती है। सहानुभूति बराबर वाले के साथ सुखद एवं दुःखद दोनों अवसरों पर की जाती है। नीचे हम सहानुभूति को समझेंगे।

सहानुभूति सामाजिक भावनाओं का मुख्य आधार है। सहानुभूति के कारण हम दूसरों की भावनाओं को अपना लेते हैं और वैसी ही अनुभूति भी प्राप्त करते हैं।

सहानुभूति तो जन्मजात होती है। व्यक्ति के विकास के साथ साथ उसका विकास भी होता चला जाता है। सहानुभूति उत्पन्न होने के लिए व्यक्ति की अनुभूतियों में वृद्धि, सुख दुःख के अनुभवों में वृद्धि मित्र एवं परिचित व्यक्तियों की परिधि में वृद्धि और कल्पना शक्ति के विकास में निरन्तर वृद्धि होते रहना आवश्यक है।

संवेग की माप

1. गैलवैनिक चर्म–प्रतिक्रिया द्वारा माप

गैलवैनिक चर्म–प्रतिक्रिया द्वारा संवेग की गहनता पता लगाने का प्रयोग सन 1888 ई0 में फ्रेंच वैज्ञानिक विगोरो और फेरे ने किया। इस प्रयोग के अनुसार यदि चर्म पर विद्युत की धारा लगा दी जाए तो चर्म में परिवर्तन होते हैं। एक मापक यंत्र द्वारा इन परिवर्तनों को जाना जा सकता है। यदि संवेगात्मक स्थिति के समय यही विद्युत–प्रयोग पुनः किया जाए तो मापक द्वारा यह पता चल सकता है कि संवेग कें समय चर्म की प्रतिक्रिया में क्या परिवर्तन आया। इस प्रयोग को साइको गैलवैनिक प्रतिक्रिया के नाम से भी जाना जाता है।

इस माप में 4 से 6 वोल्ट वाली विद्युत चर्म से संबंधित की जाती है। अब चर्म में जो प्रतिक्रिया होगी वह गैलवैनोमीटर में आ जायेगी। यदि गैलवैनोमीटर की सुई चर्म मे विद्युत बहाने पर शून्य पर रहती है तो व्यक्ति को शिथिल मान लिया जाता है और निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि व्यक्ति में कोई संवेगानुभूति नही है। परन्तु जब व्यक्ति संवेग में होता है तो विद्युत बहाने पर गैलवैनोमीटर की सुई चकित रेखा बनाती हुयी घूम जाती है। संवेग की माप करने से पहले व्यक्ति को संवेगात्मक आवेश दिये जाते हैं। जब व्यक्ति की चर्म से 4–6 वोल्ट की विद्युत का संबंध कर दिया जाता है तो ध्वनियां उत्पन्न की जाती हैं। ये ध्वनियां व्यक्ति में संवेग उत्पन्न कर देती हैं। संवेग के आवेश में आने पर गैलवैनोमीटर की सुई की गति पर ध्यान दिया जाता है। सुई का चक्राकार रेखा का अध्ययन कर लिया जाता है।

2. रक्त चाप में होने वाले परिवर्तन की माप

झूठ का पता लगाने के लिए मनोवैज्ञानिक गैलवैनिक चर्म–प्रतिक्रिया, और साँस की गति का अध्ययन करने के अतिरिक्त रक्त चाप में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन भी करते हैं। रक्त चाप का परिवर्तन देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि विषयी ने सत्य बोला है अथवा झूठ। वार्नम ने अपनी पुस्तक सायकॉलाजी इन एवरी डे लाइफ में निम्नांकित यन्त्र का उल्लेख किया है। इससे झूठ का पता लगाया जाता है। परन्तु इस माप मे तभी सफलता मिल सकती है जब झूठ बोलने वाला घबरा जाये या उदासीन हो जाए। यदि झूठ बोलने वाला चालाक है, अभ्यस्त है कि उसे झूठ बोलने पर न तो घबराहट हो न उदासीनता तो उसमें उत्पन्न संवेग का पता नहीं लगाया जा सकता। इसलिए इस माप पर पूर्णतः निर्भर नहीं रहा जा सकता।

रक्तचाप में सदा मापने योग्य परिवर्तन आ ही जायेगा यह आवश्यक नहीं है। बहुत से घायल लोग असाधारण संवेगात्मक धक्के सहन किए होते हैं, परन्तु उनके रक्त चाप में विशेष परिवर्तन नहीं आता। परन्तु इसके विपरीत उनसे विपरीत उनके मिलने आने वाले सम्बन्धियों के रक्त चाप में परिवर्तन अधिक पाया गया। इसलिए संवेग की माात्रा को रक्त चाप की माप से नहीं समझा जा सकता।

3. निर्धारण मान विधि

निर्धारण मान विधि का उपयोग उपरोक्त माप विधियों की असफलताओं को देखकर किया गया। इस विधि में विषयी के मित्र से विषयी की संवेगात्मक भावुकता का मान निर्धारित करने के लिए कहा जाता है। सांख्यिकीय विधि की सहायता से अन्य व्यक्तियों की तुलना में संवेगात्म भावुकता का पता लगा लिया जाता है।

4. निरीक्षणात्मक विधि

इस विधि में बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। यह विधि संवेगात्मक व्यवहार का वर्णन करने के लिए उपयोगी है। उद्दीपक और प्रतिक्रियाओं का फल क्या रहा इसका ज्ञान भी इस विधि से हो जाता है। किसी विशिष्ट परिस्थिति में किस प्रकार के संवेग उद्दीपन की आशा की जा सकती है। यह ज्ञान भी इससे हो जाता है परन्तु एक ही परिस्थिति सभी बच्चों पर समान प्रतिक्रिया दिखाएगी यह मान लेना ठीक नहीं है। अतः पद्धति पर बिल्कुल निर्भर नहीं रहा जा सकता।

5. मनोविश्लेषणात्मक विधि

इस विधि द्वारा प्रौढ व्यक्तियों के संवेगों का अध्ययन किया जाता है। इस

विधि में स्वतंत्र साहचर्य अथवा स्वतन्त्र शब्द साहचर्य विधि के अनुसार विषयी के मन के अन्तःस्थल में पहुंचकर उसके संवेग सम्बन्धी गहरे तत्वों को समझा जाना सम्भव है। इस विधि से विगत जीवन की वे घटनाएं जान ली जाती है जिनसे वह कभी–कभी संवेगात्मक अनुभूति पाता रहता था।

सुखद–दुःखद भाव ध्वनियां–

उद्दीपकों के प्रति प्रतिक्रिया का फल, भावों की महनता उद्दीपक पर निर्भर करता है जबकि सुखद भाव पर सीखना निर्भर करता है।

भाव तथा गतिवाही क्रिया में भेद–भाव और गतिवाही क्रिया एक दूसरे पर निर्भर नहीं।

भाव तथा ऐन्द्रिक क्रिया में भेद–दोनों एक–दूसरे से पृथक हैं।

(ख) **संवेग**–संवेग और भाव में भेद।

भाव एवं संवेग का सम्बन्ध एवं अन्तर–भाव संवेग का निचोड, संवेग भाव से अधिक उग्र।

संवेगात्मक प्रौढ़ता–विकास के अनुसार संवेगात्मक प्रौढ़ता आती है।

संवेग और सीखना–सीखने का संवेग पर प्रभाव पुरानी प्रतिक्रिया का नए उद्दीपक से सम्बन्ध या पुराने उद्दीपक का नई प्रतिक्रिया से सम्बन्ध। सीखने में संवेग हस्तक्षेप करता है। संवेग उपयोगी है।

संवेग में चेहरे की मुद्राएं–संवेग के अनुसार व्यक्ति का चेहरा विभिन्न भाव मुद्राएं दिखाता है। सिनेमा में बनावटी मुद्राएं बनाकर संवेगात्मक व्यवहार का परिचालन। भाव–संवेग का चेहरे से अध्ययन।

संवेगों द्वारा शारीरिक परिवर्तन

1. हृदय की गति का बढना
2. रक्तचाप में वर्षद्धि
3. सांस की गति में विचलन
4. पाचन क्रिया पर प्रभाव
5. एड्रेनिल ग्रन्थि का व्यापक प्रभाव–अधिक स्राव, रक्त चाप, हृदय की गति का बढना
6. स्वतः संचालित स्नायुमण्डल में सहानुभूतिक एवं उपसहानुभूतिक दोनों का क्रियाशील

7. वृहत् मस्तिष्कीय बल्क एवं हाइपोथेलेमस दोनों संवेग पर प्रभाव डालने वाले।

कुछ संवेग–मनुष्य में परिस्थितियों के अनुसार अनेकों प्रकार के संवेगों की उत्पत्ति हो सकते है। इनमें से कुछ संवेगों की स्पष्ट रूप से पहचान की जा सकती है जैसे–

- मुस्कराना, हंसना, रोना–सुखद संवेगों का लक्षण। बालक में रोना, जन्म से मुस्कराने और हंसने का धीरे–धीरे विकास हंसना या अन्य प्रकार से।
- **भय**–अप्रत्याशित घटना के घटने पर परिस्थिति के लिए तैयार न होने पर भय, परिस्थिति से भागना इसका लक्षण। अनेक शारीरिक परिवर्तन। आत्मविश्वास व परिस्थिति के अनुरूप तैयार हाने से भय को दूर किया जा सकता है।
- **क्रोध**–असफलता, उद्देश्य की अप्राप्ति, उलझन इसके कारण क्रोध में अधिक रक्त चाप, हृदय धडकन तेज, परन्तु समस्त शक्ति केन्द्रित शक्ति का ह्रास।
- **चिन्ता**–इसमें हताशा–भग्नाशा के कारण क्रोध के विपरीत शारीरिक परिवर्तन। शक्ति का ह्रास होता है तथा व्यक्ति में उत्साह की कमी देखी जाती है।
- **दुःख**–भय, उदासी, चिन्ता से दुःख की उत्तपत्ति छोटे बच्चे अधिक दुःखी संवेगात्मक परिपक्वता आने पर दुःख का प्रकाशन संयत।
- **आश्चर्य**–सुखद, दुःखद दोनों अप्रत्याशित घटना इसका कारण।
- **सहानुभूति**–सामाजिक संवेगों, दूसरों के विचारों को अपना लेना। मुस्कराना, जम्बाई लेना, रोते देखकर रोना, दया दिखाना ये इसके लक्षण। सुखद दुःखद दोनों।
- **दया**–सहानुभूति और दुःखद स्थिति में दया के संवेग।
- **परानुभूति**–परिस्थिति से अपना सम्बन्ध जोड़ना।

28.3 मानसिक संवेग एवं उनका प्रबन्धन करने के उपाय

संवेग प्रबन्धन वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वयं की भावनाओं से प्रभावित होकर अन्य व्यक्तियों की भावनाओं को प्रभावित करता है। सभी व्यक्ति जो अपने कार्यकर्ता तथा नियोजक के रूप में संवेग प्रबन्ध से सम्बन्धित है, वह सभी लोग संवेग प्रबन्धन को एक निश्चित स्वरूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

कई वर्षों तक संवेग प्रबन्धन का तात्पर्य कार्यकर्ता की कार्य संतुष्टि व व्यक्ति कल्याण से सम्बन्धित था, परन्तु अब यह प्रकाश में आया है कि संवेगों की सभी कार्यक्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका है। कोई व्यक्ति किसी लक्ष्य पर किस प्रकार कार्य करता है, उसके क्या–क्या प्रयास हैं, कार्य परिस्थितियों में वह कैसे प्रतिक्रिया करता है तथा वह अन्य व्यक्तियों को कैसे प्रभावित करता हैं यह सभी संवेगों के द्वारा ही प्रभावित होता हैं। अन्य शब्दों में व्यक्ति जो अनुभव करता है, जिस प्रकार अपने संवेगों को अभिव्यक्त करता है, यह सभी किसी न किसी प्रकार व्यक्ति व अन्य के प्रदर्शन को प्रभावित करता है। इसलिये प्रभावी संवेग प्रबन्धन व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये महत्वपूर्ण है।

व्यक्ति अपनी भावनाओं को प्रभावी तरीके से अभिव्यक्त कर व्यक्तिगत उपलब्धियों की प्राप्ति भी कर सकता है। उदाहरण विभिन्न शोधों में देखा गया है कि वे व्यक्ति जो अपने भावनाओं को सही ढंग से अभिव्यकत करते हैं वे सेवाओं में एवं जीवन अधिक सफलता प्राप्त करते हैं।

संवेगों का प्रभावी प्रबंधन व्यक्ति की उपलब्धियों, पहचान एवं कार्य क्षमता में वृद्धि करता है। किन्तु कभी–कभी संवेगात्मक और उद्दीपनों के कारण व्यक्ति समस्याग्रस्त भी हो जाता है ऐसी स्थिति प्रायः तब आती है जब प्रकट की जाने वाली भावनाओं एवं अनुभव की जाने वाली भावनाओं में अंतर होता है। हम मुख्यतः दो प्रकार से अपने संवेगों का प्रबंधन करते हैं–

1. सतही प्रकटन के द्वारा
2. गहरे प्रकटन के द्वारा

सतही प्रकटन में व्यक्ति अपने वास्तविक भावनाओं को प्रकट ना करके बनावटी भावनाओं को दिखाता है। जैसे एयर होस्टेस, रिसेप्सिनिष्ट में व्यक्ति जो भावनाओं को प्रकट करता है उन्हें अनुभव करने की कोशिश भी करता है।

संवेग– मीनिन्नी ने संवेगों को पूर्ण भौतिक अनुभव के रूप में परिभाषित किया है।

भौतिक अनुभूति व हमारे विचारों के पारस्परिक सबंधों से संवेग उत्पन्न होते हैं। संवेग सामान्य तौर पर हमारे कार्य एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं। कभी–कभी इनकी अधिक मात्रा व्यक्ति के समायोजन को कम करते हैं। संवेगों की अत्यधिक मात्रा विभिन्न प्रकार के दबाव उत्पन्न करते हैं जैसे अन्यमनस्कता, खण्डमनस्कता, ध्यान का केन्द्रीकरण न होना आदि। ये व्यक्ति का उसके पर्यावरण के साथ समायोजन को प्रभावित करते हैं और जिनके कारण व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के मनोसामाजिक समस्याओं का सामना

करना पडता है। हमारी आधुनिक जीवन शैली तनाव एवं दबाव उत्पन्न करने वाली है। यह विभिन्न प्रकार की अन्य ऐसी मानसिक समस्याओं को उत्पन्न करती है कि जिनका यदि समुचित प्रबन्धन न किया जाये तो इससे जहां व्यक्ति एक तरफ अपने सामान्य काम–काज को करने में भी असमर्थता का अनुभव करता है वहीं दूसरी तरफ वह विभिन्न मनोरोगों का भी शिकार हो सकता है। अतः ऐसे में संवेगों का प्रबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है इसीलिये संवेगों का समुचित प्रबन्धन करने के लिये विभिन्न उपायों को अपनाया जाता है जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नवत् हैं–

तनाव विमुक्ति एवं संवेगों का प्रबन्धन

वर्तमान जीवनशैली व्यक्ति को तनावों का शिकार बनाती है जिसके अनेकों कारण हो सकते हैं इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति न केवल अपने तनाव के कारणों की पहचान करे बल्कि उन्हें दूर करने के लिये अनुकूल उपायों को भी अपनाये। सामान्य तौर पर तनाव का प्रबन्धन करने के लिये जो उपाय अपनाये जाते हैं उनमें व्यक्ति को अपने तनाव के कारणों को दूर करने के लिये विशेषज्ञतापूर्ण सलाह लेने, व्यायाम करने, अकेलेपन को दूर करने, उचित पोषणयुक्त भोजन ग्रहण करने, मनोरंजन के माध्यम से अकेलेपन एवं तनाव की स्थिति को दूर करने से सम्बन्धित सलाह दी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे साधन भी अपनाये जाते हैं जिनसे तनाव के संवेगों का प्रबन्धन समुचित रूप से किया जा सकता है।

योग व संवेग प्रबन्धन

योग के द्वारा एक व्यक्ति में सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही प्रकार के संवेग प्रबन्धन किया जाता है। योग के माध्यम से मष्तिस्क में उत्पन्न संवेगों का निष्कर्षण किया जाता है। योग द्वारा व्यक्ति के मस्तिष्क को केन्द्रित करने का प्रयास किया जाता है।

मस्तिष्क में दो भाग होते हैं सकारात्मक व नकारात्मक तथा यह दोनों ही भाग पूरे शरीर पर सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। योग व्यक्ति को स्वयं को बेहतर ढंग से समझने तथा संवेग प्रबन्धन के लिये सक्षम बनाता है। योग विभिन्न प्रकार के संवेगों के मध्य सामंजस्य व संतुलन लाता है। योग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की क्रियायें एवं आसन तथा मुद्रायें सम्पन्न की जाती हैं। आसन के द्वारा कई प्रकार के संवेग उत्पन्न होते हैं जिसमें कुछ आसन संवेगों पर अधिक प्रभावशाली होते हैं।

आत्मकेन्द्रित व्यक्ति को आगे की ओर झुकने वाले आसन परिस्थितियों का सामना करने में सक्षम बनाते हैं। पीछे झुकने वाले आसन व्यक्ति को जीवन की नकारात्मक परिस्थितियों का सामना करने के लिये सक्षम बनाता है। गूंथी आसन, व्यक्ति को जीवन की गुत्थियों को सुलझाने तथा उनका उचित प्रबन्धत करता है। इस प्रकार के आसन व्यक्ति को अपनी समस्याओं का निवानण करने के लिये आत्म विश्वास तथा ऊर्जा प्रदान करते हैं। औन्धा आसन व्यक्ति को स्वयं को विभिन्न कोणों से देखने की क्षमता प्रदान करता है। इस प्रकार के आसन से व्यक्ति में जो संवेग उत्पन्न होते हैं वे व्यक्ति को परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार में बदलाव हेतु प्रेरित करते हैं।

संतुलित योग आसन संवेगों से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। इस आसन की अवस्थायें मस्तिष्क व शरीर में संतुलन लाने में सहायता करते हैं।

कुछ उपयोगी आसन जो व्यक्ति को नकारात्मक संवेग त्यागने में सहायता करते हैं–

1. सूर्य नमस्कार, भुजंगासन, धनुर्सन, चक्रास व वीरासन व्यक्ति को जीवन की परिस्थितियों को सामना करने के लिये साहस व ऊर्जा प्रदान करते हैं।
2. ब्रजासन, योगमुद्रा, पश्चीमोटासन, करनापीडासन, विप्रति करनी आदि आसन व्यक्ति को अहंकार, क्रोध त्यागने व मस्तिष्क को शान्त रखने में सहायता करता है।

पोषण एवं संवेगों का प्रबन्धन

पोषण एवं संवेगों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन भारतीय विज्ञान के अनुसार भोजन को प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, उच्च कैलोरी युक्त व निम्न कैलोरी युक्त खाद्य पदार्थों में वर्गीकष्त नहीं किया जा सकता है, भोजन का वर्गीकरण इसके मन एवं शारीर के प्रभाव के आधार पर किया जा सकता है जैसे सात्विक, राजसिक एवं तामसिक।

सात्विक उच्चतम स्तर है एवं तामसिक न्यूनतम स्तर है। तामसिक भोजन से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा को नकारात्मक ऊर्जा माना जाता है। सात्विक भोजन जैसे कि फल, सब्जियां, दूध एवं दुग्ध पदार्थ, चावल, अनाज आदि साधारणतः शाकाहारी भोजन को सात्विक भोजन माना जाता है। उचित भोजन एवं पोषण शरीर के लिये आवश्यक है जो हम खाते हैं उसका प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पडता है अर्थात् सही भोजन का सेवन हमारे मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है।

जब शरीर को उचित पोषण नहीं मिलता है तब व्यक्ति थकान का अनुभव करता है। यदि यह स्थिति लम्बे समय तक रहती है तो चिंता एवं अवसाद में परिवर्तित हो

जाती है। अच्छी शारीरिक स्वास्थ्य की अवस्था व्यक्ति की रोग प्रातिरोधक क्षमता बढाती है तथा मानसिक अवसाद से लडने में सहायता करती है एवं चिन्ता व अवसाद से रक्षा करती है। ऐसा माना जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है अतः व्यक्ति की मनः स्थिति एवं शारीरिक स्वस्थता का गहरा संबंध है। मनोभाव एवं भोजन अन्तर्सम्बंधित हैं। इसे निम्न प्रकार से समझाा जा सकता है। रक्त शर्करा स्तर के घटने–बढने से शारीरिक ऊर्जा एवं मनः स्थिति प्रभावित होते हैं। पदार्थ जैसे राई, ओट, बासमति चावल अदि में ग्लासिमिक इन्डेक्स (GI) कम होता है तथा यह मानसिक स्थिति को अच्छा रखते हैं। मस्तिष्क रसायन (सिरोटोविन, डोपामाइन, एसिटाइन–कोलीन) हमारी सोच अनुभव एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं। विटामिन खनिज आदि सभी मानसिक स्वास्थ को प्रभावित करते हैं। विटामिन बी 6, विटामिन सी, फोलिक एसिड तथा जिंक आदि सभी आवश्यक पोषक तत्व प्रतिरोधी क्षमता को बढाते हैं। जिससे रोगों एवं संक्रमण से बचाव होता है।

ध्यान एवं संवेगों का प्रबन्धन

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपने विचारों अनुभवों एवं व्यवहार के नियंत्रण में होते हैं वह स्वयं के विषय में अच्छा महसूस करते हैं तथा दूसरों के साथ भी उनके संबंध अच्छे होते हैं। यह संभव है कि ऐसे व्यक्तियों को भी कुछ मानसिक समस्यायें हो सकती हैं जिसके कई कारण हो सकते हैं जैसे तनाव का परिवार में समस्या, मस्तिष्क में रासायनिक असंतुलन आदि किन्तु मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति तनावपूर्ण स्थिति को आसानी से संभाल लेते हैं तथा इसके हल भी ढूंढ लेते हैं। अप्रिय एवं दुखी भाव जिनका व्यक्ति सामना नहीं करना चाहता तथा जिनको दबाता रहता है तनाव को और बढाते हैं। अप्रिय भावों को महसूस ना करने के लिये व्यक्ति स्वयं को व्यस्त एवं अधिक कार्य में बांधे रखता है एवं स्वयं भोजन, को मनोरंजन एवं दूसरे व्यक्तियों से दूर रखता है। किन्तु यह स्थिति व्यक्ति को साधारण सुखी जीवन से विरक्त करती है, व्यक्ति अपने आवेगों को अपनी चेतना को महसूस नहीं कर पाता है। अप्रिय भावों एवं दुखी संवेगों को करना कुछ हद तक सही है किन्तु इन भावों को स्वीकार ना करके व्यक्ति स्वयं को अन्तहीन तनाव, चक्र में बांध लेता है। जो कि उसके जीवन स्वास्थ्य, कार्य परिवार को प्रभावित करता है।

ध्यान के द्वारा हम ऐसे भावों पर नियंत्रण कर सकते हैं। ध्यान तनाव एवं आराम के मध्य चलने वाला चक्र है। अप्रिय एवं दुखी भावों से उबरने के लिये उन्हें स्वीकार करके उनका निरंतर अनुभव करना तथा उन्हें जीवन में समाहित करने से हम ऐसे भावों का प्रबन्धन कर सकते हैं। ध्यान के द्वारा शरीर एवं मन को आराम मिलता

है तथा शांति मिलती है। ध्यान का अर्थ व्यक्ति के प्राकृतिक भावों के साथ रहने से है। ध्यान शरीर एवं मन के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है।

अध्यात्म एवं संवेग प्रबंधन

अध्यात्मिक जीवन से तात्पर्य व्यक्ति का जीवन का अर्थ एवं स्वयं के प्रति जागरूकता से संबंधित है। जिस प्रकार बाहरी परिधि में व्यक्ति का ध्यान सुविधाजनक वस्तुओं, धन पद आदि पर रहता है तथा जब तक वह इन्हें प्राप्त नहीं कर लेता संतुष्ट नहीं होता उसी प्रकार जब व्यक्ति ध्यान में अर्न्तमन होता है तो वह पाता है कि सम्पूर्णता व्यक्ति के भीतर है ना कि बाहरी वातावरण में। अध्यात्म का तात्पर्य, चेतन होने से है जैसे– हम क्या सोचते हैं, क्या अनुभव करते है तथा क्या कार्य करते हैं।

सकारात्मक चिंतन एवं संवेगों का प्रबन्धन

सकारात्मक चिंतन भी संवेगों के प्रबन्धन में महत्वपूर्ण होता हैं इससे मन को मनोऊर्जा प्राप्त होती है जो व्यक्ति के मानसिक स्वाथ्य को बेहतर करती है। सकारात्मक चिंतन द्वारा व्यक्ति जीवन के विभिन्न पहलुओं से परिचित होता है।

रक्षायुक्तियां एवं संवेगों का प्रबन्ध

रक्षा युक्तियों (डिफेन्स मेकेनिजम) के उचित प्रयोग से भी संवेगों का प्रबन्धन किया जा सकता है। कुछ रक्षा युक्तियां जैसे–उदात्तिकरण, फैन्टेसी तथा दमन का समुचित उपयोग संवेगों का प्रबन्धन करने में सहायक हो सकती हैं। व्यक्ति रक्षा युक्तियों के उचित प्रयोग से चिन्ता, तनाव एवं भग्नाशा को दूर करते हुये अपने संवेगों का प्रबन्धन करता है।

परामर्श एवं संवेगों का प्रबन्धन

परामर्श एक विशेषज्ञतापूर्ण सलाह है जिसका उपयोग कर व्यक्ति की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है एवं संवेगों का प्रबन्धन किया जा सकता है। परामर्श द्वारा व्यक्ति अपनी समस्या या परिस्थितियों के विषय में भली प्रकार से अन्तर्दृष्टि का विकास या समझ विकसित करता है।

उचित निंद्रा एवं संवेगों का प्रबन्धन

उचित निद्रा एवं इच्छाओं पर नियंत्रण आदि ऐसे सामान्य तरीके हैं जिनके माध्यम से संवेगों का प्रबन्धन किया जा सकता है।

28.4 सारांश

मानव मन में विभिन्न प्रकार के संवेगों की उत्पत्ति होती रहती है जिनमें क्रोध,

तनाव, अवसाद, उत्तेजना आदि संवेग मन और शरीर के सामंजस्य में असंतुलन उत्पन्न करते हैं। इसलिये इस असंतुलन को दूर करने के लिये इन संवेगों का समुचित प्रबन्धन किया जाना चाहिये। इसके लिये व्यक्ति स्वयं प्रयास कर सकता है तथा वाह्य परामर्श का भी उपयोग करक संतुलन प्राप्त कर सकता है। इन्हीं कार्यों को सम्पन्न करने के लिये योग, परामर्श, सकारात्मक चिंतन तथा संतुलित भोजन के माध्यम से संवेगों का प्रबन्ध किया जाता है।

28.5 शब्दावली

परानुभूति परिस्थिति से अपना सम्बन्ध जोडना एवं दूसरे की स्थिति का सटीक अनुमान लगाना परानुभूति कहलाती है।

चिन्ता इसमें हताशा–भग्नाशा कारण क्रोध के विपरीत शारीरिक परिवर्तन। इसमें शक्ति का केन्द्रीयकरण नहीं। शक्ति का ह्रास निरूत्साह।

28.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- सिंह, अरूण कुमार, (2001) आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसी दास।
- चौबे, एस.पी., (2005) सामान्य मनोविज्ञान के मूल तत्व, कान्सेप्ट पब्लिशिंग क0, नई दिल्ली।
- वाल्टर ए0 फ्रीडलैण्डर एण्ड राबर्ट जेड, (1982), इन्ट्रोडक्शन टू सोशल वेल्फेयर, प्रेन्टिस हाल इण्डिया प्रा0लि0।
- सुलेमान, मोहम्मद एवं मो0 तव्वाब, (2004) असामान्य मनोविज्ञान विषय और व्याख्या, मोतीलाल बनारसी दास।
- शर्मा, सीमा, (2011) सामान्य मनोविज्ञान यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- यादव के.एन. सिंह, रामजी यादव, (2008) तुल्नात्मक और शिक्षा मनोविज्ञान अर्जुन पब्लिशिंग हाउस।
- बेथवी, हार्लोक एलिजा, (2002) विकास मनोविज्ञान, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित वित्तीय पुनर्मुद्रण।

बोध प्रश्न–1

टिप्पणी (i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. मानसिक संवेगों से आप क्या समझते हैं।

.....

.....

.....

2. मानसिक संवेगों के विभिन्न प्रकारों को बताइये।

.....

.....

.....

3. मानसिक संवेगों के प्रबन्धन की आवश्यकता को स्पष्ट कीजिये।

.....

.....

.....

28.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. भाग 28.2 देखें।
2. भाग 28.2 देखें।
3. भाग 28.3 देखें।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MSW-112

व्यक्तित्व एवं
असामान्य व्यवहार

खण्ड

6

शारीरिक एवं मानसिक विकृतियाँ

इकाई-29 5
मनोदैहिक विकृतियाँ

इकाई-30 17
मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व एवं चरित्र विकृतियाँ

इकाई-31 43
मानसिक मंदता

इकाई-32 56
लैंगिक विकास एवं लैंगिक विकृतियाँ

इकाई-33 80
मनोचिकित्सा

संरक्षक एवं मार्गदर्शक	
प्रो० एम० पी० दुबे	**कुलपति - अध्यक्ष**
विशेषज्ञ समिति	
डॉ० एम० एन० सिंह	पूर्व निदेशक - समाजशास्त्र विद्याशाखा, उ०प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो० एस० त्रिपाठी	अवकाश प्राप्त, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो० ए०एन०सिंह	विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो० अरविन्द जोशी	समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ० अल्का वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
परिमापक	
प्रो० बालेश्वर पाण्डेय	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
सम्पादक	
प्रो० जय कान्त तिवारी	प्रोफेसर, समाज शास्त्र एवं समाज कार्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
लेखक	
डॉ० कीर्ति विक्रम सिंह	सहायक क्षेत्रीय निदेशक, इग्नू, क्षेत्रीय केन्द्र, वाराणसी
डॉ० मोहम्मद नईम	असि० प्रोफेसर, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
डॉ० राजेश कुशवाहा	असि० प्रोफेसर,डॉ० बी०आर० अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा
डॉ० रोहित मिश्रा	समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
समन्वयक	
डॉ० अलका वर्मा	समाज कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रकाशक	
प्रो०(डॉ०) जी०एस०शुक्ल	कुलसचिव,उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई हैं। विश्वविद्यालय इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

@ प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, **प्रयागराज**

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

षष्टम खण्डः शारीरिक एवं मानसिक विकृतियाँ

खण्ड परिचय :

षष्टम खण्ड के अन्तर्गत शारीरिक एवं मानसिक विकृतियों की विवेचना की कुल 5 इकाईयों में समेटा गया है। इकाई संख्या 29 में मनोदैहिक विकृतियों एवं विकारों के विविध स्वरूपों की विवेचना की गई है। इकाई 30 में मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व के लक्षण एवं स्वरूप, चरित्र विकृतियों के कारण एवं सिद्धान्त की विवेचना की गई है। इकाई 31 में मानसिक मंदता के लक्षण एवं स्वरूप, इसके कारकों एवं उपचारों का विश्लेषण किया गया है। इकाई 32 में लैंगिक विकास की विविध जैविक अवस्थाओं तथा लैंगिक विकृतियों के स्वरूप, कारक एवं इसके परिणामों की विवेचना की गई है। इकाई 33 में मनोचिकित्सा की अवधारणा एवं स्वरूप, मनोचिकित्सा की पद्धतियों एवं इसके प्रबन्धन पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 29 मनोदैहिक विकृतियाँ (Psychophysiollgical or Psychoso-matic disorders)

इकाई की रूपरेखा:

29.0 उद्देश्य

29.1 प्रस्तावना

29.2 दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र

29.3 मनोदैहिक विकृतियाँ

29.3.1 मनौदैहिक विकृतियों का स्वरूप

29.3.1.1 बाह्य मनौदैहिक विकृति

29.3.1.2 आन्तरिक मनोदैहिक विकृति

29.4 मनोदैहिक विकार के प्रकार–

29.4.1 त्वचा विकार

29.4.2 श्वसन विकार

29.4.3 हृदय वाहिका विकार

29.4.4 आमाशयान्त्र विकार

29.4.5 रूधिर व लसिका विकार

29.4.6 जननमूत्र सम्बन्धी विकार

29.4.7 अन्तःस्रावी विकार

29.4.8 स्नायुमण्डल विकार

29.4.9 पेशी कंकालीय विकार

29.4.10 ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित विकार

29.5 मनोदैहिक विकार के लक्षण (Psychophysio-bogical Reaction of Organs of Special Sense)

29.6 मनोदैहिक विकारों के कारण

29.6.1 जैविक कारक

29.6.2 मनोवैज्ञानिक कारक

29.6.3 सामाजिक कारक

29.7 मनोदैहिक विकारों का उपचार

29.8 सारांश

29.9 शब्दावली

29.10 सन्दर्भ पुस्तकें

29.11 बोधगम्य प्रश्न

29.0 उद्देश्य (Aim)

इस इकाई के अन्तर्गत व्यक्ति के मनोदैहिक विकृतियों से सम्बन्धित चर्चा की गयी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए सम्भव होगाः

1. मनोदैहिक विकृति की संकल्पना का विवेचन करना,
2. मनोदैहिक विकार व मनस्ताप में अन्तर स्पष्ट करना।
3. मनोदैहिक विकार के लक्षण व प्रकारों का वर्णन करना।
4. मनोदैहिक विकार के कारण व निदान की प्रस्थिति को प्रस्तुत करना।
5. मनोदैहिक विकृति के उत्पत्ति में जैविक–मनोवैज्ञानिक व सामाजिक कारक की भूमिका का अभिज्ञान करना।

29.1 प्रस्तावना

यह इकाई मानव शरीर में विविध अंगों को प्रभावित करने वाले विकारों से आपकों परिचित कराती है। इस इकाई में हमनें मनोदैहिक विकारों के अन्तर्गत अस्वस्थ्यता के पूर्णांगवादी विचार को मनोदैहिक दृष्टिकोण में रखकर विर्णित किया है। अतः व्यक्ति की स्वस्थ्य शारीरिक प्रस्थिति से सम्बन्धित समस्त व विविध पहलुओं को सारगर्भित वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतरिक्त इस इकाई में मनोदैहिक विकार व मनस्ताप में अन्तर स्पष्ट किया गया है। यह इकाई संक्षेप में आपको यह पृष्ठभूमि प्रदान करेगी जिसके आधार पर आप इस खण्ड की अग्रिम इकाईयों में इस विषय पर आगे चर्चा कर सकेंगे। आगे की इकाइयों में हमनें मनोव्यधिकीय व्यक्तित्व तथा चरित्र विकृतियॉ, मानसिक मंदता तथा लैंगिक विकास एवं लैंगिक विकृतियों और मनोचिकित्सा के विविध पहलुओं से सम्बन्धित मुद्दों व महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों पर विस्तार से चर्चा की हैं। इस इकाई के आरम्भ में हमने संक्षेप में किन्तु सारगर्भित दृष्टि पर मनोदैहिक विकृतियों के स्वरूप, प्रकार, लक्षण के विविध पहलुओं पर चर्चा की है। अन्त में मनोदैहिक विकारों का उपचार पर विस्तृत चर्चा करते हुए एक संक्षेपण रूप में सारांश देने का प्रयास किया है और इन प्रयास में जो भी कठिन या प्रासंगिक शब्द दिखे उनको एक शब्दावली का रूप भी दिया गया है। इसके अतिरिक्त सन्दर्भ पुस्तकें और बोधगम्य प्रश्न भी दिये गये है ताकि पाठक को और अधिक सरलता व सुगमता प्राप्त हो सकें।

29.2 दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र

मनोदैहिक विकृतियों का स्वरूप व प्रकार तथा प्रभाव व्यक्ति के शरीर पर कैसा भी प्रभाव डालते रहे हो किन्तु यह सर्वमान्य सत्य है कि व्यक्ति का शरीर जब किसी भी बीमारी या दुर्घटना की चपेट में आता है और उनका कोई अंग विशेष ही क्यों न प्रभवित हो से व्यक्ति का शारीरिक संतुलन बिगड़ जाता है परिणामस्वरूप व्यक्ति मनोदैहिक विकृति से अभिशप्त हो जाता है, भले ही विकार में आंगिक कारक व लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हो या नहीं। कहने का तात्पर्य हे कि व्यक्ति चाहे शारीरिक रूप से पीड़ित हो या मानसिक रूप से, उसे तो सम्पूर्ण शरीर पीड़ित होता है। इसी प्रकार अगर व्यक्ति का समग्र शरीर पाड़ित है तो भी उसका मानसिक व शरीरिक दोनों पक्ष प्रभावित होता है।

वस्तुतः व्यक्ति के मनोदैहिक विकृतियों के मूल में दीर्घकालिक संवेगात्मक अव्यवस्था रहती है और इसके अतिरिक्त व्यक्ति की अन्तर्द्वन्द्वता की स्थिति भी उत्तरदायी होती है।

आधुनिक मानव का आधुनिक जीवन–शैली बड़ी विचित्र है, खान–पान रहन–सहन, चाल–चलन आदि सभी क्षेत्रों में कोई एक निश्चित सीमा–रेखा व मानदण्ड स्थापित नहीं रह गया है, "व्यक्ति द्वन्द्व भरें विचारों की राहों के चौराहों" पर द्वन्द्वग्रस्ता की स्थिति में खड़ा है यही कारण है कि व्यक्ति का आधुनिक जीवन संघर्षों से भरा है। परिणाम में हम पाते हैं कि पूर्व की आपेक्षा आज का आधुनिक मानव अधिकाधिक मनोदैहिक विकृतियों का शिकार है, और ऐसी घटनाएं आज अधिक घटित भी होती हैं।

स्मरण रहे की तनाव का जीवन खतरों से भरा होता है ताथापि यह सत्य है कि व्यक्ति का जीवन भी तनाव रहित नहीं है। आज की स्थिति में ऐसी संकल्पना हास्यास्पद ही है। ऐसी वस्तुस्थिति में मनोदैहिक विकारों पर विस्तृत व सारगर्भित वर्णन व विश्लेषण आज का प्रासंगिक विषय बनता है।

29.3 मनोदैहिक विकृतियाँ (Psychophysiological or Psychosomatic Disorders)

परम्परागत रूप से यह मान्यता रही है कि स्वस्थ्य शरीर में ही स्वस्थ्य मस्तिष्क और स्वस्थ्य मस्तिष्क में स्वस्थ्य मन का वास होता है। व्यक्ति का शरीर जब भी किसी कारण वर्ष व्याधिग्रस्त होता है तो व्यक्ति का दैनिक जीवन असंतुलितावस्ता में चला जाता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति का षरीर अनेक **"दैहिक विकारों का विश्रामस्थल"** बनने की ओर उन्मुख दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः ऐसा देखा जाता

है कि व्यक्ति के शरीर का जो अंग किसी कारण व्याधि ग्रस्त होता है या उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है तो उसे उस प्रभावित अंग का रोग या विकार या विकृति नाम दे दिया जाता है। जबकि शरीर के किसी भाग या अंग में आयी विकृति से व्यक्ति का सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है अर्थात शरीर में व्याप्त विकृति मानसिक हो या शारीरिक विकृति का स्वरूप आन्तरिक हो या वाह्य, सभी दशाओं में सम्पूर्ण मानव शरीर प्रभावित होता है। इसी पूर्णतावादी दृष्टिकोण को ध्यानार्गत रखते हुए चिकित्सा का उद्देश्य भी स्पष्ट निर्मित होता है क्योंकि मनोदैहिक विकारों के अन्तर्गत व्यक्ति के दीर्घकालिक संवेगात्मक तनाव विभिन्न शारीरिक व्यक्तियों में परिवर्तित हो जाते हैं। विज्ञ है कि व्यक्ति जब संबेगात्मक तनाव में आता है तो व्यक्ति के शारीरिक व्यवस्था में तीव्र परिवर्तन देखनें को मिलता है, परिवर्तन की प्रकृति व्यक्ति में आन्तरिक व वाह्य या दोनों हो सकती है। यथा पाचन–क्रिया, रक्त–प्रवाह, श्वास–प्रक्रिया, मुख का सूख जाना, अचानक व बिना कारण पसीना आना, दिल की धड़कन का बढ़ जाना आदि परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। व्यक्ति के शरीर में परिवर्तन की यह प्रकृति व्यक्ति के जीवन शैली व शरीर की सुदृढ़ावस्था पर अधिकाधिक अवलम्बित होता है, यही कारण है कि रोग–प्रतिरोधक शक्ति में भिन्नता व अन्तर होने से मनोदैहिक विकारों के मूल में व्याप्त संवेगात्मक अव्यवस्था और अन्तर्द्वन्द्व सभी व्यक्तियों में एक समान प्रभावी नहीं होता है। कुछ इसी तरह खाद्य–पदार्थो, पेय–पदार्थों व दवा के रूप में लेने वाले रसायनों में होता है कि एक ही खाद्य पदार्थ एक व्यक्ति का शरीर पचा लेता है जबकि दूसरे की पाचन–क्रिया खराब हो जाती है और वह अमाशयन्त्र विकार से ग्रसित हो जाता है। ठीक उसीप्रकार एक ही तरह की समस्या से एक व्यक्ति सामान्य रूप से सामना करता है, जबकि दूसरा व्यक्ति घोर तनाव की स्थिति में चला जाता है और अनेक मानसिक विकारों का शिकार बन बैठता है। उसी क्रम में यदि दवा को ले वो पाते हैं कि एक ही विकार के निदान की दवा एक ही प्रकार के विकार में एक व्यक्ति पर प्रभावी तों दूसरे पर निष्प्रभावी हो जाती है क्यों?

वस्तुतः मनोदैहिक विकृतियों का सम्बन्ध व्यक्ति के शरीर के अन्तरावय व स्वतन्त्र नाड़ी–मण्डल से होता है यही कारण है कि मनोदैहिक विचार के लक्षणों का आधार दैहिक होता है और मनोदैहिक विकारों से उत्पन्न शारीरिक परिवर्तन अत्यन्त ही खतरनाक होते है।

यदि हम American Psychotric Association के नवीन वर्गीकरण को देखे तो स्पष्ट है कि पूर्व में वर्णित साइकोसौमैटिक विकृतियाँ (Psychosomatic Disorders) नाम से पुकारा जाने वाला असामान्यता ही आज "मनोदैहिक स्वतन्त्र नाड़ीय वा अन्तरावयविक विकृतियाँ" (Psychophysiologic Autonomic and Visceral disorder) नाम से जाना जाता है।

अतएव मनोदैहिक विकृति से आज अधिकाधिक युवा व प्रौढ़ वर्ग है, लेकिन इस प्रकार की विकृति बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक कभी भी, किसी में भी हो सकती हैं।

29.3.1 मनोदैहिक विकृतियों के स्वरूप

बीमारियों या अस्वस्थता के पूर्णांगवादी विचार को मनोदैहिक दृष्टिकोण कह सकते हैं। इस अनुसार व्यक्ति के अन्तरावय (Visceral) व स्वतः नाड़ी मण्डल से नियन्त्रित होने वाले शारीरिक अंगों में उत्पन्न विकार जो दीर्घकालिक संवेगात्मक तनाव उत्पन्न करते है, के कारण व्यक्ति में परिवर्तन देखने को मिलता है। इस परिवर्तन को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाटा जा सकता है, **पहला** –वाह्य और **दूसरा** आन्तरिक।

29.3.1.1 वाह्य मनोदैहिक विकृति

व्यक्ति के शरीर को वह आंगिक विकार जिसकों आसानी से देखा जा सकता है और उस विकार के कारण दीर्घकालिक संवेगात्मक तनाव होता है, उसे वाह्य मनोदैहिक विकृति कहा जा सकता है। यथा– शरीर का रंग पीला पड़ना, त्वचा रोग, पसीना आना, डायरिया आदि।

29.3.1.2 आन्तरिक मनोदैहिक विकृतिः

व्यक्ति के शरीर को वह आंगिक विकार जिसकों आसानी से नहीं देखा जा सकता है किन्तु उस विकार के कारण दीर्घकालिक संवेगात्मक तनाव होता है और पंरिणामस्वरूप व्यक्ति के शरीर में तीव्र आन्तरिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वयक्ति असमान्य अवस्था में चला जाता है, उसे आन्तरिक मनोदैहिक विकृति कहा जा सकता है। यथा –पेशी कांकलीय विकार, श्वासन विकार, हृदय वाहिका विकार, अमाशयान्त्र विकार आदि।

29.4 मनोदैहिक विकार के प्रकार

मनोदैहिक विकृतियों को एक सर्वमान्य और निश्चित सीमा रेखा में बाधना अत्यन्त ही दुरूह कार्य है तथापि सुविधा की दृष्टि से मनुष्य के शरीर के प्रभावी अंग विशेष को ध्यान में रखकर या यूँ कहें कि उन्हें ही आधार मानकार अधोलिखित प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं–

29.4.1 मनोदैहिक त्वचा विकार–

इसके अन्तर्गत त्वचा विकृति जैसे– दाद, खाज, खूजली, मुहाँसे, चर्म रोग आदि आते हैं। इस प्राकर के मनोदैहिक रोगों का मुख्य कारक संवेगात्मक होता है।

29.4.2 श्वसन विकार– श्वास तन्त्र को प्रभावित करने वाले विकार को इस श्रेणी में रखा जाता है। जैसे– श्वसनी ऐंठन, अस्थमा आदि।

29.4.3 हृदय–वाहिका विकार– हृद्यवाहिका विकार समूह के अन्तर्गत हृद्य गति में वृद्धि, रक्त प्रवाह में वृद्धि, सिर के आधे भाग में दर्द आदि विकार आते है।

29.4.4 अमाशयान्त्र विकार– ऑत में घाव, जठर शोध, हृदय जलन, भूख की कमी आदि विकार अमाशयान्त्र विकार कहे जाते है।

29.4.5 रूधिर व लसिका विकार– इस प्रकार के विकार समूह में रूधिर सम्बन्धी विक्षोभ, लसिका ग्रन्थियों में सूजन आदि विकार आते हैं।

29.4.6 जनन–मूत्र सम्बन्धी विकार– इस प्रकार के अन्तर्गत बहुमूत्रता, मूत्रण–आवृत्ति, मूत्र असंयति, अल्प मूत्रता, मूत्र कृच्छता, मूत्र–शूल, मूत्रावरोध, अमूत्रता, रक्तमेह, बदबूदार मूत्र, मासिक धर्म या आर्वत स्राव सम्बन्धी और यौन संकुचन आदि विकार आते है।

29.4.7 अन्तः स्रावी विकार– अन्तःश्रावी ग्रन्थियों से सम्बन्धित विकारों को इस समूह में रखा जाता है। इस प्रकार के विकार मे संवेगात्मक कारक मुख्य रूप से नीहित होते है।

29.4.8 स्नायु मण्डल विकार– स्नायु मण्डल विकार के अन्तर्गत थकान के साथ शक्ति में ह्रास, पेशीय पीड़ा, चिन्ता प्रतिक्रिया आदि विकार आते है।

29.4.9 पेशी कंकालीय विकार– इस प्रकार के विकार में पीठ में दर्द, मांसपेशीय ऐठन, गठिया आदि रोग आते है।

29.4.10 ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित विकार– विषेश ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित विकार इस समूह मे आते है।

29.3.5 मनोदैहिक विकार के लक्षण

मनोदैहिक विकार के लक्षणों की जहाँ तक बात है तो मनोदैहिक विकार चाहे जिस प्रकार का हो अधिकांश संवेगात्मक दबाव युक्त होता है। प्रारम्भ में इसका प्रभाव अधिक प्रभावकारी नहीं होता है यदि होता भी है तो प्रभाव का समय लघु ही होता है, यही कारण है कि मनोदैहिक विकार से ग्रसित व्यक्ति शुरू में चिकित्सक के पास नहीं जाता है। किन्तु लक्षण की तीव्रता उपस्थित हाने पर या बने रहने पर मनोदैहिक विकार से ग्रसित व्यक्ति औषधि लेने का प्रयास करता है। चिकित्सक भी आसानी से इन शारीरिक लक्षणों के पीछे छिपे मनोवैज्ञानिक कारणों को समझने में विफल हो जाते हैं और ऐसे विकारों से ग्रसित व्यक्ति भी सहज यह मानने को तैयार नहीं होता है कि इस कठिनाई का मूल कारण संवेगात्मक दबाव है।

इस तथ्य की प्रष्टि में **'मिलर'** का मनोदैहिक विकार से सम्बन्धित एक दृष्टान्त देना उचित प्रतीत होता है। मिलर महोदय ने एक मनोदैहिक व्यक्ति का वर्णन करते हुए लिखा कि– "एक छोटे कद का व्यक्ति मनोचिकित्सक के पास आया। उस व्यक्ति में काफी समय से हीनता व झेंपने सम्बन्धी भावनाएँ विद्यमान थी, इस कारण उसकी आँखें सदैव नीचे रहती थी तथा मुँह लटका हुआ करता था। उसके चेहरे की त्वचा पर भद्दे–भद्दे चिन्ह थें तथा कलाई पर भी इसी प्रकार के निषान थे, जिसे एक्जिमा बताया गया था"।

इस मनोदैहिक विकृति व्यक्ति की जब केस स्टडी की गयी तो पता चला कि उसकी माँ उसे अधिक प्यार करती थी जो फेफड़े के रोग के कारण मृत्यु को प्राप्त कर गयी, माँ की मृत्यु के समय व्यक्ति की आयु मात्र आठ वर्ष थी, पिता द्वारा माँ के पास ज्यादा रहने के प्रयास में उसे डाट भी खानी पड़ती थी। माँ की मृत्यु से उसे बड़ा आघात पहुँचा और वह व्यक्ति यह विश्वास करने लगा कि माँ की मृत्यु का कारण उसका पिता ही है। धीरे–धीरे पिता के प्रति उसका प्रशंसा का भाव घृणा का स्थान लेने लगा। वह पिता के प्रति उदासीन रहने लगा। कक्षा में होनहार छात्र के रूप में स्थापित होने के पश्चात् भी जब एक बार उसके कम अंक आये। परिणामस्वरूप उसे अधिक तनाव व नैराष्य का अनुभव होने लगा। उस समय उसकी अवस्था 15 वर्ष थी और इसी समय उसे चेचक का टीका लगवाया गया जिसके बाद उसे वर्णित त्वचा रोग हो गया। इस त्वचा रोग ने उसे अन्दर तक झकझोर कर रख दिया। वह इस त्वचा रोग से इस कदर चिन्तित हुआ कि परीक्षा या अन्य कार्यों के समय उसकी त्वचा फट जाती थी और सर्दी लग जाती थी, फलस्वरूप उसे जिन्दगी का कुछ समय अस्पताल में गुजारना पड़ता था। इस व्यक्ति का दिखावे में विश्वास व पिता की तरह सफल व्यापारी बनने की चाहत थी परन्तु उसकी ये इच्छाएं अधूरी रहीं।

उपर्युक्त मिलर का दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जब व्यक्ति मनोदैहिक विकृतियों का शिकार होता है तो उससे दीर्घकालीन संवेगात्मक अव्यवस्था ऐसी आन्तरिक या वाह्य शारीरिक परिवर्तन का शिकार बनाती है कि व्यक्ति को उससे उबरना अत्यन्त कठिन हो जाता है, परिणामस्वरूप उसका दैनिक जीवन बिखराव की ओर उन्मुख हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि मनोदैहिक विकृति देखने में सहज किन्तु दुरगामी, दुशप्रभावकारी होती है।

29.6 मनोदैहिक विकृति के कारण

मनोदैहिक विकारों के सन्दर्भ में पूर्व मे ही वर्णित किया जा चुका है कि यह शरीर के अंग विशेष को प्रभावित करता है, लेकिन व्यक्ति दीर्घकालीन संवेगात्मक

अस्वस्थ्यता के कारण मनोविकार का शिकार भी हो जाता है जिसका उसे भी आभाश नहीं होता। ऐसे में यह कहा जा सकता है कि मनोदैहिक विकारों में दैहिक एवं मनोवैज्ञानिक कारक मिश्रित होते है। इनमें से किसी एक को अलग करना अत्यन्त दुरूह कार्य है, तथापि व्यक्ति की वैयक्तिक पृष्ठभूमि का अवलोकन कर उसके मस्तिष्क में मनोदैहिक विकार के निदान का बीज प्रतिस्थापित किया जा सकता है। व्यक्तित्व अध्ययन हेतु उत्तरदायी कारकों का अभिज्ञान आवश्यक प्रतीत है। तभी व्यक्ति के मनोदैहिक विकार का निदान ढूढा जा सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति में उत्तरदायी कारकों के अभिज्ञान हेतु मुख्य रूप से जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक श्रेणियों के अन्तर्गत मनोदैहिक विकार के कारकों का अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

29.6.1 जैविक कारक (Biological Factors)–

जैविक कारक के सम्बन्ध में एकमतता का नितान्त अभाव परिलक्षित है। चूकि दैहिक लक्षणों का संबंध सामान्य संवेगों के अतिरंजित (अत्यधिक बृद्धि या ह्रास) स्वरूप से होता है। विविध वैज्ञानिक शोधों के पश्चात् भी आज तक एक मुख्य दैहिक कारक अंग विशेष के सन्दर्भ में ज्ञात करने में असफल है। इस कारण जैविक कारक के संबंध में अनेकानेक धारणाएं प्रचलित है। इन प्रमुख धारणाओं में जिन धारणाओं की अधिकाधिक चर्चा होती है उनमें प्रथम सिद्धान्तवेत्ता व्यक्ति में संवेगात्मक तनाव का प्रभाव किसी भी दैहिक प्रक्रिया पर पड़ता देखते है। ऐसे सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक **वोल्फ कालिन्स** (1957) दिखते हैं। जबकि द्वितीय सिद्धान्तवेत्ता यह मानते है कि व्यक्ति की विभिन्न विशेषताओं का सम्बन्ध विशिष्ट मनोदैहिक विकारों से होता है। ऐसा मानने वाले सिद्धान्तवेत्तों में प्रमुख **कालिन्स** (1957) तथा **काप्लान** व अन्य (1961) दिखते है। तृतीय सिद्धान्त के समर्थक विद्वानों का अभिमत है कि विभिन्न दैहिकीय परिवर्तन विभिन्न संवेगात्मक परिस्थितियों में उपस्थित होते हैं।

उपर्युक्त वर्णित तीनों सिद्धान्तवेत्ताओं के अभिमतों का विश्लेषण पश्चात् यह कहना उपर्युक्त जान पड़ता है कि मनोदैहिक विकार का वाह्य लक्षण व्यक्ति के संवेगात्मक तन्त्र को प्रभवित कर एक ऐसे स्राव को जन्म देते है जो शरीर क्रियात्मक तन्त्र में असामान्य रूप से बढ़ने या घटने लगता है। इन दोनों अवस्थाओं में व्यक्ति की संचालित मानसिक एवं शारीरिक क्रियाएं भी तदएव प्रभावित होती है।

29.6.2 मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)–

मनोदैहिक विकार के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक कारक के प्रभाव संबंधी अभिज्ञान तथ्य का अभाव है तथापि अनुसंधानकर्ता यह सिद्ध करने में लगे रहे कि मनोदैहिक विकृतियों के उत्पन्न करने में व्यक्ति की दोषपूर्ण आभिवृत्तियाँ, दीर्घ कालीन चिन्ता तथा अवरोधित शत्रुता भावना मुख्य भूमिका का निर्वहन करती है। ऐसे तथ्य प्रस्तुतकर्ता कहतें

है कि बाल्यावस्था में संरक्षक द्वारा बालक को अत्यधिक सुरक्षा या अत्यधिक कर्तव्य विमुखता में संलग्न रहने से बालक के अर्न्तगत असुरक्षात्मक या विरोधी भावना उत्पन्न होती है। यही भावना आगे चलकर उस बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। ऐसे प्रभाव से युक्त बालक सामान्य बालक या व्यक्ति की भाँति संवेगात्मक स्थितियों का सामना नहीं कर पाते है या कठिनाइयों के मकड़जाल में फसकर अन्तर्द्वन्द्व परिस्थिति में मनोदैहिक विकर के शिकार हो जाते हैं।

इस अभिमत का विष्लेशण करें तो दो **पक्ष–स्नायुविक दैहिक पक्ष** तथा **मनोवैज्ञानिक पक्ष** मानस परल पर उभरते है जिसमें पृथक् करने का बिन्दू नहीं दिखता है अर्थात् ये दोनों पक्ष आपस में ऐसे गुथे– विधें है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना कल्पनातीत ही प्रतीत होती है। अतः स्पष्ट है कि अब तक के ज्ञात तथ्य यही इंगित करते है कि मनोदैहिक विकारों में मनोवैज्ञानिक कारक के प्रभाव की मात्रा अस्पष्ट है जो शोध का अग्रिम अभीष्ट होगी, आवश्यक है।

29.6.3 सामाजिक कारक (Social Factors)–

मनोदैहिक विकारों के कारकों मे प्रमुख सामाजिक कारक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विभिन्न सामाजिक व सांस्कृतिक वर्गों में मनोदैहिक विकारों के घटन की विभिन्न सम्भावनाएँ होती है। विविध शोध निष्कर्ष कहते हैं कि मनोदैहिक विकारेां का घटना क्रम कुछ समुदायों एवं संस्कृतियों में अपेक्षाकृत अधिक मिलता है तों कुछ समाजों में कम। यथा– गठिया का निम्न समाजिक, आर्थिक वर्ग में अधिक होना तो त्वचा पर चकत्ते, एलर्जी प्रतिक्रियाएँ उच्च सामाजिक–आर्थिक वर्ग में अधिक होना आदि।

अतः स्पष्ट है कि मनोदैहिक विकृति में समाजिक कारक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

29.7 मनोदैहिक विकारों का उपचार (Treatment of Psychophysiogical Disorder)

मनोदैहिक विकृति में जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक कारकों की भुमिका अति महत्वपूर्ण होती है। इस शोध तथ्य को ध्यानार्गत रखते हुए इन्हीं तीनों कारकों के दृष्टिकोण से मनोदैहिक विकारों से ग्रस्त व्यक्ति का उपचार करना प्रासंगिक होगा। इसलिए इन तथ्य परक कारकों के मध्य संगठन एवं समन्वय आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि किसी व्यक्ति कों आंगिक चिकित्सा से त्वरित लाभ दिया जाता है किन्तु उसे कुछेक परिस्थितियों या समय में चिरस्थायी चिकित्सा हेतु मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक हस्तक्षेपण बिन्दु को भी अमल में लाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। विज्ञ है कि कुछेक सामाजिक एवं आनुवंशिक पक्ष अपरिवर्तनीय होते है, ऐसी स्थिति में

मनोपचार, मनोविश्लेषण एवं सम्मोहन आदि जैसे हस्तक्षेपों की महत्ता बढ़ जाती है। प्रसिद्ध मनोचिकित्सक **आंइजेक** (1960) ने व **लेलें** (1958) ने मनोदैहिक विकार से ग्रस्त व्यक्तियों पर व्यवहारवादी चिकित्सा पद्धति का प्रयोग कर सिद्ध किया कि इन रोगियों का सफल उपचार किया जा सकता है।

इस प्रकार यह तथ्य उद्‌भूत होता प्रतीत है कि मनोदैहिक विकरों से ग्रस्त रोगियों की चिकित्सा में यदि मनोचिकित्सा और सामाजिक उपचार विधि का संयुक्त प्रयोग किया जाये तो एक सफलतम् व दीर्घकालीन सफलता प्राप्त की जा सकती है।

अभ्यास प्रश्नः

1. आपके विचार में व्यक्ति के मनोदैहिक विकार का प्रमुख कारण क्या है? इनका उल्लेख करें।

   .....

   .....

   .....

2. मनोदैहिक विकषतियों में कुछेक प्रमुख विकषतियों का सोदाहरण सहित व्याख्य कीजिए।

   .....

   .....

   .....

29.8 सारांश

मनोदैहिक विकारों का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि एक संक्षिप्त व सारगर्भित निष्कर्ष दिया जाय। उक्त प्रायास की कड़ी में हम पाते है कि मनोदैहिक विकृतियों के अन्तर्गत व्यक्ति दीर्घकालीन संवेगात्मक तनावों से गुजरता है और ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति का जीवन विविध शारीरिक कष्टों व मानसिक कष्टों के अनुभव से ओत–प्रोत असमायोजित व्यक्तित्व निर्मितता की ओर उन्मुख हो जाता है।

इस इकाई में अपने मनोदैहिक विकृति की संकल्पना, मनोदैहिक विकृति व मनस्ताप में भेद, मनोदैहिक विकार के लक्षण व प्रकार तथा कारण व निदान की प्रस्थिति को प्रस्तुत किया एवं तद्‌संबंधी शोधवेत्ताओं के निष्कर्ष व सुझाव को जाना समझा जा सके, ऐसा प्रयास किया गया।

विश्लेषण में स्पष्टतः तथ्य उभरा कि मनोदैहिक विकारों के निदान में परम्परागत रूप से चिकित्सकों ने अपना अधिकाधिक ध्यान शारीरिक रोगों को समझने परखने में ही केन्द्रित कर रखा था तो मनोचिकित्सकों ने केवल मानसिक रोगों को समझनें तक ही अपने को सीमित रखा। इसका प्रमुख कारण था इन दृष्टिकोणों का एकांकी होना जबकि होना यह चाहिए था कि इस प्रकार के रोगों एवं रोगी के प्रति उक्त दोनों निदानात्मक दृष्टिकोण के साथ दबावपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों को परिवर्तित करने वाले परक कारक की खोज कर एक दीर्घकालीन निंदनात्मक पद्धति विकसित की जाय और उसको ही अमलीजामा पहनाया जाय। हमनें प्रस्तुतीकरण को वर्तमान मनोदैहिक विकारों को भारतीय संदर्भ में देखने समझने व पुष्ट करने का प्रयास किया है तथापि हमारा प्रस्तुतीकरण सीमित है क्योंकि दृष्टिकोण व कार्यक्षेत्र तथा तद्संबंधी शोध तथ्य का आवंटन, सीमांकन और अवधारणाएँ यथार्थ के सन्निकट नहीं हैं और साथ ही इनकी व्यापकता इतनी अधिक है कि उसे कुछ पृष्ठों में बाँधना अत्यन्त दुरूह कार्य है।

29.9 शब्दावली

व्यक्ति विशेष अध्ययनः– किसी मामले या विषय की गहराई से जाँच करना। यह एक अनुसंधान उपगम होती है, जिसमें एकल मामले का गहराई से अध्ययन किया जाता है।

व्यक्तिगत परिपक्व दृष्टिकोणः– यदि एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से व्यक्तिगत निर्णय में समान है तो वह सामान्य है और वह अपने कार्यों या चिन्तनों मे अन्य व्यक्तियों की तुलना में बहुत अधिक अन्तर रखता है तो वह असमान्य है।

व्याधिकीय दृष्टिकोणः– इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत मानसिक या शारीरिक रूप से अस्वस्थ्य व्यक्ति के व्यवहार को रख जाता है क्योंकि सामान्यतः यह मान्यता है कि अस्वस्थ्य व्यक्ति का व्यवहार अन्य से भिन्न होता है।

अन्तर्द्वन्द्वः– जब दो या अधिक परस्पर विरोधी प्रकृति की इच्छाएँ या आवश्यकताएँ उत्पन्न हो तथा एक दूसरे की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करती हों तो ऐसी अवस्था "अन्तर्द्वन्द की अवस्था" कही जाती हैं।

वाह्य मनोदैहिक विकृतिः– व्यक्ति के शरीर में वाह्य रूप को देखकर विकृति को स्पष्ट अभिज्ञान करना।

आन्तरिक मनोदैहिक विकृतिः– खुली आँखों से नहीं देखा जाने वाली मनोदैहिक विकास

29.10 संदर्भ व सहायक पुस्तके

1. Cameron N. **"Personality Development and Psychopathology"**, (Miffilln) 1953.
2. Coleman J.C. "**Abnormal Psychology and Modren Life**," (III[rd] ed.) D.B. (Taraporerala 1972 sons & co. Pvt. Ltd Bombey.
3. Kisker G.W. **"The Disorganined Personality"**, McGraw Hill Co., New Yark, 1972.
4. Stein J. **"Neurosisin Contemporary Society"**, (Belmont),1970
5. Strenger J. R. **"Abnormal Psycology"**, Tata McGraw Hill, TMH Cohtion, 1965.
6. Kaplan; H. I. and Sadock, B. J. (1995)- "Comprehensive text **"Book of Psychiatry"**, vol. I and II willioms & Wilkins: Baltimore, Maryland, USA
7. Tripathi- Jaigopal (1982), **"Asamanya Manovigyan- Mansik Rog: Karan Avam Upchar"**, Harparsad Bhargav, Agra, U.P.
8. लाभ सिंह एवं गोविन्द तिवारी, **"असमान्य मनोविज्ञान"**, पंचम संस्करण– 1978, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, उ.प्र.।

29.11 बोधगम्य प्रश्न

1. मनोदैहिक विकार से आप क्या समझते है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
2. मनोदैहिक विकार के स्वरूपों एवं लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।
3. मनोदैहिक विकारों के कारकों की विवेचना कीजिए।
4. आंगिक मनोविकृति एवं मनोदैहिक विकृति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. मनोदैहिक विकृतियों के उपचार को समझाकर लिखिए।

इकाई 30 मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व एवँ चरित्र विकृतियाँ

इकाई की रुपरेखा

30.0 उद्देश्य

30.1 प्रस्तावना

30.2 व्यक्तित्व

30.2.1 व्यक्तित्व का शाब्दिक विश्लेषण

30.2.2 व्यक्तित्व के घटक

30.2.3 व्यक्तित्व की विशेषतायें

30.3 मनोविकृत व्यक्तित्व

30.3.1 मनोविकृत व्यक्तित्व के लक्षण

30.3.2 मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व का वर्गीकरण

30.3.3 मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व के कारण एवँ उपचार

30.4 चरित्र विकृतियाँ

30.4.1 चरित्र

30.4.2 चरित्र विकृतियाँ

30.4.3 चरित्र विकृति का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त

30.5 सारांश

30.6 शब्दावली

30.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

30.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य मानव व्यवहार एवँ मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व के साथ साथ चरित्र विकृतियों पर चर्चा की गई है। मानव के व्यक्तित्व का निर्माण उसके व्यक्तित्व तथा चरित्र से निर्मित होता है। जब यह व्यवहार सकारात्मक होता है तो यह समाजोपयोगी सिद्ध होता है तथा जब यह व्यवहार नकारात्मक होता है तो यह समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। प्रस्तुत इकाई में इन्हीं बिन्दुओं पर चर्चा की गई है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- व्यक्तित्व क्या है, इसके प्रमुख घटक कौन–कौन से हैं, पर चर्चा कर सकेंगें।
- व्यक्तित्व प्रतिरुप विक्षोभ तथा मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व का आंकलन करने में समर्थ हो सकेंगें।
- चरित्र तथा चरित्र विकृतियों के विषय में अवगत हो सकते हैं।
- सामाजिक नैतिक मूल्यों को परिभाषित कर सकते हैं।

30.1 प्रस्तावना

मानव प्रकृति को समझने और उसके व्यवहार को नियन्त्रित करने की समस्या का इतिहास बहुत पुराना है। आदिम युग में मानव का ज्ञान सीमित था। इस युग में लोगों का विश्वास था कि मनुष्य के शरीर में जब प्रेतात्माएं प्रवेश करती हैं, तो वह रोगी हो जाता है। शुभ और अशुभ दो प्रकार की प्रेतात्माएं हो सकती हैं, जिन्हें पवित्र और अपवित्र प्रेतात्माएं भी कहा जाता था, उनके कारण व्यक्ति रोगी होता था।

आम धारणा थी कि देवता जब किसी व्यक्ति से नाराज या रूष्ट हो जाते हैं, तो वे अशुभ या अपवित्र प्रेतात्मा भेजते हैं और जब वे किसी व्यक्ति से प्रसन्न या खुश होते हैं, तो शुभ या पवित्र आत्मा भेजते हैं। जब मनुष्य के शरीर में अशुभ प्रेतात्मा का प्रवेश होता है, तो वह रोगी हो जाता है। यह प्रेतात्मा रोगी और उसके आस–पास निवास करने वाले लोगों दोनो के लिए ही हानिकारक होती है।

वस्तुतः इस प्रकार की स्थितियाँ अन्धविश्वास मात्र ही होती हैं। जब व्यक्ति का शरीर रोगग्रस्त होता हैं तो वह शारीरिक रूप से रोगी कहलाता है, जब वह मानसिक रूप से विकारों से ग्रस्त हो जाता है तो वह मनोरोगी हो जाता है।

मानव की इस अवस्था का मनोविज्ञानियों द्वारा अध्ययन किया गया और उनके द्वारा प्राणी की चेतन क्रियाओं के साथ–साथ मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं और व्यवहार का भी अध्ययन किया जाने लगा। मानव व्यवहार के अध्ययन की इस प्रकार की प्रक्रिया में समायोजन, अनुक्रियाओं, अभिव्यक्तियों, प्रतिक्रियाओं, मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व एवँ चरित्र विकृतियाँ आदि प्रमुख हैं। व्यवहार की अवस्था में उत्पन्न अनुभवों की चेतना का भी अध्ययन किया जाता है।

वर्तमान समय का मनुष्य दिन–प्रतिदिन, क्षण–प्रतिक्षण भौतिकवादी होता जा रहा है। फलस्वरुप व्यक्ति का वातावरण भी अभौतिक से भौतिक हो रहा है। वातावरण में आए परिवर्तन के परिणामस्वरुप व्यक्ति के व्यक्तित्व में अनेकों परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। व्यक्ति के मानसिक व्यवहार में भी भांति–भांति के परिवर्तन होते रहते हैं।

भौतिक वातावरण में निवास करने के कारण व्यक्ति दुःख, चिन्ता, निराशा, उद्विग्नता, अवसाद आदि स्थितियों का शिकार रहता है। कभी– कभी वह आत्महन्ता भी हो जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की इन परेशानियों को मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व में शामिल किया जाता है।

30.2 व्यक्तित्व

व्यक्तित्व जिसे अग्रेंजी में पॅःसन्ल्टि या पर्सनाल्टी (Personality) कहते हैं, वह लैटिन भाषा के परसोना (Persona) शब्द से बना है। परसोना का अर्थ होता है, मुखौटा या मास्क (Mask), जिसे व्यक्ति अपने चेहरे पर धारण करता है, ताकि लोग उसे पहचान न सके।

व्यक्तित्व पद आमतौर पर काफी प्रचलित है। इसके साथ ही साथ यह अत्यन्त लोकप्रिय भी है। एक सामान्य व्यक्ति के लिए व्यक्तित्व मूल्य निर्णय (Value Judgement) पर आधारित है। यदि कोई व्यक्ति किसी को पसन्द करता है तो इसका कारण उसका उत्तम व्यक्तित्व है। इस प्रकार व्यक्तित्व पद द्वारा दूसरे व्यक्ति की विशेषता का उल्लेख किया जा सकता है। सामाजिक कौशल, निपुणता, होशियारी, चतुराई या दक्षता के माध्यम से भी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्याँकन किया जाता है। समाज में प्रभाव ड़ालकर दूसरों की अधिक विधेयात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त कर लेना उत्तम व्यक्तित्व का प्रमाण होता है। यही कारण है कि अमेरिका, ब्रिटेन जैसे पाश्चात्य देशों में "व्यक्तित्व प्रशिक्षण" की व्यवस्था की जाती है।

30.2.1 व्यक्तित्व का शाब्दिक विश्लेषण

व्यक्तित्व शब्द का शाब्दिक विश्लेषण निम्न प्रकार है–

P - Psychological Traits (मनोवैज्ञानिक गुण)

E - External Adjustment (बाहय समायोजन)

R - Role Performance (भूमिका निष्पादन)

S - Social Traits (सामाजिक गुण)

O - Organizational Ability (सांगठनिक गुण)

N - Narration. (विचारों को स्पष्ट करना)

A - Appearance (शारीरिक विशेषतायें)

L - Learning Ability (सीखने की योग्यता)

I - Interaction (बुद्धि)

T - Thinking (सोचने की क्षमता)

Y - Yielding (रचनात्मकता, उत्पादकता)

30.2.2 व्यक्तित्व के घटक

मानव व्यक्तित्व में निम्न चार घटक हैं–

1. शारीरिक

ये व्यक्ति के शारीरिक विशिष्ट लक्षण हैं, जैसे, ऊँचाई, वजन, वर्ण, मुखाकृति, शारीरिक स्वास्थ्य आदि। सामान्य व्यक्ति के लिए अच्छे व्यक्तित्व का अर्थ है– प्रभावशाली, सुड़ौल और स्वस्थ शरीर।

2. भावनात्मक

व्यक्ति के मनोभाव भी उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। मनोभाव हमारी अनुभूतियां हैं– भय, क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या, अपराध, चिन्तायें। ये अनुभूतियाँ व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं।

3. बुद्धि

व्यक्तित्व में बौद्धिक क्षमता भी सम्मिलित होती है। बुद्धिमान व्यक्ति का व्यक्तित्व सशक्त होगा। अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति को "मंदमति" कहा जाता है।

4. व्यवहार

व्यवहार, व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। यह कुछ अंश तक हमारी अनुभूतियों औरा कुछ अंश तक समाज की अपेक्षाओं पर निर्भर है। व्यवहार के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले अनेक शब्द हैं, जैसे– सज्जन, स्नेही, संतुलित, आज्ञाकारी और झगडालू। जब हम व्यक्तित्व का आंकलन करते हैं, तब इन घटकों पर विचार किया जाना चाहिए।

समाज के अन्य व्यक्तियों पर या अपने मिलने– जुलने वालों पर व्यक्ति कैसा प्रभाव छोड़ता है, यह भी व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। प्रेक्षक किसी व्यक्ति की कुछ विशेषताओं के आधार पर उसके व्यक्तित्व का नामकरण करता है। यथा आक्रामक व्यक्तित्व, भयानक व्यक्तित्व, विनम्र व्यक्तित्व, मद्दगार व्यक्तित्व आदि। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति के अच्छे या बुरे होने के विषय में लोगों द्वारा राय कायम की जाती है। धीरे– धीरे प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे असामान्य प्राणी होते हैं, जिन्हें न तो मनःस्नायुविकृत और न ही मनोविकृति की श्रेणी में रखा जा सकता, है। परन्तु समायोजन की दृष्टि से इस प्रकार के व्यक्तियों को सामान्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों को सामजिक समयोजन अफसल होता है तथा ये व्यक्ति समाज में रहने के योग्य भी नहीं होते। मनोविकृति व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का व्यवहार आतँकपूर्ण एवं विध्वंसात्मक होता है। बौद्धिक दृष्टि से इस प्रकार के व्यक्ति औसत बुद्धि

के होते हैं। परन्तु इतना होते हुए भी ये लोग न तो अपने अनुभवों से लाभ उठा पाते है और न ही अपने व्यवहार को परिमार्जित कर पाते हैं।

प्रिचार्ड के मतानुसार, "इस प्रकार के व्यक्तियों में, मन के नैतिक एवं सक्रिय सिद्धान्त अत्यन्त विकृति या निम्नकोटि के हो जाते हैं, आत्म सम्मान की शक्ति नष्ट हो जाती है या समाप्त हो जाती है तथा व्यक्ति प्रस्तुत विषय पर बड़ी चालाकी व वाचालता के साथ बातचीत या तर्क तो कर लेते हैं, लेकिन अपने क्षेत्र में औचित्यपूर्ण ढंग से कार्य करने में अयोग्य होते हैं।

लेन्डिस व बॉल्स के मतानुसार, "मनोविकास व्यक्तित्व वह श्रेणी है जिसमें दुःखदायी एवं विध्वंसात्मक व्यवहार वाले व्यक्ति रहते है लेकिन ऐसे व्यक्ति को मनःस्नायुविकृति, मनोविकृति या मानसिक गड़बडी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

30.2.3 व्यक्तित्व की विशेषतायें

व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं–

1. यह व्यवहार को निश्चित करता है।
2. रुचियाँ व्यक्तित्व की अंग हैं।
3. दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है।
4. क्षमतायें व्यक्ति की अर्जित शक्तियाँ हैं, जो व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं।
5. समायोजनात्मक शक्ति व्यक्ति की व्यक्तित्व की देन है।
6. मनोवृत्तियाँ महत्वपूर्ण होती हैं।
7. विचारों की विभिन्नता व्यक्तित्व पर निर्भर होती है।
8. व्यक्तित्व पर मूल्यों का प्रभाव पड़ता है। इससे आदतें नियन्त्रित होती हैं।
9. व्यक्तित्व द्वारा परिवर्तनशील वातावरण के साथ व्यक्ति का अनुकूलन प्रगट होता है।
10. शरीर की रचना तथा मानसिक विशेषतायें व्यक्तित्व में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।
11. व्यक्तित्व विशेष से स्थायी गुणों की ओर संकेत करता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी

i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ii) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) व्यक्तित्व क्या है?

.....

.....

.....

2) व्यक्तित्व के घटक कौन– कौन से हैं?

.....

.....

.....

30.3 मनोविकृत व्यक्तित्व

रौन्ट्री, मैकगिल व एडवर्डस के मतानुसार पुरुष जनसंख्या में केवल एक प्रतिशत पुरुष ही मनोविकारी व्यक्तित्व वाले होते हैं। इन्हीं के अनुसार स्त्रियों में इस प्रकार के व्यक्तित्व वालों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम होती है। मानसिक अस्पतालों में प्रवेश करने वाले रोगियों में से 2% तथा जेलों में आने वाले अपराधियों में से 15 से 20 प्रतिशत व्यक्ति मनोविकारी व्यक्तित्व वाले होते हैं। अमेरीका के सार्वजनिक मानसिक चिकित्सालयों में प्रथम प्रवेश करने वाले रोगियों में से 16.6% रोगी व्यक्तित्व विकृतियों से ग्रस्त होते हैं।

30.3.1 मनोविकृत व्यक्तित्व के लक्षण

बहुत से सिद्धान्तों ने विभिन्न प्रकार के लक्षणों का उल्लेख किया है, जैसे– **हेण्डरसन व जिलेस्पी** के मतानुसार, मनोविकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्ति में बचपन या युवावस्था से संवेगात्मक प्रतिक्रयाओं एवं सामान्य व्यवहारों में असामान्यता विद्यमान होती है। **हेनरी** के अनुसार, इस प्रकार के व्यक्तियों में मूलप्रवृत्यात्मक व संवेगात्मक न्यूनता पायी जाती है।

मुन्सी, पार्टिज, अलेक्जेण्डर आदि विद्वानों के मतानुसार मनोविकास व्यक्तित्व वाले व्यक्ति वर्तमान आवेगात्मक इच्छाओं को ठीक प्रकार से नियत्रंण नहीं कर पाते जिसके परिणाम वे प्रायः सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन किया करते हैं। इसके प्रमुख लक्षणों के कारण निम्न प्रकार हैं–

1. **संवेगात्मक व्यक्तिक्रम–** व्यक्तियों में विविध प्रकार के संवेगात्मक व्यक्तिक्रम पाए जाते हैं। वैसे इस प्रकार के व्यक्तियों में बुद्धि की कमी नहीं होती फिर भी ये लोग अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं कर पाते। इनमें विविध प्रकार के संवेग असन्तुलित रुप में पाए जाते हैं, जैसे–एक ही व्यक्ति के प्रति दो विरोधी संवेगों (प्रेम व घृणा) का होना या एक ही समय में प्रसन्नता व दुःख का अनुभव होना। ये छोटी से छोटी घटनाओं पर अत्यधिक क्रोधित हो जाते हैं। कभी–कभी ये व्यक्ति संवेगात्मक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होते हैं।

2. **समाज विरोधी व्यवहार–** ऐसे दृष्टिकोण से इस प्रकार के व्यक्तियों का व्यवहार समाज विरोधी होता है। सामाजिक विसन्तुलन का प्रारम्भ प्रायः शैशवावस्था से होता है। मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति प्रायः अन्य व्यक्यिों को परेशान करना चाहते हैं तथा सामाजिक नियमों आदि का खुला उल्लंघन करते हैं, जिससे अन्य व्यक्तियों को अशान्ति व व्यर्थ की परेशानियों का सामना करना पड़ता है। ये व्यक्ति दूसरों की किसी प्रकार की सहायता नहीं कर पाते तथा अगर व्यक्ति इनकी सहायता भी करना चाहें तो ये उनकी निन्दा करते हैं और मारपीट पर उतर आते हैं।

3. **आत्मप्रेरित साधन**– इस प्रकार के व्यक्तियों का मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थ सिद्ध करना एवं क्षणिक सुख प्राप्त करना होता है। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ये लोग कोई भी गैर कानूनी तरीकों का उपयोग कर सकते हैं तथा किसी भी पारिवारिक सदस्य या मित्र को हानि पहुँच सकते हैं।

4. **अस्थिरता–** इस प्रकार के व्यक्तियों की क्रियाएँ, रुचियाँ स्थिर प्रकषति की नहीं होती। इनकी योजनाएँ अस्थिर होती रहती हैं तथा किसी कार्य को मन से नही करते। इनकी महत्वकाक्षाएँ परिवर्तित होती हैं। वे सदैव अपने व्यवसायों में परिवर्तन करते रहते हैं। इनकी महत्वकाक्षाएँ परिवर्तित होती रहती हैं। वे सदैव अपने व्यवसायों में परिवर्तन करते रहतें हैं। ये न तो स्थायी रुप से एक स्थान पर निवास ही करते हैं और न ही इनके स्थायी साथी या दास्त ही रहते हैं। इनके जीवन में स्थायित्व की कमी पायी जाती है।

5. **बहु व्यक्तित्व–** मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों की मुख्य विशेषता यह होती है कि इन लोगों में विविध प्रकार के व्यक्तित्व पाए जाते हैं तथा उनमें किसी प्रकार की समानता दषष्टिगोचर नहीं होती। एक समय में जहाँ एक व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताएँ प्रकट होती हैं, वहाँ दूसरे समय उनके विरोधी गुणों से मुक्त विशेषताएँ प्रकट होती हैं। उदाहरण स्वरुप वे कभी दूसरों पर विश्वास करते हैं, तार्किक व विवेकपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं तथा साहस व धैर्य के साथ कार्य करते हैं। परन्तु कभी–कभी वे झगड़ालू व आक्रामक प्रवृत्ति के हो जाते हैं, अन्तर्मुखी

होकर एकान्त में रहते हैं, घोर बेईमानी पर उतर आते हैं।

6. **आत्म केन्द्रित–** इस प्रकार के व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों में आत्म केन्द्रिता का लक्षण पाया जाता है जिसके कारण ये व्यक्ति स्वार्थी होते हैं तथा अन्य व्यक्तियों के सम्मान आदि की परवाह नहीं करते। वे अपनी छोटी–छोटी इच्छाओं की तृप्ति के लिए किसी भी घनिष्ठ मित्र को धोखा दे सकते हैं। उन्हें केवल अपना ही ख्याल रहता हैं तथा उनमें सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव रहता है। ये व्यक्ति अवसरवादी होते हैं।

7. **लैंगिक व्यक्तिक्रम–** इस प्रकार के व्यक्तियों में लैगिक व्यतिक्रम का लक्षण विद्यमान होता है। इस प्रकार के व्यक्तियों का लैगिक विकास असमान्य रुप से होता है जिसके कारण इनमें विभिन्न प्रकार की लैंगिक विकृतियाँ पायी जाती है। ये लोग व्यक्तिक्रमों से घबराते नहीं। इनका वैवाहिक जीवन अस्थिर होता है तथा ये इस प्रकार की विकृतियों को सामान्य ही समझते हैं।

8. **अर्न्तदृष्टि का अभाव**– मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों में अर्न्तदृष्टि का अभाव पाया जाता है जिसके कारण वे परिस्थिति को पूर्ण रुप से समझ नहीं पाते तथा कार्यों में निर्णय अर्न्तदृष्टि का अभाव रहता है। अर्न्तदृष्टि के अभाव के साथ ही साथ इस प्रकार के व्यक्ति अपने अनुभवों से भी लाभ नहीं उठा पाते तथा साधारण से साधारण कार्यों को ठीक प्रकार से नहीं कर पाते।

30.3.2 मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व का वर्गीकरण

नैदानिक दृष्टिकोण के मनोविकृत व्यक्तित्व का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। लेकिन सन् 1939 में हेण्डरसन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण अधिक प्रचलन में हैं। हेण्डरसन ने चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर सभी प्रकार के मनोविकृत व्यक्तित्वों को तीन भागों में विभाजित किया है।

1. प्रमुखतः आक्रामक
2. प्रमुखतः अपर्याप्त या निष्क्रिय
3. प्रमुखतः रचनात्मक्

(1) प्रमुखतः आक्रामक

ऐसे मनोविकृत व्यक्तित्व वाले व्यक्ति की मुख्य विशेषता यह होती है कि वह दूसरों के प्रति आक्रामक भाव रखता है। वह प्रायः दुखदायी प्रकार का व्यक्तित्व होता है। इनमें आक्रामक भाव स्थायी रुप से न होकर समय–समय पर थोड़ी या अधिक अवधि के लिए होता है। इस प्रकार के व्यक्ति साधारण बात पर झगड़ा करते हैं तथा इनमें सहानुभूति, स्थायी भाव, दया, भक्ति आदि की कमी होती हैं। जब ये आक्रामक आवेग में होते हैं तब इनमें आत्महत्या, हत्या, मद्य व मादक द्रव्यों के सेवन, काम विकृति

आदि के लक्षण पाए जाते हैं। इनमें आक्रामक आवेग अचानक ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार की अवस्था में रोगी की चेतना व स्मृति धूमिल हो जाती है तथा पश्चाताप आदि भावों का अभाव शुरु हो जाता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रकार के व्यक्ति पागल अपराधियों की अपेक्षा अधिक खतरनाक होते हैं। इस प्रकार के लोगों को स्वतंत्र नहीं रखना चाहिए क्योंकि पता नहीं कब इन्हें दौरा पड़ जाये तथा उस स्थिति में क्या कर बैठे।

(2) प्रमुखतः अपर्याप्त या निष्क्रिय

मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों के लक्षण, विस्तार या तीव्रता उपर्युक्त प्रकार के तो नहीं होते परन्तु अत्यधिक व्यापक होने के कारण इन व्यक्तियों को पुनः समायोजन की सम्भावना अपेक्षाकृत कम होती है। इसके दो मुख्य प्रकार हैं–

1. छोटे–छोटे अपराध करने वाले, तथा
2. ऐसे लोग, जिनमें लक्षण तीव्र रुप से पाये जाते हैं।

इन दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों में कुछ न कुछ चारित्रिक दोष सदैव विद्यमान रहते हैं जिनसे प्रेरित होकर ये सम्बन्धित अपराध करते रहते है।

इस वर्ग के मुख्य उप प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. **उत्केन्द्र**– उत्केन्द्र प्रकार के व्यक्ति शक्की व अस्थिर प्रकृति के होते हैं। इनके मानसिक जीवन में आन्तरिक एकरुपता का अभाव पाया जाता है तथा इनका रागात्मक जीवन भी अस्तव्यस्त रहता है। आन्तरिक जीवन अव्यवस्थित होने के कारण इनका स्वभाव जिद्दी होता है जिसे अन्य लोग उसके चिन्तन, वेशभूषा, वाणी, प्रेरणा आदि में स्पष्टतः देख सकते हैं। ये कब, क्या कर बैठें या किस विषय पर क्या विचार प्रकट करें, कुछ नहीं कहा जा सकता। उत्क्रेन्द्र व्यक्ति के चरित्र की दुर्बलता विभिन्न प्रकार की चिन्ता व विशाद, प्रेरणा या उन्मादी प्रवत्तियों के द्वारा अभिव्यक्त होती है। इनमें यौन विचित्रता भी दिखाई पड़ती है।

2. **झगड़ालू प्रवृत्ति वाले**– इस प्रकार के व्यक्ति साधारण से साधारण बात पर झगड़ा करते हैं। इनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन व उद्दण्डता भी दृष्टिगोचर होती है। ये केवल झगड़ा ही नहीं करते बल्कि मुकद्मेबाजी तक कर बैठते है। यदि इन्हें मुकद्मों से भी सफलता नहीं मिलती तो ये गवाहों का परेशान करते हैं या विश्वासघात का आक्षेप लगाते हैं।

3. **ठगी की विकृत आदत**– इस प्रकार के व्यक्तियों में ठगी की विकृत आदत भी पायी जाती है। वह काल्पनिक झूठों को ठगी के माध्यम से वास्तविकता में परिणित करता है। वह केवल यही नहीं कहता है कि वह बड़ा आदमी अमुक स्थान का राजा

है बल्कि वह यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि वास्तव में वह राजा है या बहुत बड़ा आदमी है।

4. **विकृत मिथ्याभाषी–** इस प्रकार के व्यक्ति बिना किसी कारण व प्रत्यक्ष आवश्यकता के झूठ बोलते हैं। इस प्रकार का मिथ्याभाषी व्यक्ति न तो किसी मानसिक रोग से और न ही किसी शारीरिक रोग से ग्रस्त होता है, इन्हें न तो झूठ बोलने से कोई फायदा होता है और न ही इनके किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है, परन्तु फिर भी ये व्यक्ति झूठ बोलते हैं। वास्तव में ये लोग झूठ बोलने की आदत पर नियंत्रण नहीं रख पाते। केवल झूठ बोलने से इन्हें आत्म सन्तोष प्राप्त होता है।

5. **चौर्यान्माद या अपहरण–बाध्यता–** इस प्रकार के मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति की मुख्य विशेषता यह होती है कि ये लोग अनायास ही चोरी करने लगते हैं। इनमें चोरी करने की प्रवृत्ति की प्रधानता होती है। ये प्रत्यक्ष लाभ या किसी इच्छापूर्ति के लिए चोरी नहीं करते बल्कि अनायास ही करते हैं। इन्हें इस बात की भी परवाह नहीं होती कि चोरी करते समय कोई देख रहा है या नहीं। कभी–कभी ये लोग चोरी के सामान को उसके मालिक को लौटा भी देते हैं।

6. **ज्ञानहीन अपराधी** – इस प्रकार के अपराधी सामान्य अपराधियों की भाँति हत्या, लूट, चोरी आदि अपराध तो करते हैं परन्तु इन्हें इस प्रकार के समाज विरोधी या गैर कानूनी व्यवहार का ज्ञान नहीं होता है। प्रायः वह जब आवेगपूर्ण स्थिति में होता है तब ही अपराध कर बैठता है। इस प्रकार के व्यक्ति को अपनी इस कमजोरी का ज्ञान तो होता है, परन्तु वह उन पर नियंत्रण नहीं कर पाता।

7. **नैतिक रुप से दोषी**– इस प्रकार के व्यक्तियों में मानसिक दुर्बलता पायी जाती है जिसके फलस्वरुप इन्हें नैतिक व अनैतिक विचारों में कोई अन्तर का ज्ञान नहीं होता है। ये किसी कार्य के गुण या अवगुण को समझ नहीं पाते तथा अपने अनुभवों से लाभ उठाने में असमर्थ होते हैं।

(3) प्रमुखतः रचनात्मक

हेण्डरसन ने मनोविकारी व्यक्तित्व के इस वर्ग में उन व्यक्तियों को रखा है, जो प्रतिभावान हैं। इस प्रकार के व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए किसी भी विघ्न–बाधाओं से नहीं घबराते बल्कि इनका दृढ़तापूर्वक सामना करते हैं। इन अभीष्टों व निश्चयों के पीछे यह भावना निहित रहती है कि वे जो कुछ कर रहे या सोच रहे हैं, वह पूर्णतः ठीक है।

30.3.3 मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व के कारण एवँ उपचार

विभिन्न मनोंवैज्ञानिकों ने मनोविकृत व्यक्तित्व के कारण के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं, परन्तु इन विचारों में समानता नहीं है। संक्षेप में इसके मुख्य कारण निम्न

हैं–

इडिपस एवं अन्य ग्रन्थियाँ–

मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार, मनोविकारी व्यक्तित्व का मुख्य कारण इडिपस भावना ग्रन्थि है।

फ्रायड के अनुसार, बालक माँ से प्रेम करता है तथा लड़की पिता से प्यार करती है। अगर इस प्रवृत्ति में बाधा उपस्थित हो जावे तो इस भावना का विकृत विकास हो जाता है तथा व्यक्ति में मनोविकारी व्यक्तित्व के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

कुछ मनोविश्लेषणवादी मानसिक अन्तर्द्वन्द व तनाव को भी इसका कारण मानते हैं।

1. **केन्द्रीय स्नायु मण्डल की विकृति–** कुछ विद्वानों का मत है कि इसका कारण स्नायुमण्डल का विकृत विकास है। इस दिशा में सिलवरमैन ने 75 ऐसे मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों का अध्ययन किया जिनमें आक्रामक या अत्यधिक स्वार्थी या हीनता आदि भावों की प्रधानता थी। इन सभी व्यक्तियों में या तो मस्तिष्क क्रिया विकृत थी या प्रारम्भिक आन्तरिक व पारिवारिक जीवन असन्तुष्ट था या दोनों तत्व विद्यमान थे।

साइमन व डीथेंम ने भी अपने अध्ययन परिणामों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की। परन्तु **ब्रिल व वाकर** ने अपने अध्ययनों में यह देखा कि गम्भीर व्यवहार सम्बन्धी विकृति वाले बालकों में उच्चारण दोष व आक्रामक, आवेगशील व असामाजिक व्यवहार करने वाले बालकों में अपस्मार के समान मस्तिक–त्वक्षीय विद्युत क्रिया के लक्षण थे।

2. **पर्यावरण एवं सामाजिक परिस्थितियाँ–** कुछ विद्वानों ने मनोविकारी व्यक्तित्व का कारण पर्यावरण को माना है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि व्यक्ति ऐसे पर्यावरण में निवास करता है, जहाँ अपराधी प्रवृत्ति के लोग रहते है जिसके फलस्वरुप मनोविकृत व्यक्तित्व के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इन लोगों का यह भी कहना है कि अगर पर्यावरण में उचित परिवर्तन किया जावे तो मनोविकारी व्यक्तित्व का उपचार संभव है।

3. **वंशानुक्रम–** कुछ विद्वानों का मत है कि मनोविकृत व्यक्तित्व का कारण वंशानुगत दोष है। इनके अनुसार व्यक्तित्व के निर्माण में वंश परम्परा, बुद्धि, ग्रन्थियाँ, जैविक, रासायनिक रचना आदि तत्वों पर आधारित होती है। अगर वंशानुक्रम ही दूषित है तो इस प्रकार के व्यक्तियों का सुधार करना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि मनोविकार व्यक्तित्व वाले लोगों को शिक्षा आदि से सुधारा नहीं जा

सकता। कुछ लोग इस तथ्य को कहकर अस्वीकार कर देते है कि अनेक मनोविकारी व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों की संतानें इस दोष से मुक्त होती हैं।

4. **अवैध जन्म–** कुछ विद्वानों ने मनोविकारी व्यक्तित्व का कारण अवैध जन्म या अवैध गर्भपात माना है। इस सम्बन्ध में हैण्डसन गिलिस्पी ने 34 अवैध सन्तानी माताओं का अध्ययन किया तथा यह कहा कि 50% मनोविकृति व्यक्तित्व वाले इसमें थे। बिण्डर ने 350 अवैध रुप से गर्भित महिलाओं का अध्ययन किया तथा इसके आधार पर बताया कि इनमें से 50% मनोविकृत व्यक्तित्व वाली थी केवल 33% ही सामान्य थी।

5. **मस्तिष्क रोग–** कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों से भी मनोविकारी व्यक्तित्व का जन्म हो जाता है। इस तथ्य की पुष्टि हिल एवं वाटरसन ने की। इन्होंने अपने अध्ययन में यह देखा कि मस्तिष्क रोग ही मनोविकारी व्यक्तित्व का कारण होता है। इस कथन की पुष्टि साइमन्स डीथेल्म ने भी अपने अध्ययन के आधार पर की।

6. **मनोवैज्ञानिक कारण–** कुछ विद्वानों ने मनोविकारी व्यक्तित्व के कारणों की व्याख्या मानसिक कारणों के आधार पर की है। इस मत के विचारकों के मतानुसार, मनोविकार व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन में असन्तुलन, मानसिक अन्तर्द्वन्द, अतृप्त इच्छा, असुरक्षा के भाव तथा अन्य ग्रन्थियों की प्रधानता दिखाई देती है, जो बाद में मनोविकारी व्यक्तित्व के लक्षणों में परिवर्तित हो जाती है। इन मनोवैज्ञानिक कारणों का पूर्णतः खंडन नही किया जा सकता है।

मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व का उपचार

सामाजिक दृष्टिकोण से मनोविकृत व्यक्तित्व वाला व्यक्ति सामान्य अपराधियों से भी अधिक खतरनाक होता है, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों को सामाजिक, नैतिक, कानूनी आदि नियमों की कोई परवाह नहीं होती। अतः इस प्रकार के व्यक्तियों की चिकित्सा व्यवस्था करना अति आवश्यक हो जाता है। परन्तु दुःख इस बात का है कि इस प्रकार के व्यक्तियों का सफल उपचार अभी तक संभव नहीं हुआ है। इसका मुख्य एवं प्रथम करण तो यह है कि इस प्रकार के व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की भाँति ही जीवन व्यतीत करते है। शैक्षणिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी ये व्यक्ति औसत या उच्च श्रेणी के होते हैं। परन्तु अगर इन व्यक्तियों से पूर्ण सतर्क रहा जाये तो इनकी पहचान संभव है। आक्रामक प्रवृत्ति वाले मनोविकृत व्यक्तियों का उपचार मस्तिष्कीय शल्य चिकित्सा द्वारा भी संभव है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी

i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ii) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) मनोविकृत व्यक्तित्व के लक्षण लिखिए?

.....

.....

.....

2) मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व का वर्गीकरण कीजिएं?

.....

.....

.....

3) मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व के कौन– कौन से कारण हैं?

.....

.....

.....

30.4 चरित्र–विकृतियाँ

बालक जिस वातावरण में रहता है, उसके चारों ओर अनेक व्यक्ति होते हैं। सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार, व्यवहार करना सीखना एक मन्द और लम्बी प्रक्रिया है। परन्तु बालक के लिए यह आवश्यक होता है कि विद्यालय जाने से पहले बालक उचित– अनुचित में भेद करना सीख ले। परिवारजन और अध्यापक उसे नैतिक मूल्यों के विषय में अवगत कराते हैं, यही नैतिक मूल्य उसके चरित्र का निर्माण करते हैं।

30.4.1 चरित्र

बालक को समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक नैतिक मूल्यों यथा उचित– अनुचित की भावना, आज्ञा पालन, सत्य– असत्य का ज्ञान, ईमानदारी, सत्यवादिता, भक्ति, दया, निष्पक्षता, आत्म– नियन्त्रण, विश्वसनीयता, उत्तरदायित्व की भावना आदि की सीख दी जाती है।

बालक के इन्हीं सामाजिक नैतिक मूल्यों के योग को चरित्र कहते हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष है।

बैंजामिन के अनुसार– चरित्र उन सब प्रवृत्तियों का योग है, जो व्यक्ति में होती हैं।

कारमाइकेल के अनुसार– चरित्र एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। यह व्यक्ति की अभिवृत्तियों और बाह्य व्यवहार तरीकों का पूर्ण योग है।

जेम्स ड्रेवर के अनुसार– मनोवैज्ञानिक रुप से चरित्र आदतों, स्थायी भावों और आदर्शों का वह समन्वय है, जिसकी सहायता से व्यक्ति की क्रियाऐं स्थायी और भविष्य कथन योग्य बनती हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि चरित्र व्यक्ति के अनेक गुणों का गत्यात्मक योग है। यह गुण व्यक्ति के आदर्शों, बाह्य व्यवहार और अभिवृत्तियों आदि से सम्बन्धित होते हैं। चरित्र पर ही बालक का नैतिक व्यवहार निर्भर होता है।

30.4.2 · चरित्र विकृतियाँ

चरित्र विकृतियों को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्तित्व के विषय में भी जानना आवश्यक होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से शेरमैन व आलपोर्ट की परिभाषा व्यक्तित्व को समझने के लिए अधिक उचित प्रतीत होती है।

शेरमैन के शब्दों में, "व्यक्तित्व, व्यक्ति का विशिष्ट व्यवहार है।"

गॉर्डन आलपोर्ट के शब्दों में, "व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनोदैहिक गुणों का गत्यात्मक संगठन है, जो पर्यावरण के प्रति होने वाले उसके अपूर्व अभियोजनों का निर्माण करते है।"

यह परिभाषा व्यक्तित्व को मनोदैहिक गुणों का संगठन मानती है, जिसमें बाह्य रुप, रंग एवं आन्तरिक गुण दोनों आते हैं।

संक्षेप में, व्यक्तित्व मनोदैहिक गुणों का गतिक संगठन होता है जिससे व्यक्ति पर्यावरण के प्रति विशिष्ट समायोजन कर पाता है।

चरित्र स्थायी भावों की एक व्यवस्था या संगठन है, जिस पर एक प्रधान स्थायी भाव शासन करता है।

स्किनर के अनुसार, "किसी का चरित्र, जैसा कि शब्द के इतिहास द्वारा परिभाषित किया गया है, वह सब कुछ होता है जो एक पुरुष या स्त्री को अनुपम एवं प्रत्येक अन्य से भिन्न बनाया है।

चरित्र एवं व्यक्तित्व में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि व्यक्तित्व से वैयक्तिता निश्चित होती है तथा उसका प्रकाशन चरित्र के माध्यम से होता है। अगर एक व्यक्ति का व्यक्तित्व संतुलित व संगठित होगा तो उसका चरित्र सुसंगठित होता है। इसके विपरीत अगर व्यक्तित्व विघटित होता, तो चरित्र भी विघटित हो जाता है।

चरित्र विकृतियों की श्रेणी में उन व्यक्तियों को रखा जाता है, जिन्हें बहुधा लोग दुर्गुणी या दुष्ट या दुःखी कहते हैं।

अन्य शब्दों में कुछ व्यक्तियों को अगर वृहद दृष्टि से देखा जाये तो पूर्णतया समायोजित दिखाई पड़ते हैं, परन्तु उनका सूक्ष्म निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इनमें असन्तुलन होता है या ये समन्वित नहीं होते हैं। सामान्य व्यक्ति वह है जिसकी अहम्, इदम्, व पराहम् शक्तियों में तथा बाह्म, शारीरिक एवं सामाजिक वास्तविकताओं में एक उचित सम्बन्ध होता है। अगर उसके इन सम्बन्धों में असंन्तुलन है तो इनमें असमानता उत्पन्न हो जाती है। यह असामान्यता मनःस्नायुविकृति या मनोविकृति प्रकार की ही नही होती, बल्कि चारित्रिक विकृतियाँ भी होती है।

कुछ ऐसी असमामान्यताएँ भी होती है जो इतनी तीव्र नही होती कि उन्हें मनःस्नायुविकृति के अन्तर्गत रखा जाये, परन्तु सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार के व्यक्ति बड़े खतरनाक होते हैं। इस प्रकार की विकृतियों के अर्न्तगत मुख्यतः वे विकृतियाँ आती है, जिनमें रोगी असमायोजित व्यवहार को क्रिया करने के रुप में प्रकट करता है। इनकी उत्पत्ति दबावपूर्ण परिस्थितियों से नहीं होती। इन विकृतियों का मुख्य कारण दोषपूर्ण व्यक्तित्व विकास है। चरित्र विकृतियों की विस्तृत रुप से व्याख्या करने से पूर्व इसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण का भी अध्ययन किया जाता है।

क्रेपलिन ने दो प्रत्ययों, 'मौलिक रुग्ण अवस्था' व 'मनोविकृति व्यक्तित्व' का प्रयोग किया। सामान्य रुप से मनोविकृत व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसने व्यवहार समस्याओं, जैसे– लैंगिक विपर्यास, झगड़ालू, मद्यपान, धोखा देने वाले व्यक्ति आदि को रखा। क्रेपलिन के मनोविकृत व्यक्तित्व के समान कुछ और भी प्रत्यय है, जैसे– नैतिक मूढ़, नैतिक जड़बुद्धि, नैतिक उन्मादी।

चरित्र विकृतियों से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जिनका आन्तरिक अचेतन, अन्तर्द्वन्द, बिना मनोविक्षिप्त मनस्तप्त या विपर्यस्त से ग्रस्त हुए विसमायोजित या समायोजित हो जाते हैं।

अमेरीका के मानसिक अस्पतालों में प्रथम प्रवेश मानसिक रोगियों में से करीब 12% रोगी इस रोग से ग्रस्त होते हैं। परन्तु असली आंकड़ा इससे कहीं अधिक है। इसके मुख्य कारण हैं –

1. इस विकृति के रोगियों का व्यक्तित्व इतना विघटित नहीं होता कि उन्हें अस्पताल में भर्ती करवाया जाये।
2. अधिकांश रोगी अपने को रोगी ही नहीं मानते,
3. कानूनी रुप से बड़ी संख्या में इस प्रकार के रोगी अपराधी होते हैं जिसके कारण वे मानसिक अस्पताल में भर्ती ही नहीं होते। यही कारण है कि इस प्रकार के रोगियों की संख्या कम है।

30.4.3 चरित्र विकृति का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त

मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार, चरित्र विकृतियाँ अहम्, इदम्, व पराहम् तथा वास्तविकता के बीच समयोजन के असामंजस्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें तथा मनोविक्षिप्त या मनस्तप्त में अंतर है। इसके लक्षण 'एलोप्लास्टिक' प्रकार के होते हैं।

चरित्र विकृति, मनोविक्षिप्त, मनःस्नायुविकृति आदि के अन्तर को भली–भँति समझा जा सकता है। इन सभी प्रकारों में एक स्पष्टतः भेदक रेखा नहीं खीची जा सकती। कुछ केस वास्तव में चरित्र विकृतियों के होते हैं लेकिन उनकी क्रियाएँ एक मनोविक्षिप्त रोगी के समान है।

ब्राउन ने चरित्र विकृति के एक रोचक केस का उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक अठारह वर्षीय युवा छात्रा से ब्राउन का साक्षात्कार हो चुका था, जो शराब पीती थी तथा उसका कम से कम 20 व्यक्तियों से लैगिंक सम्बन्ध हो चुका था। वह पिछले दो वर्षों की अवधि में दो बार गर्भपात करवा चुकी थी। साक्षात्कार के समय भी उसका दो व्यक्तियों से लैंगिक सम्बन्ध था। छात्रा उच्च श्रेणी के परिवार से सम्बन्धित थी, इसके माँ बाप एवं बच्चे में स्वस्थ सम्बन्ध नहीं था। अन्य शब्दों में, इसके माँ बाप ने उचित स्नेह नहीं दिया था जिसक कारण उसे इस चरित्र विकृति से ग्रस्त होना पड़ा था। वास्तव में यह छात्रा अपने इस कार्य से खुश नहीं थी परन्तु फिर भी अपने आवेगों पर नियंत्रण नहीं कर पाती थी।

कोलमैन ने चारित्रिक विकृतियों को चार उपवर्गों में विभाजित किया है–

1. विशिष्ट लक्षण प्रतिक्रियायें
2. व्यक्तित्व प्रतिरुप विक्षोभ
3. व्यक्तित्व शीलगुण विक्षोभ
4. समाज विकृमय व्यक्तित्व

(1) विशिष्ट लक्षण प्रतिक्रियायें

नाम से ही स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की विसक्ति में एक विशिष्ट लक्षण मुख्यतया परिलक्षित होता है। इस प्रकार का विशिष्ट लक्षण बाल्यावस्था में ही उत्पन्न

हो जाता है, जैसे– बाल्यावस्था में दोषपूर्ण विकास के परिणामस्वरुप बोलने सम्बन्धी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की विकृतियों के अर्न्तगत प्रायः हकलाहट, टिक्स, मूत्र असंयम, बाध्यात्मकता, जुआ आदि विकृतियाँ आती है।

1. हकलाहट

हकलाहट में व्यक्ति बोलते समय या तो किसी निश्चित अक्षर पर बोलते–बोलते रुक सा जाता है या किसी अक्षर या शब्द की ध्वनि का सही उच्चारण नहीं कर पाता। प्रायः इस प्रकार की विकृति में एक या कुछ अक्षरों की पुनरावृत्ति करने में व्यक्ति अवरोध प्रकट करता है, जैसे– अ–अ–अ आदमी, पिक्चर, द–द–द देखने जा रहा हूँ। अधिकतर हकलाने वाले व्यक्तियों में उच्चारण सम्बन्धी अवरोध के साथ–साथ चेहरे पर बल, सिर को झटका देना अनेक प्रकार की शारीरिक गतियाँ आदि क्रियाएँ होती है। इन क्रियाओं के माध्यम से रोगी की उच्चारण सम्बन्धी आन्तरिक संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है। बोलने सम्बन्धी दोष के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि जब ये लोग अकेले होते हैं, गुनगुना या कानाफूसी कर रहे हों अपने से छोटों के मध्य हों तो हकलाहट या तो होता नहीं या कम होता है। परन्तु जब ये व्यक्ति अनेक व्यक्तियों के मध्य हों या बड़े व अपरिचित या महत्वपूर्ण व्यक्तियों के मध्य हों तो इनकी हकलाहट अधिक गम्भीर होती है।

घटनाक्रम– सभी कालों व आयु में यह विकसित पायी जाती हैं, जैसे– मोजेज, अरस्तू, वरगिल, डेमाँस्थनीज, आादि महान् व्यक्ति भी इस रोग से ग्रस्त थे। अमेरीका में हकलाहट जैसे विशिष्ट लक्षण से ग्रस्त 1,800,000 लोग हैं जो वहाँ की सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग 1% है। हकलाहट पुरुषों में अधिक पायी जाती है तथा इसका अनुपात (पुरुषों व स्त्रियों के मध्य) 4 या 5 व 1 है। 90% रोगियों में हकलाहट का प्रारम्भ 6 वर्ष की आयु में होता है। सर्वाधिक घटनाक्रम 2 से 4 वर्ष के बीच में पाया जाता है। (ब्लडस्टेन 1959, डेसपर्ट 1943, जान्सन 1961)

कारण या गत्यात्मकता– कोलमैन हकलाहट को अत्यन्त चकरा देने वाली विकृति मानते हैं। इसके अनेक कारक हो सकते हैं–

1. तान्त्रिक– तान्त्रिकीय सिद्धान्तों के अनुसार मस्तिष्क की खराबी, जो बीमारी या जन्म के समय बीमारी के कारण होती है, हकलाहट का प्रमुख कारण है। इस सिद्धान्त के अनुसार हल्का मस्तिष्क विक्षोभ भी बोलने की क्रिया को प्रभावित करता है। परन्तु इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं हैं।

2. वंशानुक्रम– अनेक विद्वानों का मत है कि हकलाहट का कारण वंशानुक्रम है। उनका कहना है कि जो माँ बाप हकलातें हैं, उनके बच्चों में अधिक इसका घटनाक्रम पाया जाता है।

3. मनोवैज्ञानिक– अनेक मनोवैज्ञानिकों ने हकलाहट के मनोविज्ञान को समझने का प्रयास किया है। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों के अनुसार हकलाहट का मुख्य कारण संवेगात्मक विकास का अवरुद्ध हो जाना है, तथा लिबिडो विकास के मौलिक अवस्था का स्थिरीकरण हो जाना है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है, इसका प्रमुख कारण बच्चे के बोलते समय अभिभावकों का आवश्यकता से अधिक चिन्तित होना है। अन्य शब्दों में, जब बच्चा प्रारम्भ में अपरिपक्वता या अन्य कारण से बोल नहीं पाता, तो अभिभावक अत्यधिक चिन्तित हो जाते हैं तथा इस दोष के प्रति अत्यधिक जागरुक हो जाते हैं, जिसके फलस्वरुप बच्चे हकलाने लगते हैं।

शीहान तथा अन्य विद्वानों ने अभिगम–त्याज अन्तर्द्वन्द के आधार पर हकलाहट की व्याख्या प्रस्तुत की है। इन विद्वानों का कहना है कि इस प्रकार का व्यक्ति किसी प्रकार की बातचीत करने से भयभीत होता है तथा अपने को इन परिस्थितियों से हटाने का प्रयास करता है– परन्तु सामाजिक दबाव के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता। इस प्रकार इन समाज विरोधी प्रवृत्तियों की उपस्थिति होने के कारण वह अधिक हकलाने लगता है।

उपचार– अगर प्रारम्भ से ही इस प्रकार के लोगों का उपचार किया जाये, तो इसका काफी प्रभाव पड़ता है। बालक के वातावरण से उन दवाबपूर्ण स्थितियों को हटा देना चाहिए जो उस पर अत्यधिक स्नायु दवाब डालते हैं।

जॉन्सन का मत है कि अगर परिवार बच्चे को यह समझने में सहायता प्रदान करें कि वह परिवार में पूर्ण रुप से सुरक्षित है तो उसके बोलनें पर इसका काफी प्रभाव पड़ता है। बच्चे में आत्मविश्वास विकसित होने से भी उपचार में काफी सहायता प्राप्त होती है।

2. दाँतों से नाखून काटना

समस्त बालकों व किशोरों के लगभग 20% कभी न कभी अपने नाखून दाँतों से काटते रहते हैं। कोलमैन का कहना है कि दाँतों से नाखून काटने वालों की संख्या हकलाने वालों, संस्थाओं में पलने वाले, दबाबपूर्ण स्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों से भी अधिक है। किशोरावस्था में इसका घटनाक्रम सर्वाधिक होता है और बाद में कम होता जाता है।

कारण– दाँतों से नाखून काटने के अनेक कारण होते हैं। इस प्रकार के व्यवहार को समझने के लिए अनेकों व्याख्याएँ दी जाती हैं–

1. मुखीय अवस्था पर लिबिडो का स्थिर हो जाना
2. तनाव को कम करने का तरीका
3. हस्तमैथुन का स्थानापन्न

4. आक्रामकता की ओर उन्मुख करना

दाँत से नाखून काटने वाले स्वयं भी यह बताते है कि उनकी यह आदत स्वयं को व्यस्त रखने, अधिक व्यस्त रहने की इच्छा, अधिक मात्रा में शक्ति को खर्च करने की इच्छा तथा कठिनाइयों से सम्बन्धित चिन्ता से मुक्ति पाने का परिणाम है।

उपचार– मनोचिकित्सकों के द्वारा इसका सफलतापूर्वक उपचार सम्भव है। अनेक रोगियों को शामक औषधियों को देना भी लाभदायक सिद्ध होता है। अस्थायी रुप से उपचार करने के लिए नाखून में कड़वा पदार्थ लगाना, दण्ड देकर या अन्य प्रकार की क्रियाओं में रुकावट डालना आदि विधियों का प्रयोग किया जाता है।

3. टिक्स

कोलमैन ने टिक्स के सम्बन्ध में निम्न मत व्यक्त किया है–

टिक्स के अन्तर्गत आँख को बार–बार झपकाना, मुँह का सिकोडना, होंठ चाटना, कन्धे उचकाना, बार–बार खँखारना आदि क्रियाएँ आती हैं। प्रायः व्यक्ति इन क्रियाओं को आदत के समान करता है तथा उसे इन क्रियाओं की जानकारी भी नहीं होती। अगर इन्हें कोई टिक्स के बारे में संकेत करे, तब इन्हें टिक्स के अस्तित्व की जानकारी होती है। 6 से 14 वर्ष के बीच अधिकांश टिक्स मिलते है।

कारण– यद्यपि टिक्स का आंगिक आधार भी हो सकता है परन्तु अधिकतर इनका कारण मनोवैज्ञानिक ही है। इसके माध्यम से रोगी अपने तनावों को दूर करने का प्रयास करता है। येट्स के अनुसार टिक्स सीखी हुई आदत है, जिसे चिन्तारहित तत्वों के द्वारा सदैव प्रबलीकरण होता है।

उपचार– सबसे प्रभावकारी उपचार इस रोग का मनोचिकित्सा के माध्यम से हो सकता है। वैसे इस प्रकार के तनाव को शामक औषधियों के द्वारा भी कम किया जा सकता है। सम्बद्ध अवरोधन पद्धति के द्वारा भी इसका उपचार किया जाता है, परन्तु इससे परिणाम अभी तक असंगत ही प्राप्त हुए हैं (येट्स, जोम्स, 1960)। सम्मोहन चिकित्सा पद्धति के माध्यम से भी इसका अस्थायी उपचार किया जा सकता है।

4. मूत्र असंयम– तीन वर्ष की आयु तक प्रायः बालक मूत्र क्रिया पर नियंत्रण नहीं कर पाता, परन्तु जब इस आयु के उपरान्त भी मूत्र क्रिया पर नियंत्रण नही होता तो वह असमान्यता का रुप ले लेता है। वैसे तो यह असामान्यता दिन में भी घटित हो सकती है, परन्तु रात्रि में यह अक्सर घटित होता है। जिस बालक में यह दोष होता है, उसे गहरी निद्रा में मूत्र–असंयम होता है जबकि प्रौढ़ मूत्र असंयमी हल्की नींद में ही पेशाब कर देता है (डिटमैनव ब्लिन)। अमेरीका में इस समय अनुमानतः मूत्र असंयम

बालकों की संख्या 2 मिलियन से भी अधिक है। (म्यूलनर, 1960, तापिया तथा अन्य, 1960)

कारण या गत्यात्मकता– मूत्र असंयमी असामान्तयः अनेक कारणों से हो सकती है। लेकिन अधिकतर मूत्र असंयमी व्यक्तियों के रोग का कारण आंगिक न होकर मनोवैज्ञानिक होता है। कोलमैन ने इसके घटित होने के अनेक कारणों का वर्णन किया है–

1– अपरिपक्वता व संवेगात्मक विक्षोभ का सूचक

2– मूत्र को रोक सकने की अनुपयुक्त क्षमता

3– चिन्ता की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति

4– पैतृक ध्यान व सहायता की आवश्यकता का प्रभाव

5– माँ बाप के प्रति आक्रामक व अचेतन विरोध की अभिव्यक्ति

उपचार– रोगी की आयु, व्यक्तित्व बनावट व जीवन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इस असामान्यता का उपचार किया जाता है। सामान्य रुप से इनकी चिकित्सा पद्धति 3 प्रकार की होती है–

1. प्रशिक्षण प्रक्रिया
2. शामक चिकित्सा
3. मनश्चिकित्सा।

प्रशिक्षण प्रक्रिया के अन्तर्गत सोने से पूर्व पानी या अन्य द्रव्य पीने पर प्रतिबन्ध, बिस्तर पर मूत्र करते समय बिजली का झटका देना, दिन में अधिक पानी पिलाकर पेशाब को रोकने का अभ्यास आदि क्रियाये कराई जाती है। कुछ केसों में औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है। वैसे स्थायी उपचार मनश्चिकित्सा के द्वारा ही संभव है।

5. बाध्यात्मक जुआ

अमेरीका में 6,000,000 बाध्यात्मक जुआरी हैं जो अनुमानतः प्रतिवर्ष 20 खरब डालर जुआ में हारते हैं। इनकी दिन प्रतिदिन की क्रियायें अस्त व्यस्त रहती हैं क्योंकि ये लोग अधिकांश समय जुआ खेलने में व्यतीत करते हैं। जुआ खेलने के लिए ये लोग कभी–कभी गैर कानूनी रुप से भी पैसा एकत्रित करने का प्रयास करते है। इन बाध्यात्मक जुआरियों की बुद्धि सामान्य से अधिक होती है। इनकी संख्या स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की अधिक होती है तो उसमें धन प्राप्त करने की इच्छा प्रबल हो जाती है तथा उसे धन प्राप्त करने कर सरल उपाय जुआ ही लगता है। इसी कारण वह जुआ खेलना प्रारम्भ कर देता है। मनोचिकित्सा के द्वारा प्रभावकारी ढ़ंग से इन जुआरियों का उपचार संभव है।

(2) व्यक्तित्व प्रतिरुप विक्षोभ

इस प्रकार के रोगियों में व्यक्तित्व प्रतिरुप असमायोजित होता है। इनके लक्षण मनोविक्षिप्त रोगियों से काफी मिलते जुलते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति तनावपूर्ण स्थिति का सामना करने में असमर्थ रहते हैं।

व्यक्तित्व प्रतिरुप विक्षोभ के चार प्रमुख रुप हैं–

1. संभ्रान्तिवत् व्यक्तित्व
2. साइक्लोथ्यमिक व्यक्तित्व
3. मनोविद्लित व्यक्तित्व
4. अनुपयुक्त व्यक्तित्व

(3) व्यक्तित्व शीलगुण सम्बन्धी विक्षोभ

इस प्रकार के व्यक्तियों का व्यक्तित्व विकास इतना दोषपूर्ण होता है कि वह पर्यावरण सम्बन्धी किसी भी तनावपूर्ण परिस्थिति का सामना नहीं कर पाते। कावेली तथा अन्य के अनुसार, व्यक्तित्व शीलगुण सम्बन्धी विक्षोभ वाले व्यक्ति की प्रमुख विशेषता अपरिपक्वता व दोषपूर्ण व्यक्तित्व विकास का होना है। इसके मुख्य रुप निम्न हैं–

1. संवेगात्मक रुप से अस्थिर व्यक्तित्व
2. निष्क्रिय–आक्रामक व्यक्तित्व
3. संध्यात्मक व्यक्तित्व

(4) समाज– विकृतमय व्यक्तित्व

इस वर्ग में वे विकृतियाँ आती है, जिनमें व्यक्ति सामाजिक नियमों, मानदण्डों को स्वीकार नहीं करता या उनके प्रति विद्रोह करता है, इस प्रकार की विकृतियों में निम्न तीन प्रकार की विकृतियाँ आती है–

1. लिंग विकृतियाँ
2. समाज विरोधी विकार
3. अपराधी व्यवहार

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी

i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ii) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) चरित्र किसे कहते हैं?

.....

.....

.....

2) चरित्र विकृतियाँ कौन– कौन सी हैं?

.....

.....

.....

30.5 साराँश

आदिम युग में मानव का ज्ञान सीमित था। लोगों का विश्वास था कि मनुष्य के शरीर में जब प्रेतात्माऐं प्रवेश करती हैं, तो वह रोगी हो जाता है। शुभ और अशुभ दो प्रकार की प्रेतात्माऐं हो सकती हैं, जिन्हें पवित्र और अपवित्र प्रेतात्माएं भी कहा जाता था, उनके कारण व्यक्ति रोगी होता था। आम धारणा थी कि देवता जब किसी व्यक्ति से नाराज या रूष्ट हो जाते हैं, तो वे अशुभ या अपवित्र प्रेतात्मा भेजते हैं और जब वे किसी व्यक्ति से प्रसन्न या खुश होते हैं, तो शुभ या पवित्र आत्मा भेजते हैं। जब मनुष्य के शरीर में अशुभ प्रेतात्मा का प्रवेश होता है, तो वह रोगी हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकार की स्थितियाँ अन्धविश्वास मात्र ही होती हैं। जब व्यक्ति का शरीर रोगग्रस्त होता है तो वह शारीरिक रूप से रोगी कहलाता है, जब वह मानसिक रूप से विकारों से ग्रस्त हो जाता है तो वह मनोरोगी हो जाता है। मानव की इस अवस्था का मनोविज्ञानियों द्वारा अध्ययन किया गया और उनके द्वारा प्राणी की चेतन क्रियाओं के साथ– साथ मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं और व्यवहार का भी अध्ययन किया जाने लगा। मानव व्यवहार के अध्ययन की इस प्रकार की प्रक्रिया में समायोजन, अनुक्रियाओं, अभिव्यक्तियों, प्रतिक्रियाओं, मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व एवँ चरित्र विकृतियाँ आदि प्रमुख हैं। व्यवहार की अवस्था में उत्पन्न अनुभवों की चेतना का भी अध्ययन किया जाता है।

मानव व्यक्तित्व में चार घटक शारीरिक, भावनात्मक, बुद्धि एवं व्यवहार होते हैं। समाज के अन्य व्यक्तियों पर या अपने मिलने– जुलने वालों पर व्यक्ति कैसा प्रभाव छोड़ता है, यह भी व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। प्रेक्षक किसी व्यक्ति की कुछ विशेषताओं के आधार पर उसके व्यक्तित्व का नामकरण करता है। धीरे– धीरे प्रत्येक

समाज में कुछ ऐसे असामान्य प्राणी होते हैं, जिन्हें न तो मनःस्नायुविकृत और न ही मनोविकृति की श्रेणी में रखा जा सकता, है। परन्तु समायोजन की दृष्टि से इस प्रकार के व्यक्तियों को सामान्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों को सामजिक समयोजन अफसल होता है तथा ये व्यक्ति समाज में रहने के योग्य भी नहीं होते। मनोविकृति व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का व्यवहार आतँकपूर्ण एवं विध्वंसात्मक होता है। बौद्धिक दृष्टि से इस प्रकार के व्यक्ति औसत बुद्धि के होते हैं। परन्तु इतना होते हुए भी ये लोग न तो अपने अनुभवों से लाभ उठा पाते है और न ही अपने व्यवहार को परिमार्जित कर पाते हैं।

बालक जिस वातावरण में रहता है, उसके चारों ओर अनेक व्यक्ति होते हैं। सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार, व्यवहार करना सीखना एक मन्द और लम्बी प्रक्रिया है। परन्तु बालक के लिए यह आवश्यक होता है कि विद्यालय जाने से पहले बालक उचित– अनुचित में भेद करना सीख ले। परिवारीजन और अध्यापक उसे नैतिक मूल्यों के विषय में अवगत कराते हैं, यही नैतिक मूल्य उसके चरित्र का निर्माण करते हैं। चरित्र एवं व्यक्तित्व में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि व्यक्तित्व से वैयक्तिता निश्चित होती है तथा उसका प्रकाशन चरित्र के माध्यम से होता है। अगर एक व्यक्ति का व्यक्तित्व संतुलित व संगठित होगा तो उसका चरित्र सुसंगठित होता है। इसके विपरीत अगर व्यक्तित्व विघटित होता, तो चरित्र भी विघटित हो जाता है। चरित्र विकृतियों की श्रेणी में उन व्यक्तियों को रखा जाता है, जिन्हें बहुधा लोग दुर्गुणी या दुष्ट या दुःखी कहते हैं।

30.6 शब्दावली

व्यक्तित्व : व्यक्तित्व जिसे अग्रेंजी में पॅःसन्ल्टि या पर्सनाल्टी (Personality) कहते हैं, वह लैटिन भाषा के परसोना (Persona) शब्द से बना है। परसोना का अर्थ होता है, मुखौटा या मास्क (Mask), जिसे व्यक्ति अपने चेहरे पर धारण करता है, ताकि लोग उसे पहचान न सके।

लैंगिक व्यक्तिक्रम : इस प्रकार के व्यक्तियों में लैगिक व्यतिक्रम का लक्षण विद्यमान होता है। इस प्रकार के व्यक्तियों का लैगिक विकास असमान्य रुप से होता है जिसके कारण इनमें विभिन्न प्रकार की लैंगिक विकृतियाँ पायी जाती है। ये लोग व्यक्तिक्रमों से घबराते नहीं। इनका वैवाहिक जीवन अस्थिर होता है तथा ये इस प्रकार की विकृतियों को सामान्य ही समझते हैं।

चरित्र : बालक को समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक नैतिक मूल्यों यथा उचित– अनुचित की भावना, आज्ञा पालन, सत्य– असत्य का ज्ञान, ईमानदारी,

सत्यवादिता, भक्ति, दया, निष्पक्षता, आत्म– नियन्त्रण, विश्वसनीयता, उत्तरदायित्व की भावना आदि की सीख दी जाती है। बालक के इन्हीं सामाजिक नैतिक मूल्यों के योग को चरित्र कहते हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष है।

मूत्र असंयम : तीन वर्ष की आयु तक प्रायः बालक मूत्र क्रिया पर नियंत्रण नहीं कर पाता, परन्तु जब इस आयु के उपरान्त भी मूत्र क्रिया पर नियंत्रण नही होता तो वह असमान्यता का रुप ले लेता है। वैसे तो यह असामान्यता दिन में भी घटित हो सकती है, परन्तु रात्रि में यह अक्सर घटित होता है। जिस बालक में यह दोष होता है, उसे गहरी निद्रा में मूत्र–असंयम होता है जबकि प्रौढ़ मूत्र असंयमी हल्की नींद में ही पेशाब कर देता है।

30.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आर0 बी0 त्रिपाठी, आर0 एन0 सिंह, 1993, व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, गंगासरन ऐण्ड ग्रैण्ड संस प्रकाशन, वाराणसी
2. डॉ0 सतीशचन्द्र शर्मा, डॉ0 तारेश भाटिया, 1994, सामाजिक तनाव: विविध परिदृश्य, दिव्या प्रकाशन, लखनऊ
3. डॉ0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, डॉ0 प्रीति वर्मा, 1996, बाल मनोविज्ञानः बाल विकास, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
4. डॉ0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, 2004, आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, साहित्य प्रकाशन, आगरा।
5. डॉ0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, 2004, मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
6. डॉ0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, 2004, आधुनिक मनोरोग विज्ञान, साहित्य प्रकाशन, आगरा।
7. के0 पार्क, 2004, सामुदायिक स्वास्थ्य विज्ञान, बनारसीदास प्रकाशन, जबलपुर।
8. डॉ0 मालती सारस्वत, 2011, शिक्षा मनोविज्ञान की रुपरेखा, आलोक प्रकाशन, इलाहाबादं

30.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) व्यक्तित्व क्या है?

व्यक्तित्व पद आमतौर पर काफी प्रचलित है। इसके साथ ही साथ यह अत्यन्त लोकप्रिय भी है। व्यक्तित्व जिसे अग्रेंजी में पॅःसन्ल्टि या पर्सनाल्टी (Personality) कहते

हैं, वह लैटिन भाषा के परसोना (Persona) शब्द से बना है। परसोना का अर्थ होता है, मुखौटा या मास्क (Mask), जिसे व्यक्ति अपने चेहरे पर धारण करता है, ताकि लोग उसे पहचान न सके। जबकि एक सामान्य व्यक्ति के लिए व्यक्तित्व मूल्य निर्णय (Value Judgement) पर आधारित है। यदि कोई व्यक्ति किसी को पसन्द करता है तो इसका कारण उसका उत्तम व्यक्तित्व है। इस प्रकार व्यक्तित्व पद द्वारा दूसरे व्यक्ति की विशेषता का उल्लेख किया जा सकता है। सामाजिक कौशल, निपुणता, होशियारी, चतुराई या दक्षता के माध्यम से भी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्याँकन किया जाता है। समाज में प्रभाव ड़ालकर दूसरों की अधिक विधेयात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त कर लेना उत्तम व्यक्तित्व का प्रमाण होता है।

2) व्यक्तित्व के घटक कौन– कौन से हैं?

व्यक्तित्व के चार घटक हैं–

1. **शारीरिक–** ये व्यक्ति के शारीरिक विशिष्ट लक्षण हैं, जैसे, ऊँचाई, वजन, वर्ण, मुखाकृति, शारीरिक स्वास्थ्य आदि। सामान्य व्यक्ति के लिए अच्छे व्यक्तित्व का अर्थ है– प्रभावशाली, सुड़ौल और स्वस्थ शरीर।

2. **भावनात्मक–** व्यक्ति के मनोभाव भी उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। मनोभाव हमारी अनुभूतियां हैं– भय, क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या, अपराध, चिन्तायें। ये अनुभूतियाँ व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं।

3. **बुद्धि–** व्यक्तित्व में बौद्धिक क्षमता भी सम्मिलित होती है। बुद्धिमान व्यक्ति का व्यक्तित्व सशक्त होगा। अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति को "मंदमति" कहा जाता है।

4. **व्यवहार**– व्यवहार, व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। यह कुछ अंश तक हमारी अनुभूतियों औरा कुछ अंश तक समाज की अपेक्षाओं पर निर्भर है। व्यवहार के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले अनेक शब्द हैं, जैसे– सज्जन, स्नेही, संतुलित, आज्ञाकारी और झगडालू। जब हम व्यक्तित्व का आंकलन करते हैं, तब इन घटकों पर विचार किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) मनोविकृत व्यक्तित्व के लक्षण लिखिए ?

मुन्सी, पार्टिज, अलेक्जेण्डर आदि विद्वानों के मतानुसार मनोविकास व्यक्तित्व वाले व्यक्ति वर्तमान आवेगात्मक इच्छाओं को ठीक प्रकार से नियत्रंण नहीं कर पाते जिसके परिणाम वे प्रायः सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन किया करते हैं। इसके प्रमुख लक्षणों के कारण निम्न प्रकार हैं– संवेगात्मक व्यक्तिक्रम,

समाज विरोधी व्यवहार, आत्मप्रेरित साधन, अस्थिरता, बहु व्यक्तित्व, आत्म केन्द्रित, लैंगिक व्यक्तिक्रम, अर्न्तदृष्टि का अभाव।

2) मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व का वर्गीकरण कीजिएं?

नैदानिक दृष्टिकोण के मनोविकृत व्यक्तित्व का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। लेकिन सन् 1939 में हेण्डरसन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण अधिक प्रचलन में हैं। हेण्डरसन ने चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर सभी प्रकार के मनोविकृत व्यक्तित्वों को तीन भागों में विभाजित किया है–

1. प्रमुखतः आक्रामक
2. प्रमुखतः अपर्याप्त या निष्क्रिय
3. प्रमुखतः रचनात्मक

3) मनोव्याधिकीय व्यक्तित्व के कौन– कौन से कारण हैं?

केन्द्रीय स्नायु मण्डल की विकृति, पर्यावरण एवं सामाजिक परिस्थितियाँ, वंशानुक्रम, अवैध जन्म, मस्तिष्क रोग, मनोवैज्ञानिक कारण

बोध प्रश्न 3

(1) चरित्र किसे कहते हैं ?

बालक को समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक नैतिक मूल्यों यथा उचित– अनुचित की भावना, आज्ञा पालन, सत्य– असत्य का ज्ञान, ईमानदारी, सत्यवादिता, भक्ति, दया, निष्पक्षता, आत्म– नियन्त्रण, विश्वसनीयता, उत्तरदायित्व की भावना आदि की सीख दी जाती है। बालक के इन्हीं सामाजिक नैतिक मूल्यों के योग को चरित्र कहते हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष है।

(2) चरित्र विकृतियाँ कौन– कौन सी हैं?

मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार, चरित्र विकृतियाँ अहम्, इदम्, व पराहम् तथा वास्तविकता के बीच समयोजन के असामंजस्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें तथा मनोविक्षिप्त या मनस्तप्त में अंतर है। इसके लक्षण 'एलोप्लास्टिक' प्रकार के होते हैं। चरित्र विकृति, मनोविक्षिप्त, मनःस्नायुविकृति आदि के अन्तर को भली–भाँति समझा जा सकता है। इन सभी प्रकारों में एक स्पष्टतः भेदक रेखा नहीं खीची जा सकती। कुछ केस वास्तव में चरित्र विकृतियों के होते हैं लेकिन उनकी क्रियाएँ एक मनोविक्षिप्त रोगी के समान है।

कोलमैन ने चारित्रिक विकृतियों को चार उपवर्गों में विभाजित किया है– विशिष्ट लक्षण प्रतिक्रियायें, व्यक्तित्व प्रतिरुप विक्षोभ, व्यक्तित्व शीलगुण विक्षोभ, समाज विकृतमय व्यक्तित्व।

इकाई–31, मानसिक मंदता

31.0 इकाई का उद्देश्य

31.1 परिचय

31.2 मानसिक मंदता का अर्थ

31.2.1 मानसिक मंदता की परिभाषा

31.2.2 मानसिक मंदता संबंधी विभिन्न दृष्टिकोण

31.2.3 मानसिक मंदता के लक्षण

31.2.4 मानसिक मंदता का वर्गीकरण

31.2.5 मानसिक मंदता का फलानुमान

31.2.6 मानसिक मंदता का उपचार एवं रोकथाम

31.3 सारांश

31.4 पारिभाषिक शब्दावली

31.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

31.6 अभ्यास प्रश्न

31.0 इकाई का उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप अग्रलिखित के बारे में वृहद एवं बोधगम्य ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे–

1– मानसिक मंदता के अर्थ को जान सकेगें।

2– मानसिक मंदता की परिभाषा को लिख सकेगें।

3– मानसिक मंदता संबंधी विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाल सकेगें।

4– मानसिक मंदता के लक्षणों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

5– मानसिक मंदता का वर्गीकरण कर सकेगें।

6– मानसिक मंदता के फलानुमान की जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

7– मानसिक मंदता के उपचार एवं रोकथाम पर प्रकाश डाल सकेगें।

31.1 इकाई परिचय

प्रस्तुत इकाई को आपके सम्मुख इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि आप मानसिक मंदता के बारे में वृहद एवं सारगर्भित जानकारी प्राप्तकर अपने समाज कार्य

अभ्यास में उपयोग कर मानव जीवन को सुखी बनाने में सहयोग कर सकें। वास्तव में देखा जाय तो मानसिक मन्दता से ग्रस्त व्यक्ति प्रायः देखने में सामान्य व्यक्ति के समान ही प्रतीत होते हैं लेकिन इनका मानसिक विकास सामान्य से कुछ कम होता है। मानसिक मन्दता से ग्रस्त व्यक्तियों में कुछ शारीरिक एवं मानसिक अनियमितताएं परिलक्षित होती हैं तथा सीमित बुद्धि होती है। प्रायः यह माना जाता रहा है कि मानसिक मंदता एक रोग है जो निम्न बौद्धिक योग्यता की ओर इंगित करता है। व्यक्तिगत भिन्नताएं शारीरिक भिन्नता के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होती हैं। बौद्धिक रूप से निम्न स्तर व्यक्तियों कों मानसिक मंदता की श्रेणी में रखा जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में मानसिक मंदता के अर्थ को स्पष्ट रूप से बताया गया है तथा मानसिक मंदता की परिभाषाओं को भी रेखांकित किया गया है, जिससे आप का ज्ञानार्जन हो सके। इसी इकाई में मानसिक मंदता से संबंधित विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों की भी चर्चा प्रस्तुत की गई है तथा मानसिक मन्दता के लक्षणों के बारे में बताया गया है, जिससे आपको इसके बारे में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके। इसी इकाई में मानसिक मंदता के वर्गीकरण को विस्तृत रूप से समझाया गया है तथा फलानुमान के बारे में चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई के अंत में इस रोग के उपचार एवं रोकथाम हेतु सुझाव प्रस्तुत किये गये है। आशा है कि प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप मानसिक मंदता को जान सकेगें तथा समाज कार्य अभ्यास के द्वारा इसके रोगियों की सहायता प्रदान कर सकेगें।

31.2 मानसिक मंदता का अर्थ

मानसिक मंदता वास्तव में प्राचीन काल से ही हमारे समाज में व्याप्त रही है लेकिन इसकी चर्चा बहुत कम लेखों में मिलती है। इसका प्रमुख कारण प्राचीन काल के जीवन का सीधा एवं सरल होना होना था। चूंकि औद्योगिक उन्नति एवं विकास के साथ–साथ जीवन जटिल होता गया तथा व्यक्ति को समायोजन स्थापित करने में अधिक बुद्धि एवं योग्यता का सहारा लेना अनिवार्य हो गया। जो व्यक्ति मानसिक रूप से अविकसित या कम विकसित थे उनके लिए जीवन निर्वाह करना कठिन हो गया। ऐसे व्यक्ति मानसिक मंदित समझे जाने लगे।

मानसिक मंदता एक ऐसी दशा है जिसमें बौद्धिक योग्यता का अभाव होता है। इसके लिए कई नामों का प्रयोग किया जाता है, जैसे–क्षीणमनस्कता या मनोदौर्बल्य, मानसिक असामान्यता, मस्तिश्क निर्बलता, अल्प मानसिकता इत्यादि।

विष्व स्वास्थ्य संगठन ने 'Mental Subnormality' शब्द प्रस्तावित किया है। वर्तमान में हम जिसे 'Mental retardation' कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि ऐसे व्यक्तियों मे

मानसिक आयु शारीरिक आयु से कम होती है। इस सन्दर्भ में अल्फ्रेड बिने (1908) में सर्वप्रथम मानसिक आयु का प्रयोग किया। इनके अनुसार, शारीरिक आयु के साथ–साथ मानसिक आयु की भी वृद्धि होती है। बाद में 'टरमन' ने जिसे बुद्धि–लब्धि' कहा।

मानसिक मंदता से ग्रस्त व्यक्ति अपने जीवन में दूसरों पर निर्भर रहने वाले होते हैं। ये अपना जीवन संचालन करने में असमर्थ होते हैं। अपनी आयु के अन्य व्यक्तियों के समान यह सक्षम नहीं होते हैं और न ही ये अपनी समस्याएं सुलझा पाते हैं, न इनमें सूझ होती है और ये अपने दैनिक क्रियाकलापों के लिए भी दूसरो पर निर्भर करते हैं। मानसिक रूप से मंद व्यक्ति मे अभियोजन क्षमता का अभाव होता है। इस सन्दर्भ में अमेरिकन मनोचिकित्सा संघ ने अग्रिलिखित परिभाषा दी है, "मानसिक मन्दन का अर्थ उस असामान्य बौद्धिक प्रक्रिया से है जो व्यक्ति की विकासात्मक अवस्था में उत्पन्न होती है, यह व्यक्ति के अधिगम, सामाजिक समायोजन या परिपक्वता अथवा दोनों में बाधक होती है।

31.2.1 मानसिक मंदता की परिभाषा

मानसिक मंदित व्यक्ति का मानसिक विकास अपूर्ण एवं अवरूद्ध होता है जिसके परिणाम स्वरूप वह न तो अपने पर नियंत्रण रख पाता है और न ही जीविकोपार्जन करने में समर्थ होता है। उसमें परिपक्तवता के लक्षण प्रकट नहीं होने पाते, इसलिए वह दूसरों के मार्गदर्शन पर निर्भर होता है। उसको पथ प्रदर्शन, निर्देशन, निरीक्षण तथा आश्रय की सदैव आवश्यकता होती है। मानसिक मंदता की परिभाषा समय–समय पर भिन्न–भिन्न विद्धानों ने अग्रिलिखित प्रकार से दिया है –

अमेरिकन एसोसियेशन आन मेंटल डीफिशियेंशी के अनुसार–

"मानसिक मंदता का अर्थ है ऐसी बौद्धिक प्रक्रिया जो औसत से कम हो जिसके कारण अनुकूलन व्यवहार में कमी पायी जाती है।"

वुडवर्थ के शब्दों में– "मानसिक मंदित व्यक्तियों में बुद्धि की इतनी कमी होती है कि वे देखरेख के बिना स्वयं अपना जीवन भी नहीं चला सकते।"

पेज के अनुसार– "मानसिक मंदता का तात्पर्य मानसिक विकास की निम्न अवस्था है जो जन्म से ही विद्यमान रहती है। यह जन्म के समय से अथवा प्रारम्भिक बाल्यकाल से उत्पन्न होती है। इसकी दो मुख्य विशेषताएं हैं: सीमित बुद्धि तथा सामाजिक असमर्थता।"

ट्रडेगोल्ड के अनुसार – "मानसिक मंदता मस्तिष्क विकास की वह सीमित अवस्था है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति परिपक्व होने पर अपने पर्यावरण में समायोजित

होने या समुदाय की मांगों की पूर्ति करने में असमर्थ होता है तथा वाह्य आलम्बन या मार्गदर्शन के बिना अपने अस्तित्व का निर्वाह नहीं कर पाता है।"

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति परिवार व समाज दोनों के लिए एक समस्या बन जाता है। मानसिक न्यूनता एक ऐसा शब्द है जिसके अन्तर्गत विविध प्रकार की ऐसी अवस्थाएँ आती हैं जो एक दूसरे से कारण–विज्ञान नैदानिक प्रारूप में भिन्न होती हैं। अतः मानसिक न्यूनता शब्द के स्थान पर मानसिक न्यूनताएं अधिक उपयुक्त होंगी। इन अवस्थाओं को एक समूह में इसलिए स्वीकार कर लिया गया है। क्योंकि इनमें एक विशेषता समान है और यह विशेषता बौद्धिक विकास में महत्वपूर्ण न्यूनता है।

31.2.2 मानसिक मंदता संबंधी विभिन दृष्टिकोण

मानसिक मंदता के अर्थ को समझने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों का समझना आवश्यक प्रतीत होता है –

(1) सामाजिक दृष्टिकोण– इस दृष्टिकोण के अनुसार जो बालक प्रारम्भ से ही सामूहिक समायोजन नहीं प्राप्त कर पाता है क्योंकि उसमें मानसिक दुर्बलता होती है, उसे मानसिक मंदता कहा जाता है। ऐसा बालक अपनी समस्याओं का समाधान नहीं कर पाता है।

(2) शैक्षिक दृष्टिकोण– शिक्षा के क्षेत्र में जो बालक दुर्बल पाये जाते हैं तथा कक्षा के स्तर के अनुरूप विकास नहीं कर पाते हैं उन्हें प्रायः मानसिक मंदित कहा जाता है।

(3) वैधानिक दृष्टिकोण– इस दृष्टिकोण के अनुसार मानसिक दुर्बलता या मंदता का अर्थ उस व्यक्ति से होता है जिसको नैतिक–अनैतिक, उचित–अनुचित, भले–बुरे आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। बुद्धिहीनता के अभाव में उसे किसी व्यवहार के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है।

(4) चिकित्सकीय दृष्टिकोण– इस दृष्टिकोण के अनुसार मस्तिष्क का किसी बाधा के कारण मानसिक विकास सामान्य रूप से नहीं स्थापित कर पाता है।

(5) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण– इस दृष्टिकोण का आधार बुद्धिलब्धि माना जाता है। जिस व्यक्ति की बुद्धिलब्धि 70 से कम होती है, उसे मानसिक मंदित माना जाता है। यह दृष्टिकोण ही अधिकांशतः अध्ययन का आधार समझा जाता है।

31.2.3 मानसिक मंदता के लक्षण

मानसिक मंदित व्यक्ति में निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं–

1– बुद्धिलब्धि की कमी
2– शिक्षात्मक अयोग्यता
3– शारीरिक न्यूनता
4– अपरिपक्व व्यक्तित्व

5– सामाजिक अयोग्यता
6– सीमित प्रेरणायें
7– अविकसित संवेग
8– गत्यात्मक चालाकों में कम समन्वय
9– आर्थिक अयोग्यता
10– ध्यान शक्ति की कमी
11– स्मरण शक्ति की कमी
12– अव्यवहारिकता

31.2.4 मानसिक मंदता का वर्गीकरण

(अ) बुद्धि–लब्धि व सामाजिक समायोजन या अनुकूली व्यवहार के आधार पर–

सारणी–बुद्धि–लब्धि वितरण

बुद्धि–लब्धि का परिसर	जनसंख्या प्रतिशत
130 व अधिक	2.2
120 – 129	6.7
110 – 119	16.1
90 – 109	50.00
80 – 89	16.1
70 – 79	6.7
69 तथा कम	2.2

1– मापित बुद्धि

मापित बुद्धि के आधार पर मानसिक न्यूनता के वर्गीकरण का श्रेय बिने तथा साइमन को मिलता है जिन्होंने मानसिक न्यूनता से पीड़ित बालकों को पहचानने के लिए प्रथम बुद्धि–परीक्षण का विकास किया और मानसिक आयु का सम्प्रत्यय प्रस्तुत किया। बाद में स्टर्न ने बुद्धि–लब्धि का सम्प्रत्यय प्रस्तुत किया। मापित बुद्धि के अनुसार जिन व्यक्तियों की बुद्धि–लब्धि 90 और 110 के बीच होती है उन्हें सामान्य बौद्धिक स्तर का व्यक्ति कहा जाता है। 50 प्रतिशत इसी श्रेणी में आ जाती है। इस स्तर से नीचे मानसिक न्यूनता का क्षेत्र है। जिन व्यक्तियों का आई.क्यू 20 से कम होता है, उन्हें जड़ बुद्धि, 26–49 आई.क्यू वाले व्यक्ति को हीन बुद्धि और 50–69 आई.क्यू. वाले व्यक्ति को मन्द बुद्धि कहा जाता है। यद्यपि इन शब्दों का उपयोग बहुत वर्षों तक होता रहा है परन्तु अब इनका उपयोग अवांछनीय माना जाता है क्योंकि इनमें संवेगात्मक भार है और रोगी पर बुरा प्रभाव डालता है। निम्नलिखित शब्दों का उपयोग अधिक उपयुक्त है–

आई.क्यू.	वर्ग
70–84	सीमावर्ती मानसिक न्यूनता
55–69	मृदु मानसिक न्यूनता
40–54	संयत मानसिक न्यूनता
25–39	तीव्र मानसिक न्यूनता
25 से नीचे	गहन मानसिक न्यूनता

2– व्यनुकूली व्यवहार

वर्षों के अनुभव से यह ज्ञात हुआ कि बुद्धि परीक्षाओं के आधार पर मानसिक न्यूनता का वर्गीकरण अपूर्ण है क्योंकि समान बुद्धि–लब्धि के रोगियों में सामाजिक व्यनुकूलता के व्यापक अन्तर पाये जाते हैं। व्यनुकूली व्यवहार के आधार पर मानसिक न्यूनता को तीन वर्गो में बॉटा जा सकता है–

(क) अप्रशिक्षणीय – यह सबसे छोटा वर्ग है जिसमें 5 प्रतिशत मानसिक न्यनूता के रोगी आते हैं। यह रोगी पूर्ण रूप से पराश्रित होते है।

(ख) प्रशिक्षणीय– इस दूसरे मुख्य समूह में लगभग 20 प्रतिशत रोगी आते हैं। इन्हें दैनिक जीवन से स्वावलम्बी बनने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इन रोगियों की सर्वाधिक अवहेलना की जाती है।

(ग) शिक्षणीय – इस समूह में 75 प्रतिशत रोगी आते हैं। यदि विशेष व्यवस्था की जाय तो यह पर्याप्त मात्रा में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और इस प्रकार समुदाय में सामाजिक और आर्थिक समयोजन कर सकते हैं।

(अ) अमरीकी मनोरोग चिकित्सा सम्बन्धी संघ के अनुसार

(1) 70–80 बुद्धि–लब्धि वाला व्यक्ति हल्की मानसिक न्यूनता का होता है।

(2) 50–70 बुद्धि–लब्धि वाला व्यक्ति साधारण मानसिक न्यूनता का होता है।

(3) 0–50 बुद्धि–लब्धि वाला तीव्र मानसिक न्यूनता का होता है।

(ब) विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार

(1) 50–69 बुद्धि–लब्धि वाले हल्के मन्दन प्रकार के होते हैं।

(2) 20–49 तक के व्यक्ति साधारण मन्दन वाले होते हैं।

(3) 0–19 तक के व्यक्ति तीव्र मन्दन के होते हैं।

(1) जड़– मानसिक दुर्बलता की श्रेणी को जड़ कहते हैं, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों में बुद्धि की मात्रा सबसे कम होती है। इनकी बुद्धि–लब्धि 25 से भी कम होती है। समस्त मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में से इस प्रकार के रोगियों की संख्या–5

प्रतिशत होती है। इनका शारीरिक विकास तो हो जाता है परन्तु मानसिक विकास 3 वर्ष के बच्चों के समान भी नहीं होता। ट्रेडगोल्ड के अनुसार जड़ श्रेणी के अन्तर्गत वे मानसिक दुर्बल रोगी आते हैं जो स्वयं की भी रक्षा नहीं कर पाते तथा सामान्य शारीरिक खतरों का भी सामना नहीं कर पाते हैं। ये न तो स्वयं खा सकते हैं और न ही बाह्य खतरों से बचाव ही कर पाते हैं। इनमें अनेक प्रकार के शारीरिक दोष भी पाये जाते हैं।

(2) मूढ़– मूढ़ प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में बुद्धि–लब्धि 26–50 के बीच होती है। इनकी मानसिक आयु 3 से 7 साल के बच्चों के बराबर होती है। समस्त मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में से इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या 20 प्रतिशत होती है।

(3) मूर्ख– इस प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्ति अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होते हैं। इनकी बुद्धि–लब्धि (आई.क्यू.) 50 से 75 तक होती है। इस प्रकार के व्यक्तियों का शारीरिक विकास तो हो जाता है परन्तु मानसिक विकास नहीं हो पाता। युवावस्था में भी इनकी मानसिक आयु साढ़े सात वर्ष से दस वर्ष तक होती है। साधारण पढ़ने–लिखने की इनमें मानसिक क्षमता रहती है। साधारण प्रशिक्षण के द्वारा ये व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए साधारण कार्य कर सकते हैं। इनका शारीरिक संगठन अपेक्षाकृत अन्य प्रकारों से अच्छा होता है।

(स) ट्रेडगोल्ड के अनुसार मानसिक – ट्रेड गोल्ड ने मानसिक दुर्बल व्यक्तियों को दो प्रकारों में बाँटा है–

1– **प्राथमिक मानसिक दुर्बलता**– मानसिक दुर्बलता के इस वर्ग में ट्रेडगोल्ड के अनुसार 80 प्रतिशत व्यक्ति आते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों की बुद्धि–लब्धि कम होने का कारण वंश–परम्परा है। परन्तु कभी–कभी बीज–कोषों (germ cell) में दोष हो जाने पर भी मानसिक दुर्बलता आ जाती है। **गोडार्ड तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों** ने अध्ययनों के आधार पर बताया कि जड़ या मूढ़ की अपेक्षा मूर्ख के सम्बन्धियों के मध्य प्राथमिक मानसिक दुर्बलता की संख्या बहुत कम होती है।

2– **गौण मानसिक दुर्बलता –** इस वर्ग में लगभग 20 प्रतिशत मानसिक दुर्बल व्यक्ति आते हैं तथा बुद्धि की कमी के दोष का कारण वंशानुक्रम नहीं होता। मानसिक क्षति ही इसका प्रमुख कारण है। जब बच्चे के मस्तिष्क में आघात या अन्य कारणों से क्षति पहुंचती है तथा उसका मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसमें मानसिक न्यूनता आ जाती है। बुद्धि की न्यूनता कम होगी या अधिक यह दो बातों पर निर्भर होती है–मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त भाग का विस्तार व व्यक्ति की अवस्था। लेंडिस के अनुसार, इस श्रेणी में जड़ तथा मूढ़ मानसिक दुर्बलता

भी आती है। ट्रेडगोल्ड के इस वर्गीकरण की अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। इन आलोचकों का कहना है कि इन दोनों प्रकारों की मानसिक दुर्बलताओं के लक्षण काफी मिलते–जुलते हैं तथा कभी–कभी यह ज्ञात करना बड़ा ही कठिन हो जाता है कि अमुक लक्षण का कारण वंशानुगत है या अर्जित।

(द) लेविस के अनुसार मानसिक दुर्बलता के प्रकार – लेविस ने भी मानसिक दुर्बलता को दो प्रकारों में बाँटा है–

(क) उप–सांस्कृतिक मानसिक दुर्बलता– इस प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों से अधिक भिन्न नहीं दिखाई पड़ते। इसका प्रमुख कारण यह है कि इनमें शारीरिक दोषों का अभाव रहता है। इस प्रकार की दुर्बलता का कारण वंश–परम्परा होती है।

(ख) विकारात्मक मानसिक दुर्बलता– उप–सांस्कृतिक मानसिक दुर्बलता के व्यक्तियों की अपेक्षा इस वर्ग में आने वाले व्यक्तियों में शारीरिक दोष स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं तथा ये व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में यह भी वर्गीकरण पूर्णतः ठीक नहीं है।

(ग) उपचार या कारण विज्ञान सम्बन्धी मानसिक दुर्बलता के प्रकार– कारण–विज्ञान के आधार पर मानसिक न्यूनता को 8 मुख्य समूहों में बाँटा जा सकता है। इन आठ समूहों में वह मानसिक न्यूनता भी सम्मिलित है जो निम्नलिखित कारणों से उत्पन्नों रोग से सम्बन्धित है–

(i) संक्रमण
(ii) मत्तता
(iii) आघात
(iv) चयापचय, बुद्धि, पोषण सम्बन्धी विकार
(v) नई वृद्धियाँ
(vi) अज्ञात पैतृक प्रभाव
(vii) अज्ञात आंगिक कारण
(viii) अज्ञात मानसिक कारण

निम्नलिखित मानसिक न्यूनता के रोगियों का विवरण आवश्यक है–

(i) सरल बुद्धिभ्रंश
(ii) मंगोलिज्म
(iii) माइक्रोसेफैली या लघुशीर्षता

(iv) जलशीर्षता या हाइड्रोसेफैली

(v) क्रेटेनिज्म

(vi) जन्मजात सिफलिस

(vii) जड़–विद्वान

मुख्य रूप से उपचार सम्बन्धी मानसिक दुर्बलता के प्रकार निम्न हैं–

(क) सरल बुद्धिभ्रंश –इस प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में कोई विशिष्ठ शारीरिक या मानसिक लक्षण नहीं पाये जाते जिसके आधार पर सामान्य व्यक्तियों से भेद किया जाये, फिर भी कुछ शारीरिक दोष, ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है, जैसे ये प्रायः छोटे कद व आकर्षण–विहीन शक्ल–सूरत वाले होते हैं। इसका प्रमुख कारण वंश–परम्परा होता है। इसमें से 2/3 मूर्ख व शेष मूढ़ हाते हैं।

(ख) मंगोलिज्म–इस प्रकार के व्यक्तियों में कुछ विशेष प्रकार के शारीरिक व मानसिक लक्षण पाए जाते हैं जिसके कारण इन्हें सामान्य व्यक्तियों से पृथक् करना आसान होता है। इनका सिर छोटा व गोल, धँसी हुई आखे, नाक छोटी व चपटी, नाटा कद, हाथ छोटे परन्तु मोटे होते है। जन्म के समय ही ये लक्षण उनमें विद्यमान होते हैं परन्तु इनकी मात्रा सभी मंगोलों में एक समान नहीं होती तथा कुछ लक्षण तो बाद में समाप्त भी होते हैं अमरीका में इनकी संख्या– 1,00,000 है। इनकी मानसिक आयु की सीमा 7 साल से अधिक नहीं होती है। औसतन जीवनकाल 10 वर्ष का होता है। इनकी ज्ञानात्मक व क्रियात्मक क्षमताओं में कोई विशेष विकृति नहीं पायी जाती। देखने में ये बड़े ही हँसमुख स्वभाव के होते हैं परन्तु लक्षण अवश्य ही मंगोलियन जाति के समान लगते हैं। इनके कारणों के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। बेण्डा ने पिट्यूटरी ग्रन्थि के विसन्तुलित स्त्राव को ही इसका एकमात्र कारण माना है, जबकि अन्य मनोवैज्ञानिकों ने वंशपरम्परा, मदिरापान, सिफलिस आदि को इसका कारण माना है।

(ग) माइक्रोसेफेली या लघुशीर्शता– इस प्रकार के रोगियों की प्रमुख विशेषता यह होती है कि इनका सिर बहुत छोटा होता है। सिर की परिधि करीब 17 इंच होती है तथा आकृति शुण्डाकार होती है। कान व भौह के ऊपर के भाग का समुचित विकास न होने के कारण इनका सिर देखने में बड़ा ही विचित्र लगता है। ये मुर्ख कम होते हैं, जड़ या मूढ़ अधिक। ये प्रायः बड़े चंचल व फुर्तीले होते हैं। इनकी संख्या बहुत कम होती है। इसके दैहिक गुण के सम्बन्ध में उचित जानकारी प्राप्त नहीं है। टेड्रगोल्ड के अनुसार, कीटाणु की विकृत विभिन्नता ग्रीनफील्ड व वुल्फसन के अनुसार गर्भस्थ अवस्था में मैनेन्जाइटिस के प्रभाव के कारण यह रोग उत्पन्न होता है।

(घ) जनशीर्षता या हाइड्रोसेफेली– इनकी खोपडी अपेक्षाकृत बड़ी होती है। इसकी परिधि 30 इंच से कम नहीं होती है। व्यक्ति के सिर का बड़ा होने का प्रमुख कारण क्रेनियम में मस्तिष्क सौशुनिम्नक द्रव का अधिक मात्रा में एकत्रित होना है। अधिक मात्रा में इस द्रव के एकत्रित हो जाने व उचित प्रवाह रूक जाने से सिर बड़ा हो जाता है। अन्य विद्वान इसका कारण मानसिक आघात, जन्मजात सिफलिस आदि मानते हैं।

(ङ) क्रेटिनिज्म– क्रेटिनिज्म प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में कुछ ऐसे विशेष लक्षण विद्यमान होते हैं जिनके आधार पर अन्य प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्तियों में अन्तर किया जा सकता है। इनका कद छोटा, मोटी पलकें, रूखी व मोटी त्वचा, शरीर पर अधिक घने बाल, मोटे होंठ होते हैं। ये लक्षण जन्म के समय पर ही विद्यमान होते हैं परन्तु 6–7 महीने तक पहचानना प्रायः कठिन होता है। इनकी क्रियात्मक क्षमताओं का विकास भी बहुत धीरे–धीरे होता है। देर से भाषा–विकास होता है तथा बुद्धि व संवेगात्मक विकास भी धीरे–धीरे होते हैं।

(च) जन्मजात सिफलिस– इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता का मूल आधार सिफलिस है। इस प्रकार के बच्चों में अधिकाशतः जड़ या मूढ़ होते हैं। सामान्यतया इनके अंगों पर लकवा का असर होता है। इस श्रेणी में लगभग 5 प्रतिशत व्यक्ति आते हैं, अन्धापन, गूँगापन आदि लक्षण भी कुछ रोगियों में मिलते हैं।

(छ) जड़ विद्वान– इसमें कई प्रकार के शारीरिक व मानसिक दोष विद्यमान रहते है। लेकिन वे कुछ विशेष प्रकार के होते हैं। इसमें बुद्धि मूढ़ की तुलना में अधिक होती है। इसी कारणवश इन्हें जड़ विद्वान कहा जाता है। इनकी स्मरण–शक्ति अच्छी होती है तथा इनमें यान्त्रिक योग्यता भी होती है। इस प्रकार के मानसिक दुर्बल व्यक्ति बहुत दिखाई देते हैं।

31.2.5 मानसिक मंदता का फलानुमान

मानसिक मन्दन के साधारण और तीव्र बौद्धिक स्तर के रोगियों में से लगभग 75 प्रतिशत रोगी उपचार के बाद परिवार में रहने लायक हो जाते हैं। मानसिक मन्दन संस्थाओं में भर्ती होने वाले सभी रोगियों में वे रोगी जिनकी आयु 10 से 20 वर्ष तक होती है उनके उपचार में अन्य आयु–स्तरों के रोगियों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

मानसिक मन्दन की मात्रा जितनी ही कम होती है, उपचार में सफलता उतनी ही अधिक प्राप्त होती है। परिवार का वातावरण रोगी के लिए जितना ही अधिक उपयुक्त होता हो उपचार उतने ही शीघ्र और सफलतापूर्वक होने की आशा होती है।

31.2.6 मानसिक दुर्बलता का उपचार एवं रोकथाम–

मानसिक दुर्बलताओं की जटिलता को देखते हए यह कहा जा सकता है कि इसका उपचार अत्यन्त कठिन है। पूर्ण से इसका उपचार सम्भव हीं नहीं है, आंशिक रूप से प्रयास किये जा सकते हैं। इसके लिए कुछ सुझाव दिये गये हैं–

1– **मानसिक रूप से क्षीण एवं दुर्बल माता–पिता को संतानोत्पति से रोकना–**ऐसे उपाय करना जैसे गर्भ निरोधक गोलियां या "Sterilization" जिनसे ऐसे माता–पिता की सन्तान न हो सके। पेज के द्वारा इस विधि से लगभग 15 प्रतिशित मानसिक दुर्बलता में कमी लायी जा सकती हैं।

2– **सामाजिक संरक्षण एवं माता–पिता को प्रशिक्षण–** मन्द बुद्धि बालकों को सामाजिक संरक्षण भी प्रदान किया जा सकता है साथ ही उन माता–पिताओं को जिनका एक बच्चा मन्द बुद्धि है तथा अन्य सामान्य, यह प्रशिक्षण देना आवश्यक है कि वे अपने दुर्बल बच्चे का तिरस्कार या अपमान न करे, उसे सामान्य बच्चे के समान ही रखें, उसकी परवाह करें तथा उचित साधनों से उसका विकास एवं शिक्षा पर उचित ध्यान दें। मानसिक रूप से पिछले बालकों की अवेहलना करने पर उनमें संवेगात्मक अस्थिरता आ जाती है। इसके लिए घर का प्रशिक्षण (Home training) की व्यवस्था करनी चाहिए।

3– **मन्द बुद्धि बालकों को प्रशिक्षण–** विभिन्न विद्यालयों में मन्द बुद्धि बालकों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं तथा समयोजन के लिए उचित प्रशिक्षण व्यवस्था होनी चाहिए।

4– **मन्द बुद्धि बालकों का उचित व्यवहार एवं स्नेह द्वारा उनका मनोबल बढ़ाना–** ऐसे बच्चों को कोई अभिशाप न समझ कर उन्हें उचित प्रोत्साहन एवं प्रेरणा प्रदान कर उन्हें समाज का ही एक अंग समझना चाहिए।

5– **व्यावसायिक प्रशिक्षण–**विभिन्न समाज सेवी संस्थाओं द्वारा "Schools mentally retarted children" की स्थापना करनी चाहिए। इसमें सरकार द्वारा भी सहायता प्रदान करनी चाहिए जिसमें विभिन्न प्रकार के कार्य जो आगे चलकर उनको जीविका उपार्जन में सहायता कर सके, सिखाने चाहिएं उससे बच्चों में आत्म विश्वास उत्पन्न होता है।

इस कार्य के लिए ऐसी कार्यशालाएं बनानी चाहिए जिससे उन्हें अपनी योग्यता के अनुसार प्रशिक्षण मिल सके तथा कार्य तथा योग्यता के अनुसार पारिश्रमिक भी मिल सके।

6– **मन्द बुद्धि तथा सामान्य का पालन–पोषण अलग–अलग करना–** सामान्य बालकों में रहने से मन्द बुद्धि बालकों को उपेक्षा का अनुभव हो सकता है तथा हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि सामान्य बुद्धि उनसे हर क्षेत्र में आगे निकल जाता है। इसके लिए उनके शिक्षण एवं अन्य विकास के लिए अलग व्यवस्था होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त कुछ सुझाव संक्षेप में इस प्रकार हैं–

(i) मन्द बुद्धि बच्चों को उपयुक्त चिकित्सा प्रदान हो।

(ii) किसी भी संक्रमण रोग के उपचार की समय से व्यवस्था हो।

(iii) उन्हें ऐसा आहार मिले जो उन्हें शारीरिक एवं मानसिक पोषण प्रदान करें।

(iv) प्रायः जन्म कराते समय किसी आघात या चोट लगने से भी मानसिक मन्दता आ जाती है। अतः बच्चे के जन्म के समय कुषल चिकित्सकों एवं सावधानी की उपयुक्त व्यवस्था हो।

(v) सामान्य माता–पिता को भी इस बात का ज्ञान कराना चाहिये कि वे कौन–कौन सी सावधानियां लें जिससे एक सामान्य स्वस्थ बच्चे को जन्म दिया जा सकें?

इस प्रकार मानसिक मन्दन एक प्रकार की दुर्बलता है जो बच्चे इससे ग्रसित होकर जन्म ले लेते हैं उनकी देखे–रेख उचित पालन–पोषण एवं मानवीय दृष्टिकोण को विकसित करना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही ऐसे उपाय भी नितान्त आवश्यक हैं जिनसे बच्चे के जन्म के समय मानसिक मन्दन से बचाया जा सके।

पेज का विचार है कि "Medical advances and infant care" से मानसिक मन्दता को रोका जा सकता है। इन सन्दर्भ में पेज ने मानसिक मन्दता के उपचार एवं रोकथाम के लिए निम्न उपाय बताये हैं–

1– माता–पिता की शिक्षा

2– स्कूल प्रशिक्षण

3– मानसिक देख–रेख

4– पारिवारिक देख–रेख

5– व्यावसायिक प्रशिक्षण

6– बन्ध्याकरण

"Mentaly retarted" बच्चों के उपचार के सम्बन्ध में कोलमैन का विचार है कि उचित प्रशिक्षण तथा शिक्षा इन दुर्बल बुद्धि वाले बच्चों को समाज में एक ऐसा स्थान मिल सकता है जिससे वह स्वयं में आत्म–विश्वास उत्पन्न कर सकें तथा अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बन कर समाज के एक सामान्य सदस्य बन सकें।

31.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में मानसिक मंदता के बारे में विस्तृत रूप से चर्चा की गई है, जिसमें मानसिक मंदता के अर्थ तथा परिभाषाओं पर प्रकाश डाल गया है। इसी इकाई में मानसिक मंदता संबंधी दृष्टिकोण जैसे–सामाजिक, शैक्षिक, वैधानिक, चिकित्सकीय तथा मनोवैज्ञानिक के बारे में वृहद् प्रकाश डाला गया है, जिसके आधार पर मानिसक मंदता को बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। इसी में मानसिक मंदता के लक्षणों के बारे में बताया गया है तथा मानसिक मंदता का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है। इकाई के अंत में मानसिक मंदता का फलानुमान तथा इसके उपचार एवं रोकथाम की भी चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

31.4 पारिभाषिक शब्दावली

मानसिक मंदता– मानसिक मंदता एक ऐसी दशा है जिसमें बौद्धिक योग्यता का अभाव होता है। इसके लिए कई नामों का प्रयोग किया जाता है, जैसे–क्षीणमनस्कता या मनोदौर्बल्य, मानसिक असामान्यता, मस्तिष्क निर्बलता, अल्प मानसिकता इत्यादि।

31.5 संदर्भ ग्रंथ सूची

1– सिंह, डा. लाभ एवं तिवारी, डा. गोविन्द, असामान्य मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा वर्ष–2001, पृष्ठ 518–519

2– मिश्र, पी.डी. एवं मिश्र, बीना, असामान्य व्यवहार, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ वर्ष–1999 पृष्ठ– 468–469

3– श्रीवास्तव, डा. डी.एन., आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, तृतीय संस्करण वर्ष–1892, पृष्ठ–389

31.6 अभ्यास प्रश्न

लघु– (1) मानसिक मंदता को परिभाषित कीजिये?

(2) मानसिक मंदात के लक्षणों को लिखिए।

विस्तृत (1) मानसिक मंदता सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालिये

(2) मानसिक मंदता का वर्गीकरण कीजिए।

इकाई 32 लैंगिक विकास एवं लैंगिक विकृतियाँ (Sexual Development and Sexual Disorders)

इकाई की रूपरेखा

32.0 उद्देश्य

32.1 प्रस्तावना

32.2 लैंगिक विकास

32.2.1 जन्म प्रक्रिया का महत्व

32.2.2 लैंगिक विकास के स्तर

312.2.1 मौखिक अवस्था

32.2.2.2 गुदा अवस्था

32.2.2.3 शैश्नावस्था

32.2.2.4 अव्यक्त अवस्था

32.2.2.5 जनन अवस्था

32.3 लैंगिक विकृतियाँ

32.3.1 लैंगिक विचलन की परिभाषा

32.3.2 लैंगिक विचलन के कारण

32.3.3 लैंगिक विकृतियों के प्रकार

32.3.3.1 सामान्य लैंगिक विचलन

32.3.3.2 असामान्य लैंगिक विचलन के तरीके

32.3.3.3 सामाजिक रूप से संगठित समूह के तरीके

32.4 सारांश

32.5 शब्दावली

32.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

32.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

32.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई में लैंगिक विकास एवं लैंगिक विकृतियों की चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

(1) लैंगिक विकास के विषय में जान सकेंगे,

(2) बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के विषय में जान सकेगे,

(3) फ्रायड के सिद्धांत को समझेगे,

(4) लैंगिक विकृतियों को समझ सकेंगे।

32.1 प्रस्तावना (Introduction)

व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कई स्तरों से होकर गुजरता है। हर स्तर पर उसमे कुछ परिवर्तन होते है और ये परिवर्तन उसे एक सम्पूर्ण व्यक्ति बनाते है। हालाँकि व्यक्तित्व का विकास कई कारकों पर निर्भर करता है। परन्तु मुख्य तौर पर व्यक्तित्व का विकास लैंगिक विकास पर आधारित होता है। एक शिशु के जीवन के प्रारंभिक काल में संवेदन अस्पष्ट और अव्यवस्थित होते है। उम्र के साथ–साथ इनमें अंतर आता जाता है और बालक जैसे–जैसे बड़ा होता है उसमे सारे परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देने लगते है। बालक में होने वाले यह परिवर्तन उसके लैंगिक विकास के कारण ही होते है। व्यक्ति में उम्र के साथ ही साथ लैंगिक विकृतियों भी परिलक्षित होने लिगती है और वह लैंगिक सुख के लिए इन विकृतियों को अपनाता चला जाता है और यह विकृतियाँ उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाती है। यह इकाई लैंगिक विकास के सभी चरणों का अध्ययन करती है। तत्पश्चात यह लैंगिक विकृतियों को विस्तार से बताती है, जिसमें लैंगिक विकृतियों के प्रकार एवं उनके आने के कारणों को भी समझाया गया है।

32.2 लैंगिक विकास (Sexual Development)

व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास लैंगिक विकास पर आधारित होता है। फ्रायड ने लिंग के महत्व को लिबिडो (Libido) के रूप में कहकर विश्लेषित किया है। उन्होंने इसका प्रयोग लैंगिक चालकों तथा लैंगिक मूल प्रवृत्तियों के लिए किया है, और लैंगिक चालको को मानव व्यवहार में केन्द्रित स्थान प्रदान किया हैं। इसके अन्तर्गत सभी चालकों (Drive) को सम्मिलित किया जाता है तथा जिनका उद्देष्य लोगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध निर्माण करना होता है। लैंगिक चालकों के सम्बद्धात्मक तत्व को लैंगिक चालकों की कैथॉक्सी (Cathoxi) के रूप में समझा जा सकता है। उनकी

अभिव्यक्ति किसी उद्देश्य के या स्थिति हो, होती है। वे सभी प्रकार के माननीय सम्बन्धों बालक तथा उसके स्वयं के, बालक तथा उसके माता–पिता, भाई–बहनों बालक तथा उसके साथियों, पुरूष तथा स्त्री आदि के मध्य आधार होते हैं। जब व्यक्ति सम्बन्धा स्थापित करने में असफल हो जाता है तो उसमें व्यवधान उत्पन्न हो जाते हैं तथा लैंगिक समायोजन विघटित हो जाता है।

लैंगिक चालकों के तीन कारकों को महत्वपूर्ण बताया गया है–

(1) वे मानवीय सम्बन्धों के आधार पर निर्माण करनें में सहायता होते है।

(2) वे सदैव व्यक्ति के साथ तथा उसमें अन्तर्निहित होते हैं। लैंगिक चालकों की उत्पत्ति दैहिक होती है। अतः वे सदैव विद्यमान होते हैं व्यक्ति को इनसे दूर नहीं किया जा सकता है। उनकी निरन्तर

अभिव्यक्ति होती है। इसके साथ–साथ तीव्रता की विशेषता भी होती है।

(3) लैंगिक चालक अतिरिक्त शक्ति प्रदान करते हैं।

32.2.1 जन्म प्रक्रिया का महत्व (Importance of Birth Process)

आटो रैंक ने सर्वप्रथम व्यक्तित्व विकास में जन्म क्रिया के महत्व दिया। नवजात शिशु जब प्रथम बार माता से पृथक होता है तो उसको अत्यन्त कष्ट एवं असुरक्षा की भावना का सामना करना पड़ता है। उसमें भग्नाशा के लक्षण उत्पन्न होते हैं। चिन्ता प्रतिक्रिया का प्रारम्भ यहीं से होता है।

फ्रायड ने कहा कि जन्म की प्रक्रिया प्रथम विषम एवं खतरनाक स्थिति उत्पन्न करती है, जिससे चिन्ता प्रतिक्रिया की नींव स्थिर होती है।

32.2.2 लैंगिक विकास के स्तर (Stages of Sexual Development)

लैंगिक विकास को मनोवैज्ञानिकों ने 5 स्तरों में वर्गीकृत किया है, जिनमें भिन्न–भिन्न लैंगिक लक्षण बालक में उत्पन्न होते हैं, परन्तु ये अवस्थायें एक–दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित हैं और उनको पूर्णतः पृथक नहीं किया जा सकता है। लैंगिक विकास को स्पष्ट करने के लिए अवस्थाओं का वर्णन आवश्यक है।

1. मौखिक अवस्था (Oral Stage)
2. गुदा अवस्था (Anal Stage)
3. शैस्नावस्था (Phallic Stage)
4. अव्यक्त अवस्था (Latency Stage)
5. जननेन्द्रिय अवस्था (Genital Stage)

32.2.2.1 मौखिक अवस्था (Oral Stage)

लैगिक विकास की पहली अवस्था मौखिक अवस्था कहलाती है। जो जन्म से लेकर लगभग 18 महीने तक जारी रहती है। इस अवस्था में लिबिडो (Libido) मुँह में रहता है अतः मुँह को कामुकता क्षेत्र कहा जाता है। बच्चा अपनी कामुकता या लिबिडों की अभिव्यक्ति स्तनपान या चूषण से करता है। दूसरे शब्दों में बच्चा बपनी लैंगिक आनंद की पूर्ति माँ के स्तर, वस्तुओं को काटकर, या अंगूठा चूसकर करता है। मौखिक अवस्था में इसे दो स्तरों में बाँटा जा सकता है–

(अ) मौखिक चूषण स्तर (Oral Suking Stage)

मौखिक चूषण अवस्था जन्म से लेकर 8 माह की अवस्था तक चलती है। जिसके करण चिंता के लक्षण उत्पन्न होते है। नवजात शिशु को श्वसन स्वतन्त्रता तथा उसके उत्तरदायित्व को ग्रहण करने के कारण भग्नाशा का अनुभव होता है। उसमें आत्म, अहं तथा पराहं व वास्तविकता का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। उसकी अवश्यकतायें सीमित होती हैं। जब वह भूखा समय उसको मनोवैज्ञानिक दुखद परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। माता के स्तनपान से उसकी भूख मिट जाती है। वस्त्रों (Dress) का उसे कोई आभास नहीं होता है। इस स्तर में स्तनपान से ही उसे लैंगिक सुख प्राप्त होता है। मौखिक चूषण काल के अन्तिम समय में अहं का विकास प्रारम्भ हो जाता है तथा उसको वास्तविकता का ज्ञान होना प्रारम्भ होता है। इसीलिए फ्रायड ने कहा है कि शैश्व लैंगिकता वास्तव में स्वकमुक होती है। इसका अर्थ यह है कि कामुक तथा ध्वंसात्मक प्रवर्त्तियों के होते हुए भी मौखिक चूषण अवस्था में केवल कामुकता का भाव ही सक्रिय रहता है।

(ब) मौखिक काटने का स्तर (Oral Biting Stage)

यह अवस्था 7 माह से 18 माह तक चलती है। इसमें बालक के दाँत निकलने प्रारम्भ हो जाते हैं तब वह उग्रात्मक व्यवहार को अपनाने में समर्थ हो जाता है। बालक का लिबिडो उसके होंठ पर खिसक आता है। उसे काटने में अधिक आनन्द मिलता है। वह माँ के स्तन को काटना प्रारंभ कर देता है। इस स्तर में सुख प्राप्त करने का माध्यम काटना, निगलना तथा चूसना होता हैं बालक आक्रामकक इच्छाओं के कारण वह माता–पिता के प्रति उभयमुखी हो जाता है। अर्थात् वह प्रेम घृणा दोनों प्रदर्षित करती है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत सफाई पर भी महत्व एवं ध्यान देना प्रारम्भ होता है। इस समय उसमें अहं का भी प्रादुर्भाव होता है जिसके द्वारा अपने तथा दूसरों के अस्तित्व का ज्ञान होने लगता है।

32.2.2.2 गुदा अवस्था (Anal Stage)

यह अवस्था बारह महीने से शुरू होकर चार वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में कामुकता क्षेत्र गुदा में होता है। लिबिडो बालक के मुँह से हटकर गुदा क्षेत्र में चला जाता है। गुदा अवस्था को भी दो कालो (Period) में विभाजित कर सकते हैं–

(अ) गुदा परितत्यागात्क काल (Anal Expulisive Periods)

(ब) गुदा धारणात्मक काल (Anal Retaintive Periods)

(अ) गुदा परित्यागात्मक काल (Anal Expulsive Period)

इस काल में बालक मलमूत्र त्यागने में लैंगिक आनन्द प्राप्त करना है क्योंकि भोजन की प्राप्ति के साथ–साथ उत्पन्न मल के एकत्रीकरण से शरीर में तनाव उत्पन्न होता है। इस तनाव को मलमूल त्यागने से ही बालक दूर करता है जिससे उसें सुख की अनुभूति होती है। सर्वप्रथम कोई कार्य को करने से पहले उसे मलमूत्र त्यागने का आदेश दिया जाता है। इस व्यवहार से उसे ज्ञात होता है कि यह कोई गन्दा प्रदार्थ है जिससे छुटकारा पाना आवश्यक है। प्रातः काल इस बात के लिए बहुत जोर दिया जाता है। जब बालक के प्रतिकूल स्थिति होती है तो वह आक्रामक प्रवृत्ति के कारण अधिक मलमूत्र करने लगता है। इसमें सुखद सिद्धान्त का महत्व घटने लगता है। पराहं का भी विकास अवस्था में प्रारम्भ हो जाता है। बालक माता–पिता की सफाई सम्बन्धी शिक्षा का उचित पालन नहीं कर पाता है। बालक माता–पिता की सफाई सम्बन्धी शिक्षा का उचित नहीं कर पाता है जिसके कारण नैराष्य की भावना उत्पन्न होती है। यह बालक के लिए मनोवैज्ञानिक आघात होता है।

(ब) गुदा धारण काल (Anal Retaintive Period)

गुदा धारण काल में वह मलमूत्र रोकने, उस पर नियन्त्रण करने तथा धारण करनें में सामाजिक मूल्य को समझता है। यह काल 12 माह से 4 वर्ष तक चलती है। गुदा व्यवहार की अंतिम भग्नाषा चौथे वर्ष घटित होती है। इस अवस्था में दूसरे प्रकार की सक्रियता होने लगती हैं जिसकों जननीयता कहते हैं। उसकों वास्तविकता के परीक्षण का अवसर मिलता है, उसे लगता है कि अपने आप खड़ा होना है। इस समय माता–पिता अपना ध्यान इस ओर से हटा लेते है। जिसके कारण यह बालक के लिए अत्यन्त कष्ट कर मनोवैज्ञनिक आघात होता है।

32.2.2.3 शैश्नावस्था (Phallic Stage)

इस अवस्था का प्रारम्भ 3–5 वर्ष की अवस्था तक रहती है। इस अवस्था में जनेंद्रियाँ में लिबिडो चला आता है। इस काल में बालक की रूचि जननेन्द्रियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है वह जननेन्द्रियों को स्पर्श करने में सुख की अनुभूति करता है। इस अवस्था में बालक में प्रदर्शन प्रवृत्ति होती है वह स्वयं नंगा रहना पसन्द करता है वह दूसरों को नंगा देखना पसन्द करता है। बालक अपने लैंगिक प्रेम का विषय माता को बनाता है। वह सोचता है कि जिससे उसे प्रेम है वह पिता के अधिकार में है। अतः बालक पिता के प्रति घृणा करने लगता है। वह पिता के गुणों का अन्तर्क्षेपण माता पर अधिकार करने के उद्देश्य से करता हैं। अतः उसमें पराहं का विकास होता है। बाल यौन क्रिया को समझने लगता है क्योंकि बालिकायें बालक को देखकर ईर्श्या करने लगती हैं। वह माता को अपना दुश्मन समझती है जिसके कारण पिता से प्रेम नहीं सकती । इस प्रकार लड़कियों में पितृ मनोग्रन्थि का विकास होता है। मातृ मनोग्रन्थि या आडिपस काम्लेक्स की धारणा का विकास फ्रायड ने किया था। आडिपस काम्लेक्स शब्द यूनानी भाषा का है जिसकी व्याख्या से ज्ञात होता है कि आंडिपस नामक युवक ने अपने पिता की हत्या करके माता से विवाह कर लिया था। अतः मातृ मनोग्रन्थि का तात्पर्य पुत्र की माता से कामेच्छा तथा पिता के प्रति घृणा की भावना से होता है। पितृ मनोग्रन्थि का तात्पर्य पुत्री का पिता से प्रेम तथा माता के प्रति घृणा की भावना होती है। फ्रायड का मत है कि लड़की अपनी माँ को अधिक पसन्द करती है, परन्तु समलिंग होने से रूचि कम हो जाती है और विषमलिंगी जो कि पिता होता है, की ओर आकर्षित हो जाती है। फेनिकल का विचार है कि मातृ नोग्रन्थि पर पारिवारिक, सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

32.2.2.4 अव्यक्त अवस्था (Latent Stage)

बालक 5वें से नवें वर्ष की अवस्था में शैशवा कामुकता का सामाजिक परिणाम समझने लगता है जिसके कारण उसको दमित करना प्रारम्भ कर देता है। धीरे–धीरे वह चेतन स्तर पर लैंगिक मामलों के सम्बन्ध में रूचि समाप्त करता जाता है। यह कार्य धीरे से सम्पन्न होता है। सभी व्यक्तियों को 13–14 वर्ष की अवस्था में लैंगिकता का पुनः विकास होता है। इसमें जनन आयु प्रारम्भ होती हैं। इस अवस्था में बच्चे यौन क्रियाओं में रूचि नहीं लेते है। अव्यक्त काल में प्रतिक्रिया निर्माण दमन को अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। जिससे लैंगिक सुप्तावस्था में चली जाती है, वह बाह्य पर्यावरण से अधिक ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रवृत्ति व इच्छा के कारण समूह का सदस्य बनता है तथा खेलकूद, भागने दौड़ने आदि में रूचि लेता है। उसमें पराहं का विकास होता है। इस अवस्था में लैंगिक इच्छा का उदात्तीकरण हो जाता है और

शिक्षा के रूप में इसका विकास होता है। भिन्न–भिन्न व्यवहारों का अर्थ एवं महत्व यहाँ सीखता है।,

32.2.2.5 जनन अवस्था (Genital Stage)

यह अवस्था छह से बारह वर्ष तक जारी रहती है। तरूण अवस्था के प्रारम्भ से ही शैशव कामुकता का पुनः विकास होने लगता है। बालक–बालिकाओं में लैंगिक भावना एवं इच्छा पुनः जागृत होकर चेतन अवस्था में आ जाती है। वे लिंग को जनन के रूप में देखने लगते हैं और एक–दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं तथा दूसरे के प्रति आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। मुख व गुदा कामुकता का विकास होता है। हस्तमैथुन का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाता है। लड़के व लड़कियों में सामाजिक दूरी होने के कारण समलिंगी विचार उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में शारीरिक व मानसिक तनाव अधिक होता है। लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है तथा लैंगिकता उत्तेजित होती है और लैंगिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। किशोरावस्था में बालक–बालिकायें अपने लैंगिक अंगों से व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बेचैन रहते हैं। लड़कियों को जब मासिक धर्म होता है वे अधिक चिंतित एवं परेशान होती है। उनको अपने स्त्रीत्व का ज्ञान होता है। मुख्य विशेषता यह है कि दोनों लिंग के व्यक्ति एक–दूसरे से संभोग करना चाहते हैं। यह भावना अत्यन्त प्रबल हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लैंगिक विकास की कई अवस्थाएं होती है। हरेक अवस्था की अपनी विशेषता होती है जिसका प्रभाव सामान्य एवं असामन्य व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। फ्रायड के विचारां की आलोचना करते हुए कार्ल पॉपर कहते है कि फ्रायड के विचारों को आनुभविक रूप से प्रमाणित करना असंभव है। फिशर तथा ग्रीनबर्ग ने कहा है कि फ्रायड का शोध एक संस्कृति विशेष के उच्च सामाजिक आर्थिक की विक्षुब्ध स्त्रियों पर आधारित था। जिसे सब पर लागू नहीं किया जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी (1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

(2) इस इकाई के अंत में दिए गए उतारों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

(1) लैंगिक विकास के स्तरों को बताइये?

.....

.....

(2) अव्यक्त अवस्था तथा जनन अवस्था में भेद कीजिये।

.....

.....

(3) ऑडिपस से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

32.3 लैंगिक विकृतियाँ (Sexual Disorders)

लैगिंक विकृतियों से तात्पर्य उन लैगिक विकृतियों से है जो कानून या समाज द्वारा निर्धारित लैगिक व्यवहार प्रतिरूपों अथवा मानदण्डों से भिन्न होते है। इस अर्थ में समजाति लैगिकता, वस्तु कामुकता, बलात्कार, हस्तमैथुन आदि लैगिक विकारों के प्रकार हैं।

32.3.1 लैंगिक विचलन की परिभाषा (Definition of Sexual Disorder)

कैमरान (1963) के अनुसार "लैंगिक विकृतियाँ लैंगिक व्यवहार के वह रूप है जिसमें व्यक्ति अवसर होते हुए भी विपरीत लिंग के व्यकित के साथ सम्भोग न कर अन्या साधना द्वारा अपनी काम–इच्छा की पूर्ति करता है।"

ब्राउन (1940) के अनुसार "वह समस्त लैंगिक व्यवहार, तकनीकी आधार पर विपर्यस्त होतें हैं, जिनमें वह अपने भवोन्मत्त लैंगिक तनाव की मुक्ति विपरीत लिंग के व्यक्ति के साथ सम्भोग द्वारा न करके किसी अन्य प्रकार के साधन द्वारा होता है।

इंगलिश और इंगलिश (1980) के अनुसार "लैंगिक विचलन लैंगिक व्यवहार का वह सतत् रूप है जो किसी समाज के स्वीकृत स्वरूप में इतना भिन्न होता है कि उसे विकृतजन्य कहा जाता है यद्यपि विकृतजन्य रूप से भिन्न या सामान्य रूप से भिन्न लैंगिक व्यवहारों के प्रतिमानों के मध्य स्पष्ट रेखा खींचना सम्भव नहीं है, परन्तु वह लैंगिक व्यवहार जो किसी देश के कानून द्वारा स्वीकृत नहीं है, लैंगिक विचलनों के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते हैं।"

लैंगिक विचलन की कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करना कठिन है फिर भी यदि कामुक विचलन को विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाय तो कोलमैन (1976) के विचार पर्याप्त हैं। कलमैन (1976) के अनुसार, "विस्तृत अर्थो में कामुक विचलन का अभिप्रायः उस कामुक व्यवहार से है जो एक समाज विशेष की सामजिक रूढ़ियों और सामजिक नियमों से संबंधित प्रचलित कामुक प्रतिमानों से भिन्न होता है।"

32.3.2 लैंगिक विचलन के कारण (Causes of Sexual Disorder)

1. अधिगम और पुनर्बलन

वयस्क व्यक्तियों में कामुक व्यवहार का विकास एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है। इसके विकास में अधिगम और पुनर्बलन का बहुत महत्व है। समाजीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत ही प्रत्यके व्यक्ति कामुक व्यवहार का अधिगम होता है। कामुक व्यवहार के अधिगम में सूचना का बहुत अधिक महत्व होता है। अपर्याप्त और त्रुटिपूर्ण सूचना के आधार पर कोई व्यक्ति कामुक व्यवहार में विचलित हो सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति अनुकरण करके कर सकता है। यदि वह ऐसे प्रतिरूपों के कामुक व्यवहार का अनुकरण करता है जिनका कामुक व्यवहार समाज कें प्रचलित व्यवहार के अपेक्षा भिन्न है तो निश्चित ही अनुकरण द्वारा सीखा गया कामुक व्यवहार भी विचलनयुक्त होगा। कामुक व्यवहार के अधिगम में पुरस्कार और दण्ड का भी बहुत अधिक महत्व है।

2. त्रुटिपूर्ण सूचना

अनेक समाजों में सैक्स के संबंध में खुलकर बातचीत करना निशिद्ध होता है। इस प्रकार के समाजों से सैक्स के संबंध में पर्याप्त सूचना के स्थान पर बहुधा त्रुटिपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। त्रुटिपूर्ण सूचना के कारण भी व्यक्ति का कामुक व्यवहार विचलनपूर्ण हो सकता है।

3. कामुक कुण्ठ और प्रतिबल

अनेक समाजों में विवाह होने तक सैक्स संबंधों पर प्रतिबन्ध होता है। किशोरावस्था में सैक्स अन्तर्नोद उत्पन्न होती है परन्तु प्रतिबन्ध के कारण सैक्स ऊर्जा का उपयोग नहीं होता है फलस्वरूप बाधा के कारण कुण्ठा उत्पन्न होती है। इस अवस्था में व्यक्ति प्रचलित कामुक प्रतिमानों के स्थान पर अन्य अपनी कामुक इच्छा की सन्तुष्टि करता है जिन समाजों में सैक्स सन्तुष्टि पर जितने अधिक प्रतिबंध होते हैं, वहाँ उतनी ही अधिक कुण्ठा उत्पन्न होती है और सैक्स सन्तुष्टि में विचलित व्यवहार अपनाने के उतने ही अधिक अवसर होतें हैं। एक अध्ययन में यह देखा गया है कि व्यक्ति परिस्थितियों में बलात्कार होने की सम्भावना अधिक होती है। यह भी देखा गया है कि व्यक्ति के जीवन

में कामुक इच्छाओं की सन्तुष्टि के जितने ही अधिक साधन और सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, उस व्यक्ति के विचलन कामुक व्यवहार प्रतिमानों के सीखने के उतने ही कम अवसर होते है।

4. मानसिक विकार

एक अध्ययन में यह देखा गया है कि कामुक विचलन व्यवहार करने वाले अधिकांश व्यक्ति विभिन्न मानसिक रोगों से पीड़ित होतें है। इस अध्ययन में यह देखा गया है कि कामुक विचलन व्यवहार की अभिव्यक्ति करने वाले 86 प्रतिशत व्यक्ति विभिन्न मानसिक रोगों से पिड़ीत होते हैं। इस अध्ययन में यह भी देखा गया है कि कामुक विचलन व्यवहार की अभिव्यक्ति केवल 14 प्रतिशत सामान्य व्यक्तियों नें की है। जिन मानसिक रोगियों में कामुक विचलन अधिक पाया जाता है, वे हैं– मनस्ताप से पीड़ित व्यक्ति, मनोविक्षिप्तता से पीड़ित व्यक्ति, मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति, दोषपूर्ण व्यक्ति वाले या वे सिग्मन्ड व्यक्ति जिनका मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होता है।

फ्रायड ने लैंगिक विकृतियों को दो भागों में बाँटा है।

(1) लैगिक आलम्बन में परिवर्तन

इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जो सम्भोग के लिए जननेन्द्रियों के स्थान पर दूसरे व्यक्ति के किसी अंग जैसे योनि के स्थान पर गुदाद्वार का उपयोग करते हैं।

2) लैंगिकता के उद्देश्य में परिवर्तन

इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जो जननेन्द्रियों का उपयोग लैंगिक कार्यो के लिए न करके अन्य कार्यो के लिए करते हैं।

इस प्रकार से जो व्यक्ति सामान्य लैंगिक व्यवहार नहीं करता है, लैंगिक अंगों का उचित उपयोग नहीं करता है तथा काम संतुष्टि में सामाजिक नियमों की अवहेलना करता है, वह लैंगिक रूप से विकृत माना जाता है।

32.3.3 लैंगिक विकृतियों के प्रकार (Types of Sexual Disorders)

लैंगिक विचलन का वर्गीकरण अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है। सामान्यतः निम्न प्रकार का व्यवहार लैंगिक विचलन माना जाता है। लैगिक विचलन मुख्यतः तीन तरीकों से होता है :–

1. सामान्य लैंगिक विचलन

हस्तमैथुन, पूर्व वैवाहिक सम्भोग, अतिरिक्त वैवाहिक सम्भोग, अनियमित सम्भोग आदि। इस प्रकार के व्यवहार को हमारे समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है परन्तु इससे कोई अधिक विचलन नहीं होता है।

(1) हस्तमैथुन

हस्तमैथुन एक लैंगिक विचलन है जिसमें कामवासना की सन्तुष्टि अपी जननेन्द्रियों को उत्तेजित हाथों द्वारा की जाती है। किन्से तथा उनके साथियों की खोज के अनुसार 62 प्रतिशत स्त्रियाँ तथा 92 प्रतिशत पुरूष किसी न किसी आयु में हस्तमैथुन करते है। अनुसंधान से पता चला है कि पुरूषों में विवाह से पूर्व होने वाला यह लैंगिक व्यवहार उच्च श्रेणी का व स्त्रियें में द्वितीय श्रेणी में होता है। इसमें हाथ के माध्यम से जननेन्द्रियों को उत्तेजित कर लैंगिक तनाव को कम किया जाता है। इस तरीके की धार्मिक, नैतिक तथा शारीरिक आधार पर निन्दा की जाती है। इससे शारीरिक कमजोरी तो नहीं आती है परन्तु मानसिक विघटन होता है, हीनभावना पनपती है तथा अपराध भावना की शुरूआत होती है। हस्तमैथुन करने वालों में पलायान की प्रवृत्ति विकसित होती है तथा साहस में कमी आती है।

(2) पूर्व वैवाहिक सम्भोग

किशोरावस्था में सम्भोग की इच्छा अत्यन्त प्रबल हो जाती है, परन्तु तब तक विवाह का कोई प्रबन्ध नहीं होता है। इसलिए लैंगिक सन्तुष्टि एक समस्या बन जाती है। इस प्रकार के सम्बन्धों से यद्यपि सम्बन्धित व्यक्ति को कोई हानि नहीं होती है, परन्तु सामाजिक स्वीकृति नहीं दी जाती हैं क्योंकि इससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है, दूसरे वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रह जाता है।

(3) अनियमित सम्भोग तथा बाल अपराध

18 वर्ष की कम आयु की लड़कियाँ जो अनियंत्रित लैंगिक सम्भोग करती है, उन्हें प्रायः लैंगिक बाल अपराधी कहा जाता है। इस प्रकार के व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृति नहीं प्राप्त है।

(4) पारिवारिक तरीके

अधिकांश बाल अपराधी लड़कियाँ इस प्रकार के व्यवहार को अपने माता–पिता द्वारा सीखते है। जब माता–पिता द्वारा अत्यधिक कठोरता का व्यवहार लड़के–लड़कियों के प्रति किया जाता है तो वे प्रतिशोध की भावना से जलने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वे लैंगिक अपराध होते है।

5) प्रमाण व्यवहार

कोई-कोई लड़कीं अपनी लैकिगता के प्रति शंकाकुल होती हैं। वह सिद्ध करना चहती है कि उसमें लैंगिकता है या नहीं, इस कारण लैंगिक सम्भोग करती हैं, इससे उसे शारीरिक सांवेगिक सुख व संतुष्टि प्राप्त होती है तथा इसकी आदि (अभ्यस्त) हो जाती है। इस प्रकार का व्यवहार केवल लड़कियों में ही नहीं बल्कि लड़कों में भी प्रदर्शित होता है।

6) मित्र समूह प्रारूप तथा दबाव

लैंगिक बाल अपराध व्यवहार प्रायः मित्र समूह, प्रारूप तथा दबाव के परिणामस्वरूप विकसित होता है। उदाहरण के लिए कुछ लड़कियाँ बाल अपराधी लड़कों के समूह से सम्बन्धित होती हैं तथा उनकों प्रत्येक सदस्य की सेवा करनी पड़ती है। कभी–कभी सामूहिक रूप से भी लैगिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं एवं सम्भोग होते है। मानसिक मंदता, मनोविदलता तथा व्यक्तित्व विकृति के कारण भी अनियमित लैंगिक सम्बन्ध स्थापित होते है।

(7) अतिरिक्त वैवाहिक सम्भोग

भातरवर्ष में अतिरिक्त वैवाहिक सम्भोग को विषम प्रकार का लैंगिक विचलन समझा जाता है इस प्रकार के व्यवहार में लड़की विवाह के पश्चात् भी अनियमित सम्भोग में रत रहती है। इस पृष्ठभूमि के आधार पर तलाक तथा पृथकीकरण होता है। आर्थिक स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता कार्य के कारण भी महिलायें अन्य व्यक्तियों से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करती है तथा मानसिक स्वास्थ्य एवं पारिवारिक सुख के लिए आवश्यक समझा जाने लगा है।

2. असामान्य लैंगिक विचलन के तरीके

नपुंसकता, शीतलता, प्रदर्शनवृत्ति, गुप्त अवलोकन, भिन्न वस्तु माध्यम, बाल सम्भोग, बलात्कार, निषिद्ध सम्भोग, परपीड़न, आत्मपीड़न आदि। इसके अन्तर्गत उस लैंगिक व्यवहार के तरीकों को रखा जाता है, जिनसे सम्बन्धित व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक हानि तो होती ही है, दूसरों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इन लैंगिक व्यवहारों के लिये कठोर निषेध होते हैं। यह निम्नलिखित प्रकार का होता है।

(1) नपुंसकता तथा शीतलता या लैगिक अपर्याप्तता

नपुसकता पुरूषों में होती हे। कभी–कभी लिंग में दृढ़ीकरण भी होता है। यदि दृढ़ता आती भी है तो बहुत शीघ्र ही वीर्य का पतन हो जाता हे। औरतों में शीतलता होती है उनमें कामेच्छा जागृत नहीं होती है। ऐसा तभी होता है जब लैगिक अंगों में चोट, रोग, थकान अथवा दवा के दुष्प्रभाव के कारण होता है।

(i) प्राथमिक नपुंसकता

इस प्रकार की नपुंसकत में पुरूष कभी भी सफल संभोग के लिए लिंगे–दृढ़ता प्राप्त नहीं करता है।

(ii) द्वितीयक नपुंसकता

इस प्रकार की नपुंसकता में पुरूष सफल सम्भोग तो करता है पर उसमें किसी प्रकार यौन क्षमता नहीं पायी जाती।

(iii) अपरिपक्त पतन

इस प्रकार की अवस्था में पुरूष अधिक समय तक वीर्यपतन पर स्त्री की संतुष्टि के लिये, नियन्त्रण में नहीं रह पाता है। शीघ्र ही वीर्यपतन हो जाता है।

स्त्रियों में निम्न प्रकार की शीतलता अथव लैंगिक अपर्याप्तता होती है।

(i) वेजाइनिज्मस

इस प्रकार की स्थिति में योनि का बाह्य भाग उस समय बिलकुल बन्द हो जाता है जब शिश्न को अन्दर प्रवेश कराने का प्रयत्न किया जाता है।

(ii) कामेच्छा की उत्पत्ति में विघटन

इस प्रकार की स्थिति (शीतलता) में कामेच्छा का विकास बहुत कम होता है।

नपुसंकता के अनेक मनोसामाजिक कारक होते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं–

(1) दोषपूर्ण प्रारम्भिक यौन शिक्षा
(2) भय चिन्ता तथा अपर्याप्तता की भावना
(3) लैगिक सहभागी से सांवेगिक घनिष्ठता की कमी
(4) लैंगिक चालकेकं का निम्न स्तर

(2) प्रदर्शन वृत्ति

इस प्रकार के लैंगिक अंगों के प्रदर्शन **मात्र** से ही सुख की अनुभूहित हो जाती है। प्रदर्शन वृत्ति वाले व्यक्ति अपने लैंगिक अंगों को सार्वजनिक स्थानों पर विषम लिंग के व्यक्तियों के दिखाते हैं। कभी–कभी वे इस प्रदर्शन पार्क, सिनेमा स्थलों, मंदिरों के बाहर, स्कूल के बाहर, प्राय होता है। यह प्रदर्शन युवा पीढ़ी के लोग ही ज्यादातर करते पाये गये हैं। लड़कियों का प्रदर्शन प्रत्यक्ष रूप से न हो अप्रत्यक्ष रूप से होता है। चुस्त कपड़ों को पहनकर अंगों को प्रदर्षित करने में अत्यन्त सुख का अनुभव करती है। यह प्रदर्शन वृत्ति व्यक्ति में तीन प्रकार से की जाती है–

(1) व्यक्तिगत अपरिपक्वता से सम्बन्धिता
(2) अर्न्तवैयक्तिक दबाव तथा निराकरण

(3) अन्य मनोव्याधियों से सम्बन्धित।

प्रदर्शन–वृत्ति के कारण

i. **वैयक्तिक अपरिपक्वता**– वैयक्तिक अपरिपक्वता के कारण भी प्रदर्शन–वृत्ति का जन्म होता है। बहुधा यह देखा गया है कि कामुक संबंधों के संबंब में पर्याप्त सूचना के अभाव में व्यक्ति इस प्रकार का व्यवहार अपनाता है। लज्जा और हीनता की भावनाँए भी इसका कारण हो सकती हैं। एक अध्ययन में देखा गया कि प्रदर्शन–वृत्ति के आधे लोग विवाहित होते हैं और इन विवाहित व्यक्तियों के उनकी पत्नियों से व्यक्तिगत और कामुक संबंध अच्छे नहीं होते हैं।

ii. **अन्तः वैयक्तिक प्रतिबल**– कई बार प्रदर्शन–वृत्ति का कारण अन्तः वैयक्तिक प्रतिबल सें संबंधित कारक होते है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति में विवाह से संबंधित अन्तर्द्वन्द्व या प्रतिबल है तो उसमें प्रदर्शन–वृत्ति उत्पन्न हो सकती है।

iii. **मनोविकृतियाँ**– प्रदर्शन–वृत्ति का कारण अनेक प्रकार की मानसिक विकृतियाँ भी हो सकती है। मानसिक दुर्बलता, मनस्ताप रोग से पीड़ित व्यक्तियों में प्रदर्शन–वृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। यह उन छात्रों में भी अधिक मात्रा में पायी जाती है जिनका विद्यालय समायोजन दुर्बल होता है। मनोविदलता के कुछ रोगियों में भी इस प्रकार का कामुक विचलन देखा गया है।

3) गुप्त अवलोकन

छिप–छिपकर लैंगिक कार्यों में रत व्यक्तियों का अथवा नग्न अवस्था में देखने के लिए तीन शब्दों का प्रयोग होता है। वायोरिज्म, स्कोटोचिलिया तथा इन्सपेक्सनिज्म। ऐसा व्यवहार बच्चे और युवा व्यक्ति अधिक से अधिक करते देखे गये है। कुछ व्यक्ति तो यहाँ तक कि स्त्रियों के नंगेपन की अवस्था में छिपकर देखते है और वे सोचते हैं कि कब लैंगिक सम्बन्ध स्थापित कर सकें। प्रायः ऐसे व्यक्ति गुप्त अवलोकन के समय हस्तमैथुन भी करते हैं। इसक कई कारण होते हैं–

i. इससे लैंगिक भावना की उत्तेजना प्राप्त होती है।
ii. लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करने का ज्ञान होता है।
iii. लैंगिक संतुष्टि होती है।

4) लैंगिक उत्तेजना के लिए भिन्न वस्तु माध्यम

इस प्रकार के लैंगिक व्यवहार में शक्ति शरीर के किसी भाग को अथवा

निर्जीव वस्तु को लैंगिक उत्तेजना का माध्यम बनाता है। वह विषम लिंगी के वस्त्रों को धारण करके संतुष्टि प्राप्त करता है। इस प्रकार के व्यवहार में पुरूष सबसे आगे होते हैं। इस माध्यम से विषमलिंगी के बाल, कान, हाथ, नीचे के वस्त्र, जूते सुगन्धित तेल आदि के उपयोग से लैंगिक सुख का अनुभव करते हैं। लैंगिक उत्तेजना के लिए भिन्न–भिन्न माध्यम जैसे चुम्बन लेकर, प्यार कर तथा सूँघ कर उत्तेजना की अनुभूति करता हैं। इसके लिए लोग चोरी करते, डाका डालते तथा आदि दुष्कर्म भी करते है।

5) बाल सम्भोग

बाल सम्भोग में बालक व बालिकाओं को साथ सम्भोग किया जाता है। स्त्री बालक के लिंग को उत्तेजित कर लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करती हैं तथा पुरूष लड़की के साथ लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करता है। मुखलिंग सम्बन्ध भी कभी–कभी घटित होता है। कभी–कभी प्रतिषोध के कारण ऐसा किया जाता हैं।

6) बलात्कार

बलात्कार में प्रायः पुरूष ही अपराधी होता है। बलात्कार दो प्रकार का होता है–

i) स्टेच्यूटरी बलात्कार

18 वर्ष से कम आयु की लड़कियों के साथ सम्भोग किया जाता है।

(ii) शक्ति प्रयोग द्वारा बलात्कार

अनिच्छित 18 वर्ष से अधिक आयु की स्त्री के साथ सम्भोग होता है। ये बलात्कार कभी–कभी उद्देश्यपूर्ण या उद्देश्यहीन होता है। जिन अपराधियों की बलात्कार की आदत पड़ जाती है, वे किसी भी स्त्री के साथ बल प्रयोग करके सम्भोग स्थापित कर लेते है। इसके कई कारण हैं– अपूर्ण व्यक्तित्व, व्यधिंकीय व्यक्तित्व स्थापित कर लेते है। इसके कई कारण हैं– अपूर्ण व्यक्तित्व, व्याधिकीय व्यक्तित्व तथा प्रतिशेधात्मक कार्य के कारण बलात्कार होता है। लैंगिक आक्रामकता, भ्रम, मानसिक विकृतियों के रोगियों में भी इस प्रकार का व्यवहार उत्पन्न हो जाता है। बलात्कार प्रायः असामाजिक कार्यों जैसे डाका डालना, चोरी करना, आदि के साथ किया जाता है।

बलात्कार के कारण

i. विस्थापित आक्रमण

बलात्कार के अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि बलात्कारी व्यक्ति की आक्रामक प्रवृत्ति बलात्कार के शिकार के विस्थापित होती है। कुछ केसेज में बलात्कार अपने क्रोध और आक्रामकता को शान्त करने के लिए होता हैं, न कि कामुक

आवेशों को शान्त करने के लिए होता है। ऐसे केसेज में यह देखा गया है कि बलात्कारी व्यक्ति काम उत्तेजना हस्तमैथुन के द्वारा प्राप्त करता है।

ii. **क्षतिपूर्ति**

बलात्कारी व्यक्ति बलात्कार बहुधा क्षतिपूर्ति के लिए करते हैं।

iii. **कामुक आवेग**

बलात्कार करने के लिए व्यक्ति उस समय उत्तेजित होता है जब उसमें अधिक होता है लेकिन काम सन्तुष्टि का उसके पास कोई साधन नहीं होता है।

iv. **मानसिक विकार और समाज विरोधी व्यक्तित्व**

बहुधा देखा गया है कि बलात्कारी व्यक्ति समाज विरोधी होते हैं या किसी न किसी मानसिक रोग से ग्रस्त होते हैं। ये लोग मनोविदलता या अन्य मनोविक्षप्तता से पीड़ित हो सकते है। कई बार आदतजन्य नशा करने वाले व्यक्ति भी बलात्कार करते देखे गये है।

7) निषिद्ध सम्भोग

जिन व्यक्तियों के मध्य लैंगिक सम्बन्धों को सांस्कृतिक रूप में निषिद्ध माना जाता है, ऐसे सम्बन्धों को स्थापित करने से लैंगिक विचलन होता है। यह प्रायः भाई–बहन, पिता–पुत्री, माता–पुत्र तथा अन्य घनिष्ठ व्यक्तियों के बीच समझा जाता हैं इस प्रकार के निषेध में संस्कृति में भिन्नता होती है। हिन्दुओं में एक परिवार तथा समगोत्री के साथ विवाह निषिद्ध होता हैं जबकि मुसलमानों में केवल सगे भाई–बहनों में विवाह नहीं हो सकता है । मनोविकृतियों की अवस्था में भी इस प्रकार की घटनायें घटित होती हैं। जो परिवार विघटित होते हैं तथा जिनमें नैतिक मूल्यों की अत्यन्त कमी होती है उनमें भी ऐसा लैंगिक व्यवहार प्रदर्शित होता है।

8) परपीड़न रति

इस प्रकार की लैंगिक विकृति में दूसरों को कष्ट पहुँचाकर लैंगिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। इससे उनके लैंगिक तनाव में कमी आती है। योनि पर चोट करना, स्तन काटना, गालों को काटना, शरीर के अन्य अंगों में चुभोना तभा विषम विकृतियों में हत्या कार्य भी इन कार्यों के अन्तर्गत सम्मिलित हो जाता है। कुछ व्यक्ति बिना सम्भोग किये परपीड़ा कर संतुष्ट हो जाते हैं । इसके कई कारण हैं – एडलर के विचार से व्यक्ति परपीड़न रति अपनी हीन भावना को दूर करने के लिए करता है। यह विकृति प्रायः पुरूषों में पाई जाती है, इसका मुख्य कारण मानसिक अस्वस्थता होती है ।

9) आत्मपीड़न रति

इस प्रकार की विकृति में व्यक्ति अपने को ही कष्ट पहुँचाकर सुख की अनुभूति

करता है। आत्मपीड़न के तीन कारण है –

(1) कामोत्तेजक आत्मपीड़न रति

इस अवस्था में पुरूष अपने को शारीरिक कष्ट देकर लैंगिक सुख प्राप्त करता है।

(2) नारी सुलभ स्वपीड़न रति

स्त्रियाँ अपने को कष्ट देकर यौन आनन्द प्राप्त करती हैं ।

(3) नैतिक स्वपीड़न रति

इसके लैंगिक व्यवहार का कारण हीनभावना तथा प्रतिक्रिया निर्माण होता है। उदाहरण– सन्यास, तपस्या आदि।

10) स्पर्श आसक्ति

इस प्रकार की लैंगिक विकृति में व्यक्ति लैंगिक आनन्द स्पर्श मात्र से प्राप्त करता है। ऐसे व्यक्ति का योनि को लिंग द्वारा स्पर्श करने अथवा हाथों में स्पर्श करने, अथवा स्तनों को स्पर्श करने मात्र से ही वीर्य स्खलन हो जाता हैं इस प्रकार के व्यवहार के कारण मन में अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक दुर्बलता तथा हीन भावना उत्पन्न होती है।

(11) मुख लैंगिकता

इस प्रकार की विकृति में लैंगिक अंग को चूसकर पसन्द आनन्द प्राप्त किया जाता है। यह दो प्रकार की होती है–

(1) पुरूष मुख लैंगिकता

इसमें स्त्री पुरूष का शिश्न मुँह में लेकर चूसती है।

(2) स्त्री मुख लैंगिकता

पुरूष स्त्री की योनि में मुँह लगाता है।

12) गुदा लैंगिकता

इस प्रकार की विकृति में कामेच्छा की सन्तुष्टि योनि के स्थान पर गुदा से की जाती है। जब किसी कारणवश व्यक्ति योनि के स्थान पर गुदा का प्रयोग करने लगता है। तो उससे अधिक आनन्द प्राप्त होने लगता है।

13) पशु कामुकता

इस प्रकार की विकृति में पशु के साथ सम्भोग किया जाता है। पुरूष पशु के मुख, कान, नाक योनिमार्ग अथवा गुदा में शिश्न के प्रवेश करके आनन्द प्राप्त करता है। स्त्री पशु अथवा कुत्ते के लिंग द्वारा आनन्द प्राप्त करती है।

3. सामाजिक रूप से संगठित समूह के तरीके

वेश्यावृति, समलैंगिकता, परलिंगीय वस्त्र धारण आसक्ति आदि। इस प्रकार के व्यवहार में एक समूह कार्य करता है तथा उसकों किसी न किसी श्रेणी में स्वीकृति प्राप्त होती है। यदि स्वीकृति नहीं भी होती है तो भी उसके सम्बन्ध में कोई विशेष निशेध नहीं होते हैं, परन्तु ये लैंगिक व्यवहार व्यक्ति के व्यक्तित्व को असामान्य बना देते है।

(1) वेश्यावृति

धन के बदले में जब व्यक्ति कामुक सम्बन्ध स्थापित करता है तो यह कामुक विचलन वेश्वावृत्ति कहलाता है। वेश्वावृत्ति चार प्रकार की होती है–

i. विषमलिंगी कामुक सम्बन्ध जिसमें स्त्री को कामुक सम्बन्धों के बदले धन दिया जाता है।

ii. विषमलिंगी कामुक सम्बन्ध जिसमें कामुक सम्बन्धों के लिए स्त्री पुरूष को धन देती है।

iii. पुरूष समलिंगी कामुक सम्बन्ध जिसमें एक व्यक्ति पैसा लेकर कामुक सन्तुष्टि दूसरे पुरूष को प्रदान करे।

iv. स्त्री समलिंगी कामुक सम्बन्ध जिसमें एक स्त्री पैसा लेकर कामुक सन्तुष्टि दूसरी स्त्री को प्रदान करें।

उपर्युक्त चार प्रकार की वेश्यावृत्ति में केवल पहला प्रकार ही सर्वाधिक प्रचलित है। वेश्यावृत्ति को सबसे प्राचीनतम व्यवसाय माना गया है। आज यह समाज में सामाजिक दृष्टि से दण्डनीय अपराध भी है।

एक पुरूष के वेश्यागमन के अनेक कारण हैं–

(1) विषम लिंगी कामुक सम्बन्धों के साधनों का अभाव।

(2) कामुक सम्बन्धों के जुड़े उत्तरदायित्वों से बचने हेतु पुरूष वेश्यागमन करते हैं।

(3) वेश्यागमन से अनुभवों को जानने की इच्छा।

(4) शारीरिक दोष आदि के कारण जब कामुक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते हैं तो व्यक्ति

वेश्यागमन करता है।

(5) विचलित कामुक अनुभवों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति वेश्यागमन करता है।

एक स्त्री अनेक कारणों से वेश्यावृत्ति अपनाती है–

(1) वेश्यावृत्ति अपनाने का स्त्रियों के लिए प्रमुख कारण धन को प्राप्त करना होता है।

(2) यद्यपि ये सभी सामाजिक–आर्थिक स्तर की हो सकती है, फिर निम्न सामाजिक–आर्थिक स्तर की स्त्रियाँ अधिक वेश्यावृत्ति अपनाती है। दूसरे शब्दों में बहुधा निर्धनता के कारण स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति की ओर उन्मुख होती है।

(3) हेगर्टी का विचार है कि जिन समाजों में पुरूषों का प्रभुत्व होता है, स्त्रियों को कोई रोजगार नहीं मिलता है तथा स्त्रियाँ अशिक्षित होती हैं, वहाँ की स्त्रियों में वेश्यावृत्ति अपनाये जाने की सम्भावना सर्वाधिक होती है।

हेगर्री का विचार है कि जिन समाजों में पुरूषों का प्रभुत्व होता है ताकि स्त्रियों को कोई रोजगार नहीं मिलता है तथा स्त्रियाँ अशिक्षित होती हैं वहाँ की स्त्रियों में वेश्यावृत्ति अपनाये जाने की सम्भावना सर्वाधिक होती है।

2) समलैंगिकता

इस प्रकार की लैंगिक विकृति में दो समान या एक ही लिंग के व्यक्ति लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करते है। समलैंगिकता में पुरूष–पुरूष तथा स्त्री से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करती है। पुरूष–पुरूष की गुदा में शिश्न प्रवेश कराकर आनन्द प्राप्त करता है। जबकि स्त्री शिश्न को दूसरी स्त्री के भाग शिश्न से रगड़कर लैंगिक सन्तुष्टि प्राप्त करती है। समलैंगिकता के कई तरीके हैं। चुम्बन, पारस्परिक हस्तमैथुन, मुँह में जनन अंगों को रखना तथा रगड़ना आदि। समलैंगिकता के कई कारण होते हैं–

i. प्रारम्भिक समलैंगिक अनुभव के कारण वे अपने व्यवहार का अंग बना लेते हैं। जिसके कारणा इस प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित होता है।

ii. जब विसमलिंगी व्यवहार को नकारात्मक पुष्टीकरण प्राप्त होता है तो इस प्रकार के व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता हे।

iii. व्याधिकीय पारिवारिक तरीकों के कारण भी समलैंगिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

iv. लैंगिक अभिव्यक्ति में बाधा होने पर भी समलैंगिकता पनपती है।

समलिंगी व्यवहार वह व्यवहार है जिसमें समान लिंग के व्यक्तियों के साथ कामुक सम्बन्ध स्थापित होता है। मानव इतिहास को देखा जाए तो समलिंगी कामुकता के अनेक उदाहरण मिलते है। प्राचीनकाल में यूनान और रोम में इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी कि समलिंगी वैश्याएँ खुले आम उपलब्ध थीं। आज अधिकांश समाजों में यह एक निन्दनीय कामुक व्यवहार माना जाता है। ट्रिप ने समलिंगी कामुकता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि स्त्रियों में पाई जाने वाली समलिंगी कामुकता कहलाती है।

किन्से के अनुसार समलिंगी कामुकता स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों में अधिक मात्रा में पायी जाती है। किन्से के अनुसार समलिंगी कामुकता स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों में दो गुनी पायी जाती है। इस दिशा में हुए अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि समलिंगी वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व में व्यक्तित्व कुसमायोजन के अधिक लक्षण नहीं पाये जाते हैं। अतः इसे मानसिक विकार के रूप में स्वीकार करना त्रृटिपूर्ण है।

समलिंगी कामुकता के कारण

1. जननिक और हारमोन्स से सम्बन्धित कारक

कुछ अध्ययनो से यह स्पष्ट हुआ है कि समलिंगी कामुकता का कारण अनुवांशिकता है। प्रारम्भ में यह विश्वास किया जाता था Androgen Estrogen हारमोन्स के अनुपात में असमानता के कारण समलिंगी कामुकता उत्पन्न होती है।

2. समलिंगी अनुभव और उनका धनात्मक पुनर्बलन

अध्ययनों में यह देखा गया है कि समलिंगी कामुकता की पुनरावृत्ति उस समय अधिक होती है जब किशोरावस्था या पूर्व प्रौढ़ावस्था में समलिंगी कामुक सम्बन्धों की पुरनावृत्ति उस समय अधिक हो जाती है जब किशोरावस्था या पूर्व प्रौढ़ावस्था में समलिंगी कामुक सम्बन्धों में मधुर आनंद आता है। हेडब्लूम ने इस प्रकार के निष्कर्षो की पुष्टि की है।

3. ऋणात्मक अनुबन्धन

अध्ययनों में यह देखा गया है कि विषमलिंगी व्यवहार जब हानिकारक उद्दीपक होता है तो व्यक्ति समलिंगी व्यवहार की ओर अग्रसर होता है क्योंकि समलिंगी सैक्स सम्बन्ध हर प्रकार से सुरक्षित होते है। एक अध्ययन में यह देखा गया है कि उन लड़कियों में समलिंगी व्यवहार अधीक पाया जाता है जिनके साथ उनके पिता ने बलात्कार किया होता है क्योंकि इन लड़कियों को पुरूषों के साथ कामुक सम्बन्ध भयावह प्रकार के लगते है।

4. पारिवारिक प्रतिमान

एक अध्ययन में यह देखा गया है कि परिवार में माँ जब प्रभुत्वशाली होती है, पिता कमजोर प्रकार का तथा बहुधा घर से बाहर रहने वाला होता है, तब बालकों में समलिंगी कामुक व्यवहार के उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक होता है। यह एक मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन था। बाइडर के अध्ययन परिणामों का समर्थन अन्य अध्ययनों से भी हुआ है।

5. **सामाजिक–सांस्कृतिक कारक**

जिन समाजों में विवाह से पूर्व विषमलिंगी कामुक सम्बन्धों पर प्रतिबंध होता है, उन समाज के व्यक्तियों में हस्तमैथुन और समलिंगी कामुकता अधिक होती है। कुछ आदिम जातियों के अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि जहाँ जीविका चलाने के सीमित साधन होते हैं, वहाँ जनसंख्या नियंत्रण हेतु समलिंगी कामुकता को समाज द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है।

3) **परलिंगीय वस्त्र धारण आसक्ति**

इस प्रकार कि लैंगिक विकृति में पुरूष स्त्री के वस्त्रों व स्त्री को धारण करके लैंगिक सुख की अनुभूति करती है। विद्वानों का मत है कि यह विकृति माँ बाप द्वारा पालन पोषण के आधार पर निर्भर होती है। जब इच्छित लड़का या लड़की उत्पन्न नहीं होता है तो वे लड़की को लड़का तथा लड़के को लड़की मान कर उसी प्रकार के वस्त्र धारण कराते हैं। कालान्तर में वे इस विकृति के शिकार हो जाते हैं, उदाहरण–महाभारत के समय मणिपुर नरेश की पुत्री चित्रांदा। लैंगिक विकृतियों का क्षेत्र व्यापक है। लैंगिक विघटन से व्यवहारिक एवं मानसिक विघटन भी होता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

2) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिये।

1) फ्रायड के अनुसार लैंगिक विकृतियाँ कितने प्रकार की हैं?

.....

.....

.....

2) निशिद्ध सम्भोग क्या हैं?

.....

.....

.....

3) समलैंगिकता को बताइए।

.....

.....

.....

32.3 सारांश

लैंगिक विकास व्यक्ति के जीवन का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है क्यों यही विकास उसे सम्पूर्णता प्रदान करता है। लैंगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उतार–चढावों से गुजरता है। इन्ही अवस्थाओं में वह विपरीत लिंगी व्यक्ति के प्रति आकर्षित होता है और अपने भावों को उसे प्रदर्षित करता है। स्पष्ट है कि लैंगिक विकास की कई अवस्थाएं होती है। हरेक अवस्था की अपनी विशेषता होती है जिसका प्रभाव सामान्य एवं असामन्य व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। फ्रायड के विचारों की आलोचना करते हुए कार्ल पॉपर कहते है कि फ्रायड के विचारों को आनुभविक रूप से प्रमाणित करना असंभव है। फिषर तथा ग्रीनबर्ग ने कहा है कि फ्रायड का शोध एक संस्कृति विशेष के उच्च सामाजिक आर्थिक की विक्षुब्ध स्त्रियों पर आधारित था जिसे सब पर लागू नहीं किया जा सकता है। लैंगिक विशेषताएं और विकार भी उसमें इसी दौरान पैदा होते है जो उसके व्यक्तित्व को दिशा देते है। लैंगिक विकृतियों से तात्पर्य उन लैंगिक विकृतियों से है जो कानून या समाज द्वारा निर्धारित लैंगिक व्यवहार प्रतिरूपों अथवा मानदण्डों से भिन्न होते है। इस अर्थ में समजाति लैंगिकता, वस्तु कामुकता, बलात्कार, हस्तमैथुन आदि लैंगिक विकारों के प्रकार है। लैंगिक विकृतियों का क्षेत्र व्यापक है। लैंगिक विघटन से व्यवहारिक एवं मानसिक विघटन भी होता है।

32.4 शब्दावली

लैंगिक विकास : बालक में होने शारीरिक और साम्वेगिक विकास को दर्शाता है जिसमें वह अपने अंदर अपने लिंग से जुडे हुए विकास को अनुभव करता है।

फ्रायड : मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड का जन्म 6 मई 1856 को आस्ट्रिया के फ्रीबर्ग शहर में हुआ 1938 में हिटलर के नाजी विद्रोह के कारण वे भागकर लन्दन चले गये जहाँ सन 1939 के सितम्बर महीने में उनकी मौत हुई।

निषिद्ध सम्भोगः जिन व्यक्तियों के मध्य लैंगिक सम्बन्धों को सांस्कृतिक रूप में निषिद्ध माना जाता है, ऐसे सम्बन्धों को स्थापित करने से लैंगिक विचलन होता है।

32.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

रमेश चन्द्र तिवारी, मनःचिकित्सीय समाज कार्य, 2010, लखनऊ।

एस.एस. माथुर, शिक्षा मनोविज्ञान, 2007, आगरा।

डी.एन. श्रीवास्तव, सामाजिक मनोविज्ञान, 1994, आगरा।

पी.डी. मिश्र, सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, 1985, लखनऊ।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(1) लैंगिक विकास को मनोवैज्ञानिकों ने 5 स्तरों में वर्गीकृत किया है, जिनमें भिन्न–भिन्न लैंगिक लक्षण बालक में उत्पन्न होते हैं, परन्तु ये अवस्थायें एक–दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित हैं और उनको पूर्णतः पृथक नहीं किया जा सकता है। लैंगिक विकास को स्पष्ट करने के लिए अवस्थाओं का वर्णन आवश्यक है।

1. मौखिक अवस्था (Oral Stage)
2. गुदा अवस्था (Anal Stage)
3. शैश्नावस्था (Phallic Stage)
4. अव्यक्त अवस्था (Latency Stage)
5. जनन अवस्था (Genital Stage)

(2) सभी व्यक्तियों को 13–14 वर्ष की अवस्था में लैंगिकता का पुनः विकास होता है। इसमें जनन आयु प्रारम्भ होती हैं। अव्यक्त काल में प्रतिक्रिया निर्माण दमन को अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। जिससे लैंगिक सुप्तावस्था में चली जाती है, वह बाह्य पर्यावरण से अधिक ज्ञान प्राप्त करता है। जबकि अव्यक्त अवस्था में शारीरिक व मानसिक तनाव अधिक होता है। लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है तथा लैंगिकता उत्तेजित होती है और लैंगिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

(3) मातृ मनोग्रन्थि या आडिपस काम्पलेक्स की धारणा का विकास फ्रायड ने किया था। आडिपस काम्लेक्स शब्द यूनानी भाषा का है जिसकी व्याख्या से ज्ञात होता है कि आडिपस नामक युवक ने अपने पिता की हत्या करके माता से विवाह कर लिया था। अतः मातृ मनोग्रन्थि का तात्पर्य पुत्र की माता से कामेच्छा तथा पिता के प्रति

घृणा की भावना से होता है। पितृ मनोग्रन्थि का तात्पर्य पुत्री का पिता से प्रेम तथा माता के प्रति घृणा की भावना होती है।

बोध प्रश्न 2

(1) फ्रायड ने लैंगिक विकृतियों को दो भागों में बाँटा है।

लैंगिक आलम्बन में परिवर्तन

इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जो सम्भोग के लिए जननेन्द्रियों के स्थान पर दूसरे व्यक्ति के किसी अंग जैसे योनि के स्थान पर गुदाद्वार का उपयोग करते हैं।

लैंगिकता के उद्देश्य में परिवर्तन

इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जो जननेन्द्रियों का उपयोग लैंगिक कार्यो के लिए न करके अन्य कार्यो के लिए करते हैं।

(2) जिन व्यक्तियों के मध्य लैंगिक सम्बन्धों को सांस्कृतिक रूप में निशिद्ध माना जाता है, ऐसे सम्बन्धों को स्थापित करने से लैंगिक विचलन होता है। यह प्रायः भाई–बहन, पिता–पुत्री, माता–पुत्र तथा अन्य घनिष्ठ व्यक्तियों के बीच समझा जाता हैं इस प्रकार के निशेध में संस्कृति में भिन्नता होती है। मनोतिकृतियों की अवस्था में भी इस प्रकार की घटनायें घटित होती हैं। जो परिवार विघटित होते हैं तथा जिमें नैतिक मूल्यों की अत्यन्त कमी होती है उनमें भी ऐसा लैंगिक व्यवहार प्रदर्षित होता है।

3) समलैंगिकता में पुरूष–पुरूष तथा स्त्री–स्त्री से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करती है। पुरूष–पुरूष की गुदा में शिश्न प्रवेश कराकर आनान्द प्राप्त करता है। जबकि स्त्री अपनी योनि को दूसरी स्त्री की योनि से रगड़कर लैंगिक सन्तुष्टि प्राप्त करती है। समलैंगिकता के कई तरीके हैं। चुम्बन, पारस्परिक हस्तमैथुन, मुँह में जनन अंगों को रखना तथा रगड़ना आदि।

इकाई 33 मनोचिकित्सा

इकाई की रूपरेखा

33.0 उद्देश्य

33.1 प्रस्तावना

33.2 मनोचिकित्सा का अर्थ एवं परिभाषा

33.3 मनोचिकित्सा के उद्देश्य

33.4 मनोचिकित्सा के प्रकार

33.5 सारांश

33.6 बोध प्रश्न

33.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

33.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

33.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप–

- मनोचिकित्सा के अर्थ एवं परिभाषा का उल्लेख कर सकेंगे।
- मनोचिकित्सा के महत्व एवं विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगें
- मनोचिकित्सा के उद्देश्यों का उल्लेख कर सकेंगें
- मनोचिकित्सा के सम्बन्ध में मिथ्या एवं धारणाओं का वर्णन कर सकेंगें।
- मनोचिकित्सा की विभिन्न प्रविधियों का वर्णन कर सकेंगें।

33.1 प्रस्तावना

इस इकाई के प्रारम्भ में मनोचिकित्सक के अर्थ को स्पष्ट करते हुये विविध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषा के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगें। इसके अतिरिक्त,मनोचिकित्सा के महत्व एवं विशेषताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करेंगें। साथ ही मनोचिकित्सा के विभिन्न प्रकारों के विषय में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगें।

33.2 मनोचिकित्सा का अर्थ एवं परिभाषा

जो व्यक्ति समाज से अपना पूर्ण समायोजन नही कर पाता परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को परिवर्तित नहीं कर पाता, समस्या का उचित अवलोकन नहीं कर पाता, जिसमें असुरक्षा की भावना अपना स्थान बना लेती है, वह व्यक्ति असमान्य व्यवहार की श्रेणी में आ जाता है। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा व्यक्तित्व की समस्याओं की चिकित्सा करना ही मनोचिकित्सा है। मनोचिकित्सा का मुख्य उद्देश्य सेवार्थी रोगी एवं उसके पर्यावरण के बीच उचित समायोजन स्थापित करना है। मनोचिकित्सा द्वारा व्यक्ति को एक सामान्य व्यक्ति बनाने, समस्याओं को सुलझाने, विकारें दूर करने, उसे सामाजिक समायोजन के योग्य बनानें एवं सुरक्षा की भावना का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है।

परिभाषायें

रोजर्स (Rogers)

मनोचिकित्सा असमायोजित व्यक्ति की अधिक संरचनात्मक परिणाम की ओर मनोवृत्ति को परिवर्तित करने तथा व्यवहार को बदलने का प्रयास है।

वोलवर्ग (Walberg)

मनोचिकित्सा भावनात्मक प्रकृति एवं व्यवहार की समस्याओं के उपचार का एक तरीका है जिसमें प्रशिक्षित व्यक्ति व्यावहारिक तरीकों को सुधारने परिवर्तित करने, लक्षणों को दूर करने तथा सकारात्मक व्यक्ति विकास करने के लिये रोगी से जानबूझकर व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

मास्लो (Maslo)

यह (मनोचिकित्सा) उपचार का एक तरीका है जिसका उद्देश्य विघटित व्यक्ति की सांवेगिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करके, उसका तथा दूसरों का मूल्यांकन करके अपने जीवन की समस्याओं का सामना करने के तरीकों को प्रभावित एवं परिवर्तित करने और इस प्रकार समस्या को बदल कर एकीकरण एवं पूर्ण ज्ञान की क्षमता में वृद्धि करने का प्रयास करता है।

मनोचिकित्सा के उद्देश्य

1 मनोचिकित्सा का उद्देश्य समायोजन प्राप्त करने में व्यक्ति की सहायता करना है।

2 मनोचिकित्सा का उद्देष्य सहायता के लिये आये हुये व्यक्ति की समस्या, उसके जीवन परिस्थितियों, व्यक्तित्व संगठन तथा इच्छित सहायता के रूप पर निर्भर होता है।

3 मनोचिकित्सा का उद्देष्य व्यक्ति में अर्न्तदृष्टि तथा समस्या के कारणों के प्रति अर्न्तदृष्टि उत्पन्न करना होता है।

4 मनोचिकित्सा का उद्देश्य रोगी में सांवेगिक (भावनात्मक) तनाव कम करना है।

5 व्यक्ति को दबाव एवं तनावपूर्ण स्थितियों का सामना दृढ़ता से करने योग्य बनाना मनोचिकित्सा का उद्देश्य है।

6 मनोचिकित्सा का उद्देश्य परिवारिक एवं सामूहिक सम्बन्धों को अर्थपूर्ण एवं संतोषप्रद बनाना है।

7 मनोचिकित्सा का उद्देश्य मानसिक रोगों का उपचार करना है।

33.4 मनोचिकित्सा की प्रविधियां

1 पर्यावरण में सुधार (Environmental manipulation)

चिकित्सा की इस प्रणाली में सम्बन्ध तथा साक्षात्कार का उपयोग किया जाता है जिससे सेवार्थी परिवर्तन में भाग ले सके। इस प्रविधि में मुख्य प्रधानता परिस्थितियों में परिवर्तन को दी जाती है।

पर्यावरण में सुधार का तात्पर्य सेवार्थी की सामाजिक परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन लाना है जिससे उस पर दबाव व तनाव कम हो सके। इसके लिये ऐसे कार्यक्रमों को नियोजित किया जाता है जिससे सेवार्थी के प्रति दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन किया जा सके। अर्थात सेवार्थी से जुड़े हुये (करीबी) व्यक्तियों के मन में सेवार्थी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का निर्माण करना जिससे सेवार्थी स्वयं को सहज महसूस कर सके व अपने आत्मविश्वास में वृद्धि कर सके।

2 स्थानान्तरण (Transference)

स्थानान्तरण में रोगी की दमित एवं अचेतन भावनाओं (ऐसी इच्छायें जो पूरी न की जा सकी हो) की अभिव्यक्ति कार्यकर्ता के प्रति होती है। व्यक्ति की समस्त प्रतिक्रियाओं पर उन मनोवृत्तियों का रंग चढ़ा हुआ होता है जो उसने बाल्यावस्था में ग्रहण की है और जिनका प्रयोग वह अपने वर्तमान सम्बन्धों में करता है अर्थात बाल्यावस्था की मनोवृत्तियों के आधार पर ही प्रौढ़ावस्था में अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। इन्हीं घटनाओं को भावनात्मक हस्तान्तरण प्रक्रिया कहते है।

कार्यकर्ता स्थानान्तरित घटनाओं को समझने का प्रयास करता है और जहां तक सम्भव होता है उन्हें कम करने की चेष्टा करता है। वह सेवार्थी की समस्या के वास्तविक कारकों

प्रत्यक्ष रूप से विचार विमर्श करता है और सेवार्थी को वास्तविकता का परिचय कराता है।

3 मनोवैज्ञानिक आलम्बन (Psychological support)

मनोवैज्ञानिक आलम्बन के अर्न्तगत सेवार्थी को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने हेतु प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे बगैर किसी बाधा के वह अपनी बात कह सके तथा उसके व्यवहार को स्वीकृति प्रदान करते हुये उसके आत्मविश्वास को इतना बढ़ाया जाता है कि वह स्वयं अपनी समस्या समाधान हेतु अपनी योग्यता प्रदर्षित कर सके व निर्णय ले सके। जहां आवश्यक हो चिकित्सक द्वारा सलाह एवं मार्गदर्शन भी दिया जाता है।

4 स्पष्टीकरण (Clarification)

स्पष्टीकरण में सेवार्थी पर्यावरण अथवा व्यक्तियोंके सम्बन्ध में उन सूचनाओं को दिया जाता है, जिससे वह अनभिज्ञ होता है। सेवार्थी के प्रति दूसरे व्यक्तियों की सोच क्या है उसकी आलोचना के कारण क्या है। सेवार्थी के व्यवहार व दृष्टिकोण का दूसरे व्यक्तियों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इन सभी क्रिया प्रतिक्रिया से सेवार्थी को परिचित कराया जाता है। इस प्रकार इस प्रणाली द्वारा सेवार्थी को स्वयं अपने–अपने पर्यावरण तथा सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति समझ उत्पन्न हो जाती है। वह समस्या के सभी पहलुओं पर अपनी समझ विकसित कर वास्तविकता को समझनें लगता है।

5 मंत्रणा (Counselling)

मंत्रणा के अर्न्तगत सेवार्थी को कोई ठोस सेवा न प्रदान करके परामर्श देने का कार्य किया जाता है मत्रंणा मनोचिकित्सा विधि द्वारा तर्क वितर्क के माध्यम से सेवार्थी की परिस्थिति, मनोदशा, पर्यावरण आस पास की स्थितियां समस्या का वास्तविक स्वरूप, संघर्ष,परिणाम, प्रभाव, समाधान के विकल्पों के सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति से अवगत कराया जाता है साथ ही उचित अनुचित, सेवार्थी के पक्ष विपक्ष के विषय में मार्ग दर्शन दिया जाता है। अलग अलग समस्याओं में अलग अलग प्रकार की मंत्रणा प्रदान की जाती है जैसे विवाह सम्बन्धी मामलों में विवाह मंत्रणा, व्यावसायिक समस्याओं के लिये व्यवसाय मंत्रणा परिवारिक समस्याओं के लिये परिवार मंत्रणा शिक्षा सम्बन्धी शिक्षा मंत्रणा इत्यादि।

6 अर्न्तदृष्टि (Insight)

कभी कभी संघर्षात्मक भावनायें तथा उत्तेजक संवेग वास्तविकता को समझने की स्थिति को समाप्त कर देते है जिस कारण व्यक्ति भ्रमित हो जाता है और सही निर्णय लेने की स्थिति में नहीं रहता। कई बार व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों के आधार

पर वर्तमान समय में प्रतिक्रिया करता है अर्थात कई बार व्यक्ति के पूर्व अनुभव व्यक्ति के वर्तमान व्यवहार को प्रभावित करते है। अन्तदृष्टि में सेवार्थी की आत्मचेतना को विकसित करने का प्रयास किया जाता है जिससे सेवार्थी परिस्थितियों के बारे में स्वयं समझ बना सके एवं उसके निर्णय किसी पूर्वधारणा, अनुभव नकारात्मक दृष्टिकोण उपस्थित वातावरण से न प्रभावित होकर निष्पक्ष हो सके। अर्न्तदृष्टि विकास प्रविधि उन सेवार्थियों के लिये उपयोग की जाती है जो किसी क्षीणता या पारिवारिक सम्बन्धों में असमायोजन से पीड़ित होते है। अतः उनकी मनोवैज्ञानिक सहायता, स्पष्टीकरण, प्राख्या, सलाह आदि द्वारा सहायता की जाती है।

7 प्राख्या (Description)

किसी भी प्रकार की समस्या में वाह्य तत्वों, निहित बातों मनोवृत्तियों, अर्धचेतना भावनायें तथा वास्तविकता में अन्तर, व्यवहार के तरीकों आदि की व्याख्या करना सेवार्थी में आत्म ज्ञान उत्पन्न करने के लिये आवश्यक होता है। मनोचिकित्सक द्वारा समस्या से जुड़े विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में सेवार्थी के समक्ष व्याख्या की जाती है। जिससे रोगी समस्या से सम्बन्धित व परिणाम से सम्बन्धित सभी सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों को समझ पाता है।

8 रक्षात्मक क्रियायें तथा अवरोध (Defense mechanism)

रक्षात्मक समाधान के लिये सेवार्थी की मनोरक्षात्मक क्रियाओं तथा चिकित्सा में अवरोध की गहनता को समझना आवश्यक है। वैयक्तिक कार्यकर्ता का सम्बन्ध अहंशक्ति को बढ़ाना तथा अन्तर व्यक्तिगत तनाव को कम करना होता है। परन्तु व्यक्ति का मनोचिकित्सा में सेवार्थी का सहयोग होना भी आवश्यक होता है। अतः अवरोध का ज्ञान कार्यकर्ता को होना आवश्यक समझा जाता है। अवरोध का यहां पर तात्पर्य उन मनोरक्षात्मक क्रियाओं से है जिनकों सेवार्थी चिकित्सा न अपनाने में उपयोग करता है। यह अवरोध सेवार्थी को संस्था के विषय में ज्ञान न होने,कर्ता की शक्ति में विश्वास न होने, तरीकों की अभिज्ञान होने अथवा अन्य किसी कारण से हो सकता है। अतः इनको समझना तथा सेवार्थी को समझना भी एक प्रकार से सेवार्थी की समस्या का समाधान करना है।

9 समाज सेवा/कार्य (Social services/work)

समाजिक सेवा कार्य द्वारा व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक एवं सामायिक समस्याओं का निराकरण किया जाता है। सेवा प्रदान करने की 6 प्रणालियां है। 1– सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य 2– सामाजिक सामूहिक 3– सामुदायिक संगठन 4 –सामाजिक प्रशासन 5– सामाजिक अनुसंधान 6 –सामाजिक क्रिया। समाजिक सेवा कार्य निम्न क्षेत्रों में सहायता प्रदान करता है। चिकित्सा मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, परिवारकल्याण,

बाल कल्याण, श्रम कल्याण,बाल अपराध एवं सुरक्षात्मक सेवायें, विद्यालय कल्याण,उत्तर सेवायें, पुर्नास्थापन आदि।

10 – व्यावसायिक चिकित्सा (Professional therapy)

व्यावसायिक चिकित्सा का महत्व दिनों दिन बढ़ रहा है। इस चिकित्सा पद्धति द्वारा रोगी की भावनाओं, सोच की अभिव्यक्ति होती है तथा आत्मबल बढ़ता है तथा दूसरी ओर कार्यकुशलता की क्षमता बढ़ती है।इस प्रविधि में रोगी/सेवार्थी को विभिन्न छोटे उद्योगों व कार्यों में लगा दिया जाता है। जिससे उन्हें सोचनें विचार नें का अधिक समय नहीं मिलता और सेवार्थी दूसरें प्रकार की गतिविधियों में रूचि लेने लगता है जिससे उसका तनाव व दबाव कम होने लगता है।

11 संकेत (Suggestion)

इस प्रणाली के अर्न्तगत सेवार्थी को साधारण प्रकार के सुझाव दिये जाते है इन सुझावों को मानना न मानना सेवार्थी के उपर निर्भर करता है। संकेत पद्धति एक प्राचीन प्रणाली है जिसके अर्न्तगत झाड़फूक, जादूटोना, मंत्र, ताबीज आदि भी सम्मिलित होते है। इस विधि द्वारा सेवार्थी का जिस पर विश्वास होता है उसके द्वारा या उस विधि को उपयोग में लाकर आत्मबल बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

12 पुर्नआश्वासन (Re-assurance)

इस प्रविधि का उपयोग मनोचिकित्सा के अर्न्तगत बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि जब तक रोगी को चिकित्सा के प्रति तथा अपने रोग के प्रति विश्वास नहीं हो जाता है तब तक चिकित्सा प्रक्रिया में भाग नहीं लेता है अतः मनोचिकित्सक विभिन्न तरीकों द्वारा रोगी को रोगमुक्त होने का आश्वासन देता है। पुर्नआश्वासन के लिये मनोचिकित्सक दो प्रकार के तरीके अपनाता है 1 प्रत्यक्ष 2 अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष तरीके में वह रोगी को बताता है कि उसके रोग के लक्षण क्या है तथा वे किस प्रकार दूर हो सकते है वह रोग के कारणों को स्पष्ट करता है। अप्रत्यक्ष तरीके द्वारा अन्य समान तथा उससे विशय प्रकार के रोगियों के वैयक्तिक इतिहास का विश्लेषण करता है। इस प्रकार रोगी को सहायता प्राप्त करने का पूरा पूरा प्रयत्न करता है।

13 प्रतृव्यायन (Persuation)

इस प्रणाली मे मनोचिकित्सक रोगी/सेवार्थी को एक विशेष प्रकार की जीवन शैली अपनाने के लिये प्रेरित करता है। यह जीवन शैली उसकी वर्तमान जीवन शैली से पूर्णतः भिन्न होती है परन्तु यह विधि पूर्ण करने से पूर्व सेवार्थी की सहमति व उसे विश्वास में लिया जाना आवश्यक है। जीवन शैली में परिवर्तन के द्वारा सेवार्थी की समस्या दूर करने का प्रयास किया जाता है। इस विधि द्वारा व्यक्ति के पहनावे, उठने,

बैठने, खाने, पीने, मिलने जुलने कार्य करने के तरीके सबमें परिवर्तन लाकर व्यक्ति की मनोदशा में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है इस प्रकार की नवीनता का अनुभव करके व्यक्ति में आत्म विश्वास की वृद्धि होती है और वह अपनी समस्याओं से निकलने का प्रयास करने लगता है।

14 पुनर्शिक्षण (Re-education)

इस प्रणाली के अर्न्तगत सेवार्थी को रोग/समस्या के कारणों तथा असमान्य लक्षणों से अवगत कराया जाता है तथा इन सबका उसके जीवन व व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों से भी परिचित कराया जाता है। इस विधि द्वारा सेवार्थी/रोगी सजग हो जाता है। रोगी को जानकारी हो पाती है कि कि कारणों से उसका व्यवहार असमान्य हो गया है।

15 विश्राम चिकित्सा (Rest therapy)

अत्यधिक तनाव, दबाव, अनिद्रा ,कमजोरी आदि की स्थिति में रोगी को विश्राम से काफी राहत मिलती है। विश्राम से व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक तनाव में कमी आती है। व्यक्ति अत्यधिक दबाव की स्थिति में निर्णय नही ले पाता समस्या की वास्तविकता कारण और प्रभाव को नहीं समझ पाता परन्तु जब वह विश्राम की स्थिति में आता है तो उचित और अनुचित को आसानी से समझ पाता है। यहां विश्राम का तात्पर्य पूर्ण निष्क्रीयता से नहीं है,बल्कि पूर्णशक्ति से है अर्थात रोगी को तनावपूर्ण स्थितियों से दूर रखा जाये। सम्बन्धियों एवं मित्रों से दूर रखा जाये। एकान्त स्थान पर रखा जाये, ताजी हवा पौष्टिक भोजन ,मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराये जाये।

16 निद्रा चिकित्सा (Sleep therapy)

अधिंकांश मनोस्नायुविकृतियों के कारण अनिद्रा होती है क्यों कि उत्तेजनाओं, तनावों एवं दबाव की परिस्थितियों के कारण रोगी सोने में असमर्थ हो जाता है। इस अवस्था में रोगी को औषधि के माध्यम से सुला दिया जाता है जिससे उसे शारीरिक एवं मानसिक दोनो प्रकार से आराम मिलता है।

17 संगीत चिकित्सा (Music therapy)

संगीत के द्वारा रोगी में स्फूर्ति एवं ताजगी का विकास होता है तथा हर तरह का दबाव कम होता है संगीत के माध्यम से रोगी की दबी हुयी इच्छाओं एवं संवेगों को चेतना स्वयं पर लाने का प्रयास किया जाता है। रोगी उत्साह के साथ समस्या निवारण का प्रयास करता है। इस विधि में चिकित्सक द्वारा रोगी को मनोरंजन संगीत सुनने, बजाने व गाने की सलाह दी जाती है। संगीत तनाव दूर करने का एक प्रभावी माध्यम है।

18 नृत्य चिकित्सा (Dance therapy)

जिन सेवार्थियों/रोगी को नृत्य में रूचि हो उनके साथ इस चिकित्सा पद्धति को अपनाया जाता है। इस प्रणाली को अपनाने से सेवार्थी सुख की अनुभूति करता है एवं समस्याओं से लड़ने कें लिये उर्जा प्राप्त करता है। सकारात्मक या रूचि वाले क्षेत्र में शारिरिक श्रम करने से नकारात्मक उर्जा को समाप्ति होती है। और नयी उर्जा एवं स्फूर्ति का विकास होता है।

19 भोजन चिकित्सा (Food therapy)

पौष्टिक तथा सन्तुलित भोजन प्रदान करने से शारीरिक व मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। औषधिशास्त्र के विचार से शारीरिक व मानसिक कष्ट तभी पनपते है जब व्यक्ति को पौष्टिक व सन्तुलित भोजन नहीं मिलता। सन्तुलित भोजन के आभाव में व्यक्ति में शारीरिक व मानसिक विकार उत्पन्न होते है जो व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते है एवं चिड़ाचिड़ा बनाते है।

20 खेल चिकित्सा (Play therapy)

मनोरोगियों को खेल क्रिया में लगाने से उनकी सांवेगिक कठोर स्थिति नम होती है मानसिक तनाव कम होता है तथा खेल के माध्यम से समस्याओं एवं अर्न्तद्वन्द्वों की अभिव्यक्ति होती है। सेवार्थी के करीब जाने का अवसर मिलता है जिससे रोगी की मानसिक अवस्था को समझने में आसानी होती है साथ ही साथ रोगी दूसरों के साथ समायोजन करना एवं प्रत्यक्षीकरण करना सीखता है। इस चिकित्सा पद्धति का प्रयोग ज्यादातर बच्चों के साथ किया जाता है खेल के माध्यम से बालक की आन्तरिक इच्छाओं एवं रूचियों की अभिव्यक्ति होती है। खेल के माध्यम से समस्याओं एवं अर्न्तद्वन्द्वों की अभिव्यक्ति होती है। इससे रोगी के मनः स्थिति को समझने में भी चिकित्सक को सहायता मिलती है तथा साथ ही रोगी के अन्दर संचार शक्ति का विकास होता है एवं अन्य व्यक्तियों के साथ समायोजन सीखनें का प्रयास करता है।

21 मनोविश्लेषण (Psychoanalysis therapy)

मनोविश्लेषण एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है। जिसका विकास फ्रायड ने किया था। उनके अनुसार मन का अधिकांश भाग अचेतन मन में होता। मनुष्य अनेक बातों को अपने मन में रखता है प्रकट नहीं होने देता । अर्थात बहुत सारे ऐसे कष्टकारी अनुभव होते है जो मन के किसी कोने में दबा दिये जाते है परन्तु उनका व्यक्ति के व्यवहार पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।

फ्रायड ने मनोचिकित्सा की तीन विधियों पर प्रकाश डाला है।

1 स्वप्न विश्लेषण

फ्रायड ने स्वपनों को मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक बताया है। स्वप्न इच्छापूर्ति के साधन होतें है। अचेतन मन की इच्छाओं को जो व्यक्ति किसी कारण से व्यावहारिक रूप में पूरा नहीं कर पाता, स्वप्न में पूरा करता है जिससे उसे मानसिक सन्तुष्टि मिलती है। इस प्रकार स्वप्न विश्लेषण करके रोगी की अचेतन मन की वो स्थितियां जो चेतन मन में या व्यवहार में व्यक्ति प्रकट नहीं कर पाता की स्थिति का पता लगाया जाता है। स्वप्न तीन प्रकार के हो सकते है।

1 चिन्तास्वप्न

2 दण्डस्वप्न

3 इच्छास्वप्न

इन तीनों प्रकार के स्वप्नों का विश्लेषण करके रोगी को मनोस्थिति एवं उसका उसके व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों को पता लगाया जा सकता है।

22 मुक्त सहचर्य

इस विधि द्वारा रोगी के अर्न्तद्वन्द्व का पता लगाया जाता है साधारण साक्षात्कार के बाद मनोचिकित्सक रोगी का वैयक्तिक इतिहास ज्ञात करता है। परन्तु वर्तमान समस्या से सम्बन्धित घटनाओं को रोगी स्पष्ट नहीं कर पाता है अतः चिकित्सक शान्ति एवं एकांत कमरे में रोगी को आराम से बिठाता है और उससे कहता है कि जो भी बातें/विचार उसके मन में आ रहे हो उसे बेझिझक होकर कहे। इस क्रिया से रोगी कि आन्तरिक मनोस्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त होती है और चिकित्सा में सहायता मिलती है।

23 संकल्प चिकित्सा (Will therapy)

इस चिकित्सा पद्धति का विकास आटोरैंक के द्वारा किया गया।

मनोस्नायुविकृति रोगी में एक ऐसी शक्ति होती है जो आत्मबल (स्वतःस्फूर्ति) का विरोध करती है। इस अवरोध के कारण रोगी विचलित रहता है। इस चिकित्सा पद्धति के द्वारा रोगी के अन्दर आत्म शक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। इस चिकित्सा में रोगी की शक्तियों की ओर रोगी का ध्यान आकृष्ट कराया जाता है। रोगी अपनी शक्तियां पहचान कर विपत्तियों से लड़ने की क्षमता जुटा लेता है।

24 मनोअभिनय (Psychodrama)

इस चिकित्सा पद्धति में रोगी को नाटक में उसकी रूचि के अनुसार भूमिका दी जाती है जिससे वह स्वेच्छा से अपने अन्दर के हर्ष उत्साह, क्रोध ,घृणा, संघर्ष को प्रकट

करता है जिससे रोगी के अन्दर की तीव्रता का आभास चिकित्सा को होता है साथ ही रोगी के मन का बोझ भी कुछ हल्का होता है। व्यक्ति की भावनाओं एवं क्रियाओं में अर्न्तसम्बन्ध होता है। भूमिका के माध्यम से वह अपनी मानसिक स्थिति को स्पष्ट करता है, समूह में बातचीत करता है दूसरे पात्रों की भूमिकाओं को समझता है जिससे उसे अपने अतिरिक्त दूसरे व्यक्तियों की मनोस्थिति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।

25 सामूहिक चिकित्सा (Group therapy)

इस चिकित्सा पद्धति के समान रोगियों का एक समूह बना लिया जाता है। तथा निश्चित (पूर्वनिर्धारित) कार्यक्रमों को संचालित किया जाता है। इस पद्धति में चिकित्सा की उन प्रक्रियाओं को ही लागू किया जाता है जो सभी रोगियों के लिये उपयुक्त हो। इस पद्धति में एक तरह की समस्या से पीड़ित व्यक्ति समूह में एक दूसरे के साथ अपने विचारों भावनाओं का आदान प्रदान करते है। अपने जैसी समस्याओं से जूझ रहे व्यक्तियों से बातचीत कर रोगी का मन हल्का हो जाता है। सामूहिक गतिविधियों में सम्मिलित होकर रोगी में आत्म विश्वास, समायोजन का विकास होता है जिससे रोगी को राहत महसूस होती है। इस प्रकार की सामूहिक गतिविधियों में कहानी, नष्त्य, संगीत, डामा, नाटक, खेलकूद चर्चा कला आदि सम्मिलित है।

26 प्रक्षेपित मनोचिकित्सक (Projective psychotherapy)

प्रक्षेपण एक ऐसी मानसिक अवस्था होती है जब व्यक्ति अपनी त्रुटियों एवं कमियों के लिये वाह्य पर्यावरण (दूसरे व्यक्तियों,स्थितियों) को दोषी ठहराता है किसी भी स्थिति में रोगी अपने को समस्या के लिये उत्तरदायी नहीं मानता।

इस प्रणाली में रोगी को लिखने सुनने अधूरे वाक्यों को पूरा करने चित्र बनाने के लिये दिया जाता है जिसके माध्यम से रोगी की वर्तमान मनोदशा को समझने का प्रयास किया जाता है। तत्पश्चात चिकित्सा प्रारम्भ की जाती है। प्रक्षेपित मनोचिकित्सा में रोगी में समायोजन की भावना का विकास किया जाता है तथा दूसरे व्यक्तियों की परिस्थित जिसके साथ रोगी का समायोजन होना है से परिचित कराकर सामन्जस्य बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

27 जेस्टलाल्ट चिकित्सा (Gestalt therapy)

इस पद्धति का विकास फ्रेडरिक पर्लस ने (1967) में किया था। इस पद्धति में रोगी को सम्पूर्ण स्थिति से प्रत्यक्ष रूप से अवगत कराया जाता है। रोगी को स्वयं उसके द्वारा व अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न अवरोधों के कारणों से अवगत कराया जाता है। इस पद्धति में साक्षात्कार,समूह चर्चा विचार विमर्श,विधियों का प्रयोग किया जाता है।

28 अस्तित्ववादी चिकित्सा (Existentia therapy)

चिकित्सा की यह विधि अस्तित्व के महत्व को बढ़ाने में बल देती है आधुनिक युग के परामपरागत विचारों की अवहेलना की जा रही है, अलगाव की मनोवृति बढ़ती जा रही है। व्यक्ति अपनी वास्तविकता से दूर होकर दिखावे में रहने लगा है,व्यक्ति स्वयं से अजनबी हो गया है इन्हीं सब कारण से मानसिक विकृतियां उत्पन्न हो रही है।

अस्तित्ववादी चिकित्सक किसी निश्चित चिकित्सात्मक तरीकों का उपयोग नहीं करते है। बल्कि वे जीवन के मूल्यों पर अधिक बल देते है। जिनसे व्यक्ति अपने अस्तित्व को समझ कर उन मूल्यों का निर्माण करें जिनसे उसके संघर्ष का निवारण हो तथा जीवन पद्धति सुगम बन सके।

29. सम्मोहन चिकित्सा

इस पद्धति का प्रयोग ऐन्टन मेस्मर ने किया था। प्रत्येक व्यक्ति में चुम्बकीय शक्ति होती है जिसका उचित प्रकार से प्रयोग करने से लाभ होता है। इस विधि में रोगी को आराम से कुर्सी पर बिठाया जाता है तथा एकाग्रचित की स्थिति एवं शान्त पर्यावरण उत्पन्न किया जाता है। जब रोगी मानसिक रूप से एकाग्रचित हो जाता है तो चिकित्सक कुछ संकेत देता है और रोगी उसके निर्देशानुसार कार्य करता है।

सम्मोहन से आन्तरिक संघर्ष को कम नही किया जा सकता वाह्य लक्षणें के प्रभावों को समझा जा सकता है।

30 अनिर्देशात्मक चिकित्सा (Non directive therapy)

इस चिकित्सा पद्धति का विश्वास कि प्रत्येक व्यक्ति मे आत्म केन्द्रित आत्मअवलोकन करने की आवश्यक क्षमता होती है। हर व्यक्ति अपनी जीवन की समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखता है परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियां आ जाती है जिससे इन शक्तियों पर पर्दा पड़ जाता है और व्यक्ति भ्रमित हो जाता है। अतःचिकित्सक का कार्य समस्या से सम्बन्धित इस पर्दे को हटाना होता है उसके प्श्चात रोगी स्वयं कठिनाइयों को समझकर निर्देशन व समाधान करने में समर्थ हो जाता है।

33.5 सारांश

इस इकाई में मनोचिकित्सका के अर्थ को स्पष्ट किया गया है, साथ ही मनोचिकित्सा के उद्देश्यों एवं महत्व को उजागर करने का प्रयास किया गया हैं। मनोचिकित्सा द्वारा व्यक्ति के व्यवहार एवं जटिल परिस्थितियों को किस प्रकार सुगम

बनाया जा सकता है, यह चर्चा की गयी है। अलग अलग व्यक्तियों एवं परिस्थितियों मे मनोचिकित्सा की कौन सी विधि उपयोगी हो सकती है, के सम्बन्ध में भी चर्चा की गयी है।

33.6 बोध प्रश्न

(क) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र 1 मनोचिकित्सा से क्या तात्पर्य है? **(अ)** शारीरिक चिकित्सा **(ब)** शैक्षिक परामर्श **(स)** मानसिक चिकित्सा

प्र 2 मनोचिकित्सा में सेवार्थी किसे कहा जाता है?

(अ) चिकित्सक **(ब)** रोगी को **(स)** समाज को

प्र 3 विश्राम मनोचिकित्सा विधि में रोगी को क्या सलाह दी जाती है?

(अ) विश्राम करने की **(ब)** मित्रों से सम्पर्क बढ़ाने की

(स) रूचियों पर कार्य करने की

प्र 4 मनोविश्लेषण मनोचिकित्सा पद्धति का विकास किसने किया है?

(अ) फ्रायड **(ब)** हार्नी **(स)** आटोरैंक

प्र 5 संकल्प चिकित्सा पद्धति का विकास किसने किया था?

(अ) सुलीवान **(ब)** फ्रायड **(स)** आटोरैंक

ख– लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र 1 मनोचिकित्सा का अर्थ समझाइये।

प्र 2 मनोचिकित्सा के उद्देश्य समझाइये।

प्र 3 मनोचिकित्सा विधि में वैज्ञानिक आलम्बन से क्या तात्पर्य है?

प्र 4 मनोचिकित्सा में परामर्श की क्या भूमिका है?

ग – दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र 1 मनोचिकित्सा चिकित्सा की कौन सी विधि है किस प्रकार रोगी को लाभान्वित करती है?

प्र 2 मनोचिकित्सा के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिये।

33.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

(क)

3 1 (स) मानसिक चिकित्सा

3 2 (ब) रोगी को

3 3 (स) विश्राम करने की

3 4 (अ) फ्रायड

3 5 (स) आटोरैंक

33.8 सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची

1 हेर,आर – साइकोपैथी, थियरी खण्ड रिसर्च, विले न्यूयार्क (1970)

2 टोनेर जे एम – स्ट्रेस ऐण्ड साइक्याट्रिक डिसआर्डर (1960)

3 टायलर एल एण्ड एस क्वे – मेन्टल हेल्थ एण्ड इन्वायरमेन्ट (1964)

4. डनवर फ्लैन्डर्स–साइकोसोमेटिक डाइग्नोसिस हारपर एण्ड इनहम, न्यूयार्क (1943)

5 असमान्य व्यवहार –श्री पी.डी.मिश्र एव डा. बीना मिश्रा, लखनऊ (1982)